कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन

भारतीय संस्कृति

डॉ. गायत्री वर्मा

कवि कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित तत्कालीन भारतीय संस्कृति

डॉ. गायत्री वर्मा

कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित

तत्कालीन भारतीय संस्कृति

•

डॉ. गायत्री वर्मा

एम. ए. (हिन्दी), एम. ए. (संस्कृत), पी. एच-डी.

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी-१

संस्करण : प्रथम
११००
जुलाई : १९६३

मूल्य
दस रुपये मात्र

प्रकाशक
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो. बॉक्स नं. ७०, पिशाचमोचन
वाराणसी–१

मुद्रक
दुर्गा प्रेस
नई बस्ती (पाण्डेपुर)
वाराणसी–२

RASHTRAPATI BHAVAN,
NEW DELHI-4.
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-4।

अप्रैल १४, १९६२
चैत्र २४, १८८४ (शक)

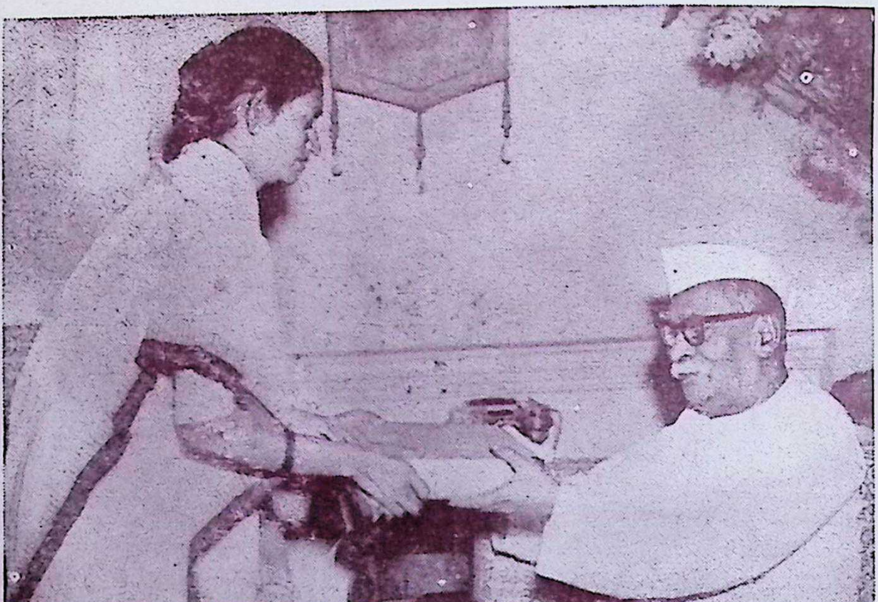
प्रिय श्रीमती गायत्री देवी,

आप अपने शोध प्रबन्ध की प्रति मेरे पास छोड़ गई थीं। पुस्तक तो इतनी बड़ी है कि चाहने पर भी उसे पूरा पढ़ पाना मेरे लिये बड़ा कठिन होगा। इसीलिये इधर उधर कुछ पन्नों को उलट पुलट कर देख गया। उसे देखने से यह तो स्पष्ट है कि आपने इसके लिखने में बड़ा ही परिश्रम किया है और एक नवीन दृष्टिकोण से कालीदास के ग्रन्थों का अध्ययन किया है। इस अध्ययन के फल स्वरूप उस युग की भारतीय संस्कृति का स्वरूप इस युग के सामने आ सका। हमारी प्राचीन संस्कृति महान् थी और कालिदास जैसे महान साहित्यकार ने उसे अपने साहित्य में पिरोया ही नहीं, अपनी लेखनी की कला और कौशल से उसे भव्य रूप देकर विश्व-व्यापी भी बना दिया। आपने उसी साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति का विशद वर्णन करके हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है। आपका यह प्रयत्न प्रशंसनीय है।

थीसिस अलग डाक से भेजी जा रही है।

आपका,
राजेन्द्र प्रसाद

डॉ० (श्रीमती) गायत्री देवी वर्मा,
ऑनरेरी मजिस्ट्रेट, पो० बॉक्स नं० १३,
विजयवाड़ा (आन्ध्रप्रदेश)



लेखिका डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को ग्रन्थ अर्पित करते हुए ।

जिनकी अनुकम्पा से आज

देव भाषा विशेष गरिमामयी है

उन राष्ट्र के कर्णधार

श्री राजेन्द्र प्रसाद जी

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

--गायत्री वर्मा

भूमिका

इस ग्रन्थ ने सांस्कृतिक अध्ययन-साहित्य में नवीन परम्परा की सृष्टि की है। इस पुस्तक में संस्कृति को ही केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण वस्तुओं पर प्रकाश डाला गया है! संस्कृति तथा शिक्षा, संस्कृति तथा कला, संस्कृति तथा सभ्यता, एवं संस्कृति का क्षेत्र आदि सभी विषयों का सर्वांगीण विवेचन करने के बाद ही तत्कालीन भारत का सांस्कृतिक अध्ययन पूर्ण हुआ है।

वर्णव्यवस्था, आश्रम और संस्कार प्राचीन संस्कृति के आधारभूत स्तम्भ थे। परन्तु उस विशिष्ट समय तक आते-आते इनमें क्या-क्या परिवर्तन आ गये थे और उनका तत्कालीन सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा था, यह दृष्टिकोण अभी तक परम्परा के द्वारा लिये गये विषयों की सीमा एवं परिधि के बाहर था।

विवाह का उद्देश्य और विवाह के प्रकार कह कर ही अब तक के विद्वान् अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। कुछ एक-दो साहसी तथा सूक्ष्म अध्ययन करने के शौकीन मनीषियों ने परम्परा के अतिरिक्त वरवधू का चुनाव, उनके गुण आदि कुछ उपविषय जोड़े। परन्तु अभी भी विवाह में प्रेम का स्थान, प्रेम और सौन्दर्य, प्रेम और आध्यात्मिकता, प्रेम के अंग——शारीरिक व्यक्तीकरण, प्रेम-पत्र आदि की महत्ता पर किसी का ध्यान नहीं गया था। कौतुक-गृह और काम-क्रीड़ा तो घोर निर्लज्जता का विषय समझ कर साहित्य के अन्तर्गत लेने के लिए कभी किसी ने साहस ही नहीं किया था। यदि साहित्य में एक-दो शब्द कह कर किसी ने निर्लज्जता की चादर ओढ़ी भी, तो सांस्कृतिक अध्ययन में इसको बिलकुल बाहर ही रक्खा गया।

इसी प्रकार दाम्पत्य-जीवन तथा उसके आदर्श एवं व्यावहारिक रूप पर किसी ने दृष्टिपात नहीं किया था। नारी-जीवन की सांगोपांग विवेचना भी अभी इस परम्परा में नहीं आयी थी। यह नवीन दृष्टिकोण इसकी अपनी विशेषता है।

जीवन की आवश्यकताओं में सबसे प्रथम खान-पान है, तत्पश्चात् सौन्दर्य-वृद्धि। नाना प्रकार के वेश-विन्यास, केश-प्रसाधन, अलंकार आदि पर श्री मोतीचन्दजी ने अपनी लेखनी उठायी। श्री भगवत्शरण जी ने भी नाना प्रकार की वेश-भूषाएँ अभिव्यक्त कीं। परन्तु सौन्दर्य-प्रतिष्ठा, स्त्री-सौन्दर्य, पुरुष-सौन्दर्य, सौन्दर्य की परिभाषा, तत्व तथा प्रयोजन इस प्रबन्ध की प्रमुख नवीनता है। पहले मनीषियों के लिये गये विषयों में भी और सूक्ष्मता लाने का प्रयत्न इसकी दूसरी विशेषता है। पुष्पाभरण को अभी तक स्थान नहीं मिला था। प्रत्येक अंग पर कौन-कौन से पुष्प प्रयुक्त किये जाते थे और किस प्रकार, यह इसकी तीसरी विशेषता है।

सामाजिक जीवन, रीति-रिवाज, तथा आचार-व्यवहार सांस्कृतिक अध्ययन का मूल है। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के पाँच भाग हैं। पारिवारिक जीवन, राजकीय जीवन, स्वास्थ्य––रोग तथा चिकित्सा, उत्सव और विनोद, आर्थिक जीवन, ये पाँच श्रृंखलाएँ कैसे एक-दूसरे से जुड़कर सामाजिक जीवन को पूर्ण कर देती हैं––यह इसका सौन्दर्य है। स्वास्थ्य से उत्सव तथा विनोद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ शरीर उत्सवप्रिय होता है और विनोद उसके स्वास्थ्य को बनाये रखता है। प्रकृति के आधार पर मनाये जाने वाले उत्सव तथा जीवन के उत्सव दोनों से ही मानव का आन्तरिक सम्बन्ध है। प्रकृति के सौन्दर्य से मानव की आत्मा झूम उठती है और जीवन की घटनाओं का सौख्य उसके शरीर को हर्ष से विभोर कर देता है। उत्सव और विनोद क्रीड़ा का इतना सूक्ष्म और सरस वर्णन अभी तक साहित्य में उपेक्षित ही रहा था। संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था का विशेष परिचायक नैतिकता है। नैतिकता का आदर्श एवं व्यावहारिक रूप, जीवन में उच्छृंखलता नैतिकता के अंग हैं। सब मिलकर ही जीवन को सर्वांगीण बनाते हैं।

मानव की कलाप्रियता स्वाभाविक है। प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्य देने की चेष्टा नर्सगिक है। कलाओं का दूसरा नाम ही लालित्य है। कला से ही संस्कृति का क्षेत्र उर्वर होता है। अतः इस अंग पर विशेष आलोचनात्मक दृष्टि डाली गयी है। काव्य का मुख्य अंग नाट्यकला है। संगीत और नाट्यकला में बारीक-से-बारीक वस्तु को भी अति सावधानी से निकाल कर नेत्रों के सम्मुख लाने का प्रयत्न इसकी नवीन दिशा है।

कहीं विषय तथा वस्तु में नवीनता है, तो कहीं प्रणाली में मौलिकता। संस्कृति में सबसे बड़ा हाथ शिक्षा का है। इसमें शिक्षा-सम्बन्धी सभी विषयों का विभाजन और उसकी विशद विवेचना लेखनविधि के सौन्दर्य एवं कुशलता का परिचायक है। आधुनिक शिक्षा तथा पाठ्यक्रम, शिक्षक, विद्यार्थी और शिक्षण-पद्धति इन तीन के अन्तर्गत समझी जाती है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए तत्कालीन शिक्षा पर प्रकाश डाला गया है।

इसी प्रकार दर्शन तथा धर्म जीवन के, तत्पश्चात् समाज तथा संस्कृति के अंग बन जाते हैं।

अतः संस्कृति इस प्रबन्ध का मूल उद्देश्य है। इस दृष्टिकोण का निर्वाह करते हुए एक ओर यह साहित्य का कोष भरती है, दूसरी ओर इतिहास की रेखा छूती है। एक ओर सांस्कृतिक इतिहास की जलधारा बहती है, दूसरी ओर समाज-शास्त्र का विस्तृत मैदान दृष्टिगत होता है।

यह धारा नवीन है, अतः प्रयास भी मौलिक है।

जबलपुर

––गोविन्ददास

दो शब्द

जीवन की उमंग में मेरा एक ध्येय था––भगवती भारती की आराधना। उसमें मैंने अपना तन-मन-धन सभी उत्सर्ग कर दिया था। माँ भारती कभी रूठती, कभी अनुकूल होती, और मैं डूबती-उतराती उनकी ओर ही बढ़ती जाती। कभी अधिक हताश होती और थककर बैठ जाती तो मेरे स्नेही पिता आश्वासन देकर आगे बढ़ाते। फलतः मेरी साधना सफल हुई और यह ग्रन्थ पूरा हुआ।

इसका श्रेय मुझे नहीं। मेरे सभी सहायकों ने यथासमय मुझे बल दिया, अन्यथा नारी को अपनी विवशताएँ और सीमाएँ हैं, जिनके बन्धन और शृंखला में जकड़ी आगे बढ़ना चाहती हुई भी वह कहाँ समर्थ हो पाती है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने का कार्य संस्कृत, अंग्रेजी एवं हिन्दी के आचार्य प्रवर स्वर्गीय श्री भोलानाथ जी शर्मा के निरीक्षण में सम्पन्न हुआ है। उनके सामयिक निर्देशों ने ही मार्ग-प्रदर्शन किया और वस्तुतः यह सब उन्हीं की सहायता एवं आशीर्वाद का फल है। इन तथ्यों के संकलन में श्री वासुदेव शरण अग्रवाल की मैं चिर ऋणी रहूँगी जिन्होंने अपने अमूल्य समय में से मुझे भी कुछ अंश दिया और सहायतार्थ अपनी निजी पुस्तकों को भी देने में कभी संकोच नहीं किया। मेरठ कालेज के श्री धर्मेन्द्र शास्त्री को विस्मृत करना तो असम्भव है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के रीडर श्री रामसुरेश त्रिपाठी जी ने समय-असमय जब कभी मुझे कठिनाई हुई, अपना समस्त आवश्यक कार्य एक ओर कर, मेरी सदा पुस्तकों तथा वादविवाद द्वारा जितनी सहायता की उसके लिए मैं इतनी कृतज्ञ हूँ कि धन्यवाद के दो शब्द सहस्र बार भी कहूँ तब भी उऋण नहीं हो पाऊँगी। वस्तुतः कवि की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा का सुझाव उनका ही दिया हुआ है। उनकी सहायता, सौजन्यता, एवं विद्वत्ता सराहनीय है।

अन्त में मैं अपने उन निकटस्थ व्यक्तियों को धन्यवाद देती हूँ जिनके बिना यह कार्य प्रारम्भ ही न होता। पंडित रामशरण त्रिपाठी जी ने मुझे देववाणी की शिक्षा दी और मुझे इस योग्य बनाया कि मैं कवि कालिदास के सौन्दर्य को समझ सकूँ। स्वर्गीय श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय, (प्रोफेसर सनातन धर्म कालेज, कानपुर) ने जब मैं एम. ए. की छात्रा थी तब इस विषय पर अध्ययन करने की प्रेरणा दी थी। उदार पिता श्री कृष्ण कन्हैया लाल जी ने अपनी न मालूम कितनी आवश्यकताओं को एक ओर रख, न मालूम किन-किन आवश्यकताओं का उत्सर्ग कर, मेरी पढ़ने की उमंग को पूरा किया। मेरे साथ-साथ और मेरे बिना भी कितने विश्वविद्यालयों

के चक्कर काटे, पुस्तकालयों में जा-जा कर पुस्तकों में से मेरे लिए नोट्स संग्रह किये; मेरी स्नेहिनी माँ ने मुझे भार तथा उत्तरदायित्व से मुक्त रख मुझे अध्ययन के लिए समय दिया, भाई और बहिनों ने सामग्री जुटाने में मदद की और मेरे पति श्री भारत-प्रसाद जी ने विवाह के पश्चात् मुझे एक वर्ष तक अध्ययन करने तथा इस ग्रन्थ की समाप्ति के लिए अनुमति दी। मैं इन सबकी ही अति अनुगृहीत हूँ तथा सदा रहूँगी।

इस ग्रन्थ के विषय में कुछ कहने का मेरा साहस नहीं। श्री सेठ गोविन्द दास जी ने जो कहा उसको भी सत्य मानने में मुझे अति संकोच होता है। उनके मूल्यांकन से मैं कभी-कभी शरमा उठती हूँ कि कहीं यह अतिरेक तो नहीं। उनको मैं धन्यवाद देने का साहस नहीं करती——मुझमें इतनी योग्यता नहीं। केवल प्रणाम भर करना चाहती हूँ, यही वे स्वीकार कर लें।

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद सब के लिए पूज्य रहे। आचार्य, गुरु, मार्गदर्शक, सलाहकार, पिता, उनके समस्त रूपों से संसार परिचित है। उनकी महानता से प्रभावित होकर ही उनको अपना ग्रन्थ समर्पण करने की आकाँक्षा हुई। उनके निकट दर्शन भी इसी बहाने हुए। वह क्षण मेरे जीवन का अविस्मरणीय अंग बन गया।

आधुनिक काल में प्रतिदिन भारतीय संस्कृति और सामाजिक इतिहास का महत्व बढ़ता जा रहा है। परन्तु इस विषय पर जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, वे प्रायः सामान्य से ढंग पर लिखी जा रही हैं। प्रायः अधिक विश्वसनीय भी नहीं हैं। भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप हमारे सम्मुख तब तक स्पष्ट नहीं होगा जब तक संस्कृत-साहित्य के प्रत्येक युग और प्रत्येक महान् लेखक की रचनाओं का विस्तृत एवं ब्योरेवार सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन न हो जाय। प्रस्तुत प्रयत्न भी इसी दिशा में किया हुआ उद्योग है।

कवि कालिदास पर अब तक श्री मिराशी, अरविन्द, झाला, एस. एस. भावे, रामस्वामी शास्त्री, चन्द्रबली पांडे आदि अनेक विद्वानों का साहित्य प्रकाशित हो चुका है। परन्तु सबकी अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं और अपना-अपना दृष्टिकोण। आलोचनात्मक दृष्टि से श्री भगवत्शरण उपाध्याय का 'इंडिया इन कालिदास' ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। अवश्य ही उसमें अपूर्व प्रतिभा एवं विद्वत्ता है। इन सभी ग्रन्थों के अध्ययन तथा मनन के पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना हुई है। प्रयत्न यही रहा कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, नवीन-से-नवीन तथा मौलिक-से-मौलिक तथ्यों को प्रकाश में लाया जाय।

अधिकांश में पूर्ण उद्धरण ही पादटिप्पणियों में दिए गए हैं, परन्तु जहाँ-जहाँ पादटिप्पणी के बहुत लम्बे होने का भय है वहाँ श्लोक नम्बर ही लिख दिए गए

हैं । जहाँ-जहाँ केवल नाम परिगणन मात्र है और उद्धरण देने आवश्यक नहीं जान पड़े, वहाँ-वहाँ श्लोक नम्बर ही लिख दिए गए हैं । वेश-भूषा तथा धर्म और दर्शन अध्याय में इस शैली का अधिक आश्रय लिया गया है ।

प्रस्तुत पुस्तक में सर्वत्र श्री सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'कालिदास-ग्रन्थावली' (द्वितीय संस्करण) के अनुसार पृष्ठ एवं श्लोकों का नम्बर दिया गया है । यदि कहीं दूसरी पुस्तक का आश्रय लिया गया है तो उसके साथ ही संस्करण आदि भी लिख दिया गया है ।

पुस्तक का शीर्षक "कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित प्राचीन भारतीय संस्कृति" ही उपयुक्त है । मूल विषय 'प्राचीन भारतीय संस्कृति' है । इसके लिए आधार कालिदास के ग्रन्थ हैं । कवि के ग्रन्थों का अध्ययन इसी दृष्टिकोण से किया गया है ।

यथास्थान आलोचना-क्रम में कोई अरुचिकर बात शायद किसी लेखक के प्रति आ गई हो—परन्तु ऐसा करना मेरा अभिप्रेत नहीं था, वह विवशता ही है । अज्ञात अवस्था में मेरी वैयक्तिक धारणाओं के कारण जो कुछ भी त्रुटि रह गई होगी—उसे साहित्य के मनीषी मेरा अपराध न समझ कर भूल ही समझेंगे—ऐसी ही मुझे आशा है । भूल साहित्यिक व्यक्ति के सम्मुख क्षम्य होती है—इसी आश्वासन को लिए हुए विद्वज्जनों के सम्मुख यह पुस्तक प्रस्तुत करने का साहस कर रही हूँ ।

भारत और भारती दोनों ही मेरे लिए श्रद्धेय हैं । प्रथम अपनी गौरवमयी उच्च संस्कृति के कारण और द्वितीय उस संस्कृति को अभिव्यक्ति के लिए मेरी वरदात्री होने के कारण । अतः दोनों के सम्मुख ही शिरसा अवनत होकर अपनी श्रद्धा समर्पित करती हूँ ।

—गायत्री वर्मा

विषय-सूची

संकेत-सूची

ऋग्०	=	ऋग्वेद
तै० ब्रा०	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
रघु०	=	रघुवंश
अभि०	=	अभिज्ञानशाकुन्तल
कुमार०	=	कुमारसम्भव
तै० स०	=	तैत्तिरीय संहिता
आ० ध० सू०	=	आस्पस्तम्ब धर्मसूत्र
आश्व०	=	आश्वलायन गृह्यसूत्र
माल०	=	मालविकाग्निमित्र
विक्रम०	=	विक्रमोर्वशीय
पूर्वमेघ	=	मेघदूत, प्रथम भाग
उत्तरमेघ	=	मेघदूत, द्वितीय भाग
ऋतु०	=	ऋतुसंहार
पृ०	=	पृष्ठ
Fig.	=	Figure
p.	=	Page
vol.	=	volume
ed.	=	edition
pt.	=	Part

नोट—समस्त ग्रन्थों में पहले सर्ग अथवा अंक का नम्बर है; तत्पश्चात् श्लोक का नम्बर। जैसे—रघु०, ५।१४ का अर्थ रघुवंश के पाँचवें सर्ग का चौदहवाँ श्लोक होगा।

प्रथम अध्याय

संस्कृति

सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने से संस्कृति शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है, भूषणभूत सम्यक् कृति। अतः कारणात् भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। संस्कृति का क्षेत्र भी अतः भूषणभूत सम्यक् कृतियों का सम्पूर्ण क्षेत्र ही है।

पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि भोग योनियों में जीव की चेष्टाएँ स्वाभाविक होने के कारण, उनमें सम्यक्-असम्यक् का भेद नहीं किया जा सकता। परन्तु मनुष्य-योनि में जीव कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है। अतः मनुष्य सम्यक्-असम्यक् दोनों प्रकार की चेष्टाएँ करने में समर्थ है। अतः मनुष्य की भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति है।

भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ वे ही हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख, शान्ति को प्राप्त करे। दूसरे शब्दों में आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति की सहायक व अनुकूल चेष्टाएँ भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। अथवा मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक—समस्त क्षेत्रों में लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय की चेष्टा ही संस्कृति है।

प्राकृतिक विधान के अनुसार संस्कार की हुई पद्धति 'संस्कृति' है। संस्कृति मानव की जीवन शक्ति, प्रगतिशील साधनाओं की विमल विभूति, राष्ट्रीय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा व स्वतन्त्रता की वास्तविक प्रतिष्ठा है। श्री राजगोपालाचारी का कथन है कि किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है।

श्री सम्पूर्णानन्द के मतानुसार संस्कृति समष्टिगत समान अनुभवों से उत्पन्न-भूत पदार्थ है। एक ही जलवायु में पले, एक ही राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सुख-दुःख को भोगे हुए लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक ही-सा होगा। एक-सी अनुभूतियों से आधार-विचार भी एक होंगे। अतः संस्कृति वह दृष्टिकोण है जिससे कोई समुदाय-विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि निक्षेप करता है। जो आज की अनुभूति है वह कल संस्कार के रूप में अवशिष्ट रह

जावेगी। लकड़ी पत्थर की तरह संस्कृति एक निश्चल पदार्थ नहीं है। यह एक बहती हुई धारा है, जिसमें सदा कुछ-न-कुछ नवीन अंश जुड़ता रहता है और कुछ विलुप्त भी होता रहता है, साथ ही कुछ किसी और रूप में भी परिवर्तित होता रहता है।

निरन्तर प्रगतिशील मानव-जीवन प्रकृति और मानव-समाज के जिन-जिन असंख्य प्रभावों व संस्कारों से संस्कृत व प्रभावित होता रहता है उन सबके सामूहिक पदार्थ को ही संस्कृति कहा जाता है। मानव का प्रत्येक विचार, प्रत्येक कृति संस्कृति नहीं है पर जिन कामों से किसी देश विशेष के समस्त समाज पर कोई अमिट छाप पड़े वही स्थायी प्रभाव ही संस्कृति है। संस्कृति वह आधारशिला है जिसके आश्रय से जाति, समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।

संस्कृति के लिए पाश्चात्य साहित्य में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है। भारतीय वाङ्मय और पाश्चात्य साहित्य में 'संस्कृति' व 'कल्चर' शब्द की परिभाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मूल भाव वही है, अन्तर है केवल कहने के ढंग में। श्री टी० एस० इलियट का कहना है कि कल्चर क्रिया एवं व्यापारों की समष्टि मात्र नहीं, अपितु जीवन व्यतीत करने का विशेष प्रकार है[१]। यह स्वभावगत स्वतः उत्पन्न कोई पदार्थ नहीं अपितु उपार्जित तथ्य है। अतः प्रत्येक देश, प्रत्येक काल व प्रत्येक व्यक्ति तक की संस्कृति में भेद हो जाता है। अनेक व्यक्तियों से सम्मिलित आचार-विचार का विनिमय संस्कृति को सदा परिवर्तित करता रहता है।

'कल्चर' शब्द की विशद व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि—'कल्चर' शब्द से मेरा आशय एक स्थान में रहनेवाले विशेष व्यक्तियों के समुदाय के रहने के ढंग से है। उनके सामाजिक आचार-विचार, स्वभाव, आदत, रीति-रिवाज, कला संबमें संस्कृति के दर्शन होते हैं। यद्यपि हम सुविधा के लिए इन सब गुणों व व्यापारों के समूह को 'कल्चर' कह देते हैं, पर वास्तविक रूप में यह 'कल्चर' नहीं बल्कि कल्चर के अंग हैं। जिस प्रकार शारीरिक अंगों का समूह मानव नहीं, अपितु मानव इन सबके अतिरिक्त भी कुछ और है, उसी प्रकार 'कल्चर' भी रीति-रिवाज, रहन-सहन, कला, धार्मिक विश्वास आदि क्षेत्रों में सीमित नहीं हो सकती[२]।

---

१. "Cultu e is not merely the sum of several activities but a way of life. '—Notes towa ds the Definition of Culture, by T.S. Eliot.

२. By culture I mean first of all the way of life of a particular people living together in ‹ ne place. The culture is made visible in their arts, in their social system, in their habits and customs,

श्री ई० वी० टाइलर भी इसी मत के पक्षपाती हैं। उनके शब्दानुसार 'कल्चर' उस समष्टि को कहते हैं जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, न्याय, रीति-रिवाज तथा प्रत्येक उपार्जित गुण है, जो मनुष्य समाज के एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है[१]।

एमर्सन किसी दूसरे को व्यथित न करने वाले आचार व्यवहार को संस्कृति कहते हैं। श्री मैथ्यू आर्नल्ड का मत है कि संस्कृति पूर्णता की ओर अग्रसर होने का मार्ग है। इसका माध्यम उन सब बातों का ज्ञान है जिनका हमारे साथ अधिक सम्बन्ध है। 'कल्चर' का उद्देश्य प्रकाश व कोमलता, नम्रता की उत्पत्ति है। केवल इंजीनियर, शिल्पकारों का निर्माण करने मात्र से कार्य समाप्त नहीं हो जाता। उनके मतानुसार 'कल्चर्ड' मनुष्य को निराश एवं क्रोधी होने का अधिकार ही नहीं है[२]।

वास्तव में 'कल्चर' अथवा संस्कृति का बड़ा व्यापक अर्थ है। अतः किसी परिभाषा द्वारा इसको बाँधा नहीं जा सकता। यह सब कुछ है और इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है।

संस्कृति व धर्म—बहुत से विद्वानों में यह भ्रान्त मत फैला हुआ है कि धर्म और संस्कृति एक ही वस्तु के दो नाम हैं। संस्कृति में धर्म आ अवश्य जाता है, पर संस्कृति ही धर्म नहीं है। निस्संदेह धर्म का संस्कृति में

---

in their religion, but these things added together do not constitute the culture though we often speak for convenience as if they did. These things are simply the parts into which a culture can be anatomised as a human body can. But just as a man is something more than an assemblage of the various constituent parts of his body so a culture is more than assemblage of its arts, customs and religious beliefs.

— Page 120, T.S. Eliot-Nots towards the Definition of Culture.

१. "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, customs and any other capabilities, and habits acquired by man as a member of Society."

—Taken from the book-Culture & Society—by Merrill & Eldredge.

२. Culture and Society, by G. S. Ghurye, Ph. D., Prof. and head of the deptt. of Sociology, University of Bombay; Page 62.

बहुत बड़ा हाथ है। धर्म ही मनुष्य को सदाचारी, दयालु, सहनशील, साहसी बनाता है और ये गुण ही मनुष्य को संस्कृत करते हैं। परन्तु फिर भी धर्म व संस्कृति पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। चीन में बौद्ध, शिन्तो तथा मुसलमान ये तीन प्रधान धर्म हैं परन्तु जाति सबकी एक है 'चीनी'। वहाँ का बौद्ध भी 'चाङ् पूङ् नून' और शिन्तो भी 'पाङ् काञ् चाङ्' तथा मुसलमान भी 'चाङ् चू तँह'। अर्थात् संस्कृति सबकी एक है। भारत में रहने वाले मनुष्य किसी भी धर्म के मानने वाले हों पर संस्कृति में भिन्नता नहीं मिलती। धर्म केवल शासन-सम्मत बातों का अनुमोदन करता है, पर संस्कृति में शास्त्र से अविरुद्ध लौकिकता व अलौकिकता दोनों ही हैं। संक्षेप में इसमें दोनों का ही अन्तर्भाव हो जाता है।

संस्कृति व शिक्षा—इसी प्रकार एक भ्रामक मत यह भी है कि संस्कृति का अर्थ शिक्षा है। परन्तु जो उच्च शिक्षित है, यह आवश्यक नहीं कि वह सुसंस्कृत भी हो। बड़े-बड़े शिक्षित व ज्ञानवान् खाने-पीने, हँसने-बोलने, आदि आचरण के साधारण सिद्धान्तों में बिल्कुल गँवार देखे जाते हैं। थोड़ा शिक्षित भी अति सुसंस्कृत हो सकता है।

संस्कृति व कला—बहुत-से विद्वान् कला को ही संस्कृति कहते हैं। अतः जिसको कला में जितनी अधिक निपुणता प्राप्त होती है वह उतना ही अधिक संस्कृत माना जाता है। उपरोक्त मतों की तरह यह भी अर्ध-सत्य ही है। बड़े से बड़ा कलाकार भी समस्त कलाओं में पारंगत नहीं होता। यही नहीं, अधिकांश में कलाकार सबसे अधिक आचार-व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों से अनभिज्ञ देखे जाते हैं। एक बहुत अच्छा कवि व्यावहारिक क्षेत्र में बड़ा अनैतिक हो सकता है। अतः कला संस्कृति नहीं अपितु उसका एक अंग है।

संस्कृति व सभ्यता—संस्कृति और सभ्यता में बहुत से मनुष्य अंतर नहीं देखते। सच तो यह है कि संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्द इतने सम्बद्ध हैं कि इन दोनों का प्रायः एक ही अर्थ में व्यवहार होने लगा है। फिर भी इनमें अंतर है, यद्यपि है अति सूक्ष्म। सभ्यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है, जब संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है। संस्कृति आभ्यंतर व सभ्यता बाह्य तत्त्व है। प्रत्येक सभ्य व्यक्ति आवश्यक नहीं कि सुसंस्कृत भी हो।

सभ्यता शब्द 'सभ्य' शब्द से बना है। सभ्य का एक अर्थ सदस्य या सभासद् है। सदस्यता किसी सभा, समूह, अथवा समाज की होती है। अतः सभ्यता सामाजिक गुण है। साधारणतः हम सभ्य आदमी की सभ्यता का अन्दाज इस बात से लगाते हैं कि सभा या समाज में उसका उठना-बैठना, वेशभूषा, बात-व्यवहार कैसा है ? अतः हम उसकी बाह्य बातों पर अधिक ध्यान देते हैं।

हम जिसे आधुनिक सभ्य 'जैंटिलमैन' कहते हैं, उसमें आन्तरिक गुण हो भी सकते हैं, होते भी हैं, पर यह अनिवार्य नहीं है। संभव है, वह कुछ लिखा-पढ़ा न हो या उसकी शिक्षा केवल ज्ञान-वृद्धि की ही सहायक हो। सभ्य व्यक्ति प्रायः भौतिक उन्नति को लक्ष्य मानता है। वह अपने स्वार्थ-साधन की ओर अधिक ध्यान देता है, दूसरे के कष्ट-निवारण की ओर नहीं। अतः सभ्य व्यक्तियों में रिश्वतखोरी, छीन-झपट, चालबाजी, छल, कपट, धूर्तता बहुत अधिक हो सकती है। हाँ, ये लोग अपने कृत्यों को इस प्रकार करते हैं कि साधारण मनुष्य की आँख में वह दोष सरलता से नहीं आता। पर इससे वस्तुस्थिति में अन्तर नहीं आता। बहुधा देखा जाता है कि रेल की यात्रा में सभ्य कहा जाने वाला व्यक्ति अपना विस्तर लगा कर इतना स्थान घेर लेता है कि दूसरे को बैठने का स्थान नहीं मिलता। पर जब वह स्वयं गाड़ी में चढ़ता है तब किसी का लेटा रहना उसे सहन नहीं होता। इसी प्रकार जब यूरोपियन लोग अपने आपको भारत-वासियों अथवा अफ्रीका के मनुष्यों से अधिक सभ्य समझते हैं तो उनके सामने त्याग, दया, परोपकार आदि कोमल भावनाओं की तुलना का प्रश्न नहीं होता। सांसारिक साधन, जिसके पास अधिक हैं, भौतिक अथवा शारीरिक शक्ति में जो बलीयस् है, वही सभ्य है। अतः स्पष्ट है कि सभ्यता का अर्थ बाहरी वैभव, आचार-विचार, रहन-सहन, प्रभुता है।

श्री सम्पूर्णानन्द के कथनानुसार संस्कृति मानसिक है, आन्तरिक है, सभ्यता बाह्य व भौतिक। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है, पर सभ्यता की सद्यः नकल की जा सकती है। अफ्रीका का आदिम निवासी कोट-पतलून पहन सकता है, यूरोपियन ढंग के बँगलों में रह सकता है, फिर भी उसका सांस्कृतिक स्तर अंग्रेज जैसा नहीं हो सकता।

संक्षेप में संस्कृति में सभ्यता का अन्तर्भाव हो जाता है, पर सभ्यता में संस्कृति का नहीं। संस्कार रूप में अवशिष्ट सभ्यता संस्कृति बन जाती है। संस्कृति की अभिव्यक्ति सभ्यता है।

संस्कृति का क्षेत्र—संस्कृति एक व्यापक शब्द है, जिसको दो-चार शब्दों में भली भाँति समझा नहीं जा सकता। प्रत्येक मनुष्य अपनी सूझ व बुद्धि के अनुसार इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषा करता है परंतु प्रत्येक परिभाषा इसके सम्पूर्ण क्षेत्र को अभिव्यक्त नहीं करती।

यही नहीं, कालानुसार भी इसका अर्थ बदलता रहा है। आज वही संस्कृत समझा जाता है जो सामान्य रूप से आचार-विचार के सामाजिक नियमों से पूर्णतया अभिज्ञ हो तथा जो राजनीति के ऊपर भी अपने विचार व्यक्त कर सकता हो। धर्म की आजकल कोई आस्था नहीं।

परन्तु प्राचीन काल में धर्म संस्कृति का प्रधान अंग था। अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की महत्ता थी। आजकल की तरह आचार-विचार को प्रधानता दी अवश्य जाती थी पर इस आचार-विचार का धर्मानुकूल होना भी आवश्यक था। भारतीय संस्कृति के आदर्श पाश्चात्य देशों की तरह धनपति नहीं, अरण्यवासी ऋषि हैं, जो त्याग को सर्वधर्म का मूल मानते हैं। यहाँ एक करोड़पति असभ्य एवं असंस्कृत समझा जावेगा यदि उसने शास्त्रीय आचार का परित्याग कर दिया है, और एक लंगोटीधारी दरिद्र शिष्ट व सुसंस्कृत माना जाएगा यदि वह धार्मिक मर्यादा का पालन करता है। इसके ठोस उदाहरण महात्मा गांधी हैं, जो अर्धनग्न इंगलैंड में राजा तक से मिलने पहुँच गए थे। अतः सामाजिक संगठन में वर्ण-व्यवस्था, आश्रमों में जीवन का विभाजन, जीवन का नानाविध संस्कारों के द्वारा पवित्रीकरण, विवाह व संतानोत्पत्ति में काम की अपेक्षा धर्म की प्रधानता, गृहस्थ जीवन में पति-पत्नी का आदर्श, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व, अतिथि-सत्कार, नैतिकता का प्रश्रय सब में यही मूल भावना अंकित थी।

जहाँ एक ओर धर्म जीवन को नानाविधि के रंगों से चित्रित करता रहा, वहाँ दूसरी ओर शिक्षा इस सदाचार के मार्ग को प्रकाश देती रही। मनुष्य के व्यक्तित्व में उसकी वेश-भूषा, आदत, स्वभाव, मनोरंजन के साधन, सामाजिक रीति-रिवाज में इस विशेष प्रकार की शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ था। वर्णानुकूल शिक्षा देना गुरु का उद्देश्य था। शिक्षा का चरम लक्ष्य भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति था। अतः साहित्य, दर्शन, इतिहास, प्रत्येक विषय मानव शिक्षा का अंग था।

संस्कृति के मूल में जहाँ विवेक, शक्ति, अध्यात्म था, वहाँ लोक की सौन्दर्य-भावना भी थी। यह सौन्दर्य-भावना कला का पर्यायवाची शब्द है। अथवा कला के द्वारा उत्पन्न मूर्त सौन्दर्य-भावना से ही संस्कृति की काया पुष्ट होती है। ललित-कलाओं का संस्कृति के साथ यही पुष्ट सम्बन्ध है व था।

अतः प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक संगठन में वर्ण-व्यवस्था, आश्रमों में जीवन का विभाजन, संस्कार, विवाह, गृहस्थ जीवन, खानपान, वेशभूषा, सामाजिक रीति-रिवाज, नैतिकता, ललित कलाएँ, शिक्षा, धर्म आदि की महत्ता है। आगे के अध्यायों में क्रमशः इसी दृष्टिकोण से कालिदास के आधार पर विचार किया जावेगा।

दूसरा अध्याय

वर्ण-व्यवस्था

प्राचीन काल की वर्ण-व्यवस्था तथा आधुनिक काल के जाति-भेद में आकाश-पाताल का अन्तर है। आधुनिक काल में जो जिस जाति में उत्पन्न होता है, वह उसी जाति का कहलाता है, विवाह व खानपान के लिए वह जाति विशेष और विवाह के लिए (इसमें भी सीमाएँ हैं) विचरण कर सकता है। हरेक जाति का निश्चित कोई पेशा नहीं है, फिर भी अधिकतर पैतृक जीविकाधार को ही धारण करना व्यक्ति अच्छा समझते हैं। दिन-प्रतिदिन यह जाति-भेद शिथिल होता जा रहा है। यहाँ तक कि खानपान, विवाह आदि में भी इसको बहुत से व्यक्ति तोड़ते जा रहे हैं। शिक्षा और जीविकाधार का प्रत्येक मार्ग सबके लिए खुला है, केवल पुरोहिताई ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूसरी जाति नहीं कर सकती।

'वर्ण' और 'जाति' दोनों शब्द पृथक्-पृथक् हैं। चारों वर्णों के अनुलोम व प्रतिलोम विवाह के फलस्वरूप तथा अनार्य व आर्यों के मिश्रण से आने वाली सन्तान का कोई निश्चित वर्ण न रह सका। इस मिश्रण में मिश्रण होता ही चला गया, यही जाति तथा उपजाति का उत्पादक हुआ। नाना प्रकार की खोजबीन से आधुनिक बहुत सी जातियों की व्युत्पत्ति मालूम हुई है। इस पर आगे यथा-स्थान प्रकाश डाला जायगा।

वर्ण-व्यवस्था की प्राचीनता व आधार—ऋग्वेद में वर्ण का अर्थ रंग आया है। अर्थात् आर्यों का वर्ण व दासों का वर्ण। "यो दासं वर्णमधरं गुहाकः (ऋग्० २ का १२।४")। इसी प्रकार "दैव्यो वै वर्णा ब्राह्मणः असुर्यः शूद्रः" (तै० ब्रा० १, २।६)। इससे यह स्पष्ट ही है कि वैदिल काल में वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि का परिचायक नहीं था, अपितु आर्य व दास का भेद दिखाने भर को ही था। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का वर्ग (क्लास)-विभाजन था पर जाति नहीं। ऋग्वेद में देवापि की कहानी मिलती है। देवापि का छोटा भाई राजा हो गया। वह स्वयं वर्षा कराने के लिए यज्ञ का पुरोहित बन गया। इसी प्रकार के और भी प्रमाण ऋग्वेद में हैं।

संक्षेप में, प्रारम्भ में, वर्ण केवल दो थे, आर्य व दास। दोनों में रंग व संस्कृति का भेद था। जब आर्यों ने दस्युओं को पराजित किया, तो येही शूद्र कहलाये। धीरे-धीरे विद्वत्ता के कारण ब्राह्मणों ने क्षत्रियों और वैश्यों पर आधिपत्य जमा लिया। संस्कृति के विकास से नए कला, कौशल व पेशे आए। इन्हीं के अनुसार व परस्पर सामाजिक मान्यता में नीचे व्यक्तियों के साथ विवाह के कारण तरह-तरह की जातियाँ उत्पन्न हुईं।

कालिदास और वर्ण-व्यवस्था—कालिदास तक आते-आते प्राचीन वर्ण-परम्परा बहुत कुछ शिथिल हो गई थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के साथ-साथ वे धीवर, वणिक्, जालोपजीवी, लुब्धक, श्रेष्ठी, सार्थवाह आदि का भी उल्लेख करते हैं। अर्थात् प्राचीन वर्णव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी और बहुत-सी उपजातियाँ सम्मुख आ गई थीं। परन्तु शब्द रूप में वर्ण-चतुष्टय की परम्परा अवश्य प्रचलित थी। कवि ने चतुर्वर्ण[१], वर्ण चतुष्टय,[२] वर्ण,[३] वर्णाश्रमाणां[४] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यही नहीं, परम्परानुसार वर्ण और आश्रम की रक्षा का भार राजा पर था, इसको भी वे नहीं भूले[५]। धार्मिक आचरण सब उचित रीति से पवित्रता से पालन करें इसका उत्तरदायित्व राजा पर था[६]। कवि के सम्मुख आदर्श अभी भी प्राचीन था। वे रघुवंशी राजाओं को ही आदर्श समझते थे, जो स्वयं भी वर्णाश्रम के पालन करने वाले हों और दूसरों से भी येही नियम पालन करवाएँ[७]।

---

१. चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्।—रघु०, १०।२२

२. पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य।—रघु०, १८।१२

३. इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम्।—रघु०, १५।४८
यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्,
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।—अभि०, २।१३
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।—अभि०, ५।१०

४. वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे।—रघु०, ५।१९

५. देखिये पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी ३ में रघु०, १५।४८, देखिये पादटिप्पणी २, रघु०, १८।१२
भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां
रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति।—अभि०, ५, पृ० ८४

६. व ७. नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।—रघु०, १४।६७
निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।—रघु०, १४।८५

वर्ण-विभाजन--**ब्राह्मण**--वैदिक साहित्य में ब्राह्मण एक समुदाय अथवा वर्ग विशेष था, परन्तु जाति नहीं। वे विद्वान् तथा पंडित होते थे। अतः यही वर्ग उस समय के समाज में चरम आदरणीय माना जाता था। 'एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः' (तै० सं० १ का ७।३।१) आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। परन्तु इससे यद् निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि ब्राह्मणों ने बलात् दूसरों को अपने को देवता व ईश्वर के समान आदरणीय मानने के लिए विवश किया। बलात् इतना बड़ा काम नहीं हो सकता, कि सारी जनता ब्राह्मणों को सर्वेसर्वा मान लें। वास्तविक महत्ता उनकी विद्वत्ता, निस्स्वार्थता, त्याग, निष्ठा एवं सेवाभाव था। समस्त ब्रह्म विद्या एवं उच्च संस्कृति के वे कर्त्ता, नियामक एवं व्यवस्थापक थे। उनके ही कन्धों पर समस्त वैदिक विद्या का भार था, कि वे एक संतान के बाद दूसरी पीढ़ी को विद्यादान देते चले जायँ। उनके सम्मुख आदर्श 'दान' का था। सांसारिक ऐश्वर्य-सुख को त्याग कर निर्धनता में सन्तुष्ट रहना, जिज्ञासुओं को यदि वे कुछ दक्षिणा न भी दे पावें तब भी शिक्षा देना[1] उनका कर्त्तव्य एवं आदर्श था। अवश्य ही राजा इसमें सहायक था, परन्तु धन व सांसारिक विलासों को न छूना, उनके प्रति आकर्षित न होना, लोभ को पास न आने देना, कोई सरल कार्य न था। इन्हीं गुणों के कारण ब्राह्मण अति पूजनीय माने जाते थे। वे ही गुरु थे,[2] राजपुरोहित थे[3]। अन्य वर्णों को शिक्षा देना, कर्त्तव्य पालन करवाना उनका कार्य था। अध्ययन,[4] अध्यापन,[5] यजन[6] उनका आदर्श था।

---

१. समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै,
समे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्।—रघु०, ५।२०

२. अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतो पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम्॥—रघु०, १।३५

अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः।
अभिषंगजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत्॥—रघु०, ८।७५

तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः।—रघु०, ८।९१

३. रघु० ३।१८, रघु० ७।२०, २८, रघु० १७।१३, रघु० १९।५४, कुमार० ७।४७

४. "गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा...."—रघु०, ५।२४
कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः।—रघु०, १९।२५

५. अध्यापन—देखिए १, भरत व आयुस की शिक्षा ऋषियों ने दी थी।

६. ऋष्यश्रृंगादयस्तस्य सन्तः संतानकांक्षिणः।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः॥—रघु०, १०।४
तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव॥—रघु०, ११।२४

राजा तक ब्राह्मणों के सम्मुख झुकते थे, ब्राह्मणों के वे शासक नहीं थे।

ब्राह्मणों के दो वर्ग—परन्तु कालिदास के समय तक आते-आते ब्राह्मणों के ये गुण बहुत कुछ लुप्त हो चुके थे। इस समय ब्राह्मणों के दोनों प्रकार सरलता से देखे जाते थे। एक वर्ग अथवा प्रथम प्रकार में तपस्वी तथा कुलगुरु आते हैं, जो अब तक प्राचीन आदर्शों का तत्परता के साथ पालन किया करते थे। कण्व ऋषि का तपोवन, कुलगुरु वसिष्ठ, विश्वामित्र का आश्रम, विक्रमोर्वशी में आयुस ने जहाँ शिक्षा प्राप्त की थी वह तपोवन, इन्हीं आदर्शों के प्रतीक हैं। इनमें ऋषि, मुनि तथा रहनेवाले युवा छात्र, तपस्वी, संयमी व त्यागी थे। पुरोहित भी प्रथम वर्ग में लिए जा सकते हैं। पुरोहित शब्द का कवि ने शकुन्तला में कई स्थानों में प्रयोग किया है। राजा दुष्यन्त पुरोहित से ही सम्मति लेता है कि मैं शकुन्तला को ग्रहण करूँ कि नहीं।

"पुरोहितः—(राजानं निर्दिश्य) भो भोस्तपस्विनः असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति।"— अभि०, पृ० ८४

"पुरोहितः—(पुरो गत्वा)एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः।"—अभि०, पृ० ८५

"पुरोहितः—विचार्य यदि तावदेवं क्रियताम्।"—अभि०, पृ० ९४

राजा के पास आए अतिथियों का स्वागत-भार इन्हीं पर था। यही अतिथियों को राजा के पास भेंट करवाने ले जाता था।

"राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः। अमुनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति।"—अभि०, पृ० ८१

दूसरे वर्ग में ब्राह्मणों के पतन के चिन्ह पर्याप्त थे। निस्वार्थ भाव से शिक्षा दान करने के स्थान पर ब्राह्मणों ने वेतन लेकर पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था[1]। अपने आश्रम व एकान्त को छोड़कर वे नगर में राजमहल में ही रहा करते और पढ़ाया करते थे[2]। वे छोटी-छोटी बातों पर लड़ते थे, झगड़ते थे, वाद-विवाद करते थे[3]। वे पेटू होते थे[4]। यद्यपि सिद्धान्त में उनका आदर्श अभी भी "यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति"[5] था। परन्तु व्यावहारिक

---

१. किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्।—माल०, प्रथम अंक, पृ० २७४
२. माल०, प्रथम अंक
३. माल०, पूरा १ अंक
४. भवति पश्याम उदरंभरिसंवादम् (माल०, १ अंक, पृ० २७४) तथा कवि के हरेक नाटक के विदूषक।
५. माल०, १।१७

रूप में इसे जीविका का आधार मानकर चलने लगे थे। पहले दक्षिणा उनका आधार थी[१], अब वेतन[२]।

विदूषक की परम्परा—विदूषक की परम्परा से ब्राह्मणों की मूर्खता, निर्वीर्यता व पेटूपन ('दृढं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते।—माल०, अंक २, पृ० २८६) ही प्रमाणित होता है। दुष्यन्त किस प्रकार माढव्य को शकुन्तला का झाँसा देता है उसे राक्षसों से डरा कर (प्रथमं सपरीवाहमासीत्। इदानीं राक्षस-वृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः।—अभि०, अंक २, पृ० ३८) अंतःपुर भिजवा देता है[३]। सेनापति का कहना, "प्रलपतु एष वैधेयः"[४], सदा खाने की सुन्दर वस्तुओं लड्डू[५] आदि का मन में होना आदि इसके प्रमाण हैं। विक्रमोर्वशी में दासी किस प्रकार विदूषक से "राजा के मन में उर्वशी बसी है, इसी कारण रानी की उपेक्षा कर रहे हैं, रहस्य उगलवा लेती है[६]। उसकी मूर्खता से ही उर्वशी का प्रेमपत्र रानी के हाथ पड़ जाता है[७]। उसका पेटूपन "तत्र पंचविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कंठां विनोदयितुम्"[८] से सिद्ध होता है। इसी प्रकार "बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां

---

१. समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्॥
निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंस्थया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥—रघु०, ५।२०, २१

२. किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्।—माल०, प्रथम अंक, पृ० २७४

३. चपलोऽयं बटुः कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत्।
भवतु एनमेवं वक्ष्ये।—अभि०, २ अंक, पृ० ४०
—क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥—अभि०, २।१८

४. अभि०, अंक २, पृ० ३०

५. किं मौदकखंडिकायाम् तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः।—अभि०, अंक २, पृ० २६

६. विक्रम०, अंक २

७. "भट्टिनी तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति।
भट्टारकमुद्दिश्योर्वश्या काव्यबंध इति तर्कयामि।
आर्यमाणवक प्रमादेन चावयोर्हस्तमागत इति"।—विक्रम०, अंक २, पृ० १८७

८. विक्रमो०, अंक २, पृ० १७१

भवान् समयः खलु स्नानभोजनं सेवितुम्''[1]। प्राकृतिक सौंदर्य में भी उसे कोई खाद्य सामग्री ही दिखाई देती है। उदय होता चन्द्रमा उसके लिए खांड़ का लड्डू है[2]। यदि विदूषक में कुछ चतुराई है भी, तो प्रेम-व्यापार में। मालविका को अग्निमित्र से मिलाने में सबसे बड़ा हाथ विदूषक का ही था[3]। किस प्रकार छल से 'साँप ने काट खाया' झूठा बहाना बनाकर केतकी के काँटे से साँप के दाँतों का चिह्न बनाकर रानी से अंगूठी मँगवा लेता है, कि जहर उतारने के लिए ऐसी वस्तु चाहिए जिसमें नागमुद्रा जड़ी हुई हो, ध्यान देने योग्य है। तत्पश्चात् बन्दीगृह की कर्त्ता-धर्त्ता माधविका के पास जाकर कहा कि ज्योतिषियों ने महाराज से कहा है कि आपके ग्रह बिगड़े हुए हैं, इसलिए सब बन्दियों को छुड़वा दीजिए। देवी ने यह सोचकर कि किसी और को भेजने से इरावती जी बुरा मान जायँगी मुझको ही आपके पास भेजा है, जिससे इरावती जी यह समझें कि मैं नहीं, राजा छुड़वा रहे हैं। अंगूठी देखकर विदूषक की बात पर विश्वास कर मालविका को वह मुक्त कर देती है। विदूषक राजा को चोर-रास्ते से ले जाकर मालविका से संकेत-गृह में भेंट करवा देता है। इसीलिए चोरी पकड़े जाने पर इरावती विदूषक से कहती है—''सत्यमयमत्र ब्रह्मबन्धुना कृतः प्रयोगः। इयमस्य कामतंत्रसचिवस्य नीतिः''[4]। विदूषक की बातों से हँसी अवश्य आती है पर यह हास्य उसकी मूर्खतापूर्ण बातों से उत्पन्न होता है।

समाज में ब्राह्मणों का स्थान—परन्तु इतना होने पर भी समाज में ब्राह्मणों का यथेष्ट आदर था। कुलगुरु, पुरोहित, तपस्वी, ऋषियों के प्रति सबकी विशेष आस्था थी[5]। द्वार पर उनका आना गृहस्थ अपना सौभाग्य सम-

---

१. विक्रमो०, अंक २, पृ० १९०

२. ही ही भो एष खलु खंडमोदक सश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम्।
—विक्रम०, अंक ३, पृ० १९७

३. माल०, अंक ४ पूरा।

४. माल०, अंक ४, पृ० ३३५

५. रघु०, १।५७ (पूरा पहला सर्ग), रघु०, ५।३-११—श्लोक २३, २४, २५ रघु०, ११।१–६ श्लोक, कुमार०, ५।३१, ६।५२–६३। अभि०, ५।९, १४; ७. अंक सम्पूर्ण। माल०, अंक १
स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम्॥—रघु०, ५।२५

झते थे और उनकी इच्छापूर्ति व आतिथ्य-सत्कार में जी-जान लड़ा देते थे[१]। राजा ब्राह्मणों को गाँव आदि दान देते थे[२]। उनकी बात को वे ब्रह्मवाक्य मानते थे। आचार्य गणदास व हरदास को देखकर अग्निमित्र आदर करते हुए उन्हें स्थान देते हैं। दुष्यन्त शार्ङ्गरव आदि को देखकर आदर-अभ्यर्थना करते हुए कण्व का कुशल पूछते हैं। दुष्यन्त के हृदय में तपस्वियों के प्रति कितना सम्मान है वह इससे व्यक्त होता है:—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः[३] ॥

राजा दिलीप, रघु, राम आदि की वसिष्ठ, वाल्मीकि और ऋषि कौत्स के प्रति कितनी अधिक श्रद्धा थी, यह रघुवंश में भली भाँति व्यक्त की गई है[४]। यहाँ तक कि विदूषक जैसा मूर्ख, डरपोक और पेटू भी राजा के द्वारा कभी अपमानित नहीं किया जाता। राजा उसे अन्तरंग मित्र समझकर अपने हृदय का द्वार सम्मुख खोलकर सम्मति लेते हैं[५]।

ब्राह्मणों की वेश-भूषा—ब्राह्मण लोग यज्ञोपवीत पहनते थे[६]। दाएँ कान पर रुद्राक्ष की माला धारण करते थे[७]। वस्त्रों में अन्य पुरुषों की तरह धोती व

---

१. इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य सः।
आददे वचसामन्ते मंगलालंकृतां सुताम् ॥
एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पता।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥—कुमार०, ६।८७, ८८

२. ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम्।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥—रघु०, १।४४

३. अभि०, २।१३

४. रघु०, १।५७ (पूरा प्रथम सर्ग), ५।३–११, २३–२५, ११।१–६

५. अभि०, अंक २; विक्रम०, अंक २; माल०, अंक १

६. पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणम्।—रघु०, ११।६४
मुक्ता यज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः।
रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥—कुमार०, ६।६
गोरोचननिकषपिंगजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः।
——विक्रम०, ५।१९

७. अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वं गणनामिवोद्वहन् ॥—रघु०, ११।६६

चादर का प्रयोग करते होंगे। उनके सिर पर चोटी अवश्य होती थी[१]। साधारण ब्राह्मणों से पृथक् तपस्वियों की वेशभूषा होती थी। वे वल्कल वस्त्र पहनते थे। सिर पर जटा, कमर में मेखला उनके लिए आवश्यक थी। हाथ में पलाश-दंड भी रहता था। तपस्वियों की वेशभूषा विस्तारपूर्वक वेशभूषा अध्याय में वर्णित की जायगी।

पेशा—ब्राह्मण अधिकांश में अध्यापन[२] का कार्य ही किया करते थे। वे छात्रों को ब्रह्मविद्या तथा अस्त्र-शस्त्र चलाना भी सिखाते थे[३]। नाटचकला की शिक्षा देना भी उनका पेशा था[४]। विदूषकों के विषय में पढ़ने से मालूम होता है कि राज-दरबार में भी वे पुरोहित, मित्र, बन्धु आदि के रूप में रहते थे[५]। वैसे भी यज्ञ करवाना[६], विवाहादि करवाना[७] अर्थात् धार्मिक कार्यों में इनका सबसे बड़ा हाथ था।

यही नहीं, समय पड़ने पर वे राज्य का काम भी सँभालते थे। शुंग वंश ब्राह्मणों का ही था[८]। स्वयं परशुराम ब्राह्मण-संतान होते हुए भी युद्ध करते थे।

क्षत्रिय—समाज में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान उच्च था। "ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः"[९] इसका प्रमाण है। परन्तु प्रारम्भ में जैसे ब्राह्मण जातिविशेष न होकर वर्गविशेष था, उसी प्रकार क्षत्रिय केवल वर्ग-विशेष ही था।

---

१. भो वयस्य गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखंडके ताडयमानस्या-
प्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः।—अभि०, अंक ५, पृ० ८०

२. भरत, आयुस, राम, लक्ष्मण की शिक्षा ऋषियों द्वारा हुई थी। पूर्व उल्लेख—रघु०, ५।२०

३. देखिए, पादटिप्पणी नं० ४

४. माल०, अंक १

५. कवि के तीनों नाटकों में विदूषक।

६. और ७. रघु० ३।१८; रघु० ७।२०, २८; रघु० १७।१३; रघु० १९।५४; कुमार० ७।४७

८. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द द्वितीय, भाग प्रथम, ३ अध्याय, पृष्ठ १२३

९. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ९, १४

कालिदास ने स्वयं क्षत्रियों की जातिगत विशेषता 'क्षतात् किल त्रायत'[१] (अर्थात् दूसरों को जो नष्ट होने से बचाए) बताई है। अतः यह वर्गविशेष, युद्ध करने के लिए, शत्रुओं से दूसरों की रक्षा के लिए ही था। अतः राजा जिसका काम रक्षा करना और प्रजा का पालन करना था, क्षत्रिय ही होता था। राजा की परिभाषा कवि के अनुसार 'राजा प्रकृतिरंजनात्'[२] है। प्रजा को किसी प्रकार का दुःख न होने पाए, वह सदा ऐसा प्रयत्न क्रिया करता था। चूँकि राजा क्षत्रियों का प्रतिनिधित्व करता था, अतः उसके शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए थे, निरपराध को मारने के लिए नहीं[३]। यही नहीं, पृथ्वी का पालन करने की शक्ति क्षत्रियों में स्वाभाविक एवं जन्म से ही होती है[४]। क्षत्रियों का धर्म वीरत्व था, सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का संहार। अतः क्षत्रियों की आकृति ही वीर थी, अर्थात् वे लम्बे-चोड़े और पुष्ट शरीरवाले होते थे। कवि ने राजा दीपल के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि उनकी चौड़ी छाती, साँड़ के-से ऊँचे व भारी कन्धे, शाल के वृक्ष जैसी लम्बी भुजाएँ और अपार तेज को देख कर ऐसा आभासित होता था मानों क्षत्रियों का धर्म वीरत्व उनके शरीर में यह समझकर आ डटा हो, कि सज्जनों की रक्षा व दुर्जनों का नाश करने का जो मेरा काम है, वह इसी शरीर से पूरा हो पावेगा[५]।

अतः राजा का काम एक ओर पृथ्वी का पालन करना और सज्जनों की रक्षा करना था, दूसरी ओर दुर्जनों का संहार। अतः आदर्श राजा में 'शास्त्रेष्वकुंठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता'[६] होना आवश्यक था। इससे यह प्रमाणित होता है कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के समान शास्त्र इत्यादि भी पढ़ते थे, वे विद्वान् भी होते थे और

---

१. रघु०, २।५३। २. रघु०, ४।१२।

३. तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥ —अभि०, १।११

रम्यास्तपोवनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणांक इति ॥—अभि०, १।१३

४. शमयति गजानन्यान्गंधद्विपः कलभोऽपि सन्
भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजंगशिशोर्विषम् ॥
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहोभरः ॥—विक्रम०, ५।१८

५. व्यूढोरस्को वृषस्कंधः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥—रघु०, १।१३

६. रघु०, १।१९

युद्ध-विद्या में कुशल भी। एक ओर उनका उदार तथा दयालु होना आवश्यक था, दूसरी ओर अपक्षपाती और न्याय में कठोर[1]।

धनुर्विद्या क्षत्रियों की शिक्षा का मुख्य अंग थी[2]। क्षत्रिय शस्त्र को सदा अपने पास रखते थे, चाहे वे बालक ही क्यों न हों[3]। जिस प्रकार ब्राह्मण उपवीत से पहचाने जाते थे, उसी प्रकार क्षत्रिय धनुष से[4]। प्रणाम करते समय भी वे धनुष को अपने से पृथक् नहीं करते थे, अपितु दोनों हाथों के बीच में धनुष रख लिया करते थे[5]।

क्षत्रिय भी ब्राह्मणों के सदृश ही उच्च थे। अतः द्विज[6] शब्द का प्रयोग क्षत्रियों के लिए भी होता था। ब्राह्मणों की तरह जातकर्मादि संस्कार इनके भी होते थे[7]।

क्षत्रियों के विभिन्न कुल—क्षत्रियों के अनेक वंशों का कवि ने परिचय दिया है। इन कुलों में सूर्य वंश[8], सोम वंश[9], पुरु वंश[10], क्रथकैशिक[11], नीप

---

१. भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥—रघु०, १।१६
स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः॥—रघु०, ४।१८

२. रघु०, १।१६; ३।३१,६; ७।५५–६२; ६।१०; १२।६७–६६; अभि०, १ अंक; विक्रम०, १ अंक; रघु०, २।२६; ३१,८; गृहीतविद्यो धनुर्वेदेभिविनीतः (विक्रम०, ५ अंक)।

३. धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ।—रघु०, ११।५

४. पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्।—रघु०, ११।६४

५. चापगर्भमंजलिं बद्ध्वा प्रणमति। (विक्रम०, ५ अंक, पृष्ठ २४५)

६. इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण।—रघु०, ५।२३
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयांबभूव॥—रघु०, ६।७६

७. रघु०, ३।१८, ३३ (गोदान), रघु०, १५।६१ (श्राद्ध), विक्रम०, ५ अंक (जातकर्म), अभि०, ७ अंक (जातकर्म)
"यत्क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्।" (विक्रम०, ५ अंक) इनका उदाहरण संस्कार में सविस्तर मिलेगा।

८. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।—रघु०, १।२

६. महाभाग। सोमवंशविस्तारयिता भव।—विक्रम०, ५ अंक, पृ० २४५

१०. व ११. क्रथकैशिकवंशसंभवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा।—रघु०, ८।८२

वंश[1], पांड्य वंश[2] प्रसिद्ध हैं। रघु, दिलीप आदि सब सूर्यवंशी राजा थे। दुष्यन्त पुरुवंशी क्षत्रिय था। पुरू रवा सोमवंशी था। पाण्ड्य शब्द पाण्डु जनपद से क्षत्रिय अर्थ में बना है।

वैश्य—कवि ने वणिज,[3] नैगम,[4] श्रेष्ठी,[5] सार्थवाह[6] शब्दों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है। अवश्य ही ये शब्द वैश्य वर्ण के द्योतक हैं। वैश्य अधिकतर व्यापार ही करते थे अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान ले जाते थे और बेचते थे।

समाज में वैश्यों का स्थान—ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद वैश्य का समाज में स्थान आता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह इसके भी संस्कार होते थे[7]। ब्राह्मणों के ऊपर क्षत्रियों का प्रभुत्व नहीं था[8]। वे उनकी धन-सम्पत्ति नहीं ले सकते थे, परन्तु वैश्यों के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं था। समुद्र-व्यवहारी सार्थवाह धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् चूँकि उसके कोई सन्तान न थी, उसका धन राजकोष में आ जाना चाहिए, ऐसा मन्त्री ने राजा को लिखा था[9]।

शूद्र—आर्यों ने अपने शत्रुओं को पराजित करके उनको दास बना लिया था, जो उनकी सेवा किया करते थे। ऋग्वेद में दास अथवा दस्यु का बहुत अधिक वर्णन है। ये ही वे थे जो आगे शूद्र कहलाए। शूद्रों के विषय में मनुस्मृति का कहना है—"शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा। दास्यायैव हि सृष्टोसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा"[10]।

---

१. नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।—रघु०, ६।४६
२. पांड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः········।—रघु०, ६।६०
३. माल०, १।१७ वणिज;
४. नैगम—विक्रम०, ४।१३
५. 'देव इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निवृतपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते'
—अभि०, अंक ६
६. 'समुद्रव्यवहारी सार्थवाह धनमित्रो नाम नौर्व्यसने विपन्नः'
—अभि०, अंक ६, पृ० १२१
७. देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ४
८. राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जन—(गौतम, ११. १.) तथा यत्तु षड्भिः परिहार्यो राज्ञाऽवध्यश्चावन्ध्यश्चादण्ड्यश्चावहिष्कार्यश्चापरिवाधश्चापरिहार्यश्चेति।
—गौतम, ८।१२-१३
९. राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्।—अभि०, अंक ६, पृ० १२१
१०. मनुस्मृति, अध्याय ८, ४१३

समाज में स्थान—समाज में उनका क्या स्थान था यह इससे स्पष्ट हो जाता है—'शूद्रं मनुष्याणामश्वः पशूनाम् तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणावश्वश्च तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'[1] अर्थात् शूद्रों को किसी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त न था। शूद्रों का वास्तविक धर्म द्विजों की सेवा करना था। इनका ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समान कोई संस्कार नहीं होता था। वे वेद आदि नहीं पढ़ सकते थे। पवित्र मंत्रों को सुन भी नहीं सकते थे। इनके लिए विवाह आदि भी बिना वैदिक मन्त्रों के होते थे। मनु के अनुसार इनके समस्त धार्मिक कार्य बिना मन्त्र के होने चाहिए।[2] इनके लिए कुछ भी पाप नहीं है, धर्म में इनका कुछ भी अधिकार नहीं है, न किसी भी कार्य करने का प्रतिषेध है। ये किसी संस्कार के भी योग्य नहीं हैं।[3]

कालिदास अवश्य ही इस परम्परा के मानने वाले होंगे। उन्होंने चतुष्टय वर्ण का कई स्थानों में प्रयोग किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि शूद्र भी उनके साथ में रहे होंगे। जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्राचीन आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे उसी प्रकार ये भी करते होंगे। परन्तु चूँकि वर्ण-व्यवस्था तथा वे बन्धन शिथिल पड़ गये थे, इस कारण शूद्रों के बन्धन भी उतने कठोर न होंगे। मालविकाग्निमित्र में 'वर्णावरः'[4] शब्द आता है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि शूद्रों के साथ भी विवाह हो जाते होंगे। हाँ, उनको वह सम्मान चाहे न मिलता होगा, जो समान वर्ण में विवाह करने में। नीच वर्ण की स्त्री से विवाह करने पर उत्पन्न संतान उतने अधिकार भी न प्राप्त करती होगी जितने समान वर्ण से उत्पन्न संतान। 'वर्णावरो भ्राता' इसी प्रकार का दूसरे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न भाई था।

चांडाल तथा अन्य जातियाँ—उच्च वर्ण के अतिरिक्त भी अन्य मनुष्य थे, जो विशेष रूप से किसी भी वर्ण के नहीं कहला सकते थे; क्योंकि यदि माता-पिता एक ही वर्ण के होते थे, तो संतान का भी वही शुद्ध वर्ण रहता था, अन्यथा इस प्रकार का वर्णसंकर धीरे-धीरे उपजाति व उपवर्ण को जन्म देने लगा था। एक पेशे एवं एक व्यवसाय के मानने वाले अपना-अपना पृथक्-

---

१. तैत्तरीय संहिता, ७। १. १. ७

२. मनुस्मृति, १०।१२७

३. मनुस्मृति, १०।१२६

४. 'अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम।'

—माल०, अंक १, पृ० २६६

पृथक् समुदाय बनाने लग गए थे। यह भी आगे चलकर भिन्न-भिन्न जातियों का जन्म-दाता बना। उदाहरण के लिए लुहार, सुनार, कुलाल, निषाद, रथकार, इषुकार, धीवर, लुब्धक, इसी प्रकार की जातियाँ सम्मुख आईं। अधिकतर इस प्रकार की जातियाँ अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाती थीं। शकुन्तला में यद्यपि धीवर का सबने उपहास किया था, कि बड़ा अच्छा पेशा है, परन्तु उसने यही उत्तर दिया था कि जिस जाति को भगवान् जो काम देता है उसे छोड़ा नहीं जाता। पशुओं को मारना निर्दयता है, पर वेदज्ञ ब्राह्मण यज्ञ के लिए पशुओं को मारते हैं[1]।

समाज में चांडाल का स्थान अति निकृष्ट था। चतुर्वर्ण के अतिरिक्त पाँचवें वर्ग में लुब्धक, जालोपजीवी, धीवर आदि आते हैं, जिनसे समाज घृणा करता था। खान, पान, स्पर्श सबके ही नाते ये त्याज्य थे। ये नगर के बाहर रहते थे। भारतीय इतिहासकारों ने चीनी यात्री फाह्यान का ऐसा ही लेख उद्धृत किया गया है। मनुस्मृति में अन्त्यज शब्द ऐसे ही बहिष्कृत (चांडाल) व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है[2]।

आभीर—जिनको कालिदास ने घोष[3] कहा है, वे आभीर ही थे। आजकल इन्हीं लोगों को अहीर कहा जाता है। परन्तु आभीर एक जनपद भी था। यह सिंध में था। वहाँ के निवासी आभीर कहे जाते थे। मनुस्मृति में ब्राह्मण और अम्बष्ठ कन्या की संतान आभीर कही गई है[4]। इनका काम एवं व्यवसाय दूध, घी और मक्खन आदि का होता था। रघुवंश में दिलीप के वशिष्ठ-तपोवन जाते समय घोषवृन्द ताजा मक्खन लेकर जाते हैं और भेंट करते हैं[5]।

किरात—वेदव्यास ने किरातों को शूद्र का ही अंश (सब-डिवीजन) कहा है[6]। मनुस्मृति के अनुसार किरात क्षत्रिय ही हैं। उपनयन आदि क्रियाओं के लोप से और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा आदि न देने के कारण ये शूद्रता को

---

१. सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः ॥—अभि०, अंक ६, १

२. मनुस्मृति, अध्याय ४, ६१

३. हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।—रघु०, १।४५

४. मनुस्मृति, अध्याय १०, १५

५. देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ३

६. धर्मशास्त्र का इतिहास, द्वितीय जिल्द, भाग १, पृष्ठ ७७

प्राप्त हुए[1]। रघुवंश में रघु ने किरातों को हराया था[2]। किरात बड़ी वीरता के साथ लड़े थे। अतः ये क्षत्रिय ही होंगे, ऐसी सम्भावना है। कुमारसम्भव में भी किरातों का प्रसंग है[3], जो मृगों की खोज में इधर-उधर हिमालय पर्वत के वनों में घूमते रहते थे। कदाचित् शिकार करना और युद्ध करना इनका व्यवसाय था।

धीवर[4]—गौतम इसे प्रतिलोम विवाह की सन्तान मानते हैं। वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की संतान धीवर है, ऐसा ही उनका मत है[5]। ये नीच वर्ण के होते थे। इनका पेशा मछली पकड़ना था। शकुन्तला में भी धीवर मछली-वाला ही कहा गया है[6]।

बन्दी,[7] चारण, भाट, मागध—ये सब लगभग एक ही हैं। इनका मुख्य काम राजा का यश-गान करना है। परन्तु कामों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। कालिदास के ग्रंथों में बन्दी, सूतपुत्र, वैतालिक का उल्लेख है। सूतपुत्र का काम राजा को जगाना था (रघु०, ५।६५)। वैतालिक राजा की जय-जयकार किया करते थे (अभि०, ५।७,८; विक्रम०, ५।२१,२२), पर वे समय की सूचना के लिए प्रधानतः नियुक्त थे (माल०, २ अंक १२)। बन्दी और वन्दीपुत्र राजा की वंशावली और विरुद बखान किया करते थे (रघु०, ४।६; रघु०, ५।७५; रघु०, ६।८)। मागध और बन्दी (वन्दिनः, वन्दिनः) प्रति-लोम विवाह की सन्तानें हैं। वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान वन्दी या मागध कहलाई। श्री काणे ने इस जाति का ऐसा ही इतिहास अपनी पुस्तक 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में प्रकाशित किया है[8]।

लुब्धक[9]—ये भी निम्न वर्ण के लोग हैं। इनका काम चिड़िया आदि

---

१. मनुस्मृति, अध्याय १०, ४३-४४
२. गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः।—रघु०, ४।७६
३. यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखंडिबर्हः।—कुमार०, १।१५
४. अभि०, अंक ६
५. गौतम-धर्मसूत्र, ४।१७; धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ८४
६. अभि०, अंक ६
७. अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके।—रघु०, ६।८
८. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ९०, ९४
९. ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैः
वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि।—अभि०, अंक २, पृ० २७

पकड़ना था। व्याध एवं लुब्धक एक ही वर्ग अथवा एक ही जाति हैं। 'व्याध-जनगीतगृहीतचित्तयेव हरिण्यैतन्न विज्ञातं मया।'—माल०, ३ अंक।

शौंडिक[१]—लुब्धक की तरह ये भी निम्नवर्ण के मनुष्य थे। इनका व्यवसाय मदिरा वेचना था।

सौनिक[२]—कालिदास ने सौनिक शब्द के ही आशय में 'सूना परिसरचर' शब्द का प्रयोग किया है। इनका व्यवसाय मांस बेचना था।

सूत[३]—श्री काणे ने गौतम, बौधायन, कौटिल्य, मनु सबके ही आधार पर इसे प्रतिलोम सन्तान प्रमाणित किया है। क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की संतान सूत कहलाई[४]। कवि ने सूत का काम रथ हाँकना ही कहा है। मनु भी इनका यही व्यवसाय मानते हैं[५]।

जालोपजीवी—जालोपजीवी से कालिदास का आशय धीवर का ही है। शकुन्तला में धीवर अपने को जालोपजीवी कहता है। जाल डाल कर मछली पकड़ना इसका पेशा था।

शिल्पकार[६]—मूर्ति तथा प्रासाद आदि का निर्माण करने वाले शिल्पकार

---

१. 'कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते।
तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः॥—अभि०, अंक ६, पृ० १०१

२. 'भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्र आमिषलोलुपो भीरुकश्च।'
—माल०, अंक २, पृ० २८९

३. अभि०, अंक १

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ९८

५. मनुस्मृति, १०।४७

६. रघुवंश के १६वें सर्ग में कवि ने उजड़ी अयोध्या का वर्णन किया है जहाँ चित्रित (मूर्ति में) हाथी, हथिनियाँ, मूर्तियाँ, बावड़ियाँ आदि के पढ़ने से अनुमान किया जाता है कि शिल्पकार कोई अवश्य था। शिल्पीसंघ से शिल्पियों के अनेक वर्गों का अभिप्राय है। आगे चलकर सर्ग १६, ३८वें छन्द में निश्चित रूप से 'शिल्पिसंघाः' इसकी पुष्टि कर देता है। शिल्पकार के लिए कवि ने 'शिल्पिसंघाः' शब्द (रघु०, १६।३२) प्रयुक्त किया है। इसके अन्तर्गत पाणिनि ने कुलाल, बढ़ई, धनुष्कार, रजक, खनक, बुनने वाले, सुनार, मणि तराशने वाले, लुहार आदि लिए हैं—(India as known to Panini, by V. S. Agarwala, Ch. Iv.)। इन सबसे ही कवि का आशय हो सकता है, यद्यपि जहाँ यह प्रयुक्त है वहाँ वास्तुकला के

कहलाते थे। इनकी उत्पत्ति किन जातियों से सम्मिश्रण से हुई, कहा नहीं जा सकता। संभव है, पेशे से ही इनकी पृथक् जाति बन गई हो।

मल्लाह[1]—कालिदास ने 'आनायिन्' शब्द का प्रयोग किया है। मल्लिनाथ इसका अर्थ 'जालिकाः' ही करते हैं। जाल को आनाय कहते थे। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है (जालमानायः, ३।३।१२४)।

नर्तकी[2]—इसका पेशा नाचना था। यह राजाओं के दर्बार अथवा अन्तःपुर में नाचकर राजा का मनोरंजन किया करती थी। सम्भवतः यह समाज की अभिशापित स्त्रियाँ होंगी, जिनसे कुलीन विवाहादि सम्बन्ध न करते होंगे। अतः जीविका के लिए ही वे इस पेशे को धारण करती होंगी।

उद्यानपालिका[3]—उद्यान के वृक्षादि की देखभाल करना, पुष्प-चयन करना इनका काम था। प्रारम्भ में चाहे यह कोई जातिविशेष न हो, पर धीरे-धीरे यह जाति ही बन गई।

तस्कर[4] **व कुम्भीरक**[5]—अवश्य ही यह कोई जाति न थी, न है ही; परन्तु जीविका के लिए यह व्यवसाय ग्रहण अवश्य किया गया।

जानने वालों का साक्षात् प्रसंग है। शिल्पियों के औजारों में मणि छेदने के लिए वज्र का नाम है। वज्र एक विशेष औजार था। 'संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव' (अभि०, ६।६), 'आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति' (रघु०, ६।१२) से लगता है कि इनके कुछ विशेष औजार रहे होंगे। मालविकाग्निमित्र, अंक १ में भी कवि सुनार के लिए शिल्पी का प्रयोग करता है (अहो बकुलावलिका। सति देव्या इदं शिल्पि-सकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमंगुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपलम्भे पतितास्मि)।

१. स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम्।—रघु०, १६।५५
ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान्।—रघु०, १६।७५

२. रघु०, १९।१४ विस्तृत उदाहरण 'ललितकला' के अध्याय में प्राप्त होगा।

३. 'भवतु अनयोरेवोद्यानपालिकयोः तिरस्करिणी.......'।
—अभि०, अंक ६, पृ० १०२
'तथावत्प्रमदवनपालिकां मधुकरिकामन्विष्यामि'।—माल०, अंक ३, पृ० २९०

४. आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः।—विक्रम, अंक ५, १

५. अहो कुम्भीरकैः कामुकैः च परिहरणीया खलु चन्द्रिका।—माल०, पृ० ३२४
'अरे कुम्भीरक कथय.......'—अभि०, पृ० ९७

आगुरिक—(रघु०, ९।५३) इनका काम शिकारी कुत्तों के द्वारा शिकार ढूँढना था। कवि ने राजा दशरथ के मृगया-सहायतार्थ इनको वन में उनके साथ भेजा है।

नट[1]—निम्न वर्ण अन्त्यज में इनका स्थान आता है। इनका काम अर्थात् व्यवसाय रंगमंच पर नाटक करना था। इसमें स्त्री व पुरुष दोनों होते थे। स्त्रियाँ नटी कहलाती थीं।

वणिज[2]—यह वैश्यों का ही एक वर्ग था। इनका काम वस्तुओं का क्रय-विक्रय करना था।

नोट—ये सब जातियाँ पेशे के अनुसार ही बनीं। सब अपने पैतृक व्यवसाय को ही धारण करती थीं। शकुन्तला में 'किसी भी पेशे की निन्दा नहीं करनी चाहिए, ये सहज कर्म सभी भले हैं'—ऐसा कहा है[3]।

अनार्य जातियाँ—इन जातियों में हूण, शक, यवन आदि आते हैं। (मनु०, १०—४३—४५) और महाभारत (अनुशासन पर्व, ३३, २१–२३; ३५, १७–१८) का ऐसा कहना है कि शक, यवन, शबर, किरात आदि विदेशीय जातियाँ वास्तव में क्षत्रिय ही थीं परन्तु चूँकि ब्राह्मणों के बनाए धर्म और नियम उन्होंने स्वीकार नहीं किए, चूँकि ब्राह्मणों के साथ उनका सम्पर्क नहीं हुआ, इसलिए वे शूद्र समझे गए[4]।

कवि कालिदास ने विदेशीय अथवा अनार्थ जातियों में 'पारसीक',[5] जिनकी स्त्रियों को उन्होंने यवनी[6] कहा है, हूण[7] और विशेषतः यवन का उल्लेख किया है। राजा की परिचारिका, जो धनुष-बाण आदि लाकर देती थी, कवि के मतानुसार यवनी[8] ही कहलाती थी। ये विदेशीय राजाओं को परास्त करने के बाद उनके यहाँ की ही स्त्रियाँ होंगी।

---

१. अभि०, कवि ने 'नटी' शब्द लिया है।
२. माल०, अंक १, १७
३. अभि०, ६।१ पूर्वोल्लेख।
४. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १००
५. 'पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना'—रघु०, ४।६०
६. 'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः'—रघु०, ४।६१
७. 'तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्'—रघु०, ४।६८
८. एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः ....।
—अभि०, अंक २, पृ० २७

गन्धव,[1] किन्नर,[2] विद्याधर,[3] अप्सरा[4]—अभी तक ये सब देव-जातियाँ ही समझी जाती थीं, परन्तु अभी हाल ही में श्री रांगेय राघव की एक पुस्तक 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' प्रकाशित हुई है, जिसमें उन्होंने इन सब पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि द्रविड़ जाति भी बाहर की ही आई जाति है, जो यहाँ भारत के मूल निवासियों से उसी प्रकार घुल-मिल गई जैसे बाद में आर्य। इन्हीं मूल निवासियों में वे यक्ष, गंधर्व, किन्नर का नाम लेते हैं[5] (भूमिका, पृष्ठ ख)। द्रविण युग में भारत के

'यवनी—भर्तः एतद्धस्तावापसहितं शरासनम्'—अभि०, अंक ६, पृ० १३४
'राजा—धनुर्धनुस्तावत्। यवनी—एषाऽनेष्यामि'।
—विक्रम०, अंक ५, पृ० २४१

१. रघु०, ५।५१–५९
२. रघु०, ४।७८; कुमार०, १।८, १४; कुमार०, ३।३३, ३८; कुमार०, ५।५६; अभि०, अंक ७
३. कुमार०, १।७; 'विद्याधर काननलीनो दुःखविनिर्गतवाष्पोत्पीड'
—विक्रम०, अंक ४
४. रघु०, ७।५१; राजा—'परस्ताज्ज्ञायत एव सर्वथा अप्सरःसंभवैषा'
—अभि०, अंक १
उरूअरुसंभवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरसः'—विक्रम०, अंक १
'अस्त्युर्वशीत्यप्सराः'—विक्रम०, अंक २
५. डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार किरात भी मूलतः भारत में बाहर से आए थे। द्राविण-भाषी 'दास-दस्यु' तथा दक्षिण-देशीय 'निषाद' जनों के अतिरिक्त कार्यों को संभवतः कुछ चीन-भोट-भाषी उपजाति गण भी (जिन्हें वैदिक काल से आर्य लोग 'किरात' कहते थे) हिमालय के बाद के प्रदेश तथा पूर्वी-भारत के कुछ स्थानों में मिले। ये 'किरात' भारतीय मोंगलाकार जन (Indo-Mongoloids) भारत में बहुत संभव है कि १००० वर्ष ई० पू० से भी बहुत पहले आ गये थे। उत्तर तथा पूर्वी-भारत के हिन्दू इतिहास और संस्कृति के विकास में इनका काफी बड़ा हिस्सा है।
—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी १९५४, पृष्ठ ५१

किरात इस समय नेपाल की पूर्वी भाग में बसे हुए हैं। इनके चित्रों के देखने से ये मोंगोलोइड प्रतीत नहीं होते। भागवत पुराण के साक्ष्य के अनुसार ये 'पाप' माने जाते थे—

किरातहूणान्ध्र-पुलिन्द-पुल्कसाः आभीरकंकाः यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च 'पापाः' यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

उत्तर-प्रदेश में अनेक जातियाँ थीं, ये यक्ष, राक्षस, गंधर्व, किन्नर आदि ही थीं, (भूमिका, पृ० ङ)। यक्ष और रक्ष का धातु-मूल एक है। राक्षस और कुबेर भाई-भाई कहे जाते हैं। इनके समाज में स्त्री विलास की वस्तु न थी। पहले नर-नारी सम्बन्ध स्वतन्त्र रहे थे, जो व्यक्तिगत सम्पत्ति वनने पर भी स्त्री को वच्चा पैदा करने वाली मशीन नहीं वना सकी। यही परम्परा थी (भूमिका, पृष्ठ ङ)। देव से तात्पर्य देवता का नहीं है। इस भूमि पर देव-जाति के अस्तित्व का श्री स्वामी शंकरानंद ने उल्लेख किया है। अथर्ववेद में भी देव इसी पृथ्वी के वासी थे, ऐसा कहा गया है। यह देव-जाति सोम पीती थी और सोम गंधर्वों से खरीदा जाता था (पृष्ठ ६७), बाद में शूद्र के रूप में गंधर्वों का वर्णन किया जाता था। इसी देव-योनि में विद्याधर, अप्सरा, गंधर्व, किन्नर आदि हैं—

विद्याधराप्सरोयक्ष-रक्षोगन्धर्व-किन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥——पृ० ७१

श्री रांगेय राघव किरात को भी जातिविशेष ही मानते हैं। किरात-परिवार हिमालय के आस-पास फैला था। यह देव का सहायक था (पृ० ११५)। आर्य विदेशी थे। आर्य एक जाति नहीं, अनेक कबीले या छोटी-छोटी जातियाँ थीं, जो परस्पर भी लड़ती थीं। ये लोग प्रारम्भ में ईरान में आकर वसे और यहीं द्रविड़ जाति-समूह तथा किरात-परिवार——यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि से सम्बन्ध हुआ (पृ० १२१)। गन्धर्व सेना का वर्णन कवि ने भी किया है—'शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा' (विक्रम०, अंक १)।

समाज में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व—सामाजिक अराजकता न फैलने पाए, इसके लिए भारतवर्ष में सदा से ही वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व है। पश्चिम में सदा नए-नए सिद्धान्त बने, उलझनें बढ़ती गईं, जिससे बाहर युद्ध और अन्दर हड़ताल बढ़ती गईं, लेकिन भारत में यह उन्माद कभी न छाया। व्यक्तिगत आत्मिक शुद्धता, आत्मपूर्णता, मानव के कल्याण की भावना, नैतिकता की रक्षा साथ ही पारिवारिक सुख-शान्ति समाज के लिए बहुत कुछ मूल्य रखती है। सामाजिक जीवन इन्हीं कर्त्तव्यों और आदर्श पर आधारित था। जब मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सुखी रहता है तथा आदर्श होता है तभी सामाजिक जीवन भी आदर्श रहता है। यदि व्यक्तिगत जीवन में आकांक्षाएँ बढ़ती जायें तो आर्थिक सङ्घर्ष भी बढ़ेगा। अतः कालिदास ने वर्ण-व्यवस्था से समाज में एकता, संगठन और सन्तुलन स्थापित किया। सभी मनुष्य समाज में एक बड़े परिवार के विभिन्न सदस्यों की भाँति रहते थे।

वर्ण-व्यवस्था का यही महत्त्व था। यह राष्ट्रीय सेवा और कार्यों का एक संगठन था, जिसमें सब एक-दूसरे पर निर्भर रहते थे। जातियों का अभिप्राय एक-दूसरे को दबाना नहीं, अपने अधिकारों की वृद्धि नहीं, अपितु सहयोग एवं एकता थी। मनु का आदर्श कवि के भी सम्मुख था और तत्कालीन मनुष्यों के सम्मुख भी। (रघु०, १।१७; रघु०, १४।६७)

कालिदास ने बताया है कि ब्राह्मण लोग कैसे संयम और त्याग के साथ जीवन व्यतीत करते थे, शिक्षा प्रदान करना उनका परम उद्देश्य था, क्षत्रिय सबकी रक्षा करते थे, आत्मसंयमी थे, अपने सुन्दर सुचारु शासन से सबको प्रसन्न रखते थे।

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥
—रघु०, २।५३

इसी प्रकार दुष्यन्त का कहना—

'आपन्नभयत्रस्तेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः।'—अभि०, अंक २, १६

कवि ने वैश्यों के विषय में भी शकुंतला में लिखा है कि वे अन्य देशों के साथ व्यापार कर देश के धन-धान्य की वृद्धि करते थे। शूद्र भी अपने व्यवहार में कुशल थे और अपनी पैतृक वृत्ति के प्रति अभिमानी थे। मछुआ कहता है—'सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयं। (अंक ६, श्लोक १)। शिल्पकार, अहीर, धीवर, लुब्धक आदि निम्नवर्ण के मनुष्य भी थे, वे भी सभी समाज में रह कर उसके प्रति कर्त्तव्यों का पालन करते थे।

तीसरा अध्याय

आश्रम

जीवन में आश्रम की महत्ता एवं उपयोगिता—वर्ण-धर्म से बड़ा आश्रम-धर्म था। कवि-समाज की सुव्यवस्था, एकता, संगठन और सन्तुलन के लिए, वर्ण की तरह आश्रम की महत्ता स्वीकार करता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति मानव-जीवन का उद्देश्य है। अतः कवि मानव-जोवन को इन्हीं चार उद्देश्यों के अनुसार बाँट देता है। यह समझना भूल है, कि प्राचीन काल के सर्व-साधारण मनुष्य सांसारिक भोग के विरुद्ध थे। यदि ऐसा होता, तो कवि गृहस्थ आश्रम को 'सर्वोपकारक्षमम्' (रघु० ५।१६) न कहता। धर्म, अर्थ और काम तीनों ही मनुष्य-जीवन के लक्ष्य थे। तीनों को ही वे समान महत्त्व देते थे, परन्तु इतना अवश्य है, कि उनकी दृष्टि में धर्म-रहित अर्थ-कामादि निकृष्ट थे। इसलिए वे कुमारसम्भव में शिव जी से कहलवाते हैं कि 'हे देवी, आपके इस आचरण से ही मैं समझता हूँ कि धर्म, अर्थ और काम से धर्म ही सबसे उत्तम है, क्योंकि आप अर्थ और काम को छोड़ कर इसी का आश्रय लिए हुए हैं।'[१]

यही धर्म प्रधान था। मोक्ष की प्राप्ति चरम लक्ष्य थी। परन्तु संन्यास कवि का उद्देश्य नहीं था। मनोविज्ञान के पूर्ण पंडित कालिदास इस बात को अच्छी तरह जानते थे, कि नैसर्गिक प्रवृत्तियों को दबाना उचित नहीं। प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं, पर नष्ट नहीं हो सकतीं। इनको जितना दबाया जायगा प्रति-क्रिया उतनी ही गहरी होगी। अतः युवावस्था में विवाह, भोग और काम को भी वह उतना ही आवश्यक समझते हैं, जितना वृद्धावस्था में संन्यास को। गीता के इस सिद्धान्त पर कवि की आस्था बड़ी गहरी लगती है कि आहार न मिलने से इंद्रियाँ विषयों से विरत अवश्य हो जाती हैं परन्तु रस की भावना बनी ही रहती है। अतः वस्तु का भोग करने के पश्चात् यदि उसको छोड़ा जाय, तो

---

१. अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥

—कुमार०, ५।३८

यह विरक्ति और त्याग ही सच्चा त्याग होगा[१]। कवि इसलिए गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास कहता है। ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य ज्ञान और विद्या के उपार्जन से अपने विवेक को संगठित करता है। इसी व्यवस्था में उसकी बुद्धि इतनी परिष्कृत रहती है, कि नई वस्तु सरलता से और सदा के लिए ग्राह्य हो जाती है।

इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रमों की नींव पड़ी। प्रारम्भ में ब्रह्मचर्याश्रम, जिसमें विद्यार्थी गुरु के पास जाकर विद्या पढ़ता है, युवावस्था में गृहस्थाश्रम, जिसमें व्यक्ति विवाह पर गृहस्थ जीवन धारण करता है, तत्पश्चात् वानप्रस्थ, जिसमें मनुष्य धीरे-धीरे सांसारिक मोह से अपना मन हटाकर भगवान् की ओर उन्मुख होता है और सबसे अन्त में संन्यास, जिसमें सांसारिक भोग और मोह को बिलकुल छोड़ मनुष्य भगवान् में ही अनुरक्त हो जाता है।

कवि भी इसी सिद्धान्त पर आस्था रखता है। आयु के चार विभाग कर क्रमशः चार आश्रमों की उसने स्थापना की। शैशव में विद्याभ्यास, युवावस्था में भोग, वार्द्धक्य (प्रौढ़ावस्था) में मुनिवृत्ति और अन्त में परमात्मा का ध्यान करते हुए योग से तनुत्याग[२]—इनका आदर्श था। कवि ने प्रथम आश्रम[३], द्वितीय आश्रम[४], अन्त्याश्रम[५] आदि शब्दों का व्यवहार किया है, जो क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम व संन्यासाश्रम के द्योतक हैं। यह उनका विभाजन आयु के चार भागों से सर्वथा मेल खाता है।

सामान्य जनों के लिए यही मार्ग था, परन्तु सब क्रमशः ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से संन्यास लें, ऐसा कोई कठोर नियम नहीं था। श्री काणे ने अपनी पुस्तक धर्म-शास्त्र के इतिहास में[६] आश्रम के प्रसंग में समुच्चय, विकल्प और बाधा तीन सम्मतियाँ बताई हैं। समुच्चय को सबसे बड़ा मानने

---

१. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥—गीता, २।५६
२. 'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्' ॥—रघु०, १।८
३. 'विवेश कश्चिद्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा'।—कुमार०,
४. 'अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥—रघु०, ५।१०
५. 'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः'—रघु०, ८।१४
६. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२४

वाले मनु हैं। इस पक्ष वालों का कहना है, कि प्रत्येक व्यक्ति को चारों आश्रमों का पालन करना चाहिए। विकल्प में मनुष्य की इच्छा है, वह ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे अथवा परिव्राजक बन जाय। जाबालोपनिषद्, वशिष्ठ-धर्मसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र इसके समर्थक हैं। गौतम और बौधायन केवल एक ही आश्रम, गृहस्थाश्रम मानते हैं, ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम की तैयारी है और शेष दो गृहस्थाश्रम की समता में अति निकृष्ट हैं। यही तीसरी सम्मति बाधा है। श्री काणे ने इन सब मतों का विस्तृत विवेचन किया है[1]।

ये सभी ग्रन्थ अति प्राचीन और निस्संदेह कालिदास के पूर्वकालीन ही हैं। अतः कवि भी किसी विशेष नियम के ऊपर नहीं चलता। कण्व आजन्म ब्रह्मचारी थे[2]। अतः ध्वनि निकलती है कि उनके समय में व्यक्ति यदि चाहते, तो ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते थे। स्वयं शकुन्तला के लिए दुष्यन्त ने पूछा था कि शकुन्तला का यह तपस्विनी वेश विवाह होने तक ही रहेगा, अथवा यह सारा जीवन इसी प्रकार इन हरिणांगनाओं के साथ ही व्यतीत कर देगी[3]। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विवाह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर था, करे अथवा नहीं। यह भी संभावना हो सकती है, कि वर्ण-व्यवस्था के समान आश्रम-व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई हो। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों की सत्ता ने आश्रम-व्यवस्था को कदाचित् अनवस्थित कर दिया हो। इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। 'शैशवेऽभ्यस्त-विद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम्' में शैशव शब्द बहुत कुछ इस अनवस्थता की ओर संकेत करता है। 'शैशव' शब्द से १६, १७ वर्ष तक की ध्वनि निकलती है, अतः २५ वर्ष वाला ब्रह्मचर्य जीवन अब नहीं रह गया था।

प्रथम आश्रम और छात्र-जीवन—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम था। इसमें बालक गुरु के पास जाकर विद्या प्राप्त करता था। कालिदास के ग्रंथों में तपोवन ही ऋषियों के आश्रम थे। ये ही शिक्षा के केन्द्र भी थे। कण्व का आश्रम, वाल्मीकि-आश्रम और वसिष्ठाश्रम इसी प्रकार के शिक्षा-केन्द्र थे। भरत,

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२४

२. 'भगवान्कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः'—अभि०, अंक १, पृ० १६

३. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणांगनाभिः॥
—अभि०, अंक १, २५

पुरूरवा-पुत्र आयुस और रघुवंशी राजपुत्रों ने इन्हीं आश्रमों में जाकर ज्ञान प्राप्त किया था। परन्तु प्रत्येक के लिए गुरु के आश्रम में जाकर विद्या प्राप्त करना अनिवार्य नहीं था। सम्पन्न लोग घर में ही शिक्षक रखकर बालकों को पढ़ाते थे, जैसा मालविकाग्निमित्र में कवि ने दिखाया है। कहीं-कहीं पिता पुत्र को[१] यथा रघु को दिलीप ने धनुर्विद्या की शिक्षा दी थी और पति पत्नी को[२] (इन्दुमती ने ललित कलाओं में अज से शिक्षा प्राप्त की थी) शिक्षा दिया करता था।

उपनयन-संस्कार के पश्चात् छात्र-जीवन प्रारम्भ हो जाता था। रघु के यज्ञोपवीत की समाप्ति पर चतुर विद्वानों ने उसे पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। छात्र के लिए बटु,[३] वर्णी,[४] शिष्य[५] आदि शब्द कवि ने प्रयुक्त किए हैं।

ब्रह्मचारी-वेश—ब्रह्मचारी बनते समय बालक काकपक्षधारी[६] ही रहता था। वैसे भी उसे केशादि सँवारने की अनुमति नहीं होती थी। अतः उसकी जटाएँ रहती थीं। वह मृगचर्म धारण करता था। उसके हाथ में पलाश-दंड रहता था। ब्रह्मचर्य का तेज उसके मुख पर सदा दमकता रहता था। इन सबके अतिरिक्त प्रगल्भवाक् होना उसका विशिष्ट गुण था जो, उसने कितनी विद्या पढ़ी, कितना ज्ञान प्राप्त किया, आदि का बोध कराता था। कुमारसम्भव में ब्रह्मचारी-वेश को कवि ने अत्यन्त सुन्दरता के साथ वर्णित किया है—

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्लन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥—कुमार०,५।३०

---

१. 'त्वचं च मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्'—रघु०, ३।३१
२. 'गृहिणीसचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ'—रघु०. ८।६७
३. निवार्यतामालि किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः—कुमार०,५।८३
४. अथाह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे—कुमार०, ५।६५
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे—रघु०, ५।१९
५. तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निश्शेषविश्राणितकोषजातम्।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः॥—रघु०, ५।१
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतंन्तुशिष्यः—रघु०, ५।१२
—तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरुपोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदितुम्—अभि०, पृ० ८१
६. स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥—रघु०, ३।२८

रघु ने भी त्वचा, मेघ्या और रौरवी को धारण किया था, इसका उल्लेख है[१]।

यह वेश-भूषा निरर्थक नहीं थी। जटाओं को धारण करना तथा मृगचर्म पहनना, इस बात का सूचक था, कि छात्र संसार के ऐश-आराम और भोग से दूर रहें। इसके अतिरिक्त यह वेश सबके लिए ही एक-सा था। धनी और निर्धन का भेद दूर हो जाय और सबको सरलता से प्राप्त हो जाय, यही उसका उद्देश्य था। अकेले जंगलों में ब्रह्मचारी घूमते थे। अतः जंगली जानवरों से रक्षा करने के लिए हाथ में पलाश-दंड का होना आवश्यक था[२]। तीन लड़ की मेखला यह प्रमाणित करती थी कि वह तीन वेदों से घिरा हुआ है।

छात्र-जीवन—काकपक्षधारी बालक से ही छात्र-जीवन प्रारंभ हो जाता था। अतः ७, ८ वर्ष की अवस्था से विद्या पढ़ानी प्रारंभ कर दी जाती होगी। विद्यार्थी प्रातःकाल बहुत जल्दी उठते थे। स्नानादि के पश्चात् गुरुजी से वेद पढ़ने बैठ जाते थे[१]। रघुवंश में राजा दिलीप की आँख आश्रम में तब ही खुली थी, जब उनके कानों में वशिष्ठ जी के वेद-पाठ कराने की ध्वनि गई[3]। प्रातःकाल का समय अतः अध्ययन का समय था। गुरु शिष्यों को लेकर वन में जब घूमने जाते थे, वहाँ मार्ग में भी, वे उनको अनेक प्रकार की शिक्षा देते हुए उनके ज्ञान की वृद्धि किया करते थे[४]। सायंकाल के समय ईश्वर-वन्दना और यज्ञादि होता था। यज्ञ के धुएँ से ही मालूम हो जाता था कि सायंकाल हो गया और प्रार्थना की जा रही है[५]। संध्या के अग्निहोत्र के लिए तपस्वीगण समिधा, कुश और फल

---

१. त्वचं च मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।—रघु०, ३।३१

२. He is really a traveller out on a long road leading to the realm of knowledge. So staff was the traveller's symbol.
—Education in Ancient India, by Dr. A. S. Altekar.

३. निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय॥
—रघु०, १।९५

४. पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत्॥—रघु०, ११।१०

५. अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः॥—रघु०, १।५३

लेकर वन से लौटते थे[१]। रात्रि में पर्णशाला में कुश की चटाई पर सब सोते थे[२] अथवा पृथ्वी पर मृगचर्म बिछा रहता था, इस पर सो जाते होंगे[३]। प्रकाश के लिए हिंगोट के तेल का दिया जलता रहता था[४]। खाने के लिए उनको कन्दमूल[५] मिलता था। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है, कि उनका आदर्श सादा जीवन—उच्च विचार था। खाना-पीना, रहन-सहन सभी कृत्रिमता से दूर सरल भावों से परिपूर्ण था। आश्रम के शान्त वातावरण में गुरु की सेवा करता हुआ तथा अत्यन्त सात्त्विक विधि से जीवन व्यतीत करता हुआ बालक विद्याध्ययन करता था।

प्रथम आश्रम का महत्त्व--यह शान्त वातावरण उसके चरित्र का विधायक था। स्वभाव की उग्रता और क्रोध नष्ट होकर छात्र विनयशील, नम्र और आज्ञाकारी हो जाता था[६]। घर की चिन्ताओं से दूर रहकर छात्रगण पढ़ाई में पूरी तौर से मन लगाते थे। गुरु के पास उच्च शिक्षा प्राप्त कर हर प्रकार से निपुण हो वे गुरु की अनुमति प्राप्त कर पुनः गृह में लौट आते थे[७]। कौत्स ऋषि इसका उदाहरण हैं।

विद्यार्थियों का समाज में स्थान--विद्यार्थियों का समाज में बहुत आदर था। यहाँ तक कि राजा भी ब्रह्मचारी का बहुत आदर करता था। उसकी प्रत्येक इच्छा को पूरी करना न केवल गृहस्थ का कर्तव्य था, अपितु राजा का भी। वरतन्तु के शिष्य कौत्स के पधारने पर रघु सिंहासन से उठकर खड़े हो गए। कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् उन्होंने कहा कि आपके आने से मेरा मन नहीं भरा, मुझे कुछ सेवा करने की भी आज्ञा दीजिए। यद्यपि रघु विश्वजित्

---

१. वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्नि प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥—रघु०, १।४९

२. निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय॥
—रघु०, १।९५

३. ता इंगुदस्नेहकृतप्रदीपानास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥—रघु०, १४।८१

४. देखिए, पादटिप्पणी नं० ३

५. वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार।—रघु०, १४।८२

६. निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्।—रघु०, ३।३५

७. अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।—रघु०, ५।१०

यज्ञ में सब कुछ दान कर चुके थे, पर कौत्स के मुख से यह सुनकर कि उनको गुरुदक्षिणा के लिए १४ करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की आवश्यकता है, वे निराश नहीं हुए, न शिष्य को ही उन्होंने वापस लौटा दिया, वरन् मुद्राएँ देकर ही विदा किया ।

गृहस्थाश्रम—मनोविज्ञान में पूर्ण दक्ष कालिदास इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि यौन भावों की तृप्ति के बिना व्यक्ति की इन्द्रियाँ आहार न मिलने के कारण, विषयों से विरक्त चाहे हो जायँ पर यह विरक्ति वास्तविक न होगी, उनमें रस की भावना बनी ही रहेगी । अतः आत्मा को संसार से विरक्त कर भगवान् में लगाना, यदि थोड़ी-सी भी रस-भावना अवशिष्ट है, तो ढोंग हो है । इसलिए उनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम अवश्य आना चाहिए—'अयि वत्स उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे । द्वितीयमध्यासितुं तव समयः—' (विक्रम०, अंक ५, पृष्ठ २४९)। उन्होंने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम की महत्ता बखानी है । महायोगी शिवजी को भी गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट कराया है और उनके मुख से कहलवाया है—"क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्"[१] ।

कवि की "द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते"[२] इस उक्ति में अपनी ध्वनि अधिक है । सब आश्रमों में, उन्होंने इसी आश्रम को सबसे ऊँचा स्थान दिया । मनु भी गृहस्थाश्रम को सब सुखों का सार कहते हैं । जिस प्रकार वायु से समस्त प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर ही अन्य आश्रम आश्रित हैं । चूँकि अन्य आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ के अन्न और दान पर ही निर्भर हैं, अतः यह आश्रम सबसे उत्तम है । जैसे नदियाँ समुद्र में जाकर शान्त हो जाती हैं उसी प्रकार अन्य आश्रमों के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम आधार है । इसी कारण वेद-स्मृति सब इस आश्रम को उत्तम कहते हैं[३] । कालिदास के मत में सुखी वही है,

---

१. कुमारसम्भव, ६।१३

२. रघु०, ५।१०

३. यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः ॥—मनु०, ३।७७
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥—मनु०, ३।७८
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठ स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥—मनु०, ६।८९
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥—मनु०, ६।९०

जिसके पास उसकी प्रेयसी हो[१]। अपने प्रेमी के पास ही शरीर का सारा सुख है[२]। स्त्री के बिना सब सुखों का अभाव हो जाता है, सम्पूर्ण आनन्द-उत्सव उसके बिना फीके पड़ जाते हैं[३]। समस्त ऋतुसंहार और मेघदूत इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं कि सबसे बड़ा सुख प्रिया का साहचर्य एवं प्रियालिंगनजन्य आनन्द है।

गृहस्थाश्रम की सफलता—कवि गृहस्थाश्रम की सफलता कामोपभोग और पुत्र में मानता है। महादेवजी ने पुत्र के लिए विवाह किया,[४] परन्तु कामोपभोग भी उनका उद्देश्य था[५]। सम्पूर्ण अष्टम सर्ग, शिवजी की रतिलीला से भरा पड़ा है। मेघदूत और ऋतुसंहार भी, कामोपभोग गृहस्थाश्रम की सफलता है, इसके साक्षी हैं।

विवाह और गृहस्थाश्रम की सफलता पुत्रोत्पत्ति में थी। अतः पुत्र होने का आशीर्वाद ही सौभाग्यवती स्त्रियों और विवाहित पुरुषों को दिया जाता था[६]। राजा दिलीप की नन्दिनी-सेवा, राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ, इसकी पुष्टि करते हैं। न केवल वंश चलाने के लिए पुत्र की आवश्यकता थी[७], अपितु दाम्पत्य प्रेम की यह ग्रन्थि थी। सन्तानोत्पत्ति से दम्पति का प्रेम कम नहीं होता, अपितु बढ़ता ही है। सन्तान की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि तपश्चर्या और दान का सुख तो इसी लोक में है, परन्तु शुद्ध सन्तान इस लोक और परलोक दोनों में ही सुख

---

१. मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः,
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।—पूर्वमेघ, ३

२. त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम्।—कुमार०, ४।१०

३. धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे॥—रघु०, ८।६६

४. सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः।
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रतियाचितः॥—कुमार०, ६।२७
अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने....—कुमार०, ६।२८

५. पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः॥
—कुमार०, ६।९५

६. विस्तृत विवरण 'विवाह' अध्याय के अन्तर्गत 'विवाह के उद्देश्य' में मिलेगा।

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६।

देनेवाली है[१]। सन्तान स्त्री और पुरुष के प्रेम की मध्य शृंखला है[२]। पुत्र आह्लाद का विशेष कारण है। बच्चों की तुतली बोली, उँगली पकड़कर चलना, सिर झुकाकर बड़ों को प्रणाम करना, आदि देख-देखकर माता-पिता को असीम आह्लाद प्राप्त होता है, कवि की दृष्टि में वह अन्यत्र दुर्लभ है[३]। निस्सन्तान दुष्यन्त भरत को देखकर सोचता है, "यह नटखट बालक कितना प्यारा है! वह व्यक्ति भी धन्य है जिसकी गोद में बैठकर स्वभाव से हँसमुख कली के समान झलकते दाँतों वाला यह तुतला कर बोलते हुए अपने अंग की धूल से उसकी गोद मैली कर देता होगा"[४]। बालक को देखकर माता-पिता की आँखें वात्सल्य से भर आती हैं और उसे हृदय से लगाने की अभिलाषा होती है[५]।

पुत्र की प्राप्ति आनन्द के लिए नहीं की जाती थी, वरन् धर्म में भी इसका बहुत बड़ा स्थान था। बिना पुत्र के पितरों के ऋण से छुटकारा नहीं मिल सकता था। यह शोक के अँधेरे को दूर करने वाली ज्योति थी[६]। पुत्र के अभाव में, ऐसा विश्वास किया जाता था, कि पितर तर्पण न पाकर नरक के भागी होते हैं। इसी कारण दुष्यन्त यह सोचता है कि मेरे पितर दुःखी होकर, कि

---

१. लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥—रघु०, १।६९

२. रथांगनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥—रघु०, ३।२४

३. उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥
तमंकमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥—रघु०, ३।२५,२६

४. आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥
—अभि०, ७।१७

५. वाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबंधि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिः इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः ॥
—विक्रम०, ५।९

६. न चोभलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥—रघु०, १०।२
पिता पितृणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः।—रघु०, १८।२६

मेरे पीछे कौन तर्पण करेगा, मेरे दिए जल के कुछ भाग से अपने आँसू धोते होंगे और जो बच जाता होगा, उसे पी जाते होंगे[१]।

गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य

अतिथि-सत्कार—गृहस्थों का सबसे बड़ा कर्त्तव्य अतिथि-सत्कार था। घर पर आए अतिथि की अर्घ्यादि से पूजा करना,[२] उनकी कुशलता पूछनो,[३] तत्पश्चात् यदि वे किसी विशेष आशय से आए हैं तो उस आशय को पूर्ण करना उनका कर्त्तव्य था[४]। गृहस्थ अतिथि की सेवा और उसकी इच्छा-पूर्ति से ही संतुष्ट होते थे। द्वार पर अतिथि का आना और कुछ माँगना ही गृहस्थ होने का सच्चा फल था।[५] रघु का कोत्स ऋषि का सत्कार उनके इच्छानुसार चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ देना, वनवासिनो सीता की वाल्मीकि-आश्रम में अतिथि सेवा, शकुन्तला और उसकी सखियों का दुष्यन्त के प्रति किया गया सत्कार, आदि अनेक उदाहरण हैं। अतिथि-सत्कार वैसे ही सबका कर्त्तव्य कहा गया है; परन्तु गृहस्थों का, विशेपकर रघु की कौत्सपूजा,[६] और हिमालय-मेनका की ऋषियों को अभ्यर्थना कर कहना, कि आज हमको गृहस्थ होने का सच्चा फल मिला है कि आप-जैसे अतिथि हमारे द्वार पर पधारे,[७] इसके बहुत अमूल्य और पुष्टिकारक प्रमाण हैं।

धार्मिक क्रियाएँ--गृहस्थ की जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब बिना पत्नी के पूर्ण नहीं होतो[८]। भारतवर्ष सदा से धर्म को बहुत महत्त्व देता रहा है। अतः पत्नी की महत्ता अथवा गृहस्थाश्रम का महत्त्व भी इसके द्वारा स्वतः स्वीकृत हो जाता है। पुरुष के लिए ही विवाह करना आवश्यक न था, स्त्री

---

१. अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥
—अभि०, ६।२५

२. तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी।
विशांपतिर्विष्टरभाजमारात्कृतांजलिः कृत्यविदित्युवाच ॥—रघु०, ५।३

३. अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशलो गुरुस्ते ॥—रघु०, ५।४

४. तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे।
अप्याज्ञयाशासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥—रघु०, ५।११

५. अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया।—कुमार०, ६।८८

६. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० २, ३, ४।

७. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ५

८. क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्।—कुमार०, ६।१३

भी धार्मिक कृत्य बिना पति के सहयोग के नहीं कर सकती[१]। रामचन्द्रजी को यज्ञ में सीता की अनुपस्थिति में उनकी सुवर्ण-मूर्ति इसलिए रखनी पड़ी थी[२] कि बिना पत्नी के धार्मिक कृत्य हो नहीं सकता था।

सन्ध्या, तर्पण, होम और यज्ञ

सन्ध्या—प्रातःकाल तथा सन्ध्या समय सन्ध्योपासना अथवा सन्ध्यावंदना गृहस्थ का कर्त्तव्य था। इसके अन्तर्गत गायत्री तथा अन्य मंत्रों का जाप मुख्य समझा जाता था। स्वयं शिव जी भी सन्ध्या के समय तपस्वियों को अर्घ्य और जाप आदि से युक्त देखकर पार्वती की अनिच्छा होने पर भी उन्हें छोड़ कर सन्ध्या करने चले जाते हैं और गृहस्थ का कर्त्तव्य पालन करते हैं[३]। यह सन्ध्या, जैसा कि 'पार्ष्णिमुक्तवसुधा' (कुमार० ८।४७) से व्यक्त है, नदी में खड़े होकर की जाती थी। परन्तु कदाचित् गृहस्थों को घर के भीतर करने की भी अनुमति दे दी जातो होगी; क्योंकि ऐसी सुविधा उनको प्राप्त नहीं हो सकती।

एक प्रकार से यह सूर्य-पूजा है, क्योंकि अर्घ्य सूर्य को ही दिया जाता है। सन्ध्या के अन्तर्गत अर्घ्य, जाप, उपस्थान, अघमर्षण, मार्जनादि का उल्लेख भी असाक्षात् रूप से कवि कालिदास ने किया है[४]।

होम—सन्ध्या के पश्चात् होम, गृहस्थ का कर्त्तव्य है। दोनों समय सन्ध्या के समय पश्चात् होम किया जाना चाहिए। तपोवन, जहाँ सभी सन्ध्या के समय होम करते थे, होम-धूम से भर जाता था[५]। यह उस समय का प्रचलित विश्वास था कि मनुष्य को तीन ऋण चुकाने पड़ते हैं। देव-ऋण के लिए वह यज्ञ करता है तथा जीवन भर उसे अग्निहोत्र का करना आवश्यक है।

---

१. आर्य धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः।—अभि०, पृ २१

२. श्लाध्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जायाहिरण्मयी ॥—रघु०, १५।६१

३. अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहितांजलिक्रियाः।
ब्रह्मगूढमभिसन्ध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥
तन्मुहूर्त्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि।
त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ।।—कुमार०,८।४७,४८

४. विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्—रघु०, १।५६
मल्लिनाथ—विधेर्जपहोमाद्यनुष्ठानस्यान्तेऽवसाने....इसी की टीका

५. अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥—रघु०, १।५३

ऋषि-ऋण के लिए वेदादि का स्वाध्याय तथा पितृ-ऋण के लिए विवाह, गृहस्थ का कर्त्तव्य है[1]।

देव-ऋण के सम्बन्ध में अग्निहोत्र का प्रसंग आता है। गृहस्थ के घर तीन पूजनीय अग्नियाँ सदा संचित रहती थीं, जिनका नाम गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय है। ये संक्षेप में त्रेताग्नि कहलाती थीं[2]। जो एक बार इन अग्नियों को जला देता था, उसका चरम कर्त्तव्य था, कि प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्या समय इसमें आहुति दे। विवाह के समय जो अग्नि प्रज्वलित की जाती थी, वही वर, वधू के गृह से चलते समय अपने घर ले जाता था। इसकी पूजा वह, उसकी पत्नी और उसके पुत्र प्रतिदिन किया करते थे।

ऋषि-ऋण में वैदिक स्वाध्याय आता है। यद्यपि कवि ने साक्षात्संकेत नहीं किया, परन्तु उसने तीन ऋणों के नाम अवश्य लिए हैं। अतः वह वैदिक स्वाध्याय पर भी विश्वास करता था[3]। गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने पर भी वैदिक शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती थी। प्रतिदिन जितना उसने पढ़ा उसकी कंठस्थ पुनरावृत्ति आवश्यक थी। जितना भी अधिक-से-अधिक उसे याद हो वह प्रति प्रातःकाल दुहराया करता था। यदि उसे कुछ न आता हो तो केवल गायत्री मन्त्र का जाप करने से भी काम चल जाता था।

तर्पण—मध्याह्न के समय स्नान के साथ तर्पण किया जाता था। देवता, ऋषि और पितृ तीनों को ही तर्पण दान करना गृहस्थ के लिए वांछनीय था। यह वैसे प्रतिदिन ही प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य था, परन्तु मृत्यु के पश्चात् उसका तर्पण करना अवश्यम्भावी था।

पञ्च महायज्ञ—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक था। देवयज्ञ देवताओं के प्रति भक्ति और श्रद्धा का परिचायक था। प्रतिदिन की अग्निपूजा देवयज्ञ का प्रतीक था। अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन और उनकी मधुर स्मृति में तर्पणादि करना पितृयज्ञ कहलाता था। समस्त भूत (प्राणी) कुत्ते, कौए आदि के लिए समभाव रखना,

---

१. ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः॥—रघु०, ८।३०

२. स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम्॥—रघु०, ५।२५
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्त्तिस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।—रघु०, १३।३७
इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः।—रघु०, १५।३५

३. देखिए, इसी पृष्ठ को पादटिप्पणी, नं० १

कुछ भोजन देना भूतयज्ञ था; मनुष्ययज्ञ में आए हुए अतिथि का आदर-सत्कार आता था; ब्रह्मयज्ञ में प्राचीन ऋषियों के द्वारा निर्मित धर्मग्रन्थ, वेदादि का पाठ करना था। इस प्रकार देवता, पूर्वज, समस्त प्राणि-वर्ग—मनुष्य, पशु, पक्षी और प्राचीन ऋषियों के प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता, सहानुभूति, सहनशीलता रखना पंच महायज्ञों का महत्त्व था।

परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, पंच महायज्ञों का महत्त्व परिवर्त्तित हो गया। मनु[1] इत्यादि ने कहा कि चूल्हा, चक्की, झाड़ू, मूसल, उदकुम्भ आदि के द्वारा मनुष्य अनजाने में न मालूम कितने जीवों की हिंसा का कारण बनते हैं। जो पंच महायज्ञ करेगा उनको इन पाँच स्थानों में अनजाने में किए हुए जीवहिंसा का पाप नहीं भोगना होगा।

संक्षेप में गृहस्थाश्रम का महत्त्व त्रिवर्ग की प्राप्ति था। अतिथि-पूजा, जाप, होम, तर्पण, सन्ध्या-वन्दना से धर्म; जीविकोपार्जन से अर्थ, स्त्री और पुत्र की प्राप्ति से काम,[2] यही धर्म, अर्थ, काम—त्रिवर्ग की उपलब्धि गृहस्थाश्रम का महत्त्व कहा जा सकता है।

तृतीय आश्रम

महत्त्व—गृहस्थाश्रम के समस्त सुख भोग लेने के पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थाश्रम में धार्मिक क्रियाओं के रहते हुए भी अर्थ और काम प्रधान रहते थे। पूर्णरूपेण इन्द्रियजन्य तृप्ति पा जाने पर स्वतः मनुष्य का मन धीरे-धीरे भोग-विलास से विरक्त हो चलता था, दूसरी ओर पुत्र तथा पुत्रियों के समस्त उत्तरदायित्व सँभाल सकने की योग्यता आ जाने पर, पारिवारिक कर्त्तव्य की भी इतिश्री हो जाती थी। अतः वानप्रस्थ आश्रम में सांसारिक मोह और बन्धनों का त्याग करना चरम उद्देश्य माना गया। अपने पारिवारिक बन्धनों का परित्याग कर वन में स्त्री के साथ जाकर तपस्या करना, ईश्वर में मन लगाना और मुनिवृत्ति को ग्रहण करना ही, वानप्रस्थ आश्रम की सार्थकता थी।

सामाजिक आदर्श यही था। रघुवंशी राजाओं ने तो अपना ध्येय ही सदा यही बनाया कि वृद्धावस्था आ जाने पर मुनिवृत्ति लें[3]। अपने पुत्र के राज्य-

---

१. पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुंभश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥—मनुस्मृति, ३।६८

२. धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन्।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः॥—रघु०, १।७६

३. शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥—रघु०, २।७

कार्य सम्भालने की योग्यता आ जाने पर सभी वल्कल वस्त्रधारी होकर जंगल में चले जाते थे[१]। कालिदास इसी आदर्श के ऊपर पूर्णरूप से आस्था रखते थे। यदि ऐसा न होता तो रघुवंशी आदर्श राजाओं में ही इस परम्परा को सीमित कर सकते थे। परन्तु विक्रमोर्वशीय नाटक में भी इसी का संकेत है[२]। यही नहीं, शकुन्तला के द्वारा यह पूछे जाने पर कि अब मुझे आश्रम के दर्शन कब होंगे, कण्व यही उत्तर देते हैं कि पुत्र का राज्याभिषेक कर वृद्धावस्था में ही तुम यहाँ आ पाओगी[३]।

यथार्थ में युवावस्था में विलास भरी सामग्री से युक्त भवनों में रहना और वृद्धावस्था में स्त्री को साथ लेकर पेड़ों के नीचे रहना ही प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श था[४]।

वानप्रस्थ में वेश-भूषा—मुनिवृत्ति धारण करने पर सांसारिक वैभव को छोड़ देना होता था। अतः गृहस्थ-जीवन का वेश-विन्यास इस जीवन में सदा के लिए परित्यक्त हो जाता था। कन्दमूल आदि का सादा भोजन करना, सादा वेश, वानप्रस्थ जीवन का मूल था। इस जीवन में वल्कल[५] आदि को

मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्।—रघु०, ३।७०

१. गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे॥—रघु०, ८।११
पिता पितृणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुम् कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव॥—रघु०, १८।२६
प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्य जायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥
—रघु०, ७।७१

२. अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि।
—विक्रम०, ५।१७

३. भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेव सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥
—अभि०, ४।२०

४. भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृही भवन्ति तेषाम्॥—अभि०, ७।२०

५. गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीप वंशजाः।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयतां संयमिनां प्रपेदिरे॥—रघु०, ८।११
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव—रघु०, १८।२६

व्यक्ति धारण कर लेते थे। तपस्वियों के समान ही जीवन को व्यतीत करना उनका चरम लक्ष्य था।

वानप्रस्थों के रहने का स्थान——वानप्रस्थों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे जंगलों या तपोवन में ही जायँ। यह उनकी अपनी व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर था, कि वे नगर के वाहर कुटिया वनाकर रहें[1] या अरण्य में तपस्वियों के आश्रम में चले जायँ[2]। वानप्रस्थ-आश्रम में स्त्रियाँ भी रहती थीं। अर्थात् अपनी स्त्री को साथ लेकर पुरुष तपस्वी-जीवन में प्रविष्ट हो सकते थे[3]। परन्तु स्त्री के अतिरिक्त अन्य कोई परिवारिक वन्धु उनके साथ नहीं जा सकता था, क्योंकि इससे वानप्रस्थ का चरमलक्ष्य मोह-त्याग सिद्ध न हो पाता। रहने भर के लिए उनको स्थान की आवश्यकता थी। ऐश-आराम से परिपूर्ण कोई भवन नहीं, अपितु आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही वे या तो कुटिया वना लें[4], या पेड़ों के नीचे ऐसे ही रहें[5]। सोने के लिए कुश की चटाई[6] या मृगचर्म[7] और प्रकाश के लिए इंगुदी के तेल का दीपक वे प्रयुक्त कर सकते थे[8]।

---

१. स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्वहिः।—रघु० ८।१४

२. मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये।—रघु०, ३।७०

——अहममि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि।
—विक्रम०, ५।७

देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ३

३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणियाँ, नं० ३, ४; इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० २ में रघु०, ३।७०

प्रथम परिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्येसूर्यवंश्या गृहाय॥
—रघु०, ७।७१

४. निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय॥
—रघु०, १।९५

ता इंगुदस्नेहकृतप्रदीपा आस्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः॥—रघु०, १४।८१

५. नियतैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृही भवन्ति तेषाम्।—अभि०, ७।२०

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४—रघु०, १।९५;

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४—रघु०, १४।८१

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४—रघु०, १४।८१

तपस्वियों के आश्रम—जहाँ पर तपस्वी लोग रहा करते थे, वह स्थान तपोवन कहलाता था। संसार के कोलाहल और अशान्ति से दूर, नगर के बाहर स्थित तपोवन धार्मिक वातावरण से ही पूर्ण रहते थे। इन आश्रमों का वातावरण इतना शान्त और पवित्र रहता था, कि उसके व्यक्ति जब नगर में प्रवेश करते थे तब उन्हें अरुचि उत्पन्न होती थी[१]।

तपोवन में प्रवेश करते ही वहाँ की शान्ति से मनुष्य का हृदय बिना प्रभावित हुए नहीं रहता था। दूर से ही चिड़ियों के घोसलों से गिरा नीवार, इंगुदी के बीजों को तोड़ने वाले पत्थर, विश्वासपूर्ण निर्भयता के साथ घूमते हुए मृग तथा वत्कल के टपके हुए जल-बिन्दुओं की रेखा को देखकर निश्चय हो जाता था कि तपोवन पास ही है।[२]

इस प्रकार तपोवन के वातावरण में कहीं कृत्रिमता नहीं थी। प्राकृतिक सौन्दर्य का वह खुला क्षेत्र था। मृग आदि निर्भयता से इधर-उधर घूमते थे[3]। लता-वृक्षादि से तपोवन भरा-पुरा रहता था। तपस्वी कन्याएँ इन वृक्षों को प्रतिदिन सींचा करती थीं[४]। वृक्षों की जड़ों के चारों ओर थाँवले रहते थे, जिनमें पानी भरा रहता था। आश्रम के पक्षिगण इनमें से जल पीकर अपनी प्यास बुझाया करते थे[५]।

शकुन्तला की समस्त बाल्यावस्था ही मृग आदि पशुओं और वनज्योत्स्ना, मल्लिका आदि लताओं तथा आम आदि वृक्षों के बीच में व्यतीत हुई थी। वास्तव

---

१. तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव।
—अभि०, ५।१०
अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्धश्च
सुप्तम् बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसंगिनमवैमि।—अभि०, ५।११

२ नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यन्ति एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दिरेखांकिताः॥—अभि०, १।१४

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २, अभि०, १।१४

४. सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्ब्युपायिनाम्।—रघु०, १।५१
'वृक्षसेचन'—अभि०, अंक १

५. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४—रघु०, १।५१

में नदी, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नीवार[1] आदि का सौन्दर्य तपस्वियों के आश्रम में ही सरलता से देखा जा सकता था। इस समस्त वातावरण को दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाते समय चित्रित करने का प्रयास करता है। पृष्ठभूमि में मालिनी नदी, जिसकी रेती में हंस के जोड़े बैठे हों, दोनों ओर हिमालय की तलहटी जहाँ हरिण बैठे हों, एक पेड़ पर लटकते वल्कल और उस पेड़ के नीचे एक हरिणी अपने वाम नेत्र काले हरिण के सींग से रगड़कर खुजा रही हो, बनाना उस वातावरण की सार्थकता थी[2]।

स्थान-स्थान पर पर्णकुटी,[3] बीच-बीच में लतागृह, कुंज[4] आदि जिनमें पत्थर की शिलाएँ[5] भी विश्रामार्थ पड़ी रहती थीं, न केवल सौन्दर्य को बढ़ाती थीं, अपितु तपती दोपहरी में शान्ति भी देती थीं।

शान्ति और सन्तोष आश्रम के वातावरण की विशेषता थी। उनकी अहिंसा-वृत्ति और विश्वबन्धुत्व उनके इस सहज स्वाभाविक नैसर्गिक सौन्दर्य का रहस्य कहा जा सकता है।

तपस्वी-जीवन---तपस्वियों के जीवन का सांसारिक मनुष्यों से कोई संबंध नहीं था। सुन्दर बहुमूल्य वस्त्रों के स्थान पर वल्कल पहनना[6] या यदि सूती

---

१. आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः॥—रघु०, १।५०
नीवारः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरुणामधः........—अभि०, १।१४

२. कार्यासैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥—अभि०, ६।१७

३. देखिए, पादटिप्पणी नं० १, रघु० १।५० तथा पीछे भी जहाँ कुटिया और पर्णशाला का प्रसंग आया है। "गच्छोटजम्फलमिश्रमर्घमुपहर"।
—अभि०, अंक १, पृ० १७

४. अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामंडपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम्।
—अभि०, अंक ३, पृ० ४३

५. एषा मे मनोरथप्रियतमा शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते।
—अभि०, अंक ३, पृ० ४३

६. देखिए, आगे अध्याय 'वेशभूषा'।

वस्त्र पहनना हो तो काशाय रंग से रँग कर पहनना[१] उनकी प्रधान वेशभूषा थी। कमर में मूँज की बनी मेखला[२] (कभी-कभी यह कुश की भी होती थी[३]), अक्षमाला का वलय,[४] कान पर दुहरी अक्षमाला[५] या हाथ में ही रहने देना,[६] बैठने के लिए मृगचर्म,[७] सोने के लिए मृगचर्म,[८] कुश की चटाई,[९] अथवा ऐसे ही स्थंडिल भूमि का प्रयोग,[१०] इनकी प्रधान वेशभूषा थी। इनके हाथ में पलाशदंड रहता था[११]। सिर पर जटाएँ रहती थीं[१२]। सिर को चिकना करने के लिए वे इंगुदी का तेल प्रयोग में लाते थे[१३]। जख्मों पर भी वे इसी तेल का प्रयोग करते थे[१४]।

उषाकाल विद्याध्ययन का रहता था[१५]। प्रातः और सायं समिधा, कुश, फल लाने के लिए ऋषि तपोवन से बाहर जाते थे। सन्ध्या के समय तपस्विगण समिधा, कुश आदि लेकर तपोवन में वापस आते थे[१६]। ऋषिकुमार भी इस कार्य में

---

१. ततो भ्रातुः शरीरमग्निसात्कृत्वा पुनर्नवीकृतवैधव्यदुःखया
मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते।—माल०, अंक ५, पृ० ३५०
२. प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौंजीं त्रिगुणां बभार याम्।—कुमार०, ५।१०
३. अजिनदंडभृतंकुशमेखलां यतगिरं मृगश्रृंगपरिग्रहाम्।—रघु०, ६।२१
४. एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कंडूयितारं कुशसूचिलावम्....—रघु०, १३।४३
५. भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्।—कुमार०, ३।४६
६. कुशांकुरादानपरिक्षतांगुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः।—कुमार०, ५।११
७. देखिए, पादटिप्पणी नं० ४; अथाजिनाषाढधरः—कुमार०, ५।३०
८. तां इंगुदस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्ण मेध्याजिन तल्पमन्तः........रघु०, १४।८१
९. तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय।—रघु०, १।९५
१०. अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थंडिल एव केवले।—कुमार०, ५।१२
११. अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा,
विवेश कश्चिद् जटिलस्तपोवनं..........—कुमार०, ५।३०
१२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६
१३. मा कस्यापि तपस्विन इंगुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।
—अभि०, अंक २, पृ० ३४
१४. यस्यत्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
—अभि०, अंक ४, पृ० १४
१५. तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय।—रघु०, १।९५
१६. वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्नि प्रत्युद्यातैः तपस्विभिः॥—रघु०, १।४९

सहयोग दिया करते थे[१]। मृगादि जो इन ऋषि-कन्याओं के हाथ से नीवार खाने के अभ्यस्त थे (अरण्यबीजांजलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः—कुमार०, ५।१५), सायंकाल के समय उनकी कुटिया घेरे रहते थे[२]। ऋषि-कन्याएँ पेड़-पौधों को पानी देती थीं,[३] पक्षियों के पानी पीने का प्रवन्ध[४] करना, मृगादि की देखभाल करना उनका कर्त्तव्य था[५]। मृगादि भी निर्भयता से सायंकाल के समय वेदी के चारों ओर बैठ जाते थे[६]। अतिथि-पूजा ऋषि-कन्याओं का प्रधान धर्म था[७]।

ऋषि-मुनि विवाह करते थे। अनसूया और प्रियंवदा आश्रम की ही कन्याएँ थीं और कण्व के मतानुसार उनका भी विवाह होना था[८]। परन्तु उनका मुख्य कर्त्तव्य और ध्येय तपादि धार्मिक क्रियाएँ थीं। तप के द्वारा वे आत्मा की शुद्धि करते थे। तपश्चर्या के विभिन्न प्रकार थे। पञ्चाग्नि तपस्या,[९] शीतकाल में सम्पूर्ण रात्रि भर पानी में रहना,[१०] वर्षा में खुली चट्टानों पर सोना,[११] बिना माँगे प्राप्त हुआ जल और पत्ते खाकर रहना,[१२] मृग के समान केवल घास

---

१. अद्य पुष्पसमित्कुशनिमित्तं ऋषिकुमारैः सह गतेनानेनाश्रमविरुद्धमाचरितम् ॥
विक्रम०, अंक ५, पृ० २४६

२. आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः। अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥
—रघु०, १।५०

३. सेकान्तेमुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विश्वासाय विहंगानामालबालाम्भुपायिनाम् ॥—रघु०, १।५१
—शकुन्तला, सीता व पार्वती का पौधे सींचना।

४. देखिए, पादटिप्पणी नं० ३।

५. देखिए, पादटिप्पणी नं० २; शकुन्तला का मृग-प्रेम, मृग के घावों में तेल लगाना आदि।

६ सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय।—रघु० १४।७९

७. तत्राभिषेकप्रयता वसंती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः।—रघु०, १४।८२
विरोधिसत्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि।—कुमार०, ५।१७

८. इमेऽपि प्रदेये।—अभि०, अंक ४, पृष्ठ ७५

९. शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मितामध्यगता सुमध्यमा....—कुमार०, ५।२०
हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः।—रघु०, १३।४१

१०. निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा।—कुमार०, ५।२६

११. शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरंतरास्वन्तरवातवृष्टिषु।—कुमार०, ५।२५

१२. अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।
................बभूव तस्याः किल पारणाविधिः ॥—कुमार०, ५।२२

खाना[1], मौन रहना[2], शरीर का भी अग्नि में हवन कर देना[3], पेड़ की शाखा पर उल्टा लटक कर नीचे जली आग का धुआँ पीकर रहना[4], आदि घोर तप के प्रकार थे। तपस्या में वे इतने लीन हो जाते थे, कि चिड़ियाँ उनके बालों में घोंसला बनाने लगती थीं, शरीर पर साँप रेंगने लगते थे और दीमक की बाँबी उनके शरीर पर जम जाती थी[5]।

यह तपःसाधना किसी फल-प्राप्ति के लिए होती थी[6]। इसके द्वारा वे भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ जान जाते थे। दिलीप के पुत्र क्यों नहीं हुआ,[7] दुष्यन्त ने शकुन्तला का परित्याग क्यों किया,[8] राम ने सीता को क्यों छोड़ा,[9] यह सब वसिष्ठ, मारीच और वाल्मीकि को योगबल से ही मालूम हुआ था।

क्रोधित होने पर वे शाप भी देते थे। परन्तु क्रोध अकारण नहीं होता था। दुर्वासा के शाप और श्रवणकुमार के माता-पिता के शाप का रहस्य अकारण क्रोध न था।

धार्मिक क्रियाओं में तल्लीन रहना उनकी दिनचर्या थी। सन्ध्या, जाप,[10] होम[11] आदि वे नियमित रूप से करते थे। होम के धुएँ से सारा तपोवन सुगन्धित

---

१. पुरा स दर्भांकुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।—रघु०, १३।३९
२. वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किंचित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः।—रघु०, १३।४४
३. अदः शरण्यं शरभंगनाम्नस्तपोवनं पावनमहिताग्नेः।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मंत्रपूतां तनुमप्यहौषीत्॥–रघु०, १३।४५
४. अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम्।
ददर्श कंचिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम्॥—रघु०, १५।४९
५. वल्मीकार्धनिमग्नमूर्त्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा कंठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थ-संपीडितः। अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं विभ्रज्जटामण्डलम् यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः॥—अभि०, ७।११
६. अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये।—कुमार०, ५।६
७. सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्।—रघु०, १।७४
८. तदेव ध्यानादवगतोस्मि दुर्वाससः शापादियं त्वया प्रत्यादिष्टा।
—अभि०, अंक ७, पृ० १४६
९. जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा।—रघु०, १४।७२
१०. अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनांबुविहितांजलिक्रियाः।
ब्रह्म गूढमभिसन्ध्यमादृतः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी॥—कुमार०, ८।४७
११. अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगंधिभिः॥—रघु०, १।५३

रहता था[१]। अहिंसा उनका मूलमन्त्र था। आश्रम के मृगों पर हाथ उठाने का किसी को अधिकार नहीं था[२]। आश्रम की मर्यादा के प्रतिकूल कार्य करने पर व्यक्ति को तपोवन के बाहर कर दिया जाता था[३]। विश्वबन्धुत्व उनका लक्ष्य था। लता-वृक्षादि में भी उनकी आत्मीयता थी। विषय-संग की विमुखता, राग के ऊपर उठने की चेष्टा, उनका ध्येय था[४]। वे यज्ञ भी करते थे[५]। अमंगल के परिहार के लिए विशेष व्रत-अनुष्ठान भी किया करते थे[६]।

तपस्विनी कन्याएँ भी इसी प्रकार का सादा जीवन व्यतीत करती थीं। वेष-भूषा उनकी ऋषियों के समान वल्कल की ही थी। आभूषणादि वे पुष्पों के पहनती थीं[७]। अतिथि-सत्कार[८], वृक्ष-मृगादि के प्रति सौहार्द[९] उनकी विशेषता थी।

संन्यास-आश्रम--सबसे अन्तिम आश्रम संन्यास आश्रम कहलाता था। कालिदास इसको "अन्त्य आश्रम" कहते हैं। यद्यपि अन्त्य के सम्बन्ध में टीकाकारों में मत की विभिन्नता है कि यह संन्यास है या वानप्रस्थ, पर मल्लिनाथ इसका अर्थ संन्यास ही लेते हैं[१०]।

उद्देश्य--संन्यास और वानप्रस्थ आश्रमों में बहुत अन्तर नहीं है। योग-साधना और वैराग्य का वानप्रस्थ प्रारंभ है और संन्यास परिपक्वता है। मोक्ष पाने

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ११।

२. आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।—अभि०, अंक १, पृ० ७

३. गृहीतामिषः किल गृध्रः पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यकृतो बाणस्य। तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समादिष्टः निर्यातयैनमुर्वशीहस्ते न्यासमिति।—विक्रम०, अंक ५, पृ० २४६

४. अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्धश्च सुप्तम्;
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसंगिनमवैमि।--अभि०, अंक ५, ११

५. वीक्ष्यवेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषितां।
संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकंकतस्रुचाम्॥--रघु०, ११।२५

६. देवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।—अभि०, अंक १, पृ० ९

७. देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'।

८. शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य देवमस्याः प्रतिकूलं....
—अभि०, अंक १, पृ० ९

९. अभि०, अंक १, अंक ४।

१०. स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ....--रघु०, ८।१४
देखिए इसकी टीका भी।

के लिए तत्त्वदर्शी योगियों के साथ शास्त्र-चर्चा,[१] कुश के आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करना,[२] योगबल से शरीर के भीतर रहनेवाले पाँचों पवनों को वश में करना,[३] ज्ञान की अग्नि से कर्मों को राख कर डालना,[४] धन के प्रति वैराग्य,[५] प्रकृति के सत्, रज, तम को जीतना,[६] आदि इस आश्रम के उद्देश्य थे। इस प्रकार की योगक्रिया से वे परमात्मा के दर्शन करने में समर्थ हो जाते थे[७]। इन्द्रियों को वश में कर[८] अन्त में योगमार्ग से शरीर छोड़ देते थे[९]।

योग और तपश्चर्या ही उद्देश्य की प्राप्ति का माध्यम थी। कालिदास ने विभिन्न प्रकार की योग-साधना और तपश्चर्या का उल्लेख किया है। पंचाग्नि-तप, शीतकाल में रात्रिभर जल में खड़े रहना, वर्षा में खुली चट्टानों पर सोना, मृग के समान केवल घास खाकर रहना, मौन रहना, शरीर का अग्नि में हवन करना, पेड़ की शाखाओं पर उलटा लटककर नीचे जली अग्नि का धुँवा पीकर रहना, आदि अनेक प्रकार थे, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। तपस्या में इतनी तल्लीनता आ जाती थी, कि शरीर पर दीमकों की बाँवी आ जाती थी, छाती पर साँप की केंचुलें पड़ी रहती थीं, गले में बेलें उलझ कर सूख जाती थीं। कन्धों पर फैली जटाओं में चिड़ियाँ घोसला बनाने लगती थीं[१०]।

इस योगबल से ही कण्व,[११] मारीच,[१२] वाल्मीकि, वसिष्ठ ने भूत, भविष्य

---

१. अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ।—रघु०, ८।१७
२. परिचेतुमुपांशुधारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ।—रघु०, ८।१८
३. अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पंच शरीरगोचरान् ।—रघु०, ८।१९
४. इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ।—रघु०, ८।२०
५.६. रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकांचनः ।—रघु०, ८।२१
७. न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ।—रघु०, ८।२२
८. इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ,
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयौ सिद्धिमुभाववापतुः ॥—रघु०, ८।२३
९. तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥—रघु०, ८।२४
योगेनान्ते तनुत्यजां—रघुवंशी आदर्श था ।—रघु०, १।८
१०. उल्लेख पीछे हो चुका है ।—अभि०, ७।११
११. अदितिः—भगवन् अनया दुहितृमनोरथसंपत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुत-विस्तारः क्रियताम् ।
मारीचः—तपः प्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः ।—अभि०, अंक ७, पृ० १४८
१२. मारीचः—वत्स अलमाक्तापराधशंकया । संमोहोऽपि त्वय्युपपन्नः । श्रूयताम् । यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका

वर्तमान सब कुछ जान लिया था। इन तपस्वी-गणों के अतिरिक्त साधारण लौकिक मनुष्य भी प्रयास करने पर योग-विद्या से हो परमात्मा का दर्शन कर लेते थे[१]। रघु का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

जन-साधारण में चाहे इन आश्रमों का प्रचार अधिक न हो परन्तु आदर्श अवश्य यही था। मालविकाग्निमित्र में कवि ने परिव्राजिका[२] का प्रसंग दिया है, जो इस आश्रम के आदर्श की पुष्टि करता है। यद्यपि इस शब्द से ऐसा अवश्य आभासित होता है कि गौतम बुद्ध के धर्म का प्रभाव जनता पर पड़ने लगा था और स्त्रियाँ भी परव्राजिका वनने लगी थीं।

वर्णों की तरह आश्रमों के रक्षक भी राजा थे[३]। मनुष्य आश्रमों के प्रतिकूल कार्य न करें, ऐसा उनका प्रधान कर्तव्य था!

दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमंगुलीयकदर्शनावसानः।—अभि०, अंक ७, पृ० १४६। (भरत के विषय में)—रथेनानुद्धतस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः पुरा सप्तदीपां जयति वसुधामप्रतिरथः। इहायं सत्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्।
—अभि०, ७।३३

१. पीछे उल्लेख हो चुका है देखिए—रघु०, ८।२२
२. सभी अंकों में नाम आया है।
३. नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।—रघु०, १४।६७
—निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।—रघु०, १४।८५

चौथा अध्याय

संस्कार

आशय तथा उद्देश्य—प्राचीन वैदिक साहित्य में संस्कार शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु का उपयोग बहुधा देखा जाता है। इसमें 'क्त' प्रत्यय का प्रयोग कर 'संस्कृत' शब्द का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर मिलता है[1]। शतपथ ब्राह्मण में 'स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह (१, १. ४. १०) तथा "तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्त-मभ्येति' (३ का २. १. २२) आदि वाक्यों का उपयोग हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् ४, १६. १. २ में 'तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होता' आया है। संस्कार शब्द का प्रयोग जैमिनि के सूत्रों में बहुत अधिक मिलता है[2]। अधिकतर इस शब्द से उनका आशय यज्ञ में सम्पादित किसी क्रिया से है, जिससे मनुष्य की शुद्धि हो। ३. ८. ३ में इसका उपयोग केशान्त, दंतधावन, नखकर्तन, क्रियाओं के लिए किया गया है, जो यज्ञ करनेवाले व्यक्ति के लिए आवश्यक समझी जाती हैं। ९. ३. २५ में प्रोक्षण के लिए, १०. २. ४९ में क्षौर कर्म (Shaving of head & face) के लिए इसका उपयोग किया है। उपनयन के अर्थ में भी जैमिनि ने (६.१.३५) इस शब्द का प्रयोग किया है—"संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः"। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि विभिन्न मनीषियों की इस शब्द के अर्थ में पृथक्-पृथक् धारणाएँ हैं। शबर स्वामी का कहना है कि संस्कार वह वस्तु है, जिसके होने से कोई वस्तु या व्यक्ति किसी के योग्य बनता है (संस्कारो नाम स भवति यस्मिजाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य)[3]।

---

१. ऋग्वेद, ५. ७६ २; ८. ३३. ९; ६. २८. ४

२. जैमिनि, ३. १ ३; ३. २. १५ व १७; ३. ८. ३; ९ २; ९. ४२, ४४; ९. ३. २५; ९. ४. ३३; ९. ४. ५० व ५४; १० १, २ व ११।

३. जैमिनि, ३. १. ३, शावरभाष्य, पृ० ६६०

'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कार इत्युच्यन्ते'[1] ऐसी तंत्र वार्तिककार कुमारिल की धारणा है। शंकर का कथन है—'संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा[2]।' योग्यता के विषय में तंत्रवार्तिककार का कहना है कि यह योग्यता दो प्रकार की है। दोषों के अपनयन तथा गुणान्तरोपजनन से मनुष्य योग्य बनता है। 'योग्यता च सर्वत्र द्विप्रकारा दोषापनयनेन गुणान्तरोपजननेन च भवति'[3]। 'धर्मशास्त्र के इतिहास' में श्री काणे ने कहा है कि संस्कार नए गुणों का उत्पादक हैं और तप से दोष अथवा पाप, अपराध आदि का निवारण होता है। वेदादि धर्मग्रन्थों में अभिनन्दित कार्यों को न करने से दोष माना जाता है। जिन बातों या कार्यों को करने का निषेध हो, उन कार्यों को मनुष्य इस जन्म में अथवा गत-जन्म में कर ही जाता है। इन कार्यों को करने से उत्पन्न दोषों का, यदि परिहार न किया जाय, तो ये, व्यक्ति कितना ही निर्दोष यज्ञ करे, उसको यज्ञ का फल प्राप्त न होने देंगे। इनका प्रभाव उस यज्ञ फल पर अवश्य ही पड़ेगा[4]। संस्कार की परिभाषा करते हुए वीरमित्रोदय इसके दो विभाग कर देते हैं। जातकर्म आदि संस्कारों से शरीर की शुद्धि होती है और उपनयन आदि से अदृष्ट अर्थवाले कर्मों की योग्यता प्राप्त होती है। "एते गर्भाधानादयः संस्काराः शरीरं संस्कुर्वन्तः सर्वेषु अदृष्टार्थेषु कर्मसु योग्यतातिशयं कुर्वन्ति। फलातिशयो योग्यतातिशयश्च"[5]।

संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि संस्कार से सर्वत्र शरीर की शुद्धि, पवित्रता एवं रमणीयता की ध्वनि निकलती है। स्वयं कालिदास ने संस्कार शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग किया है। कुमारसम्भव, सर्ग १, २८ में—

'संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च'

'संस्कारवत्येव' की टीका करते हुए मल्लिनाथ कहते हैं—

'संस्कारो व्याकरणजन्या शुद्धिस्तद्वत्या गिरा वाचा........'

इसी ग्रंथ के सर्ग ७, ९० में—

---

१. तंत्रवार्तिक पृ० १०७८; तुलना कीजिए—'संस्कृतं नाम तद्भवति यत्तत एवापकृष्याभ्यवह्रियते'। महाभाष्य ४।३।२५। 'उपयोग फला हि क्रिया संस्कार इति मन्यते'। कैयट, महाभाष्य ४।३।२५

२. वेदान्तसूत्र-शंकर, १. १. ४

३. तंत्रवार्तिक, पृष्ठ १११५ जैमिनी ३. ८. ९.

४. धर्मशास्त्र का इतिहास, अध्याय ६, पृष्ठ १९१

५. धर्मशास्त्र का इतिहास, अध्याय ६, पृष्ठ १९१ (पादटिप्पणी)

संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्य निवन्धनेन ।

संस्कार शब्द से संस्कृत अर्थ निकलता है, पर संस्कृत से संस्कृत भाषा के साथ-साथ (well-purified) अच्छी तरह से जिसकी शुद्धि हो चुकी हो, ऐसी भी प्रतीति होती है । प्रसिद्ध संस्कारों के अर्थ में संस्कार शब्द का प्रयोग कालिदास ने क्रिया के रूप में 'संस्कारोभया प्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि' (रघु० १५।३१) किया है। यही पवित्रता, रमणीयता और शुद्धता रघुवंश, सर्ग १५, ७६ में भी परिलक्षित होती है--

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया ।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ।।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अंक ६, श्लोक ६ की गहराई में जाने से संस्कार का प्रयोजन एवं महत्त्व भली-भाँति झलक जाता है--

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादातमनः ।
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ।।

जिस प्रकार खराद में से निकली हुई मणि क्षीण होने पर अलौकिक प्रभायुक्त हो जाती है, उसी प्रकार संस्कार हो जाने से व्यक्ति तेजस्वी हो जाता है, ऐसी ध्वनि निकलती है । यही भावना रघु०, सर्ग ३, १८ में--

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं वभौ ।।

उद्देश्य--इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कार शुद्धि और योग्यता के लिए किए जाते हैं । मनु का कहना है 'द्विजातियों के बीज तथा गर्भ से उत्पन्न पाप गर्भावस्था में किए गए हुए होम के द्वारा, जन्म लेने के पश्चात् जातकर्म, चोल, आदि के द्वारा शान्त हो जाते हैं[1] । याज्ञवल्क्य की भी ऐसी ही धारणा है--'एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्[2] ।' इन दोनों विद्वानों की धारणाओं की ही मेधातिथि, कुल्लूक आदि ने अपनी-अपनी तरह से व्याख्या की है । मेधातिथि बीज और गर्भ को पाप का कारण नहीं मानता, वरन् मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक २७ में आए 'एन' का तात्पर्य अपवित्रता का लेता है[3] । कुल्लूक का कथन है कि बैजिक से तात्पर्य 'प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं' है और गार्भिक

---

१. गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौंजी-निवन्धनैः ।
वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।।
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविधेनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।--मनु०, २।२७, २८

२. याज्ञवल्क्य स्मृति, २।१३

३. धर्मशास्त्र का इतिहास : काणे, पृ० १९२

से 'अशुचिमातृगर्भवास'-जन्य पाप है[1]। याज्ञवल्क्य स्मृति का मिताक्षराकार पापी अथवा अपवित्र माता-पिता से उत्पन्न बालक की शुद्धि के लिए संस्कार की आवश्यकता नहीं है, अपितु शारीरिक किसी व्याधि को जो माता-पिता में है, बालक में न आने देने के लिए होना चाहिए, ऐसा विश्वास करता है[2]। जो भी हो, शुद्धि एवं पवित्रता के लिए ही संस्कार की महत्ता है--इसमें कोई संदेह नहीं। हारीत भी इसी कथन की पुष्टि करता है, कि गर्भाधान से प्रारम्भ ८ संस्कारों से व्यक्ति पवित्र हो जाता है[3]। संस्कारों पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से पवित्रता के साथ दूसरे आशयों की भी अभिव्यक्ति होती है। उपनयन आदि संस्कार सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक आशय से परिपूर्ण हैं, जो वैदिक अध्ययन का मार्ग खोलकर व्यक्ति को धार्मिक विकास का अवसर देता है। श्री काणे का कहना है कि संस्कारों की मनोवैज्ञानिक उपयोगिता भी है। संस्कार हो जाने के पश्चात् व्यक्ति स्वतः अपनी विशिष्टता समझ कर सम्पादित नियमों का पालन करने के लिए दत्तचित्त हो जाता है। संस्कार का एक और आशय भी है। मनुष्य के हृदय में उत्सव के प्रति रुचि स्वाभाविक है। नाचना, गाना, आनन्द मनाना, हृदय के स्नेह एवं उमंग का परिचायक है। अतः नामकरण, अन्न-प्राशन आदि संस्कारों का यही आशय एवं उद्देश्य है। विवाह दो व्यक्तियों को एक कर सामाजिक उन्नति का कारण वनता है।

संक्षेप में संस्कारों के ४ आशय एवं उद्देश्य हैं : (१) पवित्रता, (२) वैदिक अध्ययन, कर्त्तव्य आदि की उपयोगिता, (३) उत्सव के प्रति अभिरुचि और (४) सामाजिकता।

महत्त्व—एक वात कहे विना संस्कारों का महत्त्व अधूरा ही रह जाता है। जव तक उपनयन-संस्कार न हो, तव तक बालक के लिए कोई बन्धन नहीं है। वह चाहे जहाँ चला जाय, जैसा भी आचरण करे, अपवित्र नहीं होता। संस्कार से पूर्व द्विज भी शूद्र ही होता है[4]। वसिष्ठ धर्म-सूत्र का यह वाक्य बौधायन सूत्र और

---

१. देखो, टीका मनुस्मृति, २।२७
२. वीजगर्भसमुद्भवं शुक्रशोणितसम्वद्धं गात्रव्याधिसंक्रान्तिनिमित्तं वा नतु पतितोत्पन्नत्वादि।--याज्ञवल्क्य स्मृति, टीका, श्लोक १३।
३. गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं संदधाति। पुंसवनात्पुंसीकरोति फलस्थापनान्माता पितृजं पाप्मानमपोहति रेतोरक्तगर्भोपघातः पंचगुणो जातकर्मणा प्रथममपोहति नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेन तृतीयं चूडाकरणेन चतुर्थं स्थापनेन पंचममेतैरष्टाभिः संस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवतीति—संस्कारतत्त्व, पृ० ८५७
४. न ह्यस्मिन्विद्यते कर्म किंचिदामौञ्जिवन्धनात्।
वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते॥--वसिष्ठ, २।६

मनुस्मृति में भी प्रतिध्वनित है[१]। गौतम के अनुसार शूद्र और अन्य तीन वर्णों में अंतर यही है, कि शूद्र एक जाति है, इसका कोई संस्कार नहीं होता। अन्य तीन द्विजाति हैं, क्योंकि इनका संस्कार हो जाने के बाद पुनर्जन्म हो जाता है[२]। इस जन्म की बहुत अधिक महत्ता है, क्योंकि माता-पिता तो केवल शरीर को जन्म देते हैं, पर संस्कारों से आत्मा की शुद्धि और विकास होता है। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में इसी का विशद विवेचन है[3]। मनु व्यक्ति के तीन जन्म मानते हैं—१. माता से; २. उपनयन के बाद; ३. जब उसे यज्ञ की दीक्षा दी जाय[४]। अत्रि का कहना है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव हि॥[५]

पाराशर ने इसी बात को उपमा के द्वारा अभिव्यक्त इस प्रकार किया है, 'जिस प्रकार नाना प्रकार के रंगों के प्रयोग से चित्रकला का सौन्दर्य प्रादुर्भूत हो उठता है उसी प्रकार ब्राह्मण्य विधिपूर्वक किए संस्कारों के द्वारा उज्ज्वलतर हो जाता है[६]।

संस्कारों का विभाजन—हारीत ने संस्कारों का दो भागों में विभाजन किया है—ब्राह्म-संस्कार तथा दैव-संस्कार[७]। गर्भाधान आदि संस्कार ब्राह्म-संस्कार कहलाते हैं, जिनसे व्यक्ति शुद्ध एवं पवित्र होकर ऋषियों की समता को प्राप्त करता है और उनके साथ उनके ही लोक में रहता है। दैव-संस्कार में पाकयज्ञ तथा अन्य यज्ञ, जिनमें सोम की आहुति दी जाती है, आते हैं। साधारणतः संस्कार के आशय ब्राह्म-संस्कारों ही से है।

संस्कारों की संख्या—संख्या के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। गौतम ने संस्कारों की संख्या ४० कही है : गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन,

---

१. बौधायन धर्म-सूत्र, १।२,६; मनुस्मृति, २।१७१, १७२

२. गौतम १०।१; ५१।

३. स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।
शरीरमेव मातापितरौ जनयतः। आ० ध० सू० १।१, १६–१८

४. अत्रि, १४१–१४२ देखो, धर्मशास्त्र का इतिहास, पादटिप्पणी, पृ० १८९

५ मातुरग्रेऽभिजननं द्वितीयं मौंजिबंधने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥—मनुस्मृति, अध्याय २, १६९

६. पाराशर, ८।१९

७. द्विविधः संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादिस्मार्तो ब्राह्मः।
पाकयज्ञहविर्यज्ञसौम्याश्चेति दैवः।

जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन ये आठ; वेद के चार व्रत; समावर्तन, विवाह, प्रतिदिन के पाँच महायज्ञ–देव, पितृ, मनुष्य, भूत, ब्रह्म; सात पाक यज्ञ, सात हविर्यज्ञ, सात सोमयज्ञ[1]। गौतम निस्संदेह संस्कारों का विस्तृत अर्थ लेते हैं । अंगिरस केवल २५ संस्कार ही कहते हैं। अधिकतर संस्कारों की संख्या १६ ही मानी गई है। इनमें गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विष्णु बलि, जातकर्म नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, वेदव्रत-चतुष्टय, समावर्तन और विवाह ।

मुख्य संस्कार

गर्भाधान संस्कार—वैखानस ऋतु संगमन और गर्भाधान को पृथक्-पृथक् मानता है[2]। यही ऋतुसंगमन निषेक भी कहलाता है :

ऋतौ संगमनं निषेकमित्याहुः[3]।

परन्तु मनु, याज्ञवल्क्य और विष्णुधर्म-सूत्रों में गर्भाधान के लिए ही निषेक शब्द का प्रयोग हुआ है[4]। याज्ञवल्क्य ने 'गर्भाधानमृतौ' का प्रयोग किया है। अवश्य ही ऋतु से तात्पर्य ऋतुसंगमन होगा[5]। पराशर और आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में गर्भाधान का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके स्थान पर वहाँ चतुर्थी कर्म या चतुर्थी होम का नाम आया है।

इस संस्कार का प्रारम्भ अथर्ववेद[6] में मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र[7] और वृहत् उपनिषद् में गर्भाधान, पुंसवन, अन्वलोभन का वर्णन है। शांख्यायन गृह्य में चतुर्थीकर्म की विशद विवेचना है। विवाह की तीन रात्रियों के पश्चात् चौथी रात्रि को पति अग्नि में अग्नि, वायु, सूर्य आदि को आहुति देकर मन्त्रों आदि को पढ़ते हुए अन्त में––'आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् । आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः (अथर्ववेद, ३।२३, २)'––संभोग करे[8]। पाराशर गृह्य और आपस्तम्ब गृह्य में भी लगभग ऐसा ही है[9]। गृह्य लेखकों

---

१. गौतम धर्मसूत्र, ८।१४–२४

२. देखिए, काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १९५

३. वैखानस, ६।२

४. मनु०, २।१६,२६. निषेकादिश्मशानान्तो ....। पुण्यैर्निषेकादिद्विजन्मनां ।—याज्ञ० २।१० निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां....

५. याज्ञ० २।११ गर्भाधानमृतौ पुंसः ....मिताक्षर ने 'ऋतौ' की व्याख्या 'ऋतुकाले' की है।

६. अथर्ववेद, ५।२५ ७ आश्वलायन गृह्य, १।१३.१

८. देखिए, धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ० २०३

९. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ० २०३

ने चतुर्थी कर्म को वैवाहिक-संस्कार का ही एक अंग माना। कदाचित् बड़ी अवस्था में विवाह होने के कारण वह रजस्वला हो चुकी होगी, ऐसा सोचकर विवाह के साथ ही यह संस्कार कर देते होंगे। बाद को जब छोटी अवस्था में विवाह होने लगा होगा, तब विवाह के साथ यह न कर बाद को करते होंगे। इसका अतः पृथक् नाम गर्भाधान-संस्कार रखा।

स्वयं कालिदास ने इस संस्कार का बहुत कुछ संकेत किया है। रघुवंश, सर्ग २ के श्लोक ७५ तथा मल्लिनाथ की टीका पर यदि ध्यान दिया जाय तो यह संकेत स्वतः स्पष्ट हो जाता है। 'गर्भमाधत्तराज्ञी' इसी संस्कार की ओर संकेत करता है। संभोगतृप्ता होकर नारी गर्भ की स्थापना करती है ऐसा आचार्यों का निर्णय है। आधत्त से इसी की ओर संकेत है[1]। साहित्यिक सौन्दर्य और गर्भ के महत्त्व का संकेत-उदाहरण इससे बढ़कर अन्यत्र कहाँ मिलेगा? इसी सम्बन्ध में कालिदास ने एक स्थान पर उपमा दी है—

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसंभवः।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः[2] ॥

इस असाक्षात् संकेत के अतिरिक्त निषेक शब्द का व्यवहार इस संस्कार की पुष्टि में सहायक है। कवि का अभिप्रेत ही ऐसा रहा होगा, इसमें कोई संशय नहीं—"यौषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यातमभुवोपदिष्टम्"[3]। इसी

---

१. 'गर्भमाधत्त राज्ञी' के सम्बन्ध में विद्वानों का कुछ मतभेद है। मल्लिनाथ कहते हैं 'अत्र आधत्त इत्यनेन स्त्रीकर्तृकधारणामात्रमुच्यते। तथा मंत्रे च दृश्यते, यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे। एवं त्वं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे'। गर्भ की स्थापना पुरुष करता है कि नारी करती है, इस पर भी मतभेद है। प्राचीनकाल में 'धत्ते' या 'आधत्ते' का अर्थ स्थापन करना था, यद्यपि आजकल इसका अर्थ धारण करना लिया जाता है। आचार्यों का यह निर्णय है कि स्थापना नारी करती है। उनका कहना है कि संभोगतृप्ति प्राप्त कर नारी गर्भ की स्थापना करती है—'तृप्ता पत्नी रेतो धत्ते।' बाद के वैयाकरणों ने 'धत्ते' में 'णिजर्थ' गम्य मान लिया है। उनके मत में 'धत्ते' का अर्थ है, धापयति अर्थात् स्त्री गर्भ धारण करवाती है—
क्रीणीष्व वपते धत्ते चिनोति चिनुतेऽपि च।
आप्तप्रयोगा दृश्यन्ते येषुण्यर्थोऽभिधीयते ॥—वाक्यपदीय, उपग्रह ३, समुद्देश ७

२. रघु०, १०।५८

३. कुमार०, ३।१६

प्रकार गर्भाधान के समय की शुद्धता भी वे न भूले। इसका संकेत भी उन्होंने कुमारसंभव में किया है[१]।

गर्भाधान-संस्कार गर्भ (गर्भस्थित वालक) का है अथवा स्त्री का, इस पर मतभेद है। गौतम० (अध्याय ८, २४); मनु० (अध्याय १, १६) इसे गर्भ का मानते हैं। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूप कहते हैं कि सीमन्तोन्नयन के अतिरिक्त सभी संस्कार गर्भ के हैं, अतः ये वार-वार प्रतिगर्भ में होने चाहिए :

'प्रतिगर्भं चापसीमन्तोन्नयदाः प्रवर्तन्ते।
तस्य स्त्रीसंस्कारत्वात्' ।।––विश्वरूप, याज्ञवल्क्य स्मृति, १।११.

पुंसवन—अथर्ववेद ७ का ११. १ में सबसे पहले यह शब्द आया है—'शमीमश्वत्थ आरूढ़स्तत्र पुंसवनं कृतम्।' गर्भाधान-संस्कार के वाद पुंसवन-संस्कार आता है। पुत्र की उत्पत्ति के लिए यह संस्कार किया जाता है। स्वयं मल्लिनाथ ने पुंसवन की व्युत्पत्ति बताई है––'पुमान्सूयतेऽनेनेति पुंसवनम्[२]।' हिन्दू-धर्म में पितृ-ऋण से उद्धार करने वाला पुत्र ही होता है, अतः सदा से ही पुत्र का वहुत अधिक महत्त्व है। स्वयं कालिदास ने इसका रघुवंश, शकुंतला, विक्रमोर्वशीय नाटकों में अनेक स्थानों में महत्त्व स्वीकार किया है[३]। अतः प्रत्यक्ष रूप से इस संस्कार का नाम लिया[४]।

गर्भ स्थापित हो जाने के पश्चात् पुंसवन-संस्कार किया जाता है। इसके समय के विषय में विद्वानों की पृथक्-पृथक् धारणाएँ हैं। आश्वलायन गृह्य (१ का १३ श्लोक) ने तीसरे महीने में करने की सम्मति दी है। मल्लिनाथ कहते हैं–'अत्र मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनम्[५]।' पारस्कर के अनुसार "पुंसां

---

१. सा भूधराणामधिपेन हिमवता समाधिमत्यां उदपादि भव्या।
सम्यकप्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत् ।।—कुमार०, १।२२

२. टीका रघु० ३।१०; तच्च पुमान् सूयतेऽनेन कर्मणेति व्युत्पत्त्या गर्भस्य पुंरूपतापादकः कर्म विशेष––(शौनक)। पुमान् प्रसूयते येन तत्पुंसवनमीरितम्।
(संस्कार-प्रकाश)

३. नूनं मत्तः परं वंश्याः पिंडविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धस्वधासंग्रहतत्पराः ।।––रघु०, १।६६
न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्––रघु०, १०।२
संतानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम्—विक्रम०, अंक ५, पृ० २३६

४. पूर्व उल्लेख, रघु०, ३।१०; 'देव इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निवृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते।'—अभि०, अंक ६, पृ० १२१

५. टीका रघु०, ३।१०

नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्''[1]। बैजवापगृह्ये–'अत्र पुंसवनानवलोभने करोति मासि द्वितीये वा तृतीये वा (संस्कार-मयूख)। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने शौनक का उदाहरण दिया है––

''व्यक्ते गर्भे द्वितीये तु मासे पुंसवनं भवेत्।
गर्भेऽव्यक्ते तृतीये चतुर्थे मासि वा भवेत्[२] ॥''

आश्वलायन गृह्य (अध्याय १, १३।२,७) में इसके मनाने की विधि इस प्रकार दी है। गर्भावस्था के तृतीय मास में पति, सारे दिन भर के उपवास की हुई पत्नी को, गाय (जिसका बछड़ा उसी रंग का हो जिस रंग की गाय हो) के दही में एक यव की बाल और दो माष के दाने मिलाकर तीन बार पीने को दे और प्रत्येक बार उससे पूछे—'तुम क्या पी रही हो', पत्नी प्रत्येक बार कहे—'पुंसवने', 'पुंसवने'।

अनवलोभन अथवा गर्भरक्षण––ये संस्कार पुंसवन के ही एक अंग थे। परन्तु आश्वलायन गृह्य में दोनों पृथक्-पृथक् कहे गए हैं[3]। वैजवाप गृह्य के अनुसार दोनों अर्थात् अनवलोभन और पुंसवन एक साथ ही एक दिन द्वितीय अथवा तृतीय मास में मना लेने चाहिए[४]। जैसा नाम स्वतःसिद्ध एवं स्पष्ट कर देता है, गर्भ नष्ट न हो, अथवा गर्भपात न हो, इसलिए इसकी उपयोगिता है। 'अव' पूर्वक 'लुप्' धातु से अन्वलोपन शब्द का निर्माण हुआ हैं[५]। शौनक कारिका के अनुसार भी वह संस्कार अनवलोभन कहलाता है, जिससे गर्भ सुरक्षित रहे[६]।

कवि कालिदास ने किसी श्लोक में यद्यपि इसका प्रयोग नहीं किया, पर असाक्षात् संकेत अवश्य किया है।

'यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रियाः धृतश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः।'—रघु०, ३।१०

१. टीका रघु०, ३।१० (मल्लि०)
२. इंडिया इन कालिदास; पृष्ठ ३२१।
३. ''चतुर्थेऽनवलोभनम्'' इत्याश्वलायनः। अतः चौथे महीने यह होना चाहिए, जब पुंसवन इसी स्थान पर द्वितीय या तृतीय मास में मनाना चाहिए–ऐसा लिखा है।––टीका रघुवंश, सर्ग ३, १०
४. काणे का, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २२०, फुटनोट भी।
अथ पुंसवनानवलोभने करोति मासि द्वितीये वा तृतीये वा।
इदं च पुंसवनदिन एव तदुत्तरं कार्यम्।…………—संस्कार-मयूख।
५. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २२१।
६. न क्षुभ्येन्न स्त्रवेधेन तत्कर्मानवलोभनम्–शौनक कारिका।
काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २२१, फुटनोट।

इसकी टीका करते हुए मल्लिनाथ कहते हैं--'पुंसवनादिकाः क्रियाः यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान् । आदि शब्देनानवलोभनसीमन्तोन्नयने गृह्येते ।' इसके मनाने की विधि[1] के विषय में आश्वलायन का कहना है कि हरे दूर्वादल के रस को पत्नी की नासिका के दाहिने छिद्र में छोड़े । किसी-किसी का यह भी कहना है कि इसको करते समय प्रजावत और जीवपुत्र[2] मंत्र पढ़े । प्रजापति की पूजा व आहुति देने के पश्चात् पत्नी के हृदय प्रवेश का छुए और मंत्र पढ़े, कि वे उसके गर्भ की रक्षा करें । संक्षेप में नाक के छिद्र में दूर्वारस डालना, पत्नी के हृदय प्रवेश को छूना और देवताओं से गर्भ की सुरक्षा के लिए प्रार्थना करना, इस संस्कार के मुख्य अंग हैं ।

सीमन्तोन्नयन—जैसा अनवलोभन संस्कार के प्रसंग में कहा जा चुका है, कि कवि का 'आदि' शब्द से अभिप्रेत अनवलोभन के साथ-साथ सीमन्तोन्नयन से भी था[3] ।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र के अनुसार सीमन्तोन्नयन पहले है, तत्पश्चात् पुंसवन[4] । आपस्तम्ब के अनुसार गर्भ के प्रत्यक्ष होते ही सीमन्तोन्नयन होना चाहिए । परन्तु जैसा मल्लिनाथ ने अपनी टीका में कहा है—'चतुर्थेऽनवलोभनम् इत्याश्वलायनः षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम् इति याज्ञवल्क्यः ।' इसके अनुसार पुंसवन के पश्चात् अनवलोभन तत्पश्चात् सीमन्तोन्नयन आता है । काट्ठक गृह्यसूत्र में तृतीय मास में, मानवगृह्यसूत्र में तृतोय, षष्ठ अथवा अष्टम मास में, आश्वलायन के अनुसार चतुर्थ मास में, आदि-आदि नाना विद्वानों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं[5] ।

सीमान्तोन्नयन का शाब्दिक अर्थ ऊपर की ओर माँग निकालना है । यह संस्कार श्री काणे के अनुसार सामाजिकता और उत्सवप्रियता का प्रकाशन है ।

---

१. काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २२१, अध्याय ६ ।

२. आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥
अग्निरेतु प्रथमो देवतानां सोस्यै प्रजां मुंचतु मृत्युपाशात् ।
तदयं राजा वरुणोनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात ॥
—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २२१, फुटनोट ।

३. रघु०, ३।१०, टीका

४. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २१८-२१६

५. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २२३

गर्भवती को प्रसन्न रखना ही इसका उद्देश्य समझ में आता है[१]। संस्कार-प्रकाश[२] में ऐसा लिखा है, कि इस संस्कार का उद्देश्य गर्भ नष्ट करनेवाली चुड़ैल (Fem-l goblins) को भगाना था। कच्चे फल और दर्भ से पत्नी का माँग ऊपर को निकालना, गले में माला बाँधना, उसको मुद्ग और घी से युक्त उबला चावल देना, वीणागायिनों (Lute Pla,ers) से गाने को कहना, उत्सवप्रियता का ही परिचायक है। कच्चे फलों से शांख्यायन, पारस्कर आदि उदुम्बर प्रयोग करे, ऐसा मानते हैं[३]।

सीमन्तोन्नयन को कुछ विद्वान् गर्भ का संस्कार मानते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कहना है, कि प्रत्येक गर्भ पर यह संस्कार होना चाहिए। विष्णु इसे स्त्री का संस्कार मानते हैं और कहते हैं, कि यह केवल प्रथम गर्भ पर ही होना चाहिए[४]। आपस्तम्ब, भारद्वाज और बोधायन की भी ऐसी ही धारणा है कि यह प्रथम गर्भ में ही मनाना चाहिए।

जातकर्म—बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् यह पहला संस्कार है। श्री काणे ने जैसा तैत्तिरीय संहिता और बृहत् उपनिषद् का उदाहरण दिया है, उससे यह सिद्ध होता है कि जातकर्म पुत्र के उत्पन्न होने पर ही मनाया जाता था[५]।

इस संस्कार के विषय में मनु का कहना है–"प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते[६]।" आश्वलायन का कथन है कि माँ और धातृ के अतिरिक्त किसी अन्य के स्पर्श करने के पूर्व यह संस्कार हो जाना चाहिए[७]। पारस्कर मनु की बात का ही समर्थन करते हैं[८]।

मनाने की विधि में भी सबका अपना-अपना विश्वास है। बृहत् उपनिषद् में लिखा है—'तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं या अनु-

---

१. काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २२३
२. संस्कार-प्रकाश, पृष्ठ १७२-१७३
३. धर्मशास्त्र का इतिहास, (काणे लिखित), पृष्ठ २२४
४. तथा च विष्णुः—
सीमन्तोन्नयनं कर्म तत् स्त्रीसंस्कार इष्यते।
केचिद् गर्भस्य संस्कारो गर्भं गर्भं प्रयुंजते।–स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय १, पृ. १७
५. धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द द्वितीय, भाग १, पृ० २२९
६. मनुस्मृति, अध्याय २।२९
७. आश्वलायन गृह्यसूत्र, अध्याय १, १५. २.
८. पारस्कर गृह्यसूत्र, १।१६

पधायन्ति'[1]। विस्तारपूर्वक जो भी वर्णित किया गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है, इस संस्कार के कई अंग हैं, यथा—(१) मंत्र पढ़ते हुए घृतयुक्त दही की अग्नि में आहुति देना, (२) बच्चे के कान में तीन बार वाक् शब्द कहना (विश्वास यह है कि तीनों वेद समयानुसार बच्चे को स्पष्ट हो जायँ), (३) सोने की छोटी चम्मच से घृत, दही और शहद बच्चे को चटाना, (४) बच्चे का एक नाम रखना जो गुप्त नाम रहे, (५) माता के स्तनों के पास ले जाना (स्तनप्रदान) और (६) माता के लिए (गर्भिणी) मन्त्रों का उच्चारण करना।

इस संस्कार के सम्बन्ध में दो बातें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात तो यह कि कुछ विद्वान् जैसे आश्वलायन और शांख्यायन जन्मदिवस के समय ही नाम दे देते हैं, पृथक् नामकरण-संस्कार का उल्लेख नहीं करते। शांख्यायन अवश्य कहते हैं कि दसवें दिन व्यावहारिक नाम दिया जा सकता है (१ का २४. ६)। दूसरी बात यह कि जातकर्म संस्कार में बहुत से विभाग हैं अथवा बहुत छोटे-छोटे संस्कारों—जैसे नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन आदि को मिला कर जातकर्म संस्कार कहते हैं। 'सः जातकर्मण्यखिले तपस्विना'....—रघु०, ३।१८।

कविश्रेष्ठ कालिदास ने इस संस्कार का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है[2]। मल्लिनाथ ने टीका में 'जातकर्मादयः'[3] का प्रयोग कर इस बात को प्रमाणित किया है, कि जातकर्म पैदा होने के समय का ही संस्कार विशेष नहीं, अपितु नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन आदि-आदि छोटे-छोटे संस्कारों की समष्टि मात्र है। आदि शब्द विक्रम० में भी प्रयुक्त है[4]।

---

१. बृहत् उपनिषद्, अध्याय १, ५.२, श्रीकाणे का इतिहास, पृ० २२९, फुटनोट
२. सः जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते....—रघु०, ३।१८
कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्री स्तन्यपायिनः ....—रघु०, १०।७८
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते....—रघु०, १४।७५
—सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मंत्रकृत्।
स चकारोभयप्रीत्या मैथिलेयो यथाविधि ॥—रघु०, १५।३१
—जातकर्म समये भगवता मारीचेन दत्ता।—अभि०, अंक ७, पृ० १३९
—विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्म पुत्र एष शाकुन्तलेयः।—अभि०,पृ० १४७
यत् क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधानं तदस्य भगवता च्यवनेन....
—विक्रम०, अंक ५

३. जातकर्मादिरूपः—रघु०, १४।७५; अदयः—रघु०, १०।७८
४. यत् क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधानं तदस्य भगवता च्यवनेन....
—विक्रम०, अंक ५

इस संस्कार का महत्त्व स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है। जिस प्रकार शाणोल्लिखित मणि अपूर्व तेजयुक्त हो जाती हैं, उसी प्रकार जातकर्मादि संस्कारों के पश्चात् दिलीप पुत्र पहले से कहीं अधिक शोभा-सम्पन्न हो गए।

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥––रघु०, ३।१८

जैसा पहले कहा जा चुका है कि जातकर्म के अंगों में स्तनप्रदान एक अंग था। अथवा होमादि करने के पश्चात् बच्चे को स्तनों के निकट ले जाया था। यही बात असाक्षात् रूप से कवि ने रघुवंश में एक स्थान पर व्यक्त की है––

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ....––रघु०, १२।७८

एक और बात भी अति महत्त्वपूर्ण है। कवि ने 'वधिवद्'[1] शब्द का प्रयोग कर यह पुष्ट कर दिया है कि जैसा प्राचीन ग्रंथों में संस्कार मनाया जाता जाता है वैसा ही उस समय भी होता था। साथ ही तत्कालीन समाज में जन्मोत्सव भी खूब मनाया जाता था। समृद्ध घरों में वेश्याओं के नृत्य होते थे (रघु०, ३।१९) राजकुमारों के जातकर्म संस्कार के समय राज-बन्दी जेल से छोड़ दिए जाते थे (रघु०, ३।२०)।

नामकरण—शंख का मत उसी दिन नाल कटने के पश्चात् नाम रखने का है। स्वयं मल्लिनाथ ने शंख की सम्मति रघु०, ३।२१ में उद्धृत की है—'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।' वृहदारण्यक, आश्वलायन, शांख्यायन आदि जिस दिन बालक उत्पन्न हो, उसी दिन नाम रखने के लिए कहते हैं। आश्वलायन दो नाम रखने के लिए कहते हैं, एक व्यावहारिक नाम, दूसरा गुप्त नाम, जिसे उपनयन-संस्कार तक केवल माता-पिता ही जानें। शांख्यायन का कहना है, कि इस दिन केवल गुप्त नाम ही देना चाहिए। व्यावहारिक नाम जन्म-दिवस के दसवें दिन ही रखना चाहिए[2]। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (१५ अध्याय, २.३.८) के अनुसार जन्मदिन पर नक्षत्र के अनुसार एक नाम रख देना चाहिए। यही गुप्त नाम है। व्यावहारिक नाम दसवें दिन ही रखना चाहिए। बौधायन, भरद्वाज और पारस्कर का भी ऐसा ही मत है[3]। मनु दसवें अथवा बारहवें दिन नाम रखने को कहते हैं[4]। स्वयं बाण ने कादम्बरी में चन्द्रपीड का नाम दसवें दिन रखाया है[5]।

---

१. पूर्व उल्लेख देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० २; —रघु०, १४।७५; रघु०, १५।३१; अभि०, पृ० १४७
२. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, अध्याय ६, पृ० २३४
३. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, अध्याय ६, पृ० २३९
४. नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् —मनु०, ३।३०
५. प्राप्ते दशमेऽहनि पुण्ये मुहूर्त्ते····चन्द्रापीड इति नाम चकार।—कादम्बरी

स्वयं कालिदास ने नामकरण-संस्कार का उल्लेख न करते हुए भी, वालक के उत्पन्न होने के वाद लगभग सभी स्थानों पर पिता के द्वारा नाम रखाया है[1]। यही नहीं नाम रखने के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से जो नियम प्रचलित हैं, जैसे नाम शुभ, सार्थक और योग्य हों उसी का उन्होंने भी पालन किया है। जैसे—

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम्॥—रघु० ३।२२

यह कहना कि कवि ने ऐतिहासिक नाम ही तो लिखे हैं, उसमें क्या नियम–क्या विनियम, अनुचित है। ऐतिहासिक नामों में भी नाम क्यों रखे गए, किस प्रकार गुणों को व्यक्त करने वाले सार्थक हुए, वताकर, प्राचीन नाम किस प्रकार रखने चाहिए, वताते हुए परम्परा का पालन किया है, साथ ही अपनी अद्वितीय कुशलता का परिचय दिया है। इसी प्रकार—

राम इत्यभिरामेंण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममंगलम्॥—रघु०, १०।६७

बौधायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि ऋषि, देवता अथवा पूर्वजों के नाम पर नाम रखना चाहिए[2]। वही वात कवि के शब्दों में अज नाम ब्रह्मा के नाम पर रखा गया, देखिए—

अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्मा तमात्मजन्मानमजं चकार।—रघु०, ५।३६

लव और कुश नाम, सीता जी की प्रसव-पीड़ा इन वस्तुओं से दूर हुई थी, अतः इसी कारण इन्हीं के नाम पर रखे गए[3]। शकुन्तला-पुत्र भरत का सर्वदमन और भरत नाम अपने अर्थ की पुष्टि एवं सार्थकता को सिद्ध करता है, तथा भविष्य में तेजस्वी होगा, इसका परिचायक है, यह स्वयं कवि ने मारीच के मुँह से

---

१. राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममंगलम्॥—रघु०, १०।६७
ब्राह्मे मुहुर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार॥—रघु०, ५।३६

२. ऋष्यनूकं देवतानूकं वा। यथैवैषां पूर्वपुरुषाणां नामानि स्युः–(बौधा० २. १. २८. २१)। यशंस्य नामधेयं देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं देवतायाश्च प्रत्यक्षं प्रतिषिद्धम्। (मानव गृह्यसूत्र १ का १८)

३. स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः॥—रघु०, १५।३२

कहलवाया है।[1] तात्पर्य यह है कि कालिदास के युग में नामकरण कुलपरम्परा के अनुकूल होता था और सार्थक नाम रखने का प्रयत्न किया जाता था।

निष्क्रमण, अन्नप्राशन तथा वर्षवर्द्धन (अब्द-पूर्त्ति)--जैसा पहले कहा जा चुका है कि कवि कालिदास ने और टीकाकार ने 'जातकर्मादयः'' शब्द का व्यवहार किया है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'आदयः' से तात्पर्य इन सब छोटे-छोटे संस्कारों से होगा।

निष्क्रमण वह शुभ दिन है जिस दिन बालक सबसे पहली बार घर से बाहर निकाला जाता है और सूर्य दिखाया जाता है। इसके विषय में मनु का कहना है—'चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्'।—(मनु०, २।३४)।

पारस्कर भी इसी बात पर विश्वास करते हैं—'चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।'—(पारस्कर, १।१७)।

संस्कार-प्रकाश में तीसरे मास में सूर्य का और चौथे में चन्द्र का दर्शन लिखा है।

अन्नप्राशन नाम के अनुसार बच्चे को सबसे प्रथम इस दिन खाना (अन्न) देना है। शांख्यायन का कहना है कि बकरे की वसा, तीतर अथवा चकोर का मांस या मछली का मांस या उबले चावल, दही, घी और शहद में मिलाकर पिता बच्चे को चटावे[2]। आश्वलायन भी यही कहते हैं, केवल मछली का मांस नहीं बताते[3]। आपस्तम्ब केवल दही, घी और शहद चावल में मिलाकर चटाना श्रेयस्कर समझते थे[4]।

जो भी हो, इस संस्कार का मुख्य अंग बच्चे को अन्न देना था। कुछ लेखक ब्राह्मणों को खाना खिलाना, होम व मन्त्रपाठ, आशीर्वाद भी करने को कहते हैं, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये सब हृदय के आनन्द और उल्लास को व्यक्त करने के लिए ही हैं।

कब होना चाहिए, इसके विषय में साधारणतः सबका मत षष्ठ मास ही है—'षष्ठे अन्नप्राशनं मासि यथेष्टं मंगलं कुले' (मनु०, २।३४); 'षष्ठे अन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम्' (याज्ञवल्क्य०, २।१२)। हाँ, वैसे मानवगृह्यसूत्र में पंचम अथवा षष्ठ है। वर्षवर्द्धन अथवा अब्दपूर्ति के विषय में किसी का कहना है कि

---

१. इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः।
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥—अभि०, ७।३३
२. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृष्ठ २५७
३. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृष्ठ २५७
४. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृष्ठ २५७

एक वर्ष तक प्रतिमास मनाया जाय, तत्पश्चात् प्रत्येक वर्ष। "कुमारस्य मासि मासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्वसु अग्नीन्द्री द्यावापृथिव्यौ विश्वान्देवाश्च यजेत्" (गोमिलगृह्य सूत्र, २. ८. १९. २०)। शांख्यायन भी इसी बात का समर्थन करते हैं[1]।

जो भी हो, बात बिलकुल मनोवैज्ञानिक है। जब तक बच्चा एक वर्ष का नहीं होता तब तक ही सब कहते हैं : आज यह दो महीने का हो गया, आज चार महीने का हो गया। बच्चे के प्रति स्वभावतः माता-पिता का स्नेह होता है, वे दिन गिनते ही हैं, अब यह इतना बड़ा हो गया। स्वभावतः हृदय के उल्लास आनन्द और अरमान को शान्त और पूर्ण करने के लिए थोड़ा-बहुत भोजन आदि खिलाना भी एक बहाना मात्र है। यथार्थ में निष्क्रमण, अन्नप्राशन और वर्षवर्द्धन आदि कोई संस्कार विशेष नहीं, आनन्द और उत्सव मनाने के बहाने मात्र ही हैं।

चूडाकर्म अथवा चौल—आजकल की भाषा में यही मुंडन संस्कार कहलाता है। श्री काणे ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है : चूडा के अर्थ शिखा हैं। इस मुंडन के पश्चात् केवल शिखा भर ही सिर पर रह जाती थी (और आजकल भी जो मानते हैं वे ऐसा ही करते हैं)। अतः चूडाकर्म वह संस्कार है जिसके पश्चात् शिखा या चोटी रखी जाती है। 'चौड' शब्द 'चूडा' से बना है, इसमें कोई संदेह नहीं। 'ड' के स्थान पर 'ल' बहुधा आ जाता है, अतः चौल शब्द बन गया[2]।

मनाने के विषय में आश्वलायन, आपस्तम्ब, मनु, याज्ञवल्क्य सब ही तृतीय वर्ष कहते हैं। मनु प्रथम अथवा द्वितीय भी कह देते हैं[3]। याज्ञवल्क्य तो 'चूडाकार्या यथाकुलम्' भी कहते हैं (अध्याय २, १२)।

भारद्वाज तो इस संस्कार का सम्बन्ध वैदिक काल से जोड़ते हैं[4]। जो भी हो, कालिदास ने इस संस्कार का एक स्थान पर बिलकुल साक्षात् तथा अन्य स्थानों पर असाक्षात् संकेत किया है—

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः .... (रघु०, ३।२८)

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृष्ठ २५८

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, काण, पृष्ठ २६०; इस पृष्ठ का फुटनोट भी देखिए।

३. चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥—मनु०, २।३५

४. अथास्य सांवत्सरिकस्य चौडं कुर्वन्ति यथार्षि यथोपयज्ञं वा।
विज्ञायते च यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव॥
—भारद्वाज गृह्यसूत्र, १।२८

इस पर मल्लिनाथ की टीका पर भी ध्यान देना आवश्यक है—"चूडाकार्या द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्या श्रुतिचोदनात्। इति मनुस्मरणात्तृतीये वर्षे वृत्तमूलः निष्पन्नचूडाकर्मा सन्। डलयोरभेदः। सः रघुः प्राप्ते तु पंचमे वर्षे विद्यारंभं च कारयेत् इति वचनात् पंचमे वर्षे चलकाकपक्षकैः चंचलशिखंडकैः 'बालानाम् तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखंडकः' इति हलायुध....।

ये ही काकपक्ष[1] और शिखंडक[2] शब्द उन्होंने एक नहीं अनेक स्थानों पर प्रयुक्त किए हैं। कदाचित् काकपक्षधारी बालक कवि को प्रिय ही बहुत थे। यह ठीक है कि कवि ने इसके मनाने की विधि का कहीं संकेत नहीं किया परन्तु इस संस्कार का मुख्य अंग बाल कटवाना ही है। अन्य बातें जैसे होम, ब्राह्मणों को भोजन कराना, दक्षिणा देना, बालों को ऐसे स्थान पर गड़वाना या फेंकवाना सब गौण ही हैं। वैसे भी लगभग सभी संस्कारों में होम, भोजन आदि कराना, दक्षिणा देना, सबका बच्चे को आशीर्वाद देना सामान्य ही हैं। लगभग सभी स्मृतियों में ऐसा ही उल्लेख है।

विद्यारम्भ संस्कार—प्रायः स्मृतियों ने चौल के बाद सीधे उपनयन-संस्कार का नाम दिया है। चौल-संस्कार जन्म के तीसरे वर्ष हो जाता था और उपनयन प्रायः आठवें वर्ष। इस बीच में क्या होता था और क्या होना चाहिए, इस पर स्मृतियों ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। उपनयन के बाद विधिपूर्वक विद्या पढ़ानी प्रारम्भ हो जाती थी। गुरु वेद आदि पढ़ाना प्रारम्भ कर देते थे। इससे यह संभावना की जा सकती है, कि आठ वर्ष से पूर्व बच्चा लिखना-पढ़ना सीख जाता होगा, तभी गुरु इस अवस्था में यथेष्ट ध्यान दे सकते होंगे।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह लिखा है, कि चौल के बाद राजपुत्र वर्ण-माला और अंकगणित पढ़ते थे तथा उपनयन के बाद वे वेद, वार्ता, आन्वीक्षिकी और दंडनीति तब तक पढ़ते थे, जब तक वे सोलह वर्ष के न हो जाते थे। इसके पश्चात् गोदान-संस्कार होता था और उनका विवाह हो जाता था[3]।

---

४. काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते।—रघु०, ११।१
—तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातराववभृथाप्लुतो मुनिः।—रघु० ११।३१
—एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे।—रघु०, ११।४२
—पर्यन्तसंवारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात्।—रघु०, १८।४३

५. तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किंचिदुक्षितशिखंडकावुभौ—रघु०, ११।५
—को नु खल्वेष स बाणासनः पादपीठे स्वयं
महाराजेन संयम्यमानशिखंडकस्तिष्ठति।—विक्रम०, अंक ५, पृ० २४८

१. वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुंजीत।
वृत्तोपनयनस्त्रयीमान्वक्षिकीं च शिष्टेभ्यो

कालिदास ने भी रघुवंश में अज के विषय में ऐसा ही लिखा है। प्रथम अज ने वर्णमाला सीखी, तत्पश्चात् वे संस्कृत-साहित्य-सागर में प्रविष्ट हुए[1]।

श्री काणे ने अपरार्क और स्मृतिचंद्रिका के उद्धरणों से पुष्ट किया है कि जन्म के पाँचवें वर्ष विद्यारंभ-संस्कार होना चाहिए। देवी-देवताओं की पूजा करने के बाद ब्राह्मणों का सत्कार करना चाहिए और दक्षिणा देनी चाहिए। इसके पश्चात् गुरु बालक को पहला पाठ दे। श्री काणे ने संस्कार-प्रकाश और संस्कार-रत्नमाला से भी इसी बात की पुष्टि की है कि पाँचवें वर्ष उपनयन से पूर्व यह संस्कार होना चाहिए[2]।

उपनयन--संस्कारों में उपनयन का महत्त्व बहुत अधिक है; क्योंकि जैसा गौतम (२ का १) का कहना कि इससे पूर्व बालक किसी भी तरह का आचरण करे, कोई दोष नहीं होता। वसिष्ठ-धर्मसूत्र भी इसी का अनुमोदन करते हैं, "न ह्यस्मिन् विद्यते कर्म किंचिदामौंजिबंधनात्। वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते" (२ का ६)। एक धर्मसूत्र का उदाहरण है "प्राङ्मौंजीबन्धनाद् द्विजः शूद्रसमो भवति"। इसी से मिलती-जुलती बात मनु भी (२ का १७२; १७१) कहते हैं। अतः यह संस्कार एक ओर व्यक्ति को नियमबद्ध जीवन में प्रविष्ट कर धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करता है, दूसरी ओर वेद-विद्या का मार्ग खोलकर मानसिक और बौद्धिक विकास में सहयोग देता है।

यदि शाब्दिक अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो इसका आशय (उप + नी धातु) पास ले जाना अथवा पास ले आना है। अतः वास्तविक अभिप्राय इस संस्कार का आचार्य के पास बालक को शिक्षा के लिए ले जाना था। जिस संस्कार के द्वारा बालक छात्र-रूप में प्रविष्ट होता था, वही उपनयन-संस्कार कहलाया। आचार्य बालक को गायत्री मंत्र देकर वेद विद्या प्रारम्भ करता था।

उपनयन किस अवस्था में होना चाहिए, इस पर बहुत कुछ मतभेद है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है, "अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्। आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आ द्वाविंशात्क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशद्वैश्यस्य"। (१ का १९. १-६)। पारस्कर ने भी आठवें वर्ष ही लिखा है यद्यपि वे वंश के चलन के अनुसार भी करने की स्वतंत्रता

वार्तामध्यक्षेभ्यो दंडनीतिं वक्तृप्रवक्तृभ्यः।
ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात्। अतो गोदानं दारकर्म च।—अर्थशास्त्र, १।५

१. स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥—रघु०, ३।२८

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, अध्याय ६, पृष्ठ २६६-२६७

दे देते हैं (२ का २)। शांख्यायन आठवें अथवा वारहवें में करने की अनुमति दे देते हैं (२ का १, १)। आपस्तम्ब का कहना है—'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत गर्भैकादशेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यम्' (१० का २)। मनु यद्यपि पहले कह देते हैं, "गर्भाष्टमे अब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम् गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः", पर इसके आगामी श्लोक में कहते हैं "ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे" (२ का ३७)। वैखानस, ५, ८ अथवा ९ कहते हैं (२ का ३)। अतः आठवें में तो लगभग सबकी ही सम्मति है।

इस संस्कार के पश्चात् बालक ब्रह्मचारी हो जाता है। अतः उसकी वेशभूषा और दैनिक जीवन बहुत संयमित हो जाते हैं। वेशभूषा में ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था। अजिन, पलाश, यज्ञोपवीत, मेखला उसकी वेशभूषा के प्रधान अंग थे। इनके द्वारा ही वह ब्रह्मचारी पहचाना जाता था। जैसा कि कालिदास ने ब्रह्मचारी की वेशभूषा कुमारसंभव में वर्णन की है—

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥—(सर्ग ५, ३०)

ब्रह्मचारी की वेशभूषा अजिन, पलाश, यज्ञोपवीत, मेखला आदि की उपयोगिता और महत्त्व, दैनिक संयमित जीवन, ब्रह्मचारी धर्म, वैदिक अध्ययन आदि के विषय में, पृथक् अध्याय में, ब्रह्मचर्याश्रम और शिक्षा के अन्तर्गत विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जायगा।

कालिदास ने रघु का उपनयन-संस्कार वर्णन किया है। यद्यपि मनाने की विधि पर किसी तरह का प्रकाश नहीं पड़ता, परन्तु यज्ञोपवीत अथवा उपनयन-संस्कार के पश्चात् आचार्यों ने रघु को विधिपूर्वक विद्या पढ़ानी प्रारम्भ कर दी, इसका उल्लेख है—

"अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवे गुरुप्रियम्।"
—(रघु०, सर्ग ३, २९)

इस संस्कार में यज्ञोपवीत का बहुत अधिक महत्त्व है। इसलिए उपनयन-संस्कार को कुछ समय पश्चात्, यज्ञोपवीत-संस्कार नाम दे दिया गया। यज्ञोपवीत का इतिहास और नियम तो ब्रह्मचर्याश्रम अथवा शिक्षा के अन्तर्गत ही लिया जायगा, परन्तु इतना बता देना इस समय आवश्यक है कि यज्ञोपवीत आजीवन गले में रहता था। यह तीनों वर्ण धारण करते थे, यद्यपि रघुवंश (११ का ६४) में परशुराम के विषय में कह दिया गया है कि यज्ञोपवीत पिता के वर्ण का चिह्न और धनुष माता, जो क्षत्रिय की कन्या थी, के वर्ण का चिह्न था। पर इससे यह कहना कि यह केवल ब्राह्मण धारण करते थे, ठीक नहीं है। हो सकता है

कि उस समय से पहले सभी पहनते थे, पर तब केवल ब्राह्मण । परन्तु आजकल यह हिन्दुत्व का चिह्न है, इसे उच्च वर्ण के सभी पहनते हैं, यद्यपि विशेषकर ब्राह्मण ही । उनके लिए अत्यावश्यक है ।

भारद्वाज गृह्यसूत्र (१ का ३) का कहना है कि पहले बालक यज्ञोपवीत पहन लेता था, तब होम प्रारम्भ होता था । बौधायन (२ का ५. ७) कहते हैं कि बालक को यज्ञोपवीत देकर कहा जाता था कि यज्ञोपवीत बहुत पवित्र है, इस मंत्र का उच्चारण करो । इस समय, फिर उसका मुंडन होता था । आश्वलायन के अनुसार अन्त में कमर में मेखला बाँध दी जाती थी और हाथ में पलाशदंड दे दिया जाता था । आपस्तम्ब होम के बाद फौरन ही मेखला और दंड दे देते हैं । आचार्य छात्र रूप में दीक्षित बालक का हाथ पकड़कर देवी-देवताओं को उसे समर्पित कर कल्याण करने की प्रार्थना करता हुआ विद्या-अध्यापन प्रारम्भ कर देता था[1] ।

केशान्न अथवा गोदान—वैदिक अध्ययन की समाप्ति पर यह संस्कार होता था । जैसा कवि ने स्वयं कहा है कि गोदान के पश्चात् रघु का विवाह हो गया[2] । अतः ब्रह्मचर्य की समाप्ति और गृहस्थाश्रम के बीच की यह कड़ी है । मल्लिनाथ ने इस संस्कार के विषय में कहा है, 'गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्डचन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्यं केशान्नाख्यं कर्मोच्यते[3] ।' चूँकि केशान्न के पश्चात् गुरु को गाय दक्षिणा-रूप में दी जाती थी, अतः इसका नाम गोदान भी पड़ गया । इस संस्कार में प्रथम बार क्षौर कर्म होता था । आश्वलायन केश का अर्थ श्मश्रु लेता है । जहाँ चौल में आश्वलायन गृह्यसूत्र में मंत्र है "अदितिः केशान् वपतुः", वहाँ गोदान में "अदितिः श्मश्रूणि वपतु" मंत्र है । चौल में आश्वलायन कुश को केश के दाहिनी ओर रखते हैं, इसमें श्मश्रु पर[4] ।

प्रत्येक सूत्रकार का कहना है कि इसके मनाने की विधि वही है जो चौल में थी । अन्तर यही है कि चौल में बालक माँ की गोद में बैठता है, इसमें माँ उसके बाईं ओर रहती है । इसी प्रकार के कुछ छोटे-मोटे परिवर्त्तन हैं । अधिकतर स्मृतिकार सोलहवें वर्ष में यह संस्कार करने को कहते हैं—"केशान्नः षोडशे वर्षे

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २८६
२. अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।—रघु०, ३।३३
३. टीका, रघु०, ३।३३
४. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४०४, फुटनोट

ब्राह्मणस्य विधीयते, राजन्यबंधोर्द्वाविंशे वैश्यस्य ह्यधिके ततः" (मनु० २ का ६५)। शांख्यायन सोलहवें अथवा बारहवें वर्ष कहते हैं।

गोदान के कितने समय पश्चात् विवाह होता था, कहा नहीं जा सकता। कालिदास की कृति रघुवंश (सर्ग ३, ३३) से ऐसा लगता है कि एक ही दिन विवाह से पहले हो जाता था।

स्नान अथवा समावर्त्तन—वैदिक अध्ययन की समाप्ति पर, गुरु की अनुमति प्राप्त कर, ब्रह्मचारी स्नान कर पिता के घर लौट आता था। तत्पश्चात् किसी अनुकूल कन्या से विवाह कर लेता था[१]। स्नान से आशय यही स्नान था जो अध्ययन की समाप्ति पर किया जाता था और समावर्त्तन, गुरुकुल से पिता के घर को लौट आना था। स्नान वही करता था जो वैदिक अध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का इच्छुक होता था। जो आजीवन पढ़ना चाहता था, वह इस संस्कार को नहीं करता था। इसी प्रकार, जिसने पिता से ही सब विद्याएँ पढ़ीं उसके लिए क्या समावर्त्तन[२] ? वह केवल स्नान करता था। अतः समावर्त्तन को मनु के टीकाकार मेधातिथि विवाह का मुख्य अंग नहीं मानते।

वैदिक अध्ययन की समाप्ति पर स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता था—ऐसा श्री काणे का कहना है[३]। कालिदास ने यद्यपि इस संस्कार का कहीं साक्षात् संकेत नहीं किया, पर उन्होंने स्नातक शब्द का उपयोग अवश्य किया है[४]। जो केवल वेद पढ़ता था—व्रत नहीं, वह विद्या-स्नातक कहलाता था, जो केवल व्रत पढ़ता था, वेद नहीं, वह व्रत-स्नातक और जो दोनों वह विद्याव्रत स्नातक[५]।

विवाह संस्कार—उपनयन के पश्चात् यह दूसरा अति महत्त्वपूर्ण संस्कार है जो व्यक्ति को गृहस्थ बनने का मार्ग खोल देता है। स्वयं कालिदास ने गृहस्थाश्रम को "सर्वोपकारक्षमम्"[६] कहकर विवाह का महत्त्व बढ़ा दिया है। उन्होंने अनेक स्थानों पर पुत्र की उपयोगिता और महत्त्व समझाया है[६]। दूसरे शब्दों में वे पुत्र के लिए ही विवाह का उद्देश्य[७] वर्णित करते हैं और पुत्र उनके अनुसार

---

१. मनु०, ३।४
२. अपरार्क, पृष्ठ ७६। धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४०५
३. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४०७
४. तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।—रघु०, ७।२८
५. पारस्कर गृह्यसूत्र, २ का ५
६. रघु०, ५।१०
७.८. प्रजायै गृहमेधिनाम्।—रघु०, १।७
परिणेतुः प्रसूतये।—रघु०, १।२५

"पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्"[1] है । अतः दिलीप का दुःखी होना, दुष्यन्त का पश्चात्ताप करना सत्य ही है । पुत्र के लिए ही पुत्रेष्टि यज्ञ[2] और पुत्रोत्पत्ति[3] व्रत का प्रसंग देकर वे गृहस्थाश्रम का महत्त्व वढ़ा देते हैं । कालिदास के ग्रन्थों में स्त्री पुत्रवती होने का आशीर्वाद बहुधा दिया जाता है[4] । वैवाहिक आदि शुभ अवसरों पर सौभाग्यवती तथा पुत्रवती स्त्रियाँ शुभ मानी जाती हैं[5], वे ही मंगल

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिंडविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥
सोऽहमिज्या विशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥—रघु०, १।६६, ६७, ६८

इसके पश्चात् भी ४ श्लोक इसी प्रसंग में हैं ।

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥—रघु०, १०।२
सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः,
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रतियाचितः ॥—कुमार०, ६।२७
अस्मात्परं वत यथाश्रुति संभृतानि
को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति ।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥—अभि०, ६।२५

१. पूर्व उल्लेख,—रघु०, १०।२

२. ऋष्यश्रृंगादयस्तस्य सन्तः संतानकांक्षिणः
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयमृष्टिमृत्विजः ।—रघु०, १०।४

३. रघु०, २ सर्ग पूरा, विशेषकर—
"तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शितांगम् ।"—रघु०, २।७३

४. वत्से वीरप्रसविनी भव ।—अभि०, पृ० ६५
ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥—अभि०, ४।७
तस्यै मुनिर्दोहदलिंगदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ।—रघु०, १४।७१
वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति ।—कुमार०, ७।८७

५. तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ।—कुमार०, ७।६

श्रृंगार करती हैं। सम्राट् को भी 'चक्रवर्ती पुत्र हो' ऐसा ही आशीर्वाद देने की चाल[१] है। ये सब बातें पुत्र की महत्ता के साथ-साथ विवाह की आवश्यकता, पवित्रता पर यथेष्ट प्रकाश डालती हैं।

कालिदास ने विवाह-संस्कार, कितने प्रकार से मनाया जा सकता है, इसके कितने भेद हैं, संस्कार की विधि क्या है, इसके लिए क्या-क्या उपकरण प्रयुक्त किये जाते हैं, आदि अनेक बातें स्पष्ट रीति और रूप से अभिव्यक्त की हैं। अतः इस संस्कार को सविस्तार पृथक् अध्याय में लिया जायगा।

अन्त्येष्टि-संस्कार—कालिदास नें अन्त्येष्टि-संस्कार के लिए 'नैष्ठिक' शब्द का भी प्रयोग किया है[२]। व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् अन्तिम बार शव को पुष्प-आभूषण आदि से सजाया जाता था। कवि इस अन्तिम साज-सज्जा को अन्त्यमंडनम्[3] अथवा मृत्युमंडनम्[४] कहते हैं।

अग्नि-संस्कार—शव को कफन (इसे कवि प्रेतचीवर कहता है) उढ़ा कर[५] उसका अग्नि-संस्कार[६] कर दिया जाता था। राजकुल के व्यक्तियों के लिए चन्दन की चिता बनाई जाती थी[७]। परन्तु योगी भूमि में गाड़े जाते थे। (रघु०, ८।२५)।

मृत्यु के पश्चात् जब तक श्राद्ध आदि नहीं हो जाता था, अशौच-दिवस रहते थे। अशौच-दिवस की अवधि के विषय में मल्लिनाथ मनु तथा पाराशर की सम्मति उद्धृत करते हैं। इन दिवसों को कवि 'दशाह' कहता है[८]। मनु का कहना है कि ब्राह्मण दस दिन के बाद शुद्ध हो जाते हैं और क्षत्रिय बारह दिन के बाद। स्वयं मल्लिनाथ मनु के नियम का उल्लंघन नहीं करते, अपितु कहते हैं—

---

१. जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव। पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥ —अभि०, १।१२

२. विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित्।—रघु०, ८।२५

३. विससर्ज तदन्त्यमंडनामनलायागुरुचन्दनैधसे।—रघु०, ८।७१
क्रियतां कथमन्त्यमडनं परलोकान्तरितस्य ते मया।—कुमार०, ४।२२

४. "अथवा एतदेव मे मृत्युमडनं भविष्यति"—माल०, अंक ३, पृ० २६९

५. तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवर स्वनोग्रया।—रघु०, ११।१६

६. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० २, ३, रघु०, ८।७१
पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः।—रघु०, १२।५६

७. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ३, रघु०, ८।७१

८. अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम्।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः॥—रघु०, ८।७३

''गुणवत्क्षत्रियस्य तु दशाहेन शुद्धिम्'' । पाराशर कहते हैं—''क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वधर्मनिरतः शुचिः''[१]।

श्राद्ध-संस्कार[२]—श्राद्ध में मृत व्यक्ति को जो वस्तु प्यारी होती है, वह अवश्य दी जाती है। रति ने वसन्त से आग्रह किया था कि वह आम की मंजरी जो कामदेव को बहुत प्यारी थी, अवश्य दे[3]।

श्राद्ध-संस्कार को मल्लिनाथ 'पिण्डोदकादि कर्म'[४] कहते हैं। जल की अंजलि[५] देने का कवि ने अनेक स्थानों पर प्रसंग दिया है। तिल-उदक का[६] मृत व्यक्ति को तर्पण दिया जाता है। पिंडदान[७] भी किया जाता है।

अपवाद—योगियों का अग्नि-संस्कार नहीं किया जाता[८]। शौनक का कहना है—''सर्वसंगनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च। न तस्य दहनं कार्यं नैव पिंडोदक क्रिया ॥ निदध्यात्प्रणवेनैव विले भिक्षोः कलेवरम्। प्रोक्षणं खननं चैव सर्वं तेनैव कारयेत्[९] ॥

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ८ में वर्णित श्लोक की टीका।

२. अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित्।
न हि तेन यथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिंडकांक्षिणः ॥—रघु०, ८।२६
—इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥—रघु०, १५।६१

३. देखिए, पिछले पृष्ठ को पादटिप्पणी, नं० ६ में रघु०, १२।५६
परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः।
निवपेः सहकारमंजरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा ॥—कुमार०, ४।३८

४. देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० २ में रघु०, ८।२६
अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥—रघु०, ८।८६

५. अनुपास्यसि वाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलांजलिम्।—रघु०, ८।६८
इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्यांजलिरेक एव नौ।—कुमार०, ४।३७

६. देखिए, रघु०, ८।२६ टीका
अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिवन्ति ॥
—अभि०, ६।२५

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

८. विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित्।—रघु०, ८।२५

९. रघु०, ८।२५ (टीका)

विश्वास—जब कुटुम्बी बहुत रोते हैं तो प्रेतात्मा को बहुत कष्ट होता है[१]। याज्ञवल्क्य का कहना है "श्लेष्माश्रु बंधुभिर्मुक्तं प्रेतो भुंक्ते यतोऽवशः। अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः"[२]।

स्त्री-पुरुषों के संस्कारों में अन्तर—मनु[३], याज्ञवल्क्य[४] और आश्वलायन[५] तीनों का ही कहना है कि जातकर्म से लेकर चूड़ाकर्म तक सभो संस्कार लड़कों के समान लड़कियों के भी होने चाहिए। अन्तर यही है कि लड़कियों के संस्कारों में मंत्रों का उच्चारण नहीं होना चाहिए।

जातकर्म—परन्तु काणे जी ने[६] जातकर्म में तैत्तिरीय संहिता और बृहत् उपनिषद् का जो अंश उद्धृत किया है उसमें पुत्र शब्द साफ लिखा है। अतः धूमधाम और महत्त्व निस्संदेह पुत्र के ही जातकर्म को दिया जाता था।

नामकरण—नामकरण के विषय में आश्वलायन (१ का १५, ११) का कहना है कि यात्रा से लौटने पर पिता पुत्र को गोद में लेकर 'अंगद'-'अंगद' कहे और उसके शीर्ष का तीन बार चुम्बन करे। आपस्तम्ब भी लगभग ऐसी ही क्रिया कहते हैं, केवल इतना और, कि उसके दाहिने कान में ५ पवित्र मंत्र कहे। बृहत उपनिषद् (२ का ११) में लिखा है कि यात्रा से लौटकर पिता 'अंगद'-'अंगद' कहते हुए सिर स्पर्श करे और 'अश्मा भव' कहे। लड़कियों के सम्बन्ध में न सिर को सूँघा जाता था, न कान में किसी मंत्र का ही कहना था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लड़कियों की उपेक्षा तो नहीं की जाती थी, पर वास्तव में अधिक महत्त्व पुत्र को दिया ज़ाता था।

चूडाकर्म—आश्वलायन (१ का १७, १८) का कहना है कि लड़कियों का चूड़ाकर्म अवश्य होना चाहिए, पर वैदिक मंत्रों के पाठ के विना। मनु० (२ का ७७) याज्ञवल्क्य० (१ का १३) का भी ऐसा विश्वास है कि शरीर की शुद्धि के लिए जातकर्म से चौल तक सभी संस्कार लड़कियों के बिना वैदिक मंत्रों के होने चाहिए।

---

१. अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥—रघु०, ८।८६

२. रघु० ८।८६ (टीका)

३. अमंत्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥—मनु० २ का ६६

४. याज्ञ०, १ का १३

५. आश्व०, १ का १५,१२; १ का १६, ६; १ का १७, १८

६. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २२९

उपनयन—हारीत धर्मसूत्र के अनुसार, जैसा काणेजी ने[१] उद्धरण दिया है, स्त्रियों के दो वर्ग होते थे, ब्रह्मवादिनी तथा सद्यवधू। ब्रह्मवादिनी का उपनयन-संस्कार होता था, वे वैदिक अध्ययन करती थीं। सद्यवधू का विवाह से पहले केवल संस्कार भर होता था, इसके बाद विवाह। गोमिल[२] के अनुसार लड़की विवाह के समय उपनयन-संस्कार के चिह्न यज्ञोपवीत को धारण करती थी। पर टीकाकार का कहना है कि उसके ऊपर का वस्त्र यज्ञोपवीत की तरह लटका रहता था।

समावर्तन—आश्वलायन स्त्रियों का वैदिक अध्ययन मानता था। अतः समावर्तन भी लिखा है[३]। हारीत ने संस्कार-प्रकाश में 'प्राग्रजसः समावर्तनम्' (पृ० ४०४) लिखा है। अतः ब्रह्मवादिनी का उपनयन आठवें वर्ष में होकर युवती होने से पूर्व उसकी विद्या समाप्त हो जाती थी। मनु ने उपनयन, समावर्तन आदि पर ध्यान नहीं दिया। तब तक आते-आते शायद यह स्त्रियों का न भी मनाया जाता हो, या मंत्ररहित हो। अतः कालिदास ने भी स्त्री-संस्कारों में विवाह और श्राद्ध के अतिरिक्त किसी संस्कार का वर्णन नहीं किया।

विवाह—स्त्रियों का विवाह-संस्कार वैदिक मंत्रों के साथ धूमधाम के साथ मनाना, न केवल मनु[४] और याज्ञवल्क्य[५] ने कहा, अपितु कवि कालिदास ने भी,[६] जहाँ पार्वती के वर्णमाला लिखने-पढ़ने पर विद्यारम्भ-संस्कार नहीं लिखा, जातकर्मादि का वर्णन धूम से नहीं किया, पर उनका विवाह बड़ी धूम से किया। इसी प्रकार इन्दुमती के विवाह में भी मन्त्र-उच्चारणों सहित विवाह-संस्कार का उल्लेख किया[७]।

श्राद्ध—पुरुषों के समान स्त्रियों का श्राद्ध नियमपूर्वक मनाया जाना स्पष्टतः कहा है। अज द्वारा इंदुमती[८] का और राम द्वारा अपनी माताओं का श्राद्ध[९] विधिपूर्वक किया गया था। तर्पण, पिण्डदान एक-सा ही था।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २९४

२. गोमिल २ का १.१९। धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २९४

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २९४–२९५

४. मनु०, २ का ६७। ५. याज्ञ०, १ का १२। ६. कुमार०, सर्ग ७। ७. रघु०, सर्ग ७।

८. अथ तस्य कथंचिदंकतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमंडनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥—रघु०, ८।७१

अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम्।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥—रघु०, ८।७३

९. इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥—रघु०, १५।९१

कुछ अन्य आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग—संस्कार-प्रकाश के अनुसार गर्भाधान के अतिरिक्त सभी संस्कार का पति की अनुपस्थिति में कोई भी प्रतिनिधित्व कर सकता है[1]। संस्कार केवल द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के होते हैं। शूद्रों का कोई संस्कार नहीं होता, अपरार्क ने जैसा वसिष्ठ का (४ का ३) उद्धरण दिया है—'गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते।' उपनयन के बाद वैदिक अध्ययन प्रारम्भ होता है और वेदों के अनुसार उपनयन तीन का ही होता है (वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यमिति)[2]। वैदिक अध्ययन शूद्रों के सम्मुख करना भी मना है। संस्कारों के विषय में मनु का कहना है, 'न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्' (१० का १२६)। यही नहीं, आगे वे कहते हैं, 'न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्। न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् (४ का ८०)। लघु-विष्णु[3] शूद्रों का कोई संस्कार ही नहीं मानते। मनु० ४ के ८० में टीकाकार अपरार्क ब्राह्मणों के माध्यम से व्रतों का पालन करना कहते हैं। शंख[4] का कहना है कि बिना वैदिक मन्त्रों के शूद्रों का संस्कार किया जा सकता है। स्मृतिचन्द्रिका में यम[4] का भी यही मत है। वेदव्यास[4] दस संस्कार (गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, कर्ण-वेध और विवाह) बिना मन्त्रों के होने में कोई हानि नहीं समझते। निर्णयसिन्धु के अनुसार शूद्रों के ६ संस्कार हो सकते हैं—जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ विवाह ओर पंच महायज्ञ। मंत्र सब पुराणों में से लेने चाहिए और उनका ब्राह्मण पुरोहित ही उच्चारण करे, (धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १९८)। अतः नामकरण आदि सब संस्कार हो सकते हैं पर वैदिक मंत्रों के बिना। मनुस्मृति के अनुसार (८, ४१३) शूद्रों की उत्पत्ति ब्राह्मणों की सेवा के लिए ही हुई है। तैत्तिरीय संहिता (७ का १, १, ६) में कहा है—'शूद्रो

---

१. गर्भाधानादिसंस्कर्ता पिता श्रेष्ठतमः स्मृतः।
अभावे स्वकुलीनः स्याद् बांधवो वान्यगोत्रजः॥
—संस्कारप्रकाश, पृ० १६५

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, (फुटनोट) पृ० १५४

३. शूद्रश्चतुर्थो वर्णस्तु सर्वसंस्कारवर्जितः। —लघुविष्णु, १ का १५
—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १५९

४. द्रष्टव्य, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १५९

मनुष्याणामश्वः पशूनां तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः ।'

शूद्रों के पश्चात् प्रश्न आता है, जो न स्त्री है-न पुरुष है, उनका भी संस्कार हो अथवा नहीं। संस्कारप्रकाश के अनुसार जातकर्म या अन्य संस्कार क्लीव के न हों[१]।

दूसरा प्रश्न है, क्या उपनयन अंधे, बहरे अथवा गूँगे आदि का होना चाहिए? जैमिनि[२] ऐसे व्यक्तियों को अग्निहोत्र के योग्य नहीं समझते। आपस्तम्ब[२], गौतम[२], मनु[२], याज्ञवल्क्य[२] आदि इनको सम्पत्ति के योग्य नहीं मानते, पर जीविका-निर्वाह का अधिकार स्वीकार करते हैं। पर सभी विवाह की अनुमति दे देते हैं। चूँकि जब तक उपनयन न हो द्विजातियों का विवाह नहीं हो सकता, अतः उपनयन, जहाँ तक नियमपूर्वक पालन किया जा सकना सम्भव हो, होता था। मन्त्र आचार्य पढ़ देता था।

तोसरा प्रश्न है कि क्या वर्णसंकर अथवा मिश्रित जातियाँ उपनयनादि के योग्य थीं? मनु (१० का ४१) सात अनुलोमों को द्विजों के समान संस्कारों की स्वीकृति देते हैं। याज्ञवल्क्य (१ का ९२, ९५ में) उपनयन माता के वर्ण के अनुसार करने की अनुमति देते हैं। मनु (४ का ४१) समस्त प्रतिलोमों को और ब्राह्मण की शूद्रा से उत्पन्न सन्तान को, यद्यपि वह अनुलोम हैं, शूद्र ही समझते हैं। गौतम (१०, ५१) शूद्र को एक जाति कहते हैं, द्विजाति नहीं। प्रतिलोम और शूद्रों का उनके अनुसार कोई उपनयन नहीं होता।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० १९८, (स्मृतिचन्द्रिका, पृ० १९५–१९७)

२ मनु, जैमिनी, आपस्तम्ब, गौतम, याज्ञवल्क्य सबकी सम्मति देखिए, धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, अध्याय ७, पृष्ठ २९७।

पाँचवाँ अध्याय

विवाह

संस्कारों में सबसे अधिक महत्त्व विवाह को ही दिया गया। 'विवाह' के अतिरिक्त उद्वाह, परिणय, परिणयन, पाणिग्रहण आदि शब्द भी इस संस्कार के पर्यायवाची ही हैं। शास्त्रों में ये सभी शब्द स्थान-स्थान पर प्रयुक्त किए गए[1]।

विवाह का उद्देश्य—ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो, देवकार्यों को करने का अधिकार प्राप्त करना तथा वंशानुक्रम के लिए सन्तान-प्राप्ति थी[2]। ऐतरेय ब्राह्मण[3] तथा शतपथ ब्राह्मण[4] भी सन्तान-प्राप्ति को ही पूर्णता समझकर विवाह को महत्त्व प्रदान करते हैं। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र[5] विवाह के दो उद्देश्य कहता है : पत्नी के सहयोग से धार्मिक कार्यों को सम्पादित करना तथा सन्तान प्राप्ति। मनु अपत्य, धर्मकार्यों को करने की क्षमता, उत्तम रति, पितरों एवं अपने लिए स्वर्ग-प्राप्ति, ये उद्देश्य विवाह के मानते हैं[6]।

कहना युक्तिसंगत है कि कालिदास ने अपने पूर्वजों का ही अनुकरण किया। मनु के उद्देश्य नवोन नहीं थे, पिछले उद्देश्यों की ही पुनःस्थापना थी, और कालिदास के ग्रन्थों का यदि समीचीन रूप से अध्ययन किया जाय. तो मनु के ही स्वर में उनका स्वर मिला हुआ मिलेगा।

(१) कालिदास ने स्वयं अपने ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम का महत्त्व स्वोकार

---

१. एवमुपयमनपाणिग्रहणशब्दवत्परिणयनशब्दोऽपि दडिन्यायेनैव कर्मसमुदाये शास्त्रेषु प्रयुज्यते (अपरार्क, पृ० ९१)

२. ऋग्वेद, १०, ८५, ३६, ५, ३, २, ५, २८, ३

३. ऐतरेय ब्राह्मण, ३३, १, १ का २, ४

४. शतपथ ब्राह्मण, ५, २, १, १०

५. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २ का ५, ११, १२

६. अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥—मनु०, ९ का २८

किया है। वे गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों में श्रेष्ठ मानते हैं[१]। धार्मिक कार्यों को बिना विवाह करने का अधिकार नहीं था[२]। इसी से गृहस्थाश्रम एवं विवाह की महत्ता भली-भाँति परिलक्षित हो जाती है।

प्रत्येक धार्मिक कार्य में पत्नी का सहयोग परमावश्यक समझा जाता था। 'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्[३]' कालिदास के विश्वासों का साक्षात् प्रतीक है। पत्नी को इसी कारण धर्मपत्नी[४] कहा जाता था। पत्नी को कवि-कुल गुरु प्रतिष्ठा कहते हैं, 'संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा' (अभि० ६।२४)। विवाह के समय पुरोहित कन्या से कहता था कि तुम पति के साथ सब प्रकार के धार्मिक कार्यों को करना[५]। धार्मिक कार्यों में पत्नी का कितना स्थान था, इसकी पुष्टि राम के द्वारा यज्ञ के समय सीता की सोने की प्रतिकृति रखना, कर देता है[६]।

(२) विवाह का दूसरा उद्देश्य कवि भी वंश-प्रतिष्ठा ही समझते हैं। विवाह को बहुत पवित्र समझा जाता था। संसार के समस्त सुखों के समुपस्थित रहते हुए भी यदि व्यक्ति के पुत्र न हो तो सब फीका एवं निस्सार ही समझा जाता था। पुत्र की महत्ता में अर्थ का अन्तर्भाव है। पुत्र का न होना सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझा जाता था। स्वयं मनु भी, जिस कन्या के कोई भाई न हो, उससे विवाह करने के पक्ष में न थे।

राजा दिलीप के पास सभी सुख-भोग की सामग्री थी, फिर भी वे पुत्र के बिना कितने दुःखी थे, इसको कवि ने रघुवंश प्रथम सर्ग में भलीभाँति व्यक्त किया है[७]।

दुष्यन्त समुद्र-व्यापारी धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् यह सोचकर कितना दुःखी होता है कि निस्संतान होना कितना दुःखदायी है, मेरे पीछे पुरुवंश की राज्यलक्ष्मी की भी यही दशा होगी[८]।

---

१. सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते—रघु०, ५।१०
२. 'आर्य धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः'—अभि०, अंक १, पृ० २१
३. कुमार०, ६।१३
४. 'तदिदानीमापन्नसत्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति' —अभि०, अंक ५, पृ० ८६। 'दिष्ट्या धर्मपत्नी समागमेन............'—अभि०, पृ० १४३
५. 'शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति'—कुमार०, ७।८३
६. अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी। रघु०, १५।६१
७. रघु०, सर्ग १, ६५ से ७१ श्लोक। पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'।
८. 'कष्टं खलु अनपत्यता'। 'ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः'।
—शकु०, अंक ६, पृ० १२२

पुत्र को वंश की प्रतिष्ठा कहा गया है[१]। वैदिक विधि से तर्पण करने का उसको ही अधिकार दिया गया है[२]। पुत्र ही वंश और कीर्ति को चलाने वाला होता था[३]। पितरों के ऋण से छुटकारा दिलाने में पुत्र ही सहायक होता था[४]। तपस्या करने, ब्राह्मणों और दीनों को दान देने से जो पुण्य प्राप्त होता है, वह केवल परलोक में ही सुख देता है, परन्तु सुसन्तान सेवा-सुश्रूषा द्वारा इस लोक में भी सुख देती है, साथ ही तर्पण और पिंडदान से परलोक में सुख देने में समर्थ होती है[५]। पुत्र परिवार का वीज—कुलांकुर समझा जाता था[६]। पुत्र की क्रीड़ाओं से माता-पिता कितने प्रसन्न होते थे, रघु को क्रीड़ाएँ इसका प्रमाण है[७]। भरत को देख कर दुष्यन्त के मुख से ये शब्द निकल ही जाते हैं कि वे माँ-बाप भी धन्य हैं, जिनको गोद में बालक खेला करते हैं[८]। पुरूरवा[९] और

---

१. अत्र खलु मे वंश प्रतिष्ठा—अभि०, अंक ७, पृ० १४७

२. अभि०, ६।२५; रघु०, १।६५–७२, पूर्वोल्लेख देखिए, संस्कार का अध्याय।

३. वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्ति सुदक्षिणायां तनयं ययाचे।––रघु०, २।६४
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः।––रघु०, ३।२७

४. असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे।—रघु०, १।७२
न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम्।—रघु०, १०।२

५. लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥––रघु०, १।६९

६. महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिंगावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः॥—अभि०, ७।१५
अनेन कस्यापि कुलांकुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।—अभि०, ७।१९

७. उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥
तमंकमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिंचन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ॥
—रघु०, ३।२५, २६

८. अलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति॥
—अभि०, ७।१७

९. वाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिः इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमंगैः॥
—विक्रम०, ५।९

दुष्यन्त[1] पुत्र को न पहचानने पर स्वाभाविक रीति से पुत्र-प्रेम से प्रभावित हो जाते हैं। उर्वशी की चोली पुत्र-प्रेम से भींग गई थी[2]।

अपने ही सदृश पुत्र प्राप्त करने की सब की साध होती थी[3], अतः पुत्रवती होने का आशीर्वाद स्त्रियों को दिया जाता था[4]। यही आशीर्वाद पुरुषों के लिए भी सबसे उत्तम आशीर्वाद समझा जाता था[5]। राजा दशरथ ने श्रवण-कुमार के माता-पिता के शाप को भी वरदान माना था।

पुत्र की इसी महानता के कारण पुत्रेष्टि-यज्ञ[6] और पुत्रोत्पत्ति-व्रत[7] का बहुत मूल्य था। रघुवंश में राजा भोग-विलास के लिए नहीं अपितु पुत्र की प्राप्ति के लिए ही विवाह किया करते थे[8]। कुमारसंभव में भी यद्यपि शिवजी पार्वती के अनन्य सौन्दर्य से आकर्षित हो गये थे पर विवाह का कारण वे यही व्यक्त करते हैं कि देवता लोग मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं[9]। रघुवंशी 'शुद्ध सन्तानकामैः' (रघु०, १८।५३) सन्तान की इच्छा से ही विवाह करते थे। उनका आदर्श 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' (रघु०, १।७) था।

संक्षेप में धर्म, अर्थ और काम तीनों ही उनकी समझ में विवाह के उद्देश्य हैं। धर्म और अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति ऊपर दी जा चुकी है। काम को भी उन्होंने सम्मुख करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। इन्दुमती स्वयंवर में भोग सौन्दर्य-प्रधान है।

---

१. किं न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः।—अभि०, ७।१७

२. इयं च ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा स्नेहप्रस्नवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती-
स्तनांशुकम्—विक्रम०, ५।१२

३. रघु० १।६५; पूर्वोल्लेख;
—उमावृषांकौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥—रघु०, ३।२३

४. 'वत्से वीर प्रसविनी भव'—अभि०, अंक ४, पृ० ६५
—तस्ये मुनिर्दोहदलिंगदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच॥—रघु० १४।७१

५. जन्म यस्य पुरोवंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥—अभि०, १।१२

६. रघु०, १०।४; पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

७. रघु०, सर्ग २, दिलीप द्वारा नन्दिनी की सेवा।
—रघु०, १९।५२; पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

८. रघु०, १।७, २५; पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

९. कुमार०, ६।२७; पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

'वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः'[1]

जिसकी टीका मल्लिनाथ ने इस प्रकार दी है—'वृन्दावननामक उद्याने हे सुन्दरि ! यौवनश्रीर्यौवनफलं निर्विश्यताम् भुज्यताम् ।'

इसी प्रकार—'सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते'[2] में प्रखर काम है। विवाह पश्चात् कुमारसंभव का सम्पूर्ण आठवाँ सर्ग इस बात का साक्षी है कि विवाह के उद्देश्यों में काम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

वर और वधू का चुनाव

वर के आवश्यक गुण—वर के सम्बन्ध में उसमें किन-किन गुणों का होना आवश्यक है, अनेक ग्रन्थों नें प्रकाश डाला है। आश्वलायन गृह्यसूत्र की सम्मति है, 'बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्'[3]। आपस्तम्ब उच्च कुल, सच्चरित्र, स्वस्थता और विद्या सबको आवश्यक समझते हैं[4]। बौधायन सद्गुणों को ही सर्वस्व मानता है[5]। स्मृतिचन्द्रिका में यम वर के सात गुणों को विवाह की कसौटी पर रखते हैं—सत्परिवार, सच्चरित्र, रूप, कीर्ति, विद्या या पांडित्य, धन, इष्टमित्र और बन्धुओं का सहयोग[6]। मनु,[7] याज्ञवल्क्य[8] और आश्वलायन[9] तीनों समस्त गुणों में कुल की उच्चता पर बहुत जोर देते हैं।

स्वयं कालिदास भी इस विषय की उपेक्षा नहीं कर सके––

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥—कुमार०, ५।७२

इस श्लोक के द्वारा कुल, रूप और वित्त तीन ही वर की योग्यता के प्रमाण हैं, अपने इस सरल विश्वास को सहसा वे कह गए। शील और सद्गुण, यदि

---

१. रघु०, ६।५० २. रघु०, ८।५१

३. अश्वालायन गृह्यसूत्र, १. ५. २.

४. 'बंधुशीललक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोग इति वरसम्पत्'
—आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १. ३. २०.

५. बौधायन धर्मसूत्र, ४. १. २०

६. कुलं च शीलं च वपुर्यशश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ॥
—यम—स्मृतिचंद्रिका १, पृ० ७८

७. मनुस्मृति, अध्याय ४, २४४। मनु०, अध्याय ३, ६, ७, ६३–६५

८. याज्ञवल्क्यस्मृति, विवाहप्रकरणम्, ३ का ५४, ५५

९. 'कुलमग्रे परीक्षेत ये मातृतः पितृतश्चेति यथोक्तं पुरस्तात्'
—आश्वलायन गृह्यसूत्र १, का ५. १.

कुल उच्च है तो अवश्य ही घर में उपस्थित होंगे। शील से ही व्यक्ति रूपवान् लगता है और शीलवान् अपने भरण-पोषण के योग्य वित्त को उपार्जित करने में समर्थ हो जाता है। अतः अभिज्ञानशाकुन्तल में अनसूया ने शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त से एक स्थान पर कहा है—

'गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः'[1]

दूसरे शब्दों में कवि के विश्वास अश्वालायन, बौधायन, आपस्तम्ब, मनु आदि की ही प्रतिध्वनि कहे जा सकते हैं। वर के अन्य गुणों में समान उम्र और समान रंग भी था। अर्थात् समान रूप, समान वर्ण, समान कुल और समान यौवन का विवाह प्रशस्त माना जाता था—

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु कांचनेन ॥—रघु०, ६।७९

परन्तु काले और गोरे का संयोग भी कालिदास ने अच्छा माना है—

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभा परिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥—रघु०, ६।६५

कन्या मुख्यरूप से वर के रूप पर, जिसमें पुरुषत्व हो, लट्टू होती है। कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा में वर्णित पुरुष-सौन्दर्य ही उनके आकर्षण का रहस्य है। पति का अग्र्य पौरुष अधिक स्पृहणीय था (पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम्—रघु० ८।२८)। मल्लिनाथ ने 'अग्र्यपौरुषं' पर यों टिप्पणी की है, 'महापराक्रममुत्कृष्ट-भोगशक्तिं च'। विशाल शरीर, पुष्ट और स्वस्थ मांसल देह उनकी तुला है। इंदुमती भी सर्वावयवानवद्य अज (रघु०, ६।६९) पर ही मुग्ध होती है। 'कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्....' (अभि०, १।१३) दुष्यन्त के इस पुरुषत्व पर ही शकुन्तला ने उसे देखकर मन में कहा—'किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृता'।

वधू-चुनाव—वधू के सम्बन्ध में भी उसके रूप, शील, चरित्र, स्वस्थता और परिवार को देखना चाहिए। इस विषय में कात्यायन का कहना है—

'उन्मत्तः पतितः कुष्ठी तथा षण्ढः स्वगोत्रजः।
चक्षुः श्रोत्रविहीनश्च तथापस्मारदूषितः।
वरदोषाः स्मृता ह्येते कन्यादोषाश्च कीर्तिताः ॥'

—स्मृतिचन्द्रिका, पृ० १, ५९

मनु की सम्मति शुभलक्षणों वाली कन्या से विवाह करने में है। यह लक्षण उनके ही शब्दों में—

---

१. अभि०, अंक ४, पृष्ठ ५८

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगी न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पिंगलाम् ॥[1]
अव्ययांगीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वंगीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥[2]

इस विषय में भरद्वाज की सम्मति सराहनीय है। उन्होंने चार बातें ही विशेष समझीं—धन, सौन्दर्य, बुद्धिमत्ता और परिवार। यदि ये चार एक स्थान पर न मिलें, तो सबसे प्रथम धन की उपेक्षा करनी चाहिए, तत्पश्चात् सौन्दर्य की[3]।

गौतम[4], वसिष्ठ[5] और याज्ञवल्क्य[6] आदि का कहना है कि कन्या को वर से छोटी होना चाहिए। कामसूत्र के अनुसार यह अन्तर कम-से-कम तीन वर्ष का होना चाहिए[7]। इसके अतिरिक्त ऐसी कन्या से विवाह न करना चाहिए जिसके कोई भाई न हो[8]। गौतम[9], वसिष्ठ[10], मनु[11] और याज्ञवल्क्य[12] का कहना है कि उसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो कुमारी हो और उसी जाति की हो, परन्तु सजातीय होने पर भी वह सपिंड न हो[13], न ही वर वधू एक गोत्र के हों[14]। सपिंड के सम्बन्ध में ग्रन्थकारों का कहना है कि सात पीढ़ियाँ पिता की और पाँच पीढ़ियाँ माँ की छोड़ देनी चाहिए[15]। वेदव्यास

---

१. मनुस्मृति, ३।८ २. मनुस्मृति, ३।१०

३. 'चत्वारि विवाहकारणानि वित्तं रूपं प्रज्ञा बान्धवमिति।
तानि चेत्सर्वाणि न शक्नुयाद्वित्तमुदस्येत्ततो रूपं प्रज्ञायां च तु बान्धवे न विवदन्ते।
बान्धवमुदस्येदित्येक आहुरप्रज्ञेन हि कः संवासः'

—भारद्वाज गृह्यसूत्र १ का ११

४. गौतम धर्मसूत्र, ४ का १ ५. वसिष्ठ धर्मसूत्र, ८. १

६. याज्ञवल्क्य स्मृति, १ का ५२ ७. कामसूत्र, ३ का १.२.

८. मानव गृह्यसूत्र, १.७.८; मनु०, ३।११; याज्ञवल्क्य, १।५३
धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४३५

९. गौतम धर्मसूत्र, ४.१

१०. वसिष्ठ धर्मसूत्र ८.१ । धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४३५

११. मनु०, ३ अध्याय, ४ और १२

१२. याज्ञवल्क्य स्मृति १.५२ (धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४३५)

१३. मनु०, ३।५; आपस्तम्ब धर्मसूत्र २ का ५.११.१६

१४. आपस्तम्ब०, २ का ५.११.१५

१५. गौतम धर्मसूत्र, ४ का २; वसिष्ठ धर्मसूत्र ८ का २;

—याज्ञवल्क्य स्मृति, १ का ५३

स्मृति के अनुसार उस कंन्या से विवाह करने में भी निषेध है, जिसकी माँ का गोत्र और वर का गोत्र एक हो[१] ।

कालिदास कन्या के अछूते सौन्दर्य पर जोर देते हैं । उनकी सभी नायिकाएँ अनन्य सुन्दरी हैं[२] । अतः वाह्य सौन्दर्य उनकी दृष्टि में सब कुछ है । परन्तु इस वाह्य सौन्दर्य के साथ वे पवित्रता को भी आवश्यक समझते हैं । 'अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं, अनाविद्धं रत्नं, मधु नवमनास्वादितरसम्[३]' आदि अनूठी उक्तियाँ इस अछूते सौन्दर्य की मान्यता में प्रमाण है ।

अतः धनादि की परवाह न कर, राजपुत्र अनन्य सुन्दरी स्त्रियों के साथ विवाह कर लेते थे । स्वयंवर-प्रथा से आभासित होता है कि लड़की यदि वर-माला डाल दे, तो कोई भी, विना किसी वन्धन के, विवाह कर सकता है ।

कालिदास अच्छी पत्नी की परिभाषा 'गृहिणीसचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ'[४] करते हैं । अतः पत्नी गृहकार्य में दक्ष, सुन्दरी, सम्मति देने वाली मित्र, कलाविद् होनी चाहिए । कन्या में ये ही गुण होने परमावश्यक है । संक्षेप में जो धर्म, अर्थ और काम तीनों की सहचरी हो, ऐसी ही कन्या उनकी दृष्टि में उत्तम है ।

कन्या के सौन्दर्य-ज्ञान के साधन—आजकल की तरह प्राचीनकाल में भी फोटो या चित्र भेजे जाते थे । दूतियाँ भी कन्या को देखने जाती थीं और वे आकर उसके विषय में बता देती थीं[५] ।

विवाह-योग्य अवस्था—अधिकतर वैदिक शिक्षा की समाप्ति पर पुरुष विवाह कर गृहस्थ हो जाते थे । स्वयं कालिदास शिक्षा की समाप्ति पर गोदान-संस्कार तथा इसके पश्चात् विवाह करवा देते हैं । परन्तु शिक्षा की अवधि कुछ निश्चित नहीं थी । कोई समस्त वेद पढ़ता था, कोई एक ही और कोई एक वेद का भी एक ही भाग । प्रायः आठवें वर्ष में या इसके आसपास ही उपनयन संस्कार होता था । अधिकतर बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का रहता था इसलिए बीस या इसके आसपास ही पुरुष विवाह कर लेते होंगे, ऐसा अनुमान

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४३७

२. देखिए, अध्याय वेशभूषा—कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा ।

३. अभि०, २।१०   ४. रघु०, ८।६७

५. प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्री भुवौ राजकन्याः ॥
—रघु०, १८।५३

किया जाता है। मनु का इस विषय में कहना है कि तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।

रघु के विषय में कवि का कहना है कि जैसे गाय का बछड़ा बड़ा होकर साँड़ हो जाता है; हाथी का बच्चा गजराज, वैसे ही रघु ने भी जब बाल्यावस्था व्यतीत कर युवावस्था में पैर रखा, तब उनका शरीर और भी खिल उठा। राजा ने गोदान-संस्कार कर उनका विवाह कर दिया[1]। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय उनको अवस्था बीस और पच्चीस के बीच की होगी। अध्ययनावधि की समाप्ति पर पूर्ण युवा हो जाने पर गुरु की अनुमति पाकर हो पुरुष विवाह करते थे (रघु०, ५।१०)। विक्रम० में भी तापसी कहती है कि यह (आयुस) कवच धारण करने योग्य हो गया है (अंक ५)। राजा भी कहता है तुम ब्रह्मचर्य में रह चुके, अब तुम्हें गृहस्थाश्रम में रहना चाहिए (अंक ५)। अतः क्षत्रिय पूर्ण युवा होने पर विवाह करते थे। वैसे पुरुष सभी अवस्था में विवाह कर लिया करते थे। उदाहरण के लिए दुष्यन्त की कई रानियाँ पहले ही थीं, उसके पश्चात् शकुन्तला से उनका विवाह हुआ था। अवश्य ही वे प्रौढ़ होंगे और शकुन्तला और उनकी वयस में यथेष्ट अन्तर होगा। यह सीमा मालविकाग्निमित्र में बहुत बड़ी दिखाई पड़ती है। धारिणी, जो अग्निमित्र की सबसे बड़ी रानो थी, का पुत्र वसुमित्र युद्ध में गया था और उसने बड़ी वीरता से शत्रुओं को दूर भगाया और अश्वमेध के घोड़े को शत्रुओं के हाथ से छुड़ा लिया। इसके अनुसार अग्निमित्र की अवस्था अवश्य ही चालीस, पैंतालीस के आसपास होगी। जिस समय का यह प्रसंग है उसी समय मालविका, जो युवती परन्तु कुमारी थी, और राजा का प्रेम-व्यापार भी चलता है और राजा के साथ अन्त में उसका विवाह भी हो जाता है।

अतः पुरुषों के विवाह के लिए कोई भी बन्धन नहीं था। उनकी उम्र नहीं देखी जाती थी। वे किसी भी अवस्था में और चाहे जितने विवाह कर सकते थे। इसका एक और भी कारण था। वंश चलाने के लिए ही विवाह किया जाता था, अतः यदि पुत्र न हो तो वे दूसरा विवाह करने के भी अधिकारी हो जाते थे।

---

१. महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः॥
अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः॥–रघु०, ३।३२,३३

स्त्रियों के विवाह के सम्बन्ध में दो बातें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात यह कि विवाह को समझने की उनमें यथेष्ट बुद्धि होती थी, यानी वे समझदार होती थीं। इसका तात्पर्य यह कि विवाह छोटी अवस्था में नहीं होता था।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि भ्राताहीन कन्या के साथ विवाह अच्छा नहीं समझा जाता था। ऋग्वेद[1] तक में उदाहरण हैं कि इस प्रकार की कन्याएँ पिता के घर में ही वृद्धा हो जाती थीं। यदि इस बात को छोड़ दिया जाय तो अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में साफ-साफ पूछता है कि यह आजन्म हिरणियों के साथ खेलती रहेगी या विवाह होने तक ही इसका तपस्विनी वेश रहेगा[2] ? इसका उत्तर प्रियंवदा देती है कि, 'गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः'[3]। मनु ने भी इस बात का समर्थन किया है कि यदि योग्य वर न मिले तो आजन्म कन्या पिता के पास रहे। किसी भी अवस्था में अयोग्य वर के हाथ पिता को कन्या नहीं सौंपनी चाहिए[4]। इन बातों से साफ व्यक्त होता है कि विवाह अवश्य ही हो, ऐसा कोई नियम एवं सख्त बंधन नहीं था। कालिदास के समय में भी यह बन्धन नहीं था, अन्यथा दुष्यन्त के मुख से वे इस प्रकार का वाक्य नहीं कहलवाते।

अब प्रश्न आता है कि स्त्रियों का विवाह किस अवस्था में होता था। ऋग्वेद में स्त्रियाँ अपने पति स्वयं चुनती थीं, इसका स्थान-स्थान पर संकेत है[5]। काणे की सम्मति के अनुसार युवती होने से कुछ पहले या बाद में विवाह हो जाता था[6]। इसको पुष्टि धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र भी करते हैं। अधिकांश में सभी गृह्यसूत्रों में कहा गया है कि शादी होने के पश्चात् दम्पति यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम तीन रात ब्रह्मचर्य अवस्था में रहें। अर्थात् तीन रात्रियों के पश्चात् संभोग करें[7]। यदि विवाह-योग्य अवस्था आठ या दस वर्ष मानी जाय

---

१. ऋग्वेद, २.१७.७

२. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणांगनाभिः॥
—अभि०, १।२५

३. अभि०, अंक १, पृ० २१

४. मनु०, ९।८९, ९०

५. ऋग्वेद, १०.२७.१२; ऋग्वेद, १०.८५, २६–२७

६. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४४०

७. पारस्कर गृह्यसूत्र, १.८; आश्वलायन गृह्यसूत्र, १.८.१०; आपस्तम्ब, ८. ८–९; मानव गृह्यसूत्र, १.१४.१४....

तो इसका फिर कुछ अर्थ ही नहीं रहता । अतः रजस्वला होने के समय के आस-पास ही विवाह होता होगा या रजस्वला होने के पश्चात् । आश्वलायन गृह्यसूत्र के टीकाकार हरदत्त ने, जो लगभग बारहवीं शताब्दी में हुए, इसी बात की पुष्टि की है कि तीन रात्रियों के बाद दम्पति का समागम हो[१] ।

एक और बात भी विशेष महत्त्वपूर्ण है । विवाह होने के बाद चौथे दिन 'चतुर्थी कर्म' संस्कार का सभी गृह्यसूत्रों में उल्लेख है । जैसा पहले कहा जा चुका है कि चतुर्थी कर्म और गर्भाधान संस्कार एक ही बात है । गर्भाधान-संस्कार का चौथे दिन होना ही स्त्रियों का युवती होना प्रमाणित करता है । ऊपर की सभी बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अवस्था कम-से-कम सोलह वर्ष की अवश्य होगी ।

याज्ञवल्क्य स्मृति तक ऐसी ही अवस्था मिलती है, पर इसमें रजस्वला होने से पहले अवश्य ही विवाह हो जाना चाहिए, ऐसा जोर दिया गया है, अन्यथा प्रत्येक रजोदर्शन पर माँ-बाप को गर्भ नष्ट करने का पाप लगेगा[२] । इसका (स्मृति का) समय २०० ईसवी शताब्दी माना जाता है । अब से ही बाल-विवाह का प्रचार हुआ । कालिदास के समय पर भी इससे बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है । स्वयं कालिदास ने अपनी सभी नायिकाओं को पूर्ण युवती दिखाया है । इन्दुमती का अपनी पसन्द से वर चुनना[३], पार्वती का शिव के लिए तपस्या करना[४] प्रमाणित करता है कि उन्हें सब बातों का पूर्ण ज्ञान होता था । विवाह के समय ध्रुवतारा दिखाना, लड़की की स्वीकृति देना[५] लड़की का बुद्धिमती होना व्यक्त करता है । शकुन्तला का दुष्यन्त को स्पर्शादि के लिए रोकना,[६] तत्पश्चात् उसका गर्भवती होना, कुमारसम्भव में विवाह के पश्चात् तत्काल ही शिव-पार्वती की रति-क्रीड़ा[७] लड़की की परिपक्व अवस्था का ही द्योतक है । शकुन्तला की सखियाँ भी सब कुछ जानती थीं, दुष्यन्त के आ जाने पर किसी बहाने से शकुन्तला को अकेला वहाँ छोड़ना,[८] उसकी गर्भावस्था को जानना[९] तथा पहले दुष्यन्त के सम्मुख अव्यक्त रूप से शर्त रखना 'वयस्य बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते । यथा नौ

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४४१
२. याज्ञवल्क्य स्मृति, ३।६४
३. रघु०, सर्ग ६
४. कुमार०, सर्ग ५
५. ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ॥—कुमार०, ७।८५
६. अभि०, अंक ३
७. कुमार०, सर्ग ८
८. अभि०, अंक ३, पृ० ५२
९. अभि०, अंक ४

प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वर्तय'[१] उसका पूर्ण युवती होना बताता है। कण्व भी शकुन्तला की विदा के समय उनके नगर-प्रवेश पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि इनका भी अभी विवाह होना है[२]।

उर्वशी, मालविका कोई भी आठ, दस वर्ष की बालिका नहीं दीखतीं। प्रेम-बाणों से विद्ध होना आदि उनकी परिपक्व अवस्था का हो द्योतक है। अतः यदि यह मान भी लिया जाय कि विवाह छोटी अवस्था में होता था तब भी चौदह से पहले लड़की और बीस से पहले लड़के का विवाह न होता होगा। प्रमाण यद्यपि कालिदास ने क्षत्रियों के दिए हैं और उन्होंने सभी नायक-नायिकाएँ क्षत्रिय रखी हैं पर यह नियम सामान्य ही होगा। स्त्री का विवाह युवती होने पर ही होता था। कालिदास की सभी नायिकाएँ उपभोगक्षमा हैं। शकुन्तला का उठता यौवन 'प्रियंवदा (सहासम्)—अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालम्भस्व। मां किमुपालभसे'[३] तथा 'अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्' (३।६) से व्यक्त होता है। मालविका की पूर्ण युवावस्था—'निविडोन्नतस्तनमुरः मध्यः पाणिमितो नितम्विजघनं'[४] स्थान-स्थान पर व्यक्त की है। 'नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः'[५] वाक्य में नवकुसुमयौवना में मासिक धर्म होने का संकेत है और बद्धफलतया में सहकार के पुष्ट बीज फलतः उपभोग की क्षमता स्पष्ट कही गई है। अर्थात् शकुन्तला का मन संभोग सुख की ओर अग्रसर हो रहा है, इस बात को कवि ने प्रकृति के व्याज से कहलवाया है। इसी प्रकार—

'तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः;[६]
मध्येन सा वेदविलग्नमध्या बलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥[७]

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पांडु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥[८]

आदि के द्वारा पार्वती को खिले यौवनवाली बताया है।

इससे कहा जा सकता है, रजस्वला हाने के बाद विवाह होता होगा अर्थात् सोलह वर्ष से पहले नहीं। कालिदास का सम्पूर्ण नखशिख-वर्णन इसका प्रमाण है। स्वयंवर में लड़की काफी समझदार होनी चाहिए। यह दूसरा प्रमाण

---

१. अभि०, अंक ३, पृ० ५१   २. अभि०, अंक ४, पृ० ७५ पूर्वोल्लेख
३. अभि०, अंक १, पृ० १३   ४. माल०, २।३
५. अभि०, अंक १, पृ० १४   ६. कुमार०, १।३८
७ कुमार०, १।३९   ८. कुमार०, १।४०

हैं। मालविका और उर्वशी की प्रेमलीला और शकुन्तला का गर्भवती होना इसकी पुष्टि करता है।

अन्तर्जातीय विवाह—वैदिक साहित्य में अन्तर्जातीय विवाह का कई स्थानों पर उल्लेख है। परन्तु गृह्यसूत्र[२] अपनी ही जाति की कन्या के साथ विवाह करने के पक्ष में हैं। मनु,[३] वसिष्ठ[४] आदि अपने से नीची वर्ण की कन्या—जैसे ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के साथ, क्षत्रिय वैश्य या शूद्र के साथ, वैश्य शूद्र के साथ भी विवाह करने की अनुमति दे देते हैं; पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि सजातीय विजातीय से अच्छी मानी जाती थीं। स्वयं मनु ब्राह्मण को शूद्र कन्या के साथ विवाह करने से नरक मिलेगा, ऐसा कह देते हैं[५]। फिर भी कहा जा सकता है कि इतना होने पर भी ऐसे विवाह हो ही जाते होंगे। मनु स्वयं कहते हैं कि यदि शूद्र कन्या का अपने से उच्च वर्ण पुरुष के साथ विवाह हो तो उसे वर के वस्त्र का प्रांतीय भाग (Hem) पकड़ना चाहिए[६]।

कालिदास के ग्रन्थों में भी अन्तर्जातीय विवाह का संकेत है। 'मालविकाग्निमित्र' में शुङ्ग वंश के सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने, जो ब्राह्मण था, क्षत्रिय कन्या मालविका से विवाह किया था। शकुन्तला के पिता क्षत्रिय थे और माता अप्सरा थी। दोनों समान नहीं थे, फिर भी दुष्यन्त ने, जो क्षत्रिय था, शकुन्तला के साथ विवाह किया। यही नहीं, राजा शकुन्तला को देखकर सन्देह करता है कि ऋषि-कन्या कहीं दूसरे वर्ण को स्त्री से तो नहीं उत्पन्न हुई[७]। यह भी इसी बात की पुष्टि करता है कि अन्तर्जातीय विवाह होते अवश्य थे, चाहे निम्न दृष्टि से देखे जाते हों। विदूषक स्वयं राजा से कहता है कि झटपट तुम इससे विवाह कर लो, नहीं तो यह किसी तपस्वी के हाथ जा पड़ेगी[८]। अतः उसका विवाह किसी तपस्वी के साथ भी सम्भव था।

---

१. शतपथ ब्राह्मण, (धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४४७)

२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २.६.१३.१ और ३.; मानव गृह्यसूत्र, १.७.८.;
—गौतम धर्मसूत्र, ४.१ धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४४८

३. मनु०, ३।१२,१३

४. वसिष्ठ धर्मसूत्र, १ का २५; बौधायन १.८.२

५. मनु०, ३।१५   ६. मनु०, ३।४४

७. अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसंभवा स्यात् ।—अभि०, १, पृ० १५

८. तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान् ।
मा कस्यापि तपस्विन इंगुदीतैलमिश्र चिक्कणे शीर्षस्य हस्ते पतिष्यति ।।
—अभि०, पृ० ३४

मालविकाग्निमित्र में (अंक १) 'अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा नर्मदातीरे अन्तपालदुर्गे स्थापितः ....' वर्णावरो शब्द भी प्रमाणित करता है, कि निम्नवर्ण या दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह हो जाता होगा।

बहु विवाह—एक पुरुष के कई विवाह के अनेक दृष्टान्त वेदिक साहित्य में ही नहीं, कालिदास के ग्रंथों में भी हैं; पर किसी स्त्री ने एक ही समय अनेक पति नहीं किए। रघुवंश में राजा दिलीप के कई रानियाँ थीं[1]। राजा दशरथ के भी तीन रानियाँ थी[2]। शकुन्तला में भी दुष्यन्त के कई रानियाँ थीं, इसका भी स्पष्ट संकेत है : 'बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते',[3] 'किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन'[4]। मालविकाग्निमित्र में इरावती और धारिणो दो रानियाँ थीं, पुत्र वसुमित्र भी था, तब भी अग्निमित्र ने मालविका से विवाह किया। 'विक्रमोर्वशी' में काशी-नरेश की पुत्री पुरूरवा की रानी थी, दूसरी उर्वशी उसकी प्रेमिका थी।

परन्तु स्त्री का एक ही पति होता था[5]। एकपत्नी व्रत की व्याख्या ही मल्लिनाथ ने इस प्रकार की है—'एकः पतिर्यस्याः सैकपत्नी पतिव्रता'[6]।

विवाह के प्रकार—गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और स्मृतियों के समय से ही विवाह के आठ प्रकार कहे गए[7]—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच। आपस्तम्ब[8] आठ के स्थान पर केवल छः का ही उल्लेख करता है—ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र और मानुष (क्षात्र और मानुष, राक्षस और आसुर के ही पर्यायवाची हैं)। इन सब विवाहों की विशेषता सब ग्रन्थों में लगभग एक-सी ही है। मनु ने भी इनकी परिभाषा और विशेषता इस प्रकार वर्णित की है[9]। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कन्या को विद्या और आचारवान् व्यक्ति को देना ही ब्राह्म है। वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या जब यज्ञ आदि

---

१. कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि,
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः।—रघु०, १।३२

२. रघु०, सर्ग १० ३. अभि०, अंक ३, पृ० ५१ ४. अभि०, अंक ३, पृ० ५१

५. कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।—कुमारं०, ३।७

६. देखिए, इसी की टीका।

७. आवश्यलायन गृह्यसूत्र १.६; गौतम, ४.६–१३; बौधायन धर्मसूत्र, १.११; मनु०, ३।२१; कौटिल्य, ३.१.५९वाँ प्रकरण।

८. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २ का ५.११. १७–२०, २ का ५.१२.१–२

९. मनु०, ३।२७–३४

करते हुए पुरोहित को दे दी जाती है, तब दैव विवाह कहलाता है। आर्ष विवाह में पिता वर से एक अथवा दो जोड़ा गाय का लेकर कन्या को दे देता है (परन्तु यह शुल्क नहीं है)। विवाह के समय पिता वर-कन्या से यदि यह कहता है कि तुम दोनों समस्त धार्मिक कृत्य एक साथ करो, तो यह प्राजापत्य विवाह कहलाता है। आसुर विवाह में पिता वर से अपने इच्छानुसार धन लेकर कन्या को देता है। केवल काम-भावना के वशीभूत होकर वर-कन्या यदि परस्पर संयुक्त हो जायँ, तो यह गान्धर्व विवाह कहलाता है। इसका उद्देश्य संभोग ही है। कन्या के बान्धवों की हत्या कर बलात्कार घर से कन्या को हर लाना और उसकी अनिच्छा से विवाह करना राक्षस विवाह है। पैशाच सोती हुई मत्त-प्रमत्त (पागल) बेहोश स्त्री से एकान्त में संभोग करना है। यह प्रकार सबसे अधम है।

प्रथम चार में वर को कन्या-दान दिया जाता है। दान का आशय श्री काणे की सम्मति[1] में पिता का उत्तरदायित्व वर के उत्तरदायित्व में स्थानान्तरित होना है। जहाँ कन्या-दान है, वहाँ कन्या वस्त्राभूषण से अलंकृत ही दी जाती है। ब्राह्म विवाह सबसे उत्तम समझा जाता है, क्योंकि इसमें कन्या का पिता वर से किसी प्रकार का कोई धन उपहार नहीं लेता। आर्ष इसीलिए इससे निकृष्ट है, इसमें गाय-बैल का जोड़ा चाहे वह शुल्क रूप में न हो, पर पिता लेता अवश्य है। दैव केवल ब्राह्मणों में ही सम्भव है। प्रांजापत्य में पति जब तक पत्नी जीवित रहे, दूसरा विवाह नहीं कर सकता, न ही उसके जीवन-काल में वानप्रस्थ या संन्यास ले सकता है। शेष चार निन्दनीय हैं। आसुर में लड़की बेची हो जाती है। गान्धर्व में पिता का कोई हाथ ही नहीं है, न ही पवित्रता है, अपितु काम है। राक्षस और पैशाच में न पिता की ही सम्मति रहती है, न कन्या की।

राक्षस, पैशाच आदि से यह न समझना चाहिए कि प्राचीन ऋषियों ने इनको भी विवाह के अन्तर्गत ठहराया था। विवाह के आठ प्रकार न कहकर यदि इसे पत्नी बनाने के आठ प्रकार कहें, तो अधिक उपयुक्त है। वसिष्ठ[2] का यहाँ तक कहना है कि यदि बलात्कार लड़की को हर लाया गया है और मंत्रों के साथ विवाह नहीं हुआ तो वह कुमारी के ही समान है, उसका दूसरे स्थान पर विवाह किया जा सकता है। मनु तो ऐसे व्यक्ति के लिए कड़े दंड की भी व्यवस्था करते हैं। उनका कहना है कि या तो वह सप्तपदी और होम के द्वारा उसको पत्नी-रूप

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ५१७
२. वसिष्ठ, १७.७३ (धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ५२०)

में ग्रहण करे, यदि वह इसे स्वीकार न करे, तो लड़की का विवाह दूसरे स्थान पर कर दिया जाय और उसे बहुत कड़ा दंड दिया जाय[१]।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि होम, सप्तपदी आदि, विवाह चाहे जिस प्रकार का भी हो, आवश्यक हैं। स्वयं कालिदास[२] ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर के बाद अज और इन्दुमती का विधिपूर्वक विवाह कराया था। सभी स्मृतियों का कहना है कि प्रथम चार ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य प्रशस्त हैं। सभी इनमें पैशाच को सबसे अधम कहते हैं। मनु ने तीन सम्मतियाँ दी हैं: पहली धारणा[३] यह कि प्रथम चार ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त हैं। दूसरी धारणा[४] के अनुसार राक्षस और पैशाच के अतिरिक्त छः प्रकार के विवाह ब्राह्मण लोग कर सकते हैं। आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच क्षत्रिय लोग; गान्धर्व, राक्षस और पैशाच वैश्य और शूद्र लोग कर सकते हैं। तीसरी[५] धारणा के अनुसार प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस सभी वर्णों के लिए मान्य हैं, परन्तु पैशाच और आसुर किसी भी वर्ण का कोई न करे। फिर भी मनु वैश्य और शूद्रों को आसुर विवाह की भी अनुमति दे देते हैं।[६] उनका यह भी कथन है कि गान्धर्व और राक्षस क्षत्रियों के लिए बहुत उत्तम हैं (क्षत्रियों के लिए लड़की को स्वयंवर में से हर लाना सामान्य बात थी, अम्बिका, अम्बालिका, सुभद्रा, संयुक्ता आदि-आदि........) या दोनों का यदि मिला-जुला रूप हो अर्थात् लड़की किसी विशेष व्यक्ति से प्रेम करती हो और माता-पिता प्रस्तुत न हों, ऐसी अवस्था में बलात्कार लड़की को हर लाना बुरा नहीं है[७]।

कालिदास ने गांधर्व विवाह उर्वशी और शकुन्तला का दिखाया है। चाहे वे पक्ष में न हों परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राजघरानों में यह एक साधारण बात थी।

संक्षेप में विवाह के आठों प्रकारों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वर्ग में उस प्रकार के सभी विवाह आते हैं जिनमें पिता का समस्त उत्तरदायित्व रहता था और वह अपनी इच्छा से योग्य वर ढूँढ कर उसे कन्या दे देता था—ब्राह्म, प्राजापत्य, आसुर, दैव, आर्ष। दूसरे वर्ग में वे विवाह आते थे, जहाँ पिता योग्य वर प्राप्त नहीं कर पाता था और लड़की को अपना वर ढूँढने की अनुमति दे दी जाती थी या वह अपनी इच्छा से ही वर ढूँढ कर विवाह कर लेती थी या कोई हर ले जाता था। इसमें गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, जिसमें

---

१. मनु०, ८।३६६ २. रघु०, सर्ग ७ ३. मनु०, ३।२४
४. मनु०, ३।२३ ५. मनु०, ३।२५ ६. मनु०, ३।२४ ७. मनु०, ३।३६

कभी-कभी लड़की की इच्छा भी रहती थी, आते हैं। इन विवाहों में पिता का कुछ उत्तरदायित्व नहीं था।

दूसरे वर्ग में 'स्वयंवर' का स्थान है। इसमें भी दो खंड हो जाते हैं, एक में किसी प्रकार की शर्त रख दी जाती थी, जिस प्रकार सीता और द्रौपदी के साथ हुआ। इसमें लड़की को पूरी स्वतन्त्रता नहीं होती थी। दूसरा वर्ग वह है जहाँ लड़की को पूरा अधिकार था, जिसमें सावित्री, दमयन्ती का नाम लिया जा सकता है। कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती के जिस स्वयंवर का वर्णन किया है वह भी इसी वर्ग में आता है।

विवाह की पवित्रता और उत्तमता का प्रभाव सन्तान पर पड़ता था। इस विषय में मनु का कहना है कि प्रथम चार प्रकारों के विवाह से उत्पन्न सन्तान रूप, गुण और धन से युक्त और कीर्त्तिदायिनी होगी। वह दीर्घायु और धर्मिष्ठ होगी। अन्य चार की क्रूर कर्म करने वाली, मृषावादिनी और वेदद्वेषिणी होगी[१]।

कालिदास और विवाह—उपर्युक्त वर्णित विवाह के प्रकारों में कालिदास ने चार प्रकार के विवाहों का स्पष्ट संकेत किया है :

(१) स्वयंवर—रघुवंशी राजाओं का विवाह स्वयंवर की रीति ही से हुआ था। राम-सीता का और अज-इन्दुमती का इसी वर्ग में आता है।

(२) प्राजापत्य—कुमारसम्भव में पार्वती का महादेव जी के साथ विवाह इसी रीति से हुआ था। वस्त्राभूषणों से अलंकृत पार्वती महादेव जी को पिता के द्वारा विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारण सहित कन्यादान-स्वरूप दे दी गई थीं।

(३) गान्धर्व—शकुन्तला-दुष्यन्त का विवाह इसी वर्ग में आता है। पुरूरवा और उर्वशी को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है।

(४) आसुर विवाह—इसका संकेत केवल एक ही स्थान पर[२] है यद्यपि इस प्रकार के विवाह का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है।

(५) कभी-कभी किसी राजा से डरकर दूसरे राजे अपनी कन्या उसे विवाह के रूप में दे देते थे। कालिदास के युग में ऐसी घटनाएँ अवश्य घटित होती होगीं। कुश और कुमुद्वती के विवाह में कालिदास ने इसका संकेत किया है।

(६) कभी-कभी गर्वीले राजे दूसरे की नवपरिणीता को बलात् छीन लेते थे और उसे अपनी पत्नी बना लेते थे। कालिदास ने इसका संकेत—'आदा-

---

१. मनु०, ३।३९–४२

२. एवं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया।—रघु०, ११।३८

स्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ' (रघु०, ७।३१) इस श्लोक में किया है ।

विवाह में प्रेम का स्थान—कालिदास ने विवाह किसी भी प्रकार का क्यों न दिखाया हो, पर सर्वत्र उन्होंने प्रेम एवं आकर्षण को प्रश्रय दिया। प्रेम के सूक्ष्म अंगों की अभिव्यक्ति, प्रणय-व्यापार, मदन-लेख, काम, विरह इसी बात की पुष्टि करते हैं कि वस्तुतः विवाह से पूर्व वे आकर्षण एवं प्रेम की उत्पत्ति को सफल विवाह की पहली सीढ़ी समझते थे। दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला प्रभावित हो गई थी[१]। उसका यह प्रभावित होना दुष्यन्त से छिपा भी नहीं था। मित्र विदूषक से वह कहता है—

दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे, तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती, शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥[२]

ऐसा ही प्रभाव शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त पर भी पड़ा था। उसके विरह में शकुन्तला की तरह वह भी दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था[३]।

इसी आकर्षण को इन्दुमती के स्वयंवर में भी देखा जा सकता है। दासी सुनन्दा एक-एक कर सभी राजपुत्रों के शौर्य के गीत सुना रही थी, परन्तु अज को देखकर उसके अनवद्य सौन्दर्य से प्रभावित होकर उसके मन में आगे जाने की इच्छा नहीं हुई, जिस प्रकार षट्पदावली सहकार के पास पहुँचकर किसी अन्य वृक्ष के पास जाने की इच्छा नहीं करती[४]।

उर्वशी के सौन्दर्य को देखकर पुरूरवा कम प्रभावित नहीं हुआ। उसके शरोर का स्पर्श उसे बार-बार रोमांचित ही कर रहा था[५]। उर्वशी ठीक शकुन्तला की तरह पुरूरवा से प्रभावित हो गई थी। राजा को देखती हुई सनिःश्वास

---

१. किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता।
—अभि०, अंक १, पृ० १७

२. अभि०, २।१२

३. इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं निशि भुजन्यस्तापांगप्रसारिभिरश्रुभिः ।
अनभिलुलितज्याघातांकं मुहुर्मणिबंधनात्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥
—अभि०, ३।११

४. तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति षट्पदाली ॥—रघु०, ६।६९

५. यदिदं रथसंक्षोभादंगेनांगं ममायतेक्षणया ।
स्पृष्टं सरोमकंटकमंकुरितं मनसिजेनेव ॥—विक्रम०, १।१३

वह चली जाती है और बड़ी चाह के साथ राजा को देखकर मन में सोचती है—'अपि नामपुनरप्युपकारिणमेतं प्रेक्षिष्ये'[१] । पुरूरवा को ऐसा प्रतिभासित हुआ कि आकाश में उड़कर जाती हुई उसके मन को भी बलपूर्वक खींचे ले जा रही है[२] ।

मालविका का सौन्दर्य भी कम प्रभावशाली न था । उसको देखकर राजा को भान होता है कि चित्रकार उसकी सच्ची तस्वीर उतार ही नहीं पाया[३] । उसकी प्रत्येक मुद्रा राजा पर प्रभाव डाल देती है[४] । उसकी तिरछी चितवन राजा का हृदय समस्त रानियों की ओर से खींच लेती है[५] । राजा को देखकर मालविका का भी यही हाल होता है । अकेले में वह सोचती है—'अविज्ञातहृदयं भर्त्तारमभिलषन्त्यान्मनोऽपि तावल्लज्जे । कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येमं वृत्तान्तमाख्यातुम् । न जानेऽप्रतिकारगुरुकां वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति'[६] ।

मनुष्य तो मनुष्य, देवता भी इस आकर्षण और प्रेम से अपने को न बचा पाए । महादेव जी पार्वती को देखकर इतने आकर्षित हुए कि वह एक क्षण तक उनके बिम्बाफल के समान ओठों पर अपनी ललचाई दृष्टि डाले रहे और पार्वती जी फले हुए नए कदम्ब के समान पुलकित अंगों से प्रेम व्यक्त करती हुई लजीली आँखों से अपना सुन्दर मुख कुछ तिरछा कर खड़ी रह गई[७] ।

---

१. विक्रम०, अंक १, पृ० १६५

२. एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती ।
सुरांगना कर्षति खंडिताग्रसूत्रं मृणालादिव राजहंसी ।।--विक्रम०, १।२०

३. चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम् ।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ।।—माल०, २।२

४. अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति तथा हि—
वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे,
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं,
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ।।—माल०, २।६

५. सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य ।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ।।—माल०, २।१४

६. माल०, अंक ३, पृ० २६९

७. हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ।।
विवृण्वती शैलसुता स्वभावमंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ।।–कुमार०, ३।६७, ६८

प्रेम और सौन्दर्य—निस्सन्देह इस प्रेम और आकर्षण में सौन्दर्य का बहुत बड़ा हाथ है। कालिदास ने अपनी सभी नायिकाओं को अनन्य सुन्दरी दिखलाया है। अनन्य सुन्दरी उर्वशी कवि के शब्दों में 'सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी, स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगति....[१]।'
दूसरी ओर मालविका—'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः ....[२]।'
निसर्ग-कन्या शकुन्तला का सौन्दर्य तो अनुपम है—

'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू....[३]।'

प्रेम और आध्यात्मिकता—कवि सौन्दर्य को सार्थकता प्रेम में समझता है, 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'[४] उसका दृढ़ विश्वास है। शारीरिक सौन्दर्य निस्संदेह प्रेम का महत्त्वपूर्ण अंग है, परन्तु प्रेम की कसौटी नहीं। इसी कारण सौन्दर्य से जीतने में असमर्थ होकर पार्वती को शिव को प्राप्ति के लिए घोर तपस्या करनी पड़ी। विवाह जैसी लौकिक वस्तु में भी कवि धर्म को प्रश्रय देता है। अतः शारीरिक सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिक सौन्दर्य का सम्मिश्रण प्रेम में निखार लाता है।

कवि का विश्वास है कि प्रेम की उत्पत्ति गतजीवन के संस्कारों के कारण होती है। मधुर एवं आकर्षक वस्तुओं को सम्मुख देखकर भी कभी-कभी मनुष्य उत्कंठित हो जाता है, इसका मूल कारण गतजीवन के अचेतन प्रेम की स्मृति ही है[५]। प्रेम जन्म-जन्मान्तर तक संग चलता है[६]।

धर्म पर आश्रित प्रेम ही फलता है। पार्वती के धर्म को अपनाने पर ही शिव प्रसन्न होकर कहते हैं—'अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि....'[७]। प्रेम की महत्ता नैतिकता और पवित्रता में है। वे अरुधन्ती को पति की तपस्या का साकार रूप कहते हैं। 'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्'[८] उनके इसी विश्वास और आस्था का द्योतक है। पवित्र एवं

---

१. विक्रम०, ४।५९ २. माल०, २।३
३. अभि०, १।२० ४. कुमार०, ५।१
५. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
—अभि०, ५।२
६. मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्—रघु०, ७।१५
साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं....—रघु०, १४।६६
७. कुमार०, ५।३८ ८. कुमार०, ६।१३

शुद्धाचारवाली कन्या का प्रेम ही जीवन में पूर्णता लाता है। केवल काम-भावना से उत्पन्न प्रेम कभी जीवन में उज्ज्वलता नहीं ला सकता। अवश्य ही वे प्रेम में विश्वास करते थे, परन्तु एकान्त में बिना गुरुजनों की अनुमति से, बिना उनकी सम्मति लिए, बिना आगा-पीछा सोचे, किया गया प्रेम उनकी दृष्टि में अवश्य निन्दनीय है[१]।

प्रेम के अंग—प्रेम के साधारण व्यापार तथा सूक्ष्म अंगों पर कवि ने भरपूर दृष्टि डाली। प्रेमी को जो आनन्द अपनी प्रिया में मिलता है, वह अन्यत्र नहीं। उसके लिए वह देवी है, जिसकी सेवा के सदृश संसार का कोई आनन्द नहीं। मेघ-सन्देश में यक्ष अपनी प्रिया को अपना प्राण और जीवन कहता है[२]। पुरूरवा अपने साम्राज्य से अधिक महत्ता प्रेमिका के संसर्ग और उसके लिए किए गए कार्य को देता है[३]। निराश प्रेमियों के लिए जो संसार अंधकारमय है, वही संसार युगल-प्रेमियों के लिए आनन्दमय[४] है। चन्द्रमा की वे ही किरणें, अनंग के वे ही शिलीमुख, जो दुःखी एवं निराश प्रणयी के लिए अग्नि-स्वरूप हैं। वे सुखी दम्पति के लिए आनन्दोत्पादक हैं[५]। जैसे धूप का सताया मनुष्य छाँह में अति शीतलता को प्राप्त करता है उसी प्रकार दुःख-भरे वियोग के पश्चात् संयोग दुगुने आनन्द को उद्दीप्त कर देता है। प्रेमी चाहता है कि वे ही रात्रियाँ जो वियोगावस्था में अति लम्बी लगती थीं वे इस संयोगावस्था में उतनी ही लम्बी हो जाँय[६]। प्रेमी अपनी ही आँखों से संसार को देखता है, प्रिया की हर चेष्टा उसे अपने प्रति प्रेम व्यक्त करती हुई प्रतिभासित होती है[७]।

---

१. अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात्संगतं रहः....—अभि०, ५।२४

२. तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम् ।
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।।—उत्तरमेघ, २३

३. सामन्तमौलिमणिरंजितपादपीठं एकातपत्रभवने न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्तं आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ।।
—विक्रम०, ३।१९

४. पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य मनोनुकूलाः ।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासीत् त्वत्संगमेन मम तत्तदिवानुनीतम् ।।
—यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम् ।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ।।
—अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं शतगुणितैव गता मम त्रियामा ।
यदि तु तव समागमे तथैव प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ।।
—विक्रम०, ३।२०, २१, २२

५ विक्रम०, ३।२० पूर्वोल्लेख

६. विक्रम०, ३।२१, २२ पूर्वोल्लेख

७. '....कामी स्वतां पश्यति'—अभि०, २।२

तन्मयता—प्रेम की तन्मयता दिखलाने में भी कवि चूका नहीं। प्रेम में जब तन्मयता आ जाती है तब व्यक्ति का हृदय उसमें स्थिर हो जाता है। 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'[१]। प्रेम की धारा रुद्ध होने पर भी अपना मार्ग नहीं छोड़ती, मार्ग बदल चाहे ले[२]।

शारीरिक व्यक्तीकरण—प्रेम का शारीरिक व्यक्तीकरण अपनी ही सत्ता रखता है। प्रेम के विकास के सम्बन्ध में उसका कथन है कि प्रेम-तरु का मूल प्रिया के सौन्दर्य का वर्णन सुनना है, पल्लवित होना प्रिया को देखना है, उसमें कलियाँ तब आतीं हैं जब प्रिया के स्पर्श से रोमांच होता है[3]। हृदय से पृथक् न रहनेवाली प्रिया के अभाव में व्यक्ति दुखी ही रहता है, यद्यपि वह मन को समझाना चाहता है कि शरीर का क्षीण होना ठीक है; क्योंकि उसे आलिंगन का सुख नहीं प्राप्त हो पाया। नेत्र भी अश्रुपूर्ण हो सकते हैं, क्योंकि प्रिया के दर्शन नहीं हो पाते; परन्तु हृदय क्यों दुःखी है जब एक क्षण के लिए भी प्रिया उससे पृथक् न हुई[४]।

स्वभावतः प्रेम की उत्पत्ति हो जाने पर भी, पहले स्त्री कभी शब्दों द्वारा उसको व्यक्त नहीं करती, उसके शारीरिक हाव-भाव ही उसकी अभिव्यक्ति कर देते हैं[५]। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में स्त्री प्रेम में विभोर होकर प्रिय-छवि को देखना चाहती है; परन्तु वह लज्जावती अधिक होती है—'कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः'[६]। उसके शब्द सीमित ही रहते हैं—'प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः'[७]; लज्जा से झुकी मुख को आधा मोड़े हुए अपने प्रेम को सलज्ज दृष्टि से व्यक्त कर खड़ी रह जाती है[८]। लज्जा से बात न कह पाने पर भी

---

१. कुमार०, ५।८२

२. नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखी मनसिशयः शतगुणी भवति॥—विक्रम०, ७।८

३. तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः सम्प्राप्तायां नयनविषयं रूढरावप्रवालः।
हस्तस्पर्शेर्मुकुलित इव व्यक्त रोमोद्गमत्वात्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मा रसज्ञः फलस्य॥—माल०, ४।१

४. शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिंगनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सादृश्यत इति।
तया सारंगाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम्॥—माल०, ३।१

५. स्त्रीणामाद्य प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु—मेघदूत, १. २४.।

६. माल०, अंक ४, पृ० ३२५; ७. रघु०, ९।३४

८. विवृण्वती शैलसुतापि भावमंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥—कुमार०, ३।६८

प्रेम के कारण उसके शरीर में रोमांच छा जाता है[1]। युगल दम्पति लज्जा के कारण कनखियों से एक-दूसरे को देखते हैं और दृष्टि-विनिमय होते ही सिटपिटा कर नेत्र नीचे कर लेते हैं[2]।

लज्जा के साथ प्रेम की अभिव्यक्ति सबसे सुन्दर शकुन्तला में है, जहाँ कवि दुष्यन्त के शब्दों में कहता है—

'वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः[3] ॥'

इसी भाव का दूसरा उदाहरण—

'अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ;
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः[4] ॥
दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकांडे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृतवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्[5]॥'

परिपक्व प्रेम में यह लज्जा नहीं चली जाती है[6]।

प्रेम की अभिव्यक्ति पुरुषों की भी कवि ने वर्णित की है। स्त्री के प्रथम स्पर्श से उनके शरीर में किस प्रकार का रोमांच छा जाता है[7], स्त्री को आकर्षित करने के लिए वे क्या-क्या चेष्टाएँ करते हैं, आदि-आदि उन्होंने स्थान-स्थान पर दिखाया है[8]।

प्रेम के अन्य व्यापार उदाहरणार्थ स्वप्न,[9] प्रतीक्षा, तन्मयता, सुधबुध छोड़कर कल्पना में लीन होना[10] आदि भी उन्होंने दिग्दर्शित किए हैं।

---

१. सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् !
रोमांचलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्वानिराक्रामदरालकेश्याः ॥—रघु०, ६।८१

२. तयोरपांगप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयंत्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥—रघु०, ७।२३

३. अभि०, १।२९ ४. अभि०, २।११ ५. अभि०, २।१२

६. पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्।—रघु०, २।१९

७. आसीद्वरः कंटकितप्रकोष्ठः स्विन्नांगुली संविवृते कुमारी।—रघु०, ७।२२
—रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नांगुलीः पुंगवकेतुरासीत्।—कुमार०, ७।७७
—यदिदं रथसंक्षोभादंगेनांगं ममायतेक्षणया,
स्पृष्टं सरोमकंटकमंकुरितं मनसिजेनेव।—विक्रम०, १।१३

८. रघु०, ६।१२–१९

९. त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत्।
क्व नीलकंठ व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पित बाहुबन्धना ॥—कुमार०, ५।५७

१०. गूढा नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत्,
पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने।

मदन-लेख एवं प्रेम-पत्र—अवश्य ही प्रेम में मदन-लेख का अति महत्त्व है। प्रेम के सूक्ष्म अंगों पर दृष्टि रखने वाले ने इसको भुलाया नहीं। शकुन्तला का पत्र-लेखन[1] और उर्वशी का भूर्जपत्र पर लिखा प्रेमसन्देश[2] इसके प्रतीक हैं।

दूती—युगल प्रेमियों को मिलाने के लिए किसी मध्यस्थ का होना भी आवश्यक है। शकुन्तला और दुष्यन्त के सम्मिलन में अनसूया और प्रियंवदा का हाथ था। इसी प्रकार उर्वशी और पुरूरवा के संयोग में उर्वशी की सखी चित्रलेखा का योग था। स्वयं कवि ने दूती[3] शब्द का प्रयोग किया है, जो प्रणय-प्रकाशन में सहायता देती थी। पार्वती ने भी शिव के पास दूती रूप में सखी भेजी थी[4]।

विवाह के पूर्व प्रणय में कवि को आस्था अवश्य थी। पर इस सम्बन्ध में एक बात सदा याद रखनी चाहिए—कवि प्रेम हो जाने पर भी विधिपूर्वक सबके सम्मुख विवाह हो जाने के पक्ष में हैं। शिव-पार्वती का आकर्षण और प्रेम विधिपूर्वक विवाह के द्वारा पूर्ण किया गया। मालविका के प्रति भी अग्निमित्र का कम आकर्षण और प्रेम नहीं था। इसकी भी समाप्ति विवाह में धारिणी और इरावती के सम्मुख हुई। शकुन्तला के प्रेम और गुपचुप कार्य की कवि ने निन्दा ही की है[5]।

विवाह-संस्कार--विवाह संस्कार के तीन भाग किए जा सकते हैं—(१) विवाह से पूर्व प्रारम्भिक क्रियाएँ (Prelimir aries), (२) मूल संस्कार, प्राणिग्रहण, होम, अग्नि-प्रदक्षिणा और सप्तपदी, (३) कुछ अन्य बातें—यथा, ध्रुव तारे की ओर देखना, लोकाचार आदि।

विवाह के पूर्व की प्रारम्भिक क्रियाएँ--इसमें वर-वधू की गुण-परीक्षा, कन्या के पिता के पास वर की ओर से किसी का जाना और कन्या के साथ

हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना बलात्,
आनीयेत पदात्पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥—विक्रम०, ३।१५

१. अभि०, अंक ३, ३।२४ मन्मथ लेख

२. स्वामिन्संभाविता यथाऽहं त्वया ज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तपोपरि किं मे ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाता अप्युत्युष्णकाः शरीरके।
—विक्रम०, २।१२

३. तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूतयः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगार चेष्टा विविधा बभूवुः ॥—रघु०, ६।१२

४. अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम्।
दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति ॥—कुमार०, ६।१

५. अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम् ॥—अभि०, ५।२४

विवाह कर देने की याचना करना, वाग्दान, आदि हैं। स्वयं कालिदास ने शंकर के द्वारा सप्तर्षियों को राजा हिमालय के पास भिजवाया है तथा प्रार्थना करवाई है कि वे अपनी पुत्री पार्वती का विवाह उनके साथ कर दें[1]। विवाह का प्रस्ताव लेकर जानेवालों में स्त्री भी हो सकती थी––

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति।
प्रायेणैवं विधे कार्ये पुरंध्रीणां प्रगल्भता॥[2]

वाग्दान से विवाह निश्चित् हो जाता है और इसके पश्चात् अन्य मांगलिक क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। स्वयंवर विधि में भी, गले में जिसके माला डाल दी जाती है उसके साथ विवाह निश्चित हो जाता है। गले में माला डालना वाग्दान का ही पर्याय है।

वाग्दान के पश्चात् विवाह-सम्बन्धी क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती थीं। मंडपकरण, वधू-गृहगमन, मधुपर्क, स्नापन, परिधापन, प्रतिसर बन्ध, वधू-वर निष्क्रमण इन्हीं मांगलिक क्रियाओं में आते हैं। ये सब सभी गृह्यसूत्रों और धर्म सूत्रों में एक-से ही मिलते हैं और कालिदास ने भी इन सबका ऐसा ही उल्लेख किया है। यह सब सविस्तर यथास्थान स्वयंवर और प्राजापत्य विवाह के प्रसंग में बताया जायगा।

मूल विवाह-संस्कार––इसमें कन्यादान, अग्निस्थापन, होम, पाणिग्रहण, लाजाहोम, अग्निपरिणयन, अश्मारोहण, सप्तपदी, मूर्धाभिषेक आदि आते हैं। सविस्तर यथास्थान इनका भी उल्लेख किया जायगा।

विवाह के पश्चात् की मांगलिक क्रियाएँ

कौतुक-गृह लोकाचार– इसमें ध्रुवारुन्धती दर्शन, आद्राक्षतरोपण, तत्पश्चात् कुछ अभिनयादि से वरवधू का विनोद करना आता है। इसके पश्चात् कौतुकागार में वर-कन्या पहुँचा दिये जाते हैं, वहाँ वे रात्रि में शयन करते हैं।

विवाह की मांगलिक सामग्री––इन सामग्रियों में मृगरोचन, दूर्वा, तीर्थमृत्तिका, लोध्र, गोरोचन आदि का प्रसंग कवि ने शकुन्तला की विदा के समय, पार्वती और इन्दुमती के स्वयंवर के पूर्व तथा विवाह प्रसंग के बीच में यथाप्रसंग दिया है।

स्वयंवर––कालिदास ने स्वयंवर का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। वैसे मूल विवाह और क्रियाओं में चाहे स्वयंवर हो, या माता-पिता के द्वारा विवाह निश्चित किया गया हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता; हाँ, प्रारम्भिक तैयारियों में अन्तर आ जाता है।

---

१. तामस्मदर्थे युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः।––कुमार०, ६।२९
२. कुमार०, ६।३२

वैवाहिक चर्चा--चूँकि इसमें कन्या के ऊपर ही समस्त चुनाव का उत्तरदायित्व था, अतः माता-पिता का यही काम था कि वे अपने विश्वासपात्र दूत अच्छे योग्य राजपुत्रों के पास भेजकर उनको स्वयंवर में आने के लिए निमन्त्रित करें[1]। जिनके साथ माता-पिता अपनी कन्या का सम्बन्ध करना अच्छा समझते थे उनको ही निमन्त्रित करते थे[2] । राजपुत्र अपने माता-पिता की अनुमति पाकर अपनी सेना के साथ कन्या के गृह की ओर प्रस्थान कर देते थे[3] । मार्ग में स्थान-स्थान पर पड़ाव डालते हुए अन्त में वे कन्या के देश में प्रवेश करते थे[4] ।

स्वागत--कन्या के पिता को जब यह समाचार मिलता था कि अमुक राजपुत्र आया है तो वह नगर के बाहर उसके पड़ाव में जाकर उसका स्वागत करता था[5] । इसके पश्चात् राजपुत्र को अपने साथ लेकर नगर में प्रवेश करता था[6] । राजसेवक आकर पहले ही से मनोनीत किए महल में राजपुत्र को विश्रामार्थ ले जाते थे[7] । प्रत्येक के ठहरने के लिए पृथक्-पृथक् प्रवन्ध रहता था और प्रत्येक राजमन्दिर के द्वार पर चौकियों पर जल से भरे मंगलकलश रखे रहते थे[8] । प्रत्येक प्रकार के आराम के साधनों से राजमन्दिर भरपूर रहता था। यहीं वे रात्रि भर विश्राम कर प्रातःकाल उठकर नहा-धोकर अपने को वस्त्राभूषण से अलंकृत कर निश्चित समय पर स्वयंवर के वितान में प्रवेश करते थे[9] ।

---

१ अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥--रघु०, ५।३९

२. तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम्।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥--रघु०, ५।४०

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २ ४. रघु०, ५।४१-५९

५. तं तस्थिवांसं नगरोपकंठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥--रघु०, ५।६१

६. प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥--रघु०, ५।६२

७. तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुंभाम्।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास॥
--रघु०, ५।६३

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ७

९. कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम्।--रघु०, ५।७६

स्वयंवर में नागरिक जन भी आते थे और राजपुत्रों को देखते थे[१]। स्वयंवर में चारण रहते थे, जो राजपुत्रों की वंशावलियों और गुणों का बखान करते थे[२]।

स्वयंवर-शोभा—नगर के बाहर बड़ा-सा शामियाना[3] लगाया जाता था जिसमें प्रत्येक राजा और राजपुत्र के लिए मंच बनाए जाते थे[४]। प्रत्येक मंच पर एक सिंहासन रखा जाता था[५]। मंच और सिंहासन (सिंहासन सोने के बने होते थे उनमें रत्न भी जड़े रहते और उस पर रंग-बिरंगे वस्त्र बिछे रहते थे[६]।) दोनों ही खूब सजे रहते थे[७]। मंच के ऊपर सिंहासन तक जाने के लिए सीढ़ियाँ[८] बनी रहती थीं। इन्हीं बहुमूल्य सिंहासनों पर सज-धजकर ठाटबाट से राजा लोग बैठते थे[९]। शामियाना झंडियों (वैजयन्ती) और अगरबत्तियों से सजा रहता था[१०]। मंगल-बाद्य बजते रहते थे[११]। मंचों के बीच में राजमार्ग[१२] रहता था। इसी राजमार्ग पर से होती हुई पालकी पर बैठी वैवाहिक वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या स्वयंवर के लिए आती थी[१३]। राजपुत्री के साथ उसकी दासियाँ और सखियाँ भी रहती थीं[१४]।

---

१. नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥—रघु०, ६।७

२. अथ स्तुते वन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके।—रघु०, ६।८

३. प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमंडलमन्यतो वितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥—रघु०, ६।८६

४. स तत्र मंचेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥—रघु० ६।१

५. परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥—रघु०, ६।४

६.७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५

८. वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मंचम्।—रघु०, ६।३

९. तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविरोषोदयदुर्निरीक्षयः।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव ॥—रघु०, ६।५
—तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥—रघु०, ६।६

१०. संचारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः।—रघु०, ६।८

११. प्रध्मातशंखे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्छति मंगलार्थे।—रघु०, ६।९

१२. मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मंचान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥—रघु०, ६।१०

१३.१४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १२

स्वयंवर--राजपुत्री के साथ विवाह करने को आतुर राजकुमार अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तरह-तरह की शृंगार चेष्टाएँ करते थे[1]। सखी राजपुत्री को एक एक राजपुत्र के पास बारी-बारी से ले जाती थी और प्रत्येक के गुण और वंशादि के विषय में विस्तारपूर्वक बताती जाती थी[2]। जो राजपुत्र उसे जँच जाता था, उसके पास पहुँच कर वह फिर आगे नहीं जाती थी[3]। निश्चय करते ही अपनी सखी के हाथों से उसके गले में स्वयंवर की माला पहनवा देती थी[4]। यह माला दूब में गुँथी महुए के फूलों की होती थी[5] और इसके डोरे में रोली लगी रहती[6] थी। माला पहनाने के पश्चात् वर निश्चित हो जाता था। निश्चित वर और उसका पक्ष प्रमुदित हो जाता था, शेष सब उदास[7]।

वैवाहिक मांगलिक क्रियाएँ—स्वयंवर हो चुकने के बाद शेष सभी राजा अपने-अपने सेनानिवेश में चले जाते थे[8]। वर और कन्या को लेकर कन्यापक्ष का कर्त्ता-धर्त्ता नगर में प्रवेश करता था[9]।

नगर की सजावट—सत्कारार्थ सारा नगर भली-भाँति सजाया जाता था। इन्द्रधनुष के समान रंग-बिरंगे तोरण स्थान-स्थान पर लगाए जाते थे[10]। स्थान-स्थान पर झंडियाँ लगाई जाती थीं[11]। वर कन्या के नगर में प्रवेश करते

---

१. रघु०, ६।१२–१९ २. रघु०, ६।२०–७९

३. तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदावभाषे ।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥—रघु०, ६।८२

४. स चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः ।
आसंजयामास यथाप्रदेशं कंठे गुणं मूर्त्तमिवानुरागम् ॥—रघु०, ६।८३

५. एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वांकमधूकमाला ।—रघु०, ६।२५

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४

७. देखिए, पृष्ठ नं० १०४ की पादटिप्पणी, ३

८. सेनानिवेशान्पृथ्वीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।—रघु०, ७।२

९. अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वरसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥—रघु०, ७।१

१०. तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणांकम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥—रघु०, ७।४

११. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १०

ही स्त्रियाँ गवाक्षों से उनको देखने के लिए दौड़ पड़ती थीं[1]। वर हथिनी के ऊपर रहता था[2]। सम्भवतः कन्या पहले की तरह पालकी पर।

मधुपर्क--किसी सम्माननीय अतिथि के स्वागत और सत्कारार्थ उसके हाथों में मधु भेंट किया जाता था। शाब्दिक अर्थ 'मधु' का 'क्षरण' है। किसी अतिथि के आने पर आसन, चरण धोने के लिए जल, अर्घ्य, आचमन के लिए जल, मधुपर्क और गाय दी जाती थी। गृह्यसूत्रों[3] के अनुसार ऋत्विक्, आचार्य, वर, राजा, स्नातक तथा कोई जन मधुपर्क के पात्र होते थे। कुछ गृह्यसूत्रों में इन ६ व्यक्तियों में सातवाँ अतिथि और जुड़ा हुआ है[4]। यह कहा जाता है कि वर्ष में एक बार ही मधुपर्क दिया जाता है; परन्तु यदि घर में शादी हो, यज्ञ हो तो मधुपर्क, चाहे वे व्यक्ति उसी वर्ष में आ भी चुके हों, फिर भी उनको देना चाहिए[5]।

मधुपर्क विवाह में विशेष स्थान रहता है। मधुपर्क में क्या-क्या होना चाहिए, इसमें मतभेद है। आश्वलायन और आपस्तम्ब दही और शहद का मिश्रण अथवा घी और दही के मिश्रण को मधुपर्क कहते हैं[6]। पारस्कर मधुपर्क में दही, घी और शहद तीनों का योग होना चाहिए, ऐसा कहते हैं[7]। आपस्तम्व किसी अन्य की सम्मति उद्धृत करते हैं कि दही, शहद और घृत के अतिरिक्त यव या बार्ली भी होना चाहिए[8]।

वर स्वयंवर के पश्चात् राजभवन में जाता था[9]। राजभवन मंगल सामग्रियों की सजावट से जगमगाता रहता था[10]। वर को सम्बन्धी-गण अन्दर

---

१. ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्त्वान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥—रघु०, ७।५
२. ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।—रघु०, ७।१७
३. मानव गृह्यसूत्र, १. ९. १; याज्ञवल्क्य स्मृति, १ का ११०
४. बौधायन गृह्यसूत्र, १. २. ६५; गौतम धर्मसूत्र, ५. २५; आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १३. १९–२०; आपस्तम्ब धर्मसूत्र २. ३. ८. ५–६; बौधायन धर्मसूत्र, २. ३. ६३–६४;--मनुस्मृति, ३ का ११९
५. :धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ५४३
६. आपस्तम्ब, १३. १०, धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ५४५
७. पारस्कर गृह्यसूत्र, १. ३   ८. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १३. ११–१२
९. इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः।
उद्भासितं मंगलसंविधाभिः संबंधिनः सद्म समाससाद ॥—रघु०, ७।१६
१०. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ९

चौक में ले जाकर सिंहासन पर बिठा देते थे[1]। वहाँ जा माता को दुकूलयुग्म, रत्नयुक्त अर्घ्य और मधुपर्क भेंट दी जाती थीं[2]। इसके पश्चात् विवाह-संस्कार के लिए वर को कन्या के साथ ले जाया जाता था[3]।

विवाह-संस्कार

(अ) कन्यादान—जैसा पहले कहा जा चुका है माता पिता जब वर ढूँढने से असमर्थ होते थे तब कन्या को स्वतंत्रता दे देते थे कि वह अपना वर स्वयं ढूँढे, अतः उत्तरदायित्व स्वयंवर में माता-पिता का न होकर स्वयं कन्या का होता था। यही कारण है कि इसमें कन्यादान का कोई महत्त्व नहीं रहता। कवि ने संभवतः इसी कारण कन्यादान का यहाँ उल्लेख नहीं किया।

(ब) अग्नि स्थापन और होम[4]—कन्यादान के पश्चात् या पूर्व पुरोहित घी आदि सामग्रियों से हवन कर उसी अग्नि को साक्षी बनाकर वर वधू को संयुक्त कर देता था। अग्नि घी और शमी के पत्तों से सुगन्धित हो जाती थी (रघु० ७।२६)।

(स) पाणिग्रहण[5]—वर वधू के हाथ पकड़ता था, कदाचित् स्वीकृति की सूचना भर हो।

(द) अग्नि-परिणयन[6]—वर और वधू दोनों विवाह के समय स्थापित की हुई अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे।

(य) लाजाहोम[7]—तत्पश्चात् कन्या पुरोहित के कहने से अग्नि में खीलें डालती थी।

---

१. वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः।—रघु०, ७।१७

२. महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः॥—रघु०, ७।१८

३. दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः॥—रघु०, ७।१९

४. तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विविहसाक्ष्ये वधूवरो संगमयाञ्चकार॥—रघु०, ७।२०

५. हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे।—रघु०, ७।२१

नोट : वर-वधू का वेश और विवाह-संस्कार प्राजापत्य विवाह हो या स्वयंवर एक-सा ही रहता था।

६. प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।—रघु०, ७।२४

७. नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ॥—रघु०, ७।२५

नोट : काणे ने धर्मसूत्रों के अनुसार पाणिग्रहण के पश्चात् लाजाहोम, तत्पश्चात् अग्नि-परिणयन दिया है; पर कालिदास ने लाजाहोम को अग्नि-परिणयन के पश्चात्[1]। पाँचवीं-छठी शताब्दी के आसपास अग्नि-परिणयन के बाद ही लाजाहोम का उल्लेख मिलता है। बाणभट्ट ने राज्यश्री के विवाह में अग्नि-प्रदक्षिणा के बाद लाजा-हवन का निर्देश किया है—'हुते च हुतभुजि प्रदक्षिणाप्रवृत्ताभिर्वधूवदनविलोकनकूतूहलिनीभिरिव ज्वालाभिरेव सह प्रदक्षिणं बभ्राम। पात्यमाने च लाजांजलौ नखमयूखधवलिततनुरदृष्टपूर्ववधूवररूपं विस्मयस्मर इवादृश्यत विभावसुः।

—हर्षचरित, पृ० २०८, बम्बे संस्कृत सीरिज

सप्तपदी—कालिदास ने इसका कोई संकेत नहीं किया।

विवाह-संस्कार के बाद की क्रियाएँ—फेरे हो चुकने पर थोड़ी बहुत अन्य मांगलिक क्रियाएँ भी होती थीं। जिनमें ध्रुव तारे को वधू को दिखाना और आर्द्राक्षतरोपण आदि आता है। कालिदास ने इन्दुमती के विवाह का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, पर ध्रुवतारा दर्शन का कहीं प्रसंग नहीं दिया यद्यपि पार्वती के विवाह पर इसका नाम दिया है।

आर्द्राक्षतारोपण[2]—विवाह-संस्कार के पूरा हो चुकने पर वर वधू के ऊपर स्नातक, कुटुम्बी और सौभाग्यवती नारियाँ सभी बारी-बारी से आर्द्राक्षतारोपण करते थे।

विवाह-संस्कार की समाप्ति पर स्वयंवर में जितने राजा आते थे, वे सब कन्या-पक्ष के द्वारा अनुमति पाकर उनकी दी हुई सामग्री को भेंट के बहाने लौटा कर अपने-अपने देश लौट जाते थे[3]। बीच में ईर्ष्यावश ये राजा वरपक्ष से युद्ध भी करते थे[4]।

वर वधू को लेकर अपने देश लौट जाता था। कन्यापक्ष के कर्त्ता-धर्त्ता अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन आदि देकर उनको सम्मानपूर्वक बिदा करते थे[5] और कुछ दूर तक उन्हें पहुँचा भी आते थे[6]।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ५३४

२. कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्।—रघु०, ७।२८

३. वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन।—रघु०, ७।३०

४. स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पंथानमजस्य तस्थौ॥—रघु०. ७।३१

५. सत्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च।—रघु०, ७।२२

६. तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः॥—रघु०, ७।३३

प्राजापत्य विवाह

इस प्रकार के विवाह में समस्त उत्तरदायित्व माता-पिता का रहता है। माता-पिता विवाह निश्चित् कर वर और कन्या से कहते हैं कि तुम दोनों समस्त धर्म के कार्यों को साथ एक करो।

वैवाहिक-चर्चा—विवाह निश्चित करना माता-पिता के हाथ में ही रहता है, अतः पार्वती ने यद्यपि हृदय से शिवजी को वर लिया था; परन्तु फिर भी उसने अपनी सखी से कहलवाया कि मेरा विवाह करनेवाले या न करनेवाले मेरे पिता हैं। यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हैं उनको जाकर मना लीजिए[1]।

वरदूत-प्रेषण—अतः शिवजी ने सप्तर्षियों को स्मरण किया और उनसे कहा कि आप मेरी ओर से राजा हिमालय के पास जाकर उनकी पुत्री पार्वती को माँग लीजिए[2]। प्राचीन काल में वर की ओर से ही कन्या के लिए प्रस्ताव होता था। आगे भी राज्यश्री को माँगने के लिए प्रभाकरवर्द्धन के पास राजा दूत भेजने लगे, ऐसा वाण ने लिखा है[3]। विवाह का प्रस्ताव स्वीकार करते समय पिता अपनी पत्नी से भी राय लेता था :

'प्रायेण गृहिणी नेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ....'—कुमार०, ६।८५

वाग्दान—वर दूत भेज कर विवाह निश्चित करा लेता था। इसके पश्चात् वाग्दान के द्वारा सब कुछ निश्चित हो जाता था[4]। इसी समय कन्या-पक्ष के लोग विवाह की शुभतिथि भी निश्चित कर लेते थे[5]। विवाह प्रस्ताव के तीन दिन बाद भी विवाह हो सकता था।

वैवाहिक तैयारियाँ

नगर की सजावट—नगर की सड़कों को झण्डियों, बन्दनवारों और फूलों से अच्छी तरह सजाया जाता था। राजा के घर यदि शादी है तो सम्पूर्ण नगर

---

१. कुमार०, ६।१ पूर्वोल्लेख २. कुमार०, ६।२९ पूर्वोल्लेख

३. 'शोभने च दिवसे ग्रहवर्मणा कन्यां प्रार्थयितुं प्रेषितस्य पूर्वागतस्यैव प्रधानदूतपुरुषस्य करे सर्वराजंकुलसमक्षं दुहितृदानजलमपातयत्........
—हर्षचरित, ४था उच्छ्वास

४. इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्धया विमृश्य सः।
आददे वचसामन्ते मंगलालंकृतां सुताम् ॥
एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥—कुमार०, ६।८७, ८८

५ वैवाहिकीं तिथिं पृष्ठास्तत्क्षणं हरबन्धुना।
ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥—कुमार०, ६।९३

सजाया जाता था[१]। साधारणतः गृहस्थ लोग केवल अपना घर और आसपास का स्थान सजा लेते होंगे।

वधू-श्रृंगार और वैवाहिक वेशभूषा—कन्यापक्ष के सभी सम्बन्धी-गण कन्या को आशीर्वाद देते और गोद में बिठा कर कोई-न-कोई आभूषण दिया करते थे[२]।

स्नापन परिधापन—विवाहवाले दिन प्रातःकाल ही से कन्या का श्रृंगार प्रारम्भ हो जाता था। पति और पुत्रवती स्त्रियाँ कन्या का श्वेत सर्षप और दूर्वा के अंकुरों से श्रृंगार करती थीं[३]। तत्पश्चात् 'निर्नाभि कौशेय' पहनाकर बाण खोंस दिया जाता था[४]। सौभाग्यवती और पुत्रवती स्त्रियाँ कन्या के शरीर पर लगे तेल को लोध्र की बुकनी से सुखाकर सुगन्धित द्रव्यों से युक्त अंगराग लगाती थीं[५]। इसके पश्चात् उसको स्नान के लिए ले जाया जाता था। स्नान के लिए पृथक् वस्त्र दिया जाता था[६]।

चौकी पर कन्या को बिठा कर गाते-बजाते हुए कन्या को नहला दिया जाता था[७]। स्नान के पश्चात् पूर्व की ओर कन्या का मुख कर वैवाहिक-श्रृंगार होता

---

१. सन्तानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोराणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे॥—कुमार०, ७।३

२. अंकाद्ययावंकमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वयुंक्त।—कुमार०, ७।५

३. मैत्रेमुहुर्ते शशलांछनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः॥
सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम्।
निर्नाभि कौशेयमुपात्तवाणमभ्यंगनेपथ्यमलंचकार॥—कुमार०, ७।६, ७

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३ में,—कुमार०, ७।७

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३ में,—कुमार०, ७।६ (पतिपुत्रवत्यः)
तां लोध्रकल्केन हृतांगतैलमाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम्।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः॥—कुमार०, ७।९

नोट : 'वाण'—क्षत्रिय लोग वाण को कमर में खोसते होंगे। वाण क्षत्रिय जाति का प्रतीक है।

६. देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ५

७. विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयांबभूवुः॥—कुमार०, ७।१०
तां प्राङ्मुखी तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः॥—कुमार०, ७।१३

था। मंगल वेदी पर आसन बिछा कर कन्या को विठाकर अगरु, चन्दन के धूम्र से वाल सुखाकर बालों में फूल गूँथ दिए जाते थे। जूड़ा बनाकर दूब में पिरोई पीले महुए के फूलों की माला जूड़े पर लपेट दी जाती थी[१]। शरीर पर श्वेत अगरु का वना अंगराग लगाकर, गोरोचन से शरीर पर चित्रकारी (पत्र-रचना) की जाती थी[२]। कपोल पर लोध्र पराग लगा कर गोरोचन से पत्र-लेखा बनाई जाती थी[३]। कानों में यवांकुर पहना दिए[४] जाते थे। चरणों में महावर,[५] आँखों में काजल,[६] होंठों पर लाली[७] लगाकर सुवर्ण, चाँदी और मोतियों आदि के गहने पहना दिए जाते थे[८]। माथे पर हरताल और मैनसिल का तिलक लगा दिया जाता था[९]।

कौतुकहस्त सूत्र—कौतुकहस्त सूत्र को आधुनिक काल में कंगन कहते हैं। कालिदास ने रघुवंश में विवाहकौतुक[१०] और ऊर्णवलय[११] शब्द का प्रयोग किया है; परन्तु यह कब बाँधा जाता था इसको नहीं बताया। कुमारसंभव में वे विवाह वाले दिन पार्वती को माँ के हाथ से ऊर्णामय कौतुकहस्त सूत्र[१२] पहनवाते हैं। वर-वधू दोनों के हाथों में यह सूत्र बाँधा जाता था[१३]।

---

१. धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तः कुसुमं तदीयम्।
पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्ववता पांडुमधूकदाम्ना ॥—कुमार०, ७।१४
२ विन्यस्त शुक्लागुरु चक्रुरंगं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः।—कुमार०, ७।१५
३. कर्णार्पितो लोध्रकषायरुक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥—कुमार० ७।१७
४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३
५. सा रंजयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान।—कुमार०, ७।१९
६. न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालांजनं मंगलमित्युपात्तम्।—कुमार०, ७।२०
७ रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्या किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः।—कुमार०, ७।१८
८. सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥—कुमार०, ७।२१
९. अथांगुलिभ्यां हरितालमार्द्रं मांगल्यमादाय मनःशिलां च....।—कुमार०, ७।२३.
—तमेव मेना दुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥—कुमार०, ७।२४
१०. अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः।—रघु०, ८।१
११. तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते,
मांगल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य।—रघु०, १६।८७
१२. धात्र्यंगुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम्।—कुमार०, ७।२५
१३. अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः।
करेण शंभोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥—कुमार०, ५।६६

वैवाहिक वस्त्र—वैवाहिक वस्त्र क्षोभ के प्रयुक्त किए जाते थे[१]। कलहंस दुकूल का भी उल्लेख है (कुमार०, ५।६७)। क्षोभ नवीन होता था। सफेद रंग का होता था। कालिदास ने उसको शुक्लता चन्द्रमा की शुक्लता से व्यक्त की है (क्षौमं केनाचिदिन्दुपाण्डु—अभि०, ४।५)। उस पर कलहंस के चिह्न पड़े रहते थे। प्रायः एक जोड़े क्षौम वस्त्र पहनाए जाते (परिधत्स्व क्षौमयुगलम् —अभि०, पृष्ठ ६८)। वस्त्र पहनाने के साथ ही कन्या के हाथ में एक नवीन दर्पण थमा दिया जाता था[२]। हाथ में दर्पण धराना उस समय का लोकाचार जान पड़ता है।

वेवाहिक साज-सज्जा के पूरे हो जाने पर कुल-रीति के अनुसार कन्या कुल-देवताओं को प्रणाम करती थी। तत्पश्चात् अन्य सौभाग्यवती स्त्रियों को[3]। स्त्रियाँ आशीर्वाद देती थीं कि, 'पति का अखण्ड प्रेम प्राप्त करो'[४]।

वर-श्रृंगार तथा वेशभूषा—वधू की तरह वर के शरीर पर सितांगराग[५] लगाया जाता था। हंस दुकूल वस्त्र पहनाया जाता था[६]। माथे पर हरताल का तिलक[७], सिर पर चूड़ामणि,[८] शरीर पर तरह-तरह के आभूषण[९] शोभा दिया करते थे।

वरात की शोभा—वर के साथ उसके मित्र और बन्धुगण रहते थे[१०]। वर किसी सवारी पर सम्भवतः हथिनी[११] पर आता था। शिव जी बैल पर

---

१. क्षीरोदवेलेव सफेनपुंजा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा,
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना।—कुमार०, ७।२६

२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

३. तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्॥—कुमार०, ७।२७

४. अखंडितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा।—कुमार०, ७।२८

५. बभूव भस्मैव सितांगरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः।
उपान्तभागेषु च रोचनांको गजाजिनस्यैव दुकूलभावः॥—कुमार०, ७।३२

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५

७. सांनिध्यपक्षे हरितालमय्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः।—कुमार०, ७।३३

८. चन्द्रेव नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणेः किं ग्रहणं हरस्य।—कुमार०, ७।३५

९. यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम्।—कुमार०, ७।३४

१०. कुमार०, ७।३८–४७,४८ ११. पूर्वोल्लेख

आरूढ़ थे। आगे-आगे मंगल-वाद्य बजते रहते थे[१]। वर के ऊपर छत्र[२] रहता था, आस-पास चँवर[३] डुलाए जाते थे। विवाह कराने के लिए पुरोहित वर-पक्ष का ही रहता था[४]।

वर-पक्ष का स्वागत—कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष की आगे बढ़कर अगवानी करते थे[५] और सजे हुए नगर में वर तथा उसके पक्ष के लोगों को प्रविष्ट करवाते थे[६]। नगर में बारात के प्रवेश करते ही स्त्रियाँ गवाक्षों से बारात देखने दौड़ पड़ती थीं[७]।

मधुपर्क—कन्या-पक्ष के द्वार पर बारात के पहुँच जाने के पूर्व स्त्रियाँ लाजमुष्टि[८] डालती थीं। वर को वाहन से उतार कर सम्मान के साथ महल अथवा घर के अन्दर ले जाया जाता था[९]। वहाँ वर को कन्या-पक्ष के पिता रत्न, अर्घ्य, मधु, दही और नवदुकूल मधुपर्क-रूप में भेंट करते थे[१०]। इसके पश्चात् दुकूल पहने हुए वर को कन्या के पास वैवाहिक-संस्कार के लिए ले जाते थे[११]।

विवाह-संस्कार—अग्नि-स्थापन[१२] और होम के पश्चात्, जैसा स्वयंवर

---

१. ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मंगलतूर्यघोषः।—कुमार०, ७।४०

२. उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।—कुमार०, ७।४१

३. मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।—कुमार०, ७।४२

४. विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृत्ता मयेति।—कुमार०, ७।४७

५ तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः॥—कुमार०, ७।५२

६. स प्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्॥—कुमार०, ७।५५

७ तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम्।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥—कुमार०, ७।५६

८. केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद।—कुमार०, ७।६९

९. तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश॥—कुमार०, ७।७०

१०. तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम्।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम्॥—कुमार०, ७।७२

११. दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः।—कुमार०, ७।७३

१२. प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे॥—कुमार०, ७।७९

विवाह में कहा है, पाणिग्रहण[१] होता था। इसके पश्चात् अग्नि-प्रदक्षिणा[२]। जब अग्नि के तीन फेरे हो चुकते थे, तब वधू से लाजाहोम पुरोहित करवाते थे[३]। लाजाहोम का धूम्र वधू सूँघती थी[४]। यही अग्नि विवाह की साक्षी समझी जाती थी। पुरोहित कन्या से कहता था कि हे वत्से! यह अग्नि तुम्हारे विवाह की साक्षी है, आज से तुम सब प्रकार की शंका छोड़ कर पति के साथ धार्मिक कृत्य करना[५]।

विवाह-संस्कार के पश्चात् की क्रियाएँ और लोकाचार

(अ) ध्रुवदर्शन[६]—वर कन्या को ध्रुवतारे की ओर देखने को कहता था। इसका आशय यह था कि तुम ध्रुवतारे की तरह अपने पति के प्रति तन, मन, धन से सच्ची तथा अटल रहो।

(ब) आर्द्राक्षतारोपण[७]—विवाह-संस्कार के पश्चात् वर-कन्या अन्दर चौक में लाये जाते थे और वहाँ दोनों पर सम्बन्धीगण और इष्टमित्र गीले अक्षत छिड़कते थे। सम्भवतः मनोविनोद के लिए नाटक, अभिनय आदि भी खेला जाता था[८]।

कौतुक गृह[९]—विवाह के पश्चात् विश्रामार्थ और शयनार्थ वर-कन्या एक कमरे में पहुँचा दिए जाते थे। वहाँ सेज बिछी रहती थी, कलश भरा धरा रहता

---

१. तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्रांगुलिमष्टमूर्तिः।
उमातनो गूढतनौ स्मरस्य तच्छंकिनः पूर्वमिव प्ररोहम्॥—कुमार०, ७।७६
—रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नांगुलिः पुंगवकेतुरासीत्।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य॥—कुमार०, ७।७७

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १२

३. स कारमामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्।—कुमार०, ७।८०

४. सा लाजधूमांजलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय।—कुमार०, ७।८१

५. वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति॥—कुमार०, ७।८३

६. ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकंठी कथमप्युवाच॥—कुमार०, ७।८५

७. जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्।—कुमार०, ७।८८

८. तौ संधिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्त्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम्॥—कुमार०, ७।९१

९. कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्।
—कुमार०, ७।९४

था । संक्षेप में कौतुकगृह उस कमरे को या घर को कहा जा सकता है जहाँ वर-वधू जाकर अपनी सुहागरात मनाते हैं।

काम-क्रीड़ा––रति के प्रधान तीनों अंगों का (आलिंगन, चुम्बन एवं संभोग) कवि ने सम्यक् विवेचन किया है । नई ब्याही वहू का घवराते हुए पति के निकट जाना और पति का प्रारम्भ में सदय रति का प्रश्रय लेना, जिससे कि वह घवराए नहीं; पति का वधू के द्वारा वाधित होने पर भी अधूरे रस का तृप्ति के साथ पीना; धीरे-धीरे मन्मथ रस के ज्ञात हो जाने पर वधू को रतिदुःखशीलता का विलुप्त हो जाना; तत्पश्चात् निर्दयरति—केशों का अस्त-व्यस्त हो जाना, अधर का गाढ़ दंशन, नखक्षत से शरीर भर जाना आदि-आदि, प्रत्येक वात का कवि की कृतियों में पूर्ण उल्लेख है[1] ।

गान्धर्व विवाह

गांधर्व विवाह प्रेम-विवाह था । इसमें किसी प्रकार का कोई संस्कार नहीं होता था । वर-कन्या आप ही एकान्त में अपना विवाह निश्चित कर लेते थे । माता-पिता अथवा गुरुजनों की कोई सम्मति नहीं लेता था[2] ।

इस प्रकार के विवाह में काम-भावनाओं की सन्तुष्टि ही प्रधान उद्देश्य थो । आवेश मात्र में काम हो जाता था, अतः बाद में अपनी भूल मालूम होने पर पश्चात्ताप होता था[3] । गुरुजन भी इसे अच्छा नहीं समझते थे और इस प्रकार के विवाह की निन्दा करते थे । शकुन्तला के गान्धर्व विवाह पर गौतमी और शारंगरव ने उसे फटकारा था कि विना सोचे-समझे जो काम किया जाता है उससे ऐसा ही दुःख मिलता है । गुप्त-प्रेम वहुत समझ-वूझ कर करना चाहिए । किसी अपरिचित के साथ बिना उसके स्वभाव आदि की समझे हुए यदि मित्रता की जाती है तो वह शत्रुता ही बन जाती है[4] । अतः शीलवती कन्याएँ अपनी

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए परिशिष्ट २, कालिदास के समय में काम-भावना के अन्तर्गत प्रथम-मिलन तथा रति-क्रीड़ा ।

२. नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः ।
एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य ॥—अभि०, ५।१६

३. किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ।—अभि०, ५।१८
—सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणो कृताऽस्मि याऽहमस्य
पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता ।
—अभि०, अंक ५, पृ० ९२

४. अभि०, ५।२४, पूर्वोल्लेख

इच्छा के अनुसार रूप और गुण वाले वर को चुनकर भी विवाह के लिए पिता की आज्ञा ले लेना चाहती हैं, जिससे कोई भूल न हो[1]।

शकुन्तला के पूर्व भी गांधर्व विवाह हुए थे ऐसा दुष्यन्त ने कहा अवश्य है—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः[2] ॥

परन्तु किसी अन्य का कहीं प्रसंग न मिलने के कारण सम्भव है कि दुष्यन्त ने उसको राजी करने के लिए ही अपने स्वार्थवश कह दिया हो।

यदि माता-पिता न स्वीकार करें तो सम्भवतः उनको अधिकार था कि वे किसी अन्य के साथ अपनी कन्या का विवाह करें। यह माता-पिता की इच्छा पर था कि स्वीकार करें और अनुमति दें अथवा नहीं[3]।

आसुर विवाह[4]

विस्तार से इसका संकेत कालिदास ने कहीं दिया ही नहीं है। एक स्थान

---

१. श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकांक्ष।—रघु०, ५।३८

२. अभि०, ३।२१

३. बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥—वसिष्ठ, १७-७३

यदि कन्या के इच्छानुसार लड़का उसके साथ सम्भोग करे (गान्धर्व विवाह) तो पिता को दण्ड-स्वरूप यदि वह जुर्माना चाहे तो देना होगा। मेधातिथि का कहना है यदि पिता न चाहे तो राजा को दण्ड-स्वरूप जुर्माना दे कि लड़की उसे दे दी जाय। यदि लड़की उसे (वर) न चाहे तो उसका विवाह अन्यत्र किया जा सकता है, यदि लड़का उसे स्वीकार न करे तब भी उसका विवाह अन्यत्र होगा, अथवा—

ऋतुदर्शन कालोत्तरं गांधर्वः। प्रागृतोः शुल्को दण्डो वा।
अथ कन्यायाः का प्रतिपत्तिः। तस्मा एव देया।
निवृत्ताभिलाषा चेत्काममन्यत्र प्रतिपाद्या। ....
वरश्चेन्निवृत्ताभिलाषो हठाद् ग्राहयितव्यः। ....

—मनु०, ८. ३६६. ३६७ (मेधातिथि की टीका)

४. नोट : इस प्रकार का विवाह दार्जिलिंग की ओर नेपाल में अब भी प्रचलित है। वहाँ वर कन्या को देखने आता है। यदि दोनों ने एक-दूसरे को पसन्द कर लिया तो वर कन्या के पिता को हर्जाना जतना माँ-बाप कहें देकर लड़की को भगा ले जाता है। यह शादी नहीं है अपितु लड़की को अपने साथ कुछ समय (एक साल, सात महीने....जैसा चाहे) रखने का हर्जाना

पर 'दुहितृ शुल्क संख्या'[1] से अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास के समय में इस प्रकार के विवाह का प्रचार रहा होगा। इस प्रकार के विवाह में वर कन्या के अभिभावक पिता आदि को उनके द्वारा माँगा हुआ धन देकर ही लड़की के साथ विवाह कर सकता है।

वधू-प्रस्थान--विवाह के पश्चात् वर श्वशुर के घर एक मास तक रहता था;[2] पर अपने इच्छानुसार चाहे तो जल्दी भी कर सकता होगा। अज इन्दुमती के घर कितना रहा, कहा नहीं जा सकता। हाँ, शिवजी अवश्य एक मास रहे थे।

मधुयामिनी (हनीमून) मनाने के लिए नवदम्पति सुन्दर प्राकृतिक प्रदेशों में जाते थे[3]। माता-पिता अपनी कन्या को इतना प्यार करते हैं कि क्षण भर के लिए भी उनको अपने से पृथक् रहना नहीं चाहते। यह सोचते ही कि आज कन्या चली जाएगी हृदय उदास तथा आँसुओं से कण्ठ रुद्ध हो जाता है। मुख से शब्द नहीं निकलते। स्वयं कण्व, जो वनवासी और त्यागी थे, उदास होकर कहते हैं कि जब मुझ वनवासी को इतनी व्यथा हो रही है तब उन गृहस्थों

है। इस बीच में दोनों साथ रहते हैं। लड़का अपने माँ-बाप से अलग रहता है। वह अपने जीविका-निर्वाह के बाद जो बचे, लड़की के माँ-बाप को हर महीने सारी जिन्दगी कुछ-न-कुछ भेजता रहता है। इसी बीच में वे दोनों निश्चय करते हैं कि हमको विवाह करना है कि नहीं। यदि लड़की गर्भवती भी हो जाय तब भी नहीं। ततपश्चात् दोनों एक दिन लड़की के माँ-बाप के पास जाकर कह देते हैं कि हमारा विवाह कर दो। यदि दोनों को विवाह अस्वीकार हो तब भी कोई बात नहीं, पर लड़की गर्भवती न हो। लड़का लड़की को माँ के घर छोड़ जावेगा। ऐसा चलता ही रहता है। वहाँ चाहे कभी यानी किसी स्त्री के पाँच, सात बच्चे भी हों तब भी कोई पुरुष चाहे तो उसके पति को जितना वह कहे, हर्जाना देकर उस स्त्री को ले जा सकता है और बच्चे बाप के साथ रहेंगे, माँ के साथ नहीं जाएँगे। यदि वर कन्या को देखने आवे और कन्या को मना कर दे कि मुझे पसन्द नहीं है और उसकी छोटी बहिन तैयार हो जाय तो वर माँ-बाप और बड़ी बहिन तीनों को हर्जाना देगा।

१. रघु०; ११।३८

२. एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः ।।—कुमार०, ८।२०

३. कुमार०, सर्ग ८, श्लोक २० के पश्चात्।

को कितना कष्ट होगा जो पहले-पहल अपनी कन्या को विदा करते होंगे[१]; परन्तु विवाह पश्चात् कन्या को अपने पास रखने से सर्वत्र निन्दा होती है। मनुष्य नाना प्रकार की बातें कहा करते हैं। अतः विवाह बाद पति पत्नी को चाहे अथवा नहीं, पर पत्नी का पति के घर में चाहे वह दासी के ही रूप में रहे, रहना उचित समझा जाता था[२]। माता-पिता लड़की को पराया धन ही समझते हैं। अतः पति के घर भेज कर ही उन्हें सच्ची शान्ति प्राप्त होती है[३]। अपनी कन्या के यौवन को पति के द्वारा भोगा जाता देखकर उन्हें सन्तोष होता है और जब वे देख लेते हैं कि मेरी कन्या का पति उसे प्यार करता है तब उनका जी हल्का हो जाता है[४]। अतः कन्या को जी से प्यार करने पर भी वे वर के द्वारा इच्छा प्रकट किए जाने पर कन्या को तत्काल विदा कर देते हैं[५]।

बिदा के समय वधू को वेशभूषा--प्रातःकाल बहुत जल्दी ही कन्या स्नान कर लेती थी[६]। उसके बाद उसकी सखियाँ उसका मंगल श्रृंगार करती थीं[७]। मांगलिक श्रृंगार के लिए गोरोचन, तीर्थमृत्तिका, दूर्वाकिसलय, केसर-

---

१. यास्यत्यद्य शकुंतलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कंठया,
कंठः स्तंभितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥—अभि०, ४।६

२. सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशंकते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥—अभि०, ५।१७
—तदेषा भवन्तः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥—अभि०, ५।२६

३. अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिगृहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥—अभि०, ४।२२

४. नीलकंठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत्।
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥—कुमार०, ८।१२

५. सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखखेदितम्।
तत्र-तत्र विजहार संपतन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता ॥—कुमार०, ८।२१

६. एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतिष्ठित
नीवारहस्ताभिः ....शकुन्तला तिष्ठति।—अभि०, अंक ४, पृ० ६५

७. हला सज्या भव यावते मंगलसमालम्भन विरचयावः।
इदमपि वहु मन्तव्यं दुर्लभमिदानीं मे सखीमडनं भविष्यतीति....
—अभि०, अंक ४, पृ० ६६

मालिका शुभ सामग्री थी[१]। चरणों में महावर[२] और शरीर के अंगों में आभूषण[३] शोभायमान रहते थे। वस्त्र में क्षौमयुगल[४] का प्रयोग होता था। इसके ऊपर उत्तरीय भी रहता था। इसी का अवगुंठन समयानुसार प्रयुक्त किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दे की प्रथा न रहने पर भी गुरुजनों के सम्मुख, पति के सम्मुख स्त्रियाँ मुख नहीं खोलती थीं[५]।

बिदा के समय की कुल-रीतियाँ—बिदा के समय घर के सभी गुरुजन कन्या को आशीर्वाद देते थे। आशीर्वाद में प्रायः पति के अखंड प्रेम को प्राप्त करो[६], 'अखंडितं प्रेम लभस्व' (कुमार० ७।२८), 'जाते भर्तुः बहुमानसूचकं महादेवी शब्दं लभस्व' (अभि०, अंक ४, पृ० ६५), तथा यदि वह गर्भवती होती तो 'वीरप्रसविनी भव'[७] आशीर्वाद दिया जाता था। चलने से पूर्व सद्याहुति से युक्त अग्नि की प्रदक्षिणा कन्या करती थी[८]। कन्या का मार्ग कल्याणकारी हो, ऐसी ही शुभकामना और आशीर्वाद दिया जाता था[९]।

कन्या को पहुँचाने उसके सम्बन्धी कुछ दूर तक जाते थे। इन्दुमती को पहुँचाने विदर्भराज गए थे[१०]। कण्व और शकुन्तला की सखियाँ भी शकुन्तला की बिदा के समय कुछ दूर तक पहुँचाने गई थीं। संभवतः जलाशय तक प्रियजनों को बिदा करने के लिए सम्बन्धी-गण जाया करते थे[११]।

---

१. अभि०, अंक ४, पृ० ६४ २. अभि०, ४।५ ३. अभि०, ४।५

४. इन्दुपांडुतरुणा क्षौमं—क्षौम सफेद का बिदा के समय प्रयोग।—अभि०, ४।५

५. अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुंठनम् ततस्त्वां भर्त्ताऽभिज्ञास्यति।
—अभि०, अंक ५, पृ० ८८

६. भर्तुर्बहुमता भव—अभि०, ४।७, अंक ४, पृ० ६५

७. अभि०, अंक ४, पृ० ६५

८. वत्से इतः सद्योहुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व।—अभि०, अंक ४, पृ० ६९

९. अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्॥
रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥
—अभि०, ४।१०, ११

१०. पूर्वोल्लेख

११. भगवनोदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते।
तदिदं सरस्तीरम् अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।—अभि०, अंक ४, पृ० ७३

अविवाहिता लड़कियाँ सब जगह और सब स्थानों पर नहीं जाती थीं, इसी कारण शकुन्तला के कहने पर कि ये यहीं से लौट जाएँगी कण्व ने कहा था कि हाँ इनका भो विवाह होना है[१]।

कन्या की बिदा हाथी पर की जाती थी[२] या पालकी में भी बिठा कर उसे भेज दिया था। यह पालकी चार मनुष्य उठाते थे[3]।

ऐसा प्रतीत होता है कि कन्या एक बार जाकर फिर पिता के घर नहीं लौटती थी। बिदा के समय जब शकुन्तला पिता से पूछती है कि अब इस आश्रम के दर्शन कब होंगे ? तो वे यही कहते हैं कि 'वानप्रस्थ में पुत्र के ऊपर राज्य भार छोड़ कर ही तुम इस आश्रम में आ पाओगी[४]।'

पिता का पुत्री को उपदेश—ममतामयी, वात्सल्य की गोद में पली तथा दुलारी पुत्री के भविष्य के विषय में पिता को अपार चिन्ता रहती थी। कन्या को पति के हाथ में अर्पित करते हुए उसके हृदय में एक ही अभिलाषा रहती थी कि वह अन्य पत्नियों की तरह इसका भी आदर करे। पति के प्रेम को प्राप्त करना ही पुत्री का सौभाग्य समझा जाता था, अतः जिस प्रकार वह स्नेह को प्राप्त करने में समर्थ हो, ऐसी ही कन्या की शिक्षा-दीक्षा रहती थो। बिदा के समय पिता पुत्री को उपदेश देता था कि पति के घर पहुँच कर समस्त गुरुजनों का आदर करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, अपनी-जैसी पति की अन्य स्त्रियों को बहन के समान समझना। अपने ऊपर अभिमान कर सेवकों के प्रति अनुदार न होना। पति के तिरस्कार करने पर भी, उनकी विमुखता में भी प्रतिकूल आचरण मत करना, अपनी पुत्री को सच्ची सुगृहिणी वनाना ही माता-पिता के उपदेश का सार था[५]।

---

१. वत्स इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्।—अभि०, अंक ४, पृ० ७-५

२. इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।—कुमार०, ५।७०

३. मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मंचान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेशा॥—रघु०, ६।१०

४. भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं, शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥
—अभि०, ४।२०

५. शुश्रूस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥—अभि०, ४।१८

कन्या की बिदा के समय उपहार और आशीर्वाद (दहेज)— अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन, सुवर्ण, रत्न, आभूषण, वस्त्र देना उस समय भी प्रचलित था। विदर्भराज अपनी बहन इन्दुमती के विवाह के पश्चात् अज को अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन देकर विदा करता है[1]। स्वयंवर में आए राजा भी भेंट देते थे[2]। कुमारसम्भव में भी विवाह से पूर्व सुन्दर रत्न और सुवर्णाभूषणों से पार्वती सजाई जाती हैं[3]। पार्वती को परिवार की सभी स्त्रियाँ गहने और आशीर्वाद देती हैं[4]। शकुन्तला की बिदा के समय भी—

> क्षौमं केनचिदिन्दुपांडुतरुणा मांगल्यमाविष्कृतं,
> निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
> अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
> र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥[5]

आशीर्वाद—प्रति के प्रेम को प्राप्त करना स्त्री का सौभाग्य था। इसी का आशीर्वाद सर्वत्र है।

(१) अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः .... ।[6]
(२) भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवी शब्दं लभस्व ।[7]
(३) वत्से भर्त्तुर्बहुमता भव ।[8]

---

१. भर्त्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः।
सत्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥—रघु०, ७।३२
२. वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन ।—रघु०, ७।३०
३. सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहंगैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥—कुमार०, ७।२१
४. अंकाद्ययावंकमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुंक्त।
सम्बन्धभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥—कुमार०, ७।५
५. अभि०, ४।५
६. कुमार०, ७।२८
७. अभि०, अंक ४, पृष्ठ ६५
८. अभि०, ४।७

छठा अध्याय

गृहस्थ जीवन

दाम्पत्य जीवन—दाम्पत्य जीवन का सुख पति-पत्नी के प्रेम पर आश्रित था। दाम्पत्य प्रेम का आदर्श रूप 'चकवा चकवी' था। कवि 'रथांगनाम्नोरिव भावबन्धनम्' कह कर अपने हृदय का उद्‌गार व्यक्त कर देता है[1]। पति-पत्नी का अत्यन्त अधिक घुल-मिल जाना, एक-दूसरे की बड़ाई करते भी सन्तुष्ट न होना, क्षण भर के लिए भी पृथक् होने पर एक-दूसरे के लिए तड़पना गूढ़ प्रेम का रहस्य था[2]। इस दाम्पत्य सुख में सन्तति-प्रेम अटूट शृंखला बन जाती थी। दोनों का पारस्परिक प्रेम यद्यपि सन्तान पर बँट जाता था; परन्तु इससे प्रेम में गहराई आती थी[3]।

वास्तविक जगत् में इन आदर्शों का लोप हो चला था। जीवन में पर्याप्त विच्छृंखलता आ चुकी थी और पातिव्रत तथा पत्नीव्रत निभाना कठिन हो चला था। कवि ने अनेक प्रसंगों में इसकी पुष्टि की है। पुरुष अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए विवाह-पर-विवाह करते जाते थे। दुष्यन्त, पुरूरवा, अग्निमि॰ आदि सब इसके प्रमाण हैं। रघुवंशी अग्निवर्ण की कामवासना-तृप्ति और कामुकता का कवि ने नग्न चित्र उपस्थित किया है। इसके व्यभिचार में स्त्रियों का भी बहुत उत्तरदायित्व था; दूती, दासियाँ सभी यथावसर अपनी प्यास की शान्ति अग्निवर्ण से कर लेती थी[4]।

---

१. रथांगनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत्॥—रघु॰, ३।२४

२. भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यभावक्षणवियोगकातरम्।
कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तयोः प्रेमगूढमितरेतराश्रयम्॥—कुमार॰, ८।१५

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं॰ १ रथांग........

४. रघुवंश, सर्ग १९ सम्पूर्ण। विशेषकर—
क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः।
अन्वभूत्परिजनांगनारतं सोऽवरोधमयवेपथूत्तरम्॥—रघु॰, १९।२३

परन्तु प्रायः स्त्रियाँ पातिव्रत निभाती थीं। पुरुषों को विवाह-पर-विवाह करते देखकर कुढ़ती, खीझती और उपालम्भ देती थीं[१]। अवश्य ही वे मन-ही-मन दुःखी रहती थीं; परन्तु पति के सुख के लिए दूसरी स्त्री से विवाह करने की अनुमति भी दे दिया करती थीं। पुरूरवा की रानी, काशी-नरेश की पुत्री तथा धारिणी के चरित्र (माल०) इसके अकाट्य प्रमाण हैं।

पुरुष अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य ललनाओं से भी सम्पर्क रखते थे। इस प्रकार की स्त्रियों और भावनाओं के लिए कवि ने पारिभाषिक शब्दों का अनेक स्थानों पर व्यवहार किया है। अवश्य ही यह शब्द और यह खोखली संस्कृति कवि के समय प्रचलित होगी। यदि किसी स्त्री से केवल एक वार संसर्ग किया रहता था तो उसे 'सकृत्कृतप्रणय'[२] शब्द से व्यक्त किया जाता था। 'क्षणकलत्र'[३] शब्द भी कुछ ऐसे ही प्रसंगों के लिए प्रचलित था। वृद्धों के हृदय भी तरुणों के समान शृंगार-चेष्टा करने से विमुख नहीं हुआ करते थे[४]। सुन्दर स्त्री को अपनी ओर आकर्षिक करने के लिए वे भी एँड़ी से चोटी तक का जोर लगाया करते थे। इस प्रकार की शृंगार-चेष्टा को 'प्रणयाग्रदूती' समझा जाता था[५]। एक ही समय कई स्त्रियों से प्रेम करना और उसे निवाह ले जाना कुशल नागरिक का काम समझा जाता था। नागरिक वृत्ति[६] और दाक्षिण्य[७] इसी अर्थ में रूढ़ थे। दो स्त्रियों से एक साथ प्रेम करने वाला और दोनों को ही प्रसन्न रखने

---

१. अभि०, माल०, विक्रम० तीनों नाटकों में इसके दृष्टान्त हैं।

२. सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः—अभि०, अंक ५, पृष्ठ ८०

३. तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत्।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥—रघु०, ११।३३

४. कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलांछनेन।
रत्नांगुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥—रघु०, ६।१८
—रघु० ६।१२–१९ तक सभी शृंगार चेष्टाओं के प्रमाण हैं।

५. तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगारचेष्टा विविधा वभूवुः ॥—रघु०, ६।१२

६. अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥—अभि०, ५।१
—गच्छ नागरिकवृत्या संज्ञापयैनाम्—अभि०, अंक ५, पृ० ८०

७. अयि मुग्धे अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरिकाभार्यायामधिकं दक्षिणा भवन्ति।
नार्हति भवानन्तःपुरस्थितं दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम् ॥
—विक्रम०, अंक ३, पृ० २९४

वाले चतुर पुरुष की उपमा कवि ने दक्षिण पवन से देकर दाक्षिण्य शब्द को भली भाँति समझा दिया है। 'इस वायु का दक्षिण कहलाना ही ठीक है; क्योंकि माधवी लता को सींचता हुआ और कुन्द लता को नचाता हुआ यह पवन ऐसा प्रतीत होता है मानों सबसे प्रेम करने वाला और सबको प्रसन्न करता हुआ कोई कामी हो[१]।' यदि किसी विवाहित पुरुष की किसी अन्य स्त्री में आसक्ति उत्पन्न हो जाती थी, तो वह नई प्रेयसी से प्रायः ऐसा कहा करता था, 'मैं तो केवल कहने के लिए उसका पति हूँ, मेरा यथार्थ प्रेम तो तुमसे है[२]।' कालिदास ने खंडिता नायिकाओं की चर्चा की है[३], जो एक ओर पुरुषों की धृष्टता और कामुकता प्रदर्शित करती है और दूसरी ओर स्त्रियाँ पुरुषों के इन कार्यों को अच्छी तरह जानती थीं, इसका भी परिचय दिया है। दूसरी स्त्री के पास से तत्काल आए हुए पति को 'आर्द्रापराधो'[४] और ऐसे अपराध को 'आर्द्रापराध'[५] की संज्ञा दी गई है। यदि किसी पुरुष की किसी कुमारी या स्त्री के साथ अफवाह उड़ जाती थी तो इसे कौलीन[६] कहा जाता था। स्त्रियाँ अवश्य ही पुरुषों की बनावटी बातों को पहचानती थीं[७]। इस प्रकार की बनावटी और फुसलाने वाली बातें 'उपचार' कहलाती थीं[८]।

---

१. निषिंचन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात्कामीव प्रतिभाति मे॥—विक्रम०, २।४

२. ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि में भावनिबन्धना रतिः।—रघु०, ८।५२

३. प्रातरेत्यपरिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखंडनव्यथाः।
प्राञ्जलि प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमंथरः पुनः॥—रघु०, १९।२१

—भूयश्चाह त्वमपि शयने कंठलग्ना पुरा मे।
निद्रां गत्वा किमपि रुदति सस्वनं विप्रबुद्धा॥
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे।
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति॥—उत्तरमेघ, ५४

४.५. नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा हन्तुमर्हत्यनेन।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणमितशिरसं वा कांतमार्द्रापराधम्॥
—माल०, अंक ३, १२

६. अथ मालविकागतं कौलीनं कीदृशं श्रूयते।—माल०, अंक ३, पृ० २९१

७. निसर्गनिपुणाः स्त्रियः। कथमन्यसंक्रान्तहृदयमुपलालयन्तमपि ते सखी न मां लक्षयिष्यति।—माल०, अंक ३, पृ० २९४

८. उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेवतो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः॥
—माल०, अंक ३, पृष्ठ २९४

उपरोक्त वर्णित शब्दावली तथा अभिसारिका, नर्तकी, अप्सरा आदि की ग्रन्थों में भरमार, इस बात की साक्षी है कि गार्हस्थ्य जीवन भीतर से खोखला हो रहा था; परन्तु आदर्श अभी भी परम्परागत वही पुराना था। दूसरे की स्त्री की ओर दृष्टिपात न करना, उसके विषय में न सोचना उच्च चरित्र के प्रतीक थे[१]। दूसरे की स्त्री का स्पर्श पाप समझा जाता था, (परस्त्रीस्पर्शपांसुल: --अभि०, ५।२९)। ऐसा जान पड़ता है कि दाम्पत्य जीवन का मुख्य उद्देश्य काम-सुख ही था। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्'[२] सन्तान की कामना से स्त्री-सम्भोग की चर्चा थी अवश्य, पर सम्पूर्ण मेघदूत, अजविलाप, रतिविलाप, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र आदि में स्त्री-पुरुष के काम संसार के अतिरिक्त गृहस्थ के किसी उच्च उद्देश्य की व्यंजना नहीं है। एक-दूसरे के अभाव को याद करना, सम्पर्कजन्य सुख को याद कर रोना आदि कामक्रीड़ा सुख हो है। अवश्य ही हृदय की उदारता और प्रेम को प्रगाढ़ता के दर्शन होते हैं; पर काम-सुख से ऊपर उठकर व्यापक जीवन को सामने रखकर कोई पात्र कुछ कहता हुआ कभी नहीं दिखाई पड़ता। कालिदास के ग्रन्थों में दाम्पत्यजीवन का विलासमय पक्ष धार्मिक एवं सामाजिक पक्ष से कहीं प्रबल और व्यापक है। तत्कालीन भारतीय संस्कृति धर्म की अपेक्षा कला और सौन्दर्य में मत्त हो रही थी। कला और सौन्दर्य दोनों का अधिष्ठान युवती नारी थी। दुष्यन्त के 'तापसवृद्धे'[३] में वृद्धा की उपेक्षा की पर्याप्त व्यंजना है। जहाँ गृहिणी कामपूर्ति में असफल रहती थी, वहाँ नर्तकी, अप्सरा आदि से नर तृप्ति कर लिया करता था।

पत्नी का कर्तव्य और उत्तरदायित्व—पत्नी का प्रमुख क्षेत्र गृह था। अतः गुरुजनों की सेवा करना, गृहस्थी के कामों में संलग्न रहना और सन्तान की उत्पत्ति करना उसका मुख्य कर्तव्य था[४]। पति ही उसका देवता, अधिष्ठाता तथा

—हृदये वसतीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनंगः कथमक्षता रतिः॥—कुमार०, ४।९

१. मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः।—रघु०, १६।८; वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेष-पराङ्मुखी वृत्तिः।—अभि०, ५।२८; अनिवर्णनीयं परकलत्रम्।
—अभि०, अंक ५, पृष्ठ ८५

२. यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।—रघु०, १।७

३. तापसवृद्धे।--अभि०, अंक ५, पृष्ठ ९१

४. शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामा कुलस्याधयः॥—अभि०, ४।१८

सर्वस्व था। उसकी सन्तुष्टि के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करना उसका ध्येय था[१]। वे सौत लाने के लिए भी तैयार हो जाती थीं। पत्नी का पति के सम्मुख अति उच्च स्थान था। गृहिणी पद पर शोभित सभी बातों का उत्तरदायित्व उस पर था। उस उत्तरदायित्व में वह अपने पिता एवं अन्य सम्बन्धियों के बिछुड़ने का दुःख भूल जाया करती थी[२]। पति के लिए पत्नी न केवल गृहिणी ही थी, अपितु सचिव भी थी, एकान्त-सखी थी, ललितकलाओं में शिष्या थी[3]। पत्नी सच्ची सहधर्मचारिणी थी। धार्मिक-क्रियाएँ बिना पत्नी के सम्पन्न नहीं हो सकती थीं[४]। पति पत्नी से गृहस्थी के कार्यों में सलाह लिया करते थे। कन्या का सम्बन्ध कहीं स्थिर करते समय पत्नी की सम्मति का बहुत ध्यान रखा जाता था[५]। स्त्रियाँ पति की इच्छा से बाहर कभी कार्य नहीं किया करती थीं[६]।

अतिथि का स्वागत करना प्रधान-कर्तव्य था। कण्व की अनुपस्थिति में अतिथि-सत्कार का सम्पूर्ण भार शकुन्तला पर आ पड़ा था[७]। पार्वती भी शिवजी के ब्रह्मचारी के वेश में आने पर उनका उचित सत्कार करने से पीछे नहीं हटतीं[८]। गृहस्थ होने का सच्चा फल अतिथि को प्रसन्न करना था[९]।

---

१. अद्य प्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य
समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्त्तितव्यम्।
—विक्रम०, अंक ३, पृष्ठ २०५
—अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निवृत्तशरीरं कर्तुमिच्छामि।
—विक्रम०, अंक ३, पृष्ठ २०६

२. अभिजनवतो भर्त्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणी पदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं मम
विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि॥— अभि०, ४।१९

३ गृहिणीसचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु०, ८।६७

४. क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्नयो मूलकारणम्।—कुमार०, ६।१३

५. प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।—कुमार०, ६।८५

६. भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः।—कुमार०, ६।८६

७. इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय
नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।—अभि०, अंक १, पृ० ९

८. तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः॥
—कुमार०, ५।३१

९. एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया॥—कुमार०, ६।८८

स्त्री पति की सम्पत्ति थी, अतः पति को अपनी पत्नी के सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार के अधिकार प्राप्त थे[१]। स्त्रियों के लिए भी अच्छा यही समझा जाता था कि विवाह होने के पश्चात् पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उसके पास दासीवृत्ति में रहे। पिता के घर रहने से कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था[२]।

बाह्यक्षेत्र—गृह के बाहर भी पत्नी पति का साथ दिया करती थी। पति के आमोद-प्रमोद में, उद्यान-क्रीड़ा, जल-विहार, उत्सवादि देखने में वे पति की सहयोगिनी थीं[3]। साधारण घरों की स्त्रियाँ खेत,[४] उद्यानादि में भी काम किया करती थीं। पुष्पलावी[५] शब्द उद्यान में काम करने वाली स्त्रियों अर्थात् मालिनों के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। उद्यान-पालिका शब्द का भी यही आशय है[६]।

राजा के अन्तःपुर में स्त्री परिचारिकाएँ, यवनी आदि का उल्लेख है। इसके

---

१. उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।—अभि०, ६।२६

२. अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।—अभि०,५।१७
—अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।
—अभि०, ५।२७

३. रघु०, १६।६८,६९,७०, जलक्रीड़ा।
इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्। तत्प्रमदवनमेव गच्छावः।—माल०, अंक ३, पृ० २९३, उद्यानक्रीड़ा।
जयतु जयतु भर्ता। देवो विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसहदर्शनेन ममारम्भः सफलः क्रियतामिति।—माल०, अंक ५, पृ० ३४२, उत्सव

४. त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः॥
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं।
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥—पूर्वमेघ, १६
—इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्धातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥—रघु०, ४।२०

५. गंडस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां,
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्।—पूर्वमेघ, २८

६. ततः प्रविशत्युद्यानपालिका—माल०, अंक ३, पृ० २९०
—अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करणी........—अभि०, अंक ६, पृ० १०२

अतिरिक्त बन्दीगृह की अध्यक्षा भी स्त्रियाँ हुआ करती थीं। मालविकाग्निमित्र की माधविका के ऊपर बन्दिनी मालविका का भार था[१]।

विरह की अवस्था में पत्नी—स्त्रियों का सौन्दर्य और श्रृंगार पति के लिए ही सार्थक था[२]। पति के सम्मुख रेशमी वस्त्र और विभिन्न आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत कर, अंगराग और सुगंधित द्रव्यों से सुवासित, मदिरा-पान से कुछ उन्मत्त हो, वे जाया करती थीं। वीणा पर गीत बजा कर पति का मनोरंजन किया करती थीं[3]। प्रत्येक ऋतु में वे पुष्प आदि से श्रृंगार कर पति के हृदय को आकर्षित किया करती थीं[४]। पति के अनन्य प्रेम को प्राप्त करना ही उनका परम उद्देश्य था। अतः 'स्वामी का अनन्य प्रेम प्राप्त करो[५]' ऐसा आशीर्वाद सौभाग्यवती स्त्रियों को दिया जाता था।

परन्तु वियोगावस्था में प्रत्येक प्रकार का श्रृंगार पत्नी छोड़ दिया करती थो। पति ही सौन्दर्य और यौवन का भोक्ता था, अतः उसके प्रवासी हो जाने पर श्रृंगार की चाहना हृदय से स्वतः निकल जाती थी। अपने वेश-विन्यास

---

१. यत्सारभांड गृहव्यापारिता माधविका देव्या संदिष्टा—माल०, अंक ४, पृ० ३१६

२. निनिन्दरूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।—कुमार०, ५।१
——स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः।—कुमार०, ७।२२

३. सुवासित हर्म्यतलं प्रियामुखोच्छ्वासविकंपितं मधु,
सुतंत्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः।—ऋतु०, १।३
——नितम्बविम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्॥
—ऋतु०, १।४
——सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमंडलार्पणैः।
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः॥—ऋतु०,१।८

४ शिरोरुहैः श्रोणितटावलंबिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगंधिभिः।
स्तनैः सहारैर्वदनैःससीधुभिः स्त्रियो रतिं संजनयन्ति कामिनाम्॥
—ऋतु०, २।१८
——मालाः कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिताः शिरसि बिभ्रति योषियोऽद्य।
कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममंजरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकाँश्च॥
—ऋतु०, २।२१

नोट : सम्पूर्ण ऋतुसंहार में संयोग-पक्ष है, स्थानाभाव के कारण एक-दो उदाहरण ही दिए गए हैं।

५. भर्त्तु र्बहुमता भव—अभि०, अंक, पृ० ६५; अखंडितं प्रेम लभस्व पत्युः।
—कुमार०, ७।२८

आदि की ओर से विरक्त होकर वे अतीत की याद करतीं, पति के गुणों का गान करतीं और उनकी याद में जैसे-तैसे दिन काटा करती थीं।

पति के विरह में क्षोण पत्नी पाले से मारी हुई कमलिनी[१] के समान हो जाती थी। विछोह में रोते-रोते उसकी आँखें सूज जाती थीं। गर्म श्वासों से ओठों का रंग फीका पड़ जाता था। चिन्ता के कारण गालों पर हाथ रखे वैठी रहती थी। बाल उसके मुख पर आ-आकर उसको ढक दिया करते थे। मेघ से घिरे चन्द्रमा के समान धुँधला और उदास उसका मुख विरहजन्य दुःख को व्यक्त किया करता था[२]। रात-दिन पत्नी भगवान् से पति की मंगलकामना के लिए प्रार्थना किया करती थी, बलि चढ़ाती, दिल बहलाने के लिए कभी पति के, विशेषकर विरही रूप का चित्र बनाती, कभी पिंजड़े में बैठी सारिका से बात करती[3], और कभी मलिनवस्त्रा, गोद में वीणा लेकर पति के यश भरे गीतों को गाया करती थो। पति की याद में अनायास ही प्रवाहित हुए आँसुओं से वीणा भींग जाया करती थी और याद में बेसुध स्वयं वह स्वरों के आरोह-अवरोह को भूल जाती थी[४]।

देहलो पर नित्य फूल रखकर कभी-कभी ढेरीं गिनकर जानने का प्रयत्न किया करती थी कि कितने दिन व्यतीत हो गए और प्रिय से मिलने के कितने दिन और शेष रह गए[५]।

---

१. शिशिरमथितां पद्मिनीं—उत्तरमेघ, २३

२. नूनं तस्याः प्रवलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥—उत्तरमेघ, २४

३. आलोके ते निपतति पुरा सा वलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥—उत्तरमेघ, २५

४. उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तंत्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥—उत्तरमेघ, २६

५. शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।—उत्तरमेघ, २७

दिन तो किसी तरह उनका व्यतीत हो जाता था परन्तु रात्रि बड़े कष्ट से बीता करती थी। वही रात्रि जो जी भर कर संभोग कर वह क्षण भर के समान बिता देती थी, विछोह की चिन्ता में क्षीण सूने पलंग पर एक करवट लेटी गरम-गरम आँसुओं में बिताया करती थी[१]। धरती पर लेटी उनींदी अवस्था में प्रयत्न करती थी कि किसी प्रकार निद्रा आ जाय[२]। अतीत के दिनों की याद करती हुई वह काल्पनिक संभोग के आनन्द का मन-ही-मन रस लिया करती थी[3]। वह निद्रा का आदाहन ही इसलिए किया करती थी कि किसी प्रकार स्वप्न में ही प्रिय से संभोग हो, परन्तु अनवरत रोते रहने से उसको निद्रा भी प्राप्त नहीं होती थी[४]।

विरहिणी आभूषण पहनना बिलकुल छोड़ देती थी[५]। मोतियों की करधनी आदि सब पहनना छोड़ देती थी (मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या—उत्तरमेघ, ३८)। अंजन न लगने से उनकी आँखें रूखी हो जाती थीं, मदिरापान न करने से भ्रूविलास संकुचित हो जाता था[६]। जिस दिन पति विदेश जाता था, उस दिन जो वेणी बाँधी जाती थी, वह प्रिय के आगमन पर ही खुलती थी। स्वयं प्रिय ही उसे खोला करता था। उसमें फूल नहीं गुँथे रहते थे और वहुत दिनों तक बँधे रहने के कारण वह वेणी कठिन शुष्क और विषम हो जाती थी। इस उलझी और बिखरी वेणी को वह अपने बढ़े हुए नखों वाले हाथों से (विरहा-

---

१. आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलमात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥—उत्तरमेघ, ३१

२. मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः।—उत्तरमेघ, २८

३. मत्संगं वा हृदयनिहितारंभमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः।—उत्तरमेघ, २७

४. मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकांक्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्।—उत्तरमेघ, ३३

५. सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्यौत्संगे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम्।—उत्तरमेघ, ३५

६. रुद्धापांगप्रसरमलकैरंजनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।—उत्तरमेघ, ३७

वस्था में नख नहीं काटे जाते थे) अपने मुख से बार-बार हटाती थी[१]। वेणी एक ही की जाती थो। ऐसा आभास होता है कि वह पीठ की ओर न होकर एक कनपटी की ओर ही गूँथी जाती थी। कवि ने वेणी के बार-बार कपोल पर आने का संकेत किया है[२]। परुष अलकें केश में तेल न पड़ने के कारण मुख पर विखरी रहती थीं। शुद्ध स्नान का आशय ही विना तेलादि लगाए कोरे जल से स्नान करना है[३]। रूखी अलकें पीले कपोल पर फैली रहती थीं और पुष्पों से शून्य होती थीं, इसका संकेत रघुवंश में भी है[४]।

विरहावस्था में पूर्वाभ्यास के कारण शीतलदायिनी वस्तुओं, यथा जालमार्ग से प्रविष्ट होती चन्द्रमा की किरणों से विरहिणी अपने तप्त शरीर को शान्त करना चाहती थी, पर विरह के कारण वे ही अत्यन्त दुःखी करने वाली हैं, ऐसा देखकर आँसुओं से भरी आँखें बन्द कर लेती थी। कवि इस प्रकार की सती की तुलना उस स्थलकमलिनी से देता है जो न खिली ही है और न बन्द ही[५]।

रूपसादृश्य से ही किसी प्रकार मन बहलाया जाता था। यद्यपि पत्नी के पक्ष में इसका प्रमाण नहीं मिलता; परन्तु मेघदूत में पत्नी का रूपसादृश्य देखकर भी प्रकृति के सौन्दर्य से यक्ष की शान्ति नहीं होती। उसे पत्नी के सौन्दर्य के सम्मुख उसके सादृश्य की सभी वस्तुएँ फीकी लगती हैं[६]। इसी प्रकार अज भी इन्दुमती

---

१. आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयां।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्ती
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण॥—उत्तरमेघ, ३४

२. भूयो भूयः कठिनविषमां सादयन्ती कपोला-
दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण।—उत्तरमेघ, ३०
—स्पर्शक्लिष्टा................—उत्तरमेघ, ३४

३. निश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागंडलम्बम्।—उत्तरमेघ, ३३

४. शच्याश्चिरं पांडुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार।—रघु०, ६।२३

५. पादानिन्दोरमृतशिशिरां जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्॥—उत्तरमेघ, ३२

६. श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।

के वियोग में विलाप करते हुए कहता है कि तुम्हारी मीठी बोली कोयलों ने ले ली, मदालस गति कलहंसिनियों ने ले ली, तुम्हारी चंचल चितवन हरिणों को मिल गई, तुम्हारी चंचलता वायु से हिलती लताओं में पहुँच गई। यद्यपि मन बहलाने के लिए तुमने ये गुण यहीं छोड़ दिए, पर मेरे हृदय को किसी प्रकार भी संतोष नहीं मिल रहा है[1]।

संक्षेप में प्रोषितभर्तृका क्रीड़ा, शरीरसंस्कार, समाजोत्सवदर्शन, हास्य, दूसरे के घर गमन आदि छोड़ देती थीं[2]। यही उनका आदर्श था। विरहिणी शकुन्तला का चित्र खींचकर कवि ने विरहिणी स्त्री की मनोदशा और मनोभावों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। मलिन वस्त्र, व्रतादि के कारण शुष्क मुख और एक वेणी विरहिणी का स्वरूप अंकित कर देते हैं[3]।

विरहपीड़िता का सौन्दर्य चित्र शकुन्तला में मिलता है। पति के वियोग में गालों का मुरझा जाना, मुँह का सूख जाना, स्तनों की कठोरता का विलोप हो जाना, देह का पीला पड़ जाना, कन्धों का झुक जाना, उसके विरहजन्य असह्य दुःख के बोधक हैं[4]। इष्टप्रवासजनित अबला-जनों का दुःख निस्सन्देह दुःसह्य ही है;[5] परन्तु इस आशा से कि मिलन कभी होगा, वे दुःख सहने में समर्थ हो पाती हैं[6]।

विरहदग्ध स्त्री के उपचार के लिए उशीर का अनुलेप, मृणाल और नलिनी

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चंडि सादृश्यमस्ति ॥--उत्तरमेघ, ४६

१. कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनोद्धूतलतासु विभ्रमाः ॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥--रघु०, ८।५९, ६०

२. क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥--मल्लिनाथ टीका, रघु०, ६।२३

३. वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अनिष्करुणस्य शुद्धशीला ममदीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥--अभि०, ७।२१

४. क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पांडुरा,
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ।--अभि०, ३।८

५. इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥
--अभि०, ४।३

६. गुर्वपि विरहदुःखमाशाबंधः साहयति ।--अभि०, ४।१६

पत्र का प्रयोग किया जाता था[१]। यद्यपि अधिक उद्विग्न होने पर इससे कोई लाभ नहीं होता था।

गर्भिणी पत्नी—गर्भावस्था में पत्नी पीली पड़ जाती थी। क्षीणता एवं दुर्वलता के कारण यह गहनों का भार सह सकने में असमर्थ हो जाती थी[२]। मुख लोध्र के फूल की तरह पीला पड़ जाता था[३]। उसकी उपमा कवि रात से देते हैं, जिसमें पौ फटते समय कुछ तारे अवशिष्ट रह गए हों और चन्द्रमा की शोभा फीकी पड़ गई हो[४]। यद्यपि मुख सरपत के समान पीला पड़ जाता था; परन्तु नेत्रों में चमक आ जाती थी[५]। आँखों का अलसाया रहना, लवलीदल के समान मुख की पाण्डुता और पयोधर का अग्रभाग पहले से अधिक श्याम पड़ जाना, पति को इङ्गित कर देता था कि पत्नी गर्भवती है[६]। पति पत्नी का आदर करता था कि इस समय दोहद की पूर्ति के लिए विशेष प्रयत्नशील रहा करता था[७]।

बहुधा गर्भावस्था में स्त्रियाँ मिट्टी खाने लगती हैं, अतः मिट्टी खाने से पत्नी का सोंधा मुख पति के लिए विशेष आह्लादकारी हो जाता था[८]। गर्भ के प्रारंभिक कष्ट-दिवसों के व्यतीत हो जाने पर पत्नी का सौन्दर्य पूर्ववत् हो जाता था; जैसे वसन्त ऋतु में पुराने पत्तों को गिराकर लताएँ नवीन सुशोभित होती हैं[९]। गर्भ के बढ़ने पर उठने-बैठने में कठिनाई का इतना अधिक होना

---

१. कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते।
—अभि०, अंक ३, पृ० ४१

२. शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपांडुना।
तनुप्रकाशेन विधेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥—रघु०, ३।२

३.४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २

५. अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपांडुरेण।—रघु०, १४।२६

६. आविलपयोधराग्रं लवलीदलपांडुराननच्छायम्।—विक्रम०, ५।८
—तामङ्कमारोप्य कृशांगयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।—रघु०,१४।२७
—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।—रघु०, ३।८

७. अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपांडुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यंजितदोहदेन ॥—रघु०, १४।१६
—उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।—रघु० ३।६

८. तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।—रघु०, ३।३

९. क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा ॥—रघु०, ३।७

कि पति के स्वागत के लिए हाथ जोड़ने में आँसू का निकलना पति को अति प्रसन्नता प्रदान किया करता[1]। पति पत्नी के सुख का इतना ध्यान रखता था कि वह चतुर चिकित्सकों से किस प्रकार सरलता से प्रसव हो, उपाय करवाता रहता था[2]।

विधवाओं की अवस्था—कालिदास ने विधवाओं की अवस्था पर भरपूर प्रकाश नहीं डाला; परन्तु नववैधव्यदुःख[3] कितना असह्य होता है, इस उक्ति से उनकी दयनीय अवस्था व्यक्त होती है। मांगलिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अशुभ समझी जाती थी। अतः विवाहादि अवसरों पर श्रृंगारादि सधवा स्त्रियाँ ही किया करती थीं[4]। शत्रु-पक्ष की विधवाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। सैनिक उनको लूट ले जाते और दूषित कर देते थे।

परन्तु फिर भी सतीप्रथा का अधिक प्रचार न रहने के कारण कवि ने अनेक स्थानों पर विधवाओं का उल्लेख किया है। मालविकाग्निमित्र की परिव्राजिका, अभिज्ञानशाकुन्तल में व्यापारी धनमित्र की स्त्री, अग्निवर्ण की मृत्यु के पश्चात् उसकी गर्भवती रानी का गद्दी पर बैठना, विधवाओं के प्रमाण हैं। पति की मृत्यु होने पर यदि गर्भ है तो गर्भस्थ शिशु ही पिता के धन, सम्पत्ति और राज्य उत्तराधिकारी हुआ करता था[5]।

सती-प्रथा—निस्संदेह सौभाग्यवती स्त्रियों का सम्मान विधवाओं की तुलना में बहुत अधिक था। यदि पत्नी के जीवित रहते हुए पति का देहान्त

नोट : दोहद—गर्भ को दोहद कहते हैं। मल्लिनाथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं 'स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी'। तत्सम्बन्धित्वाद्गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते।—टीका रघु०, ३।१

१. सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचारांजलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः॥—रघु०, ३।११

२. कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव॥-रघु०, ३।१२

३. अथ मोहपरायणासती त्रिवशा कामवधूर्विबोधिता।
विधिना प्रतिपादयिष्या नववैधव्यमसह्यवेदनम्॥—कुमार०, ४।१
—पुनर्नवीकृतवैधव्यदुःखया........—माल०, अंक ५, पृ० ३५०

४. तस्याः शरीरे प्रतिकर्मचक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः॥—कुमार०, ७।६

५. तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम्॥—रघु०, १९।५५
—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति।—अभि०, अंक ६, पृ० १२१

हो जाता था, तो पत्नी आभूषणों आदि से अलंकृत कर चिता पर रख दी जाती थी;[1] परन्तु विधवाओं के प्रसंग और उनकी दयनीय अवस्था से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सतीप्रथा का बहुत प्रचार नहीं था; परन्तु आदर्श वही परम्परागत पुराना था। प्रशंसनीय यही मार्ग था। अतः रति कामदेव की मृत्यु के उपरान्त उसके साथ सती हो जाने की कामना करती हुई, वसन्त से अपने लिए चिता चुनने का अनुरोध करती है[2]। कवि ने इस मार्ग को स्त्रियों के लिए इतना स्वाभाविक कहा है कि, न केवल चेतन अपितु जड़ पदार्थों में भी यही भावना दिखाई देती है। शशि के साथ चाँदनी, मेघ के साथ विजली इसी के प्रमाण हैं[3]।

परदे की प्रथा—कालिदास के समय में परदे का आशय विनयशीलता और उच्च संस्कृति का प्रतीत था। शकुन्तला अपने गुरुजनों के सम्मुख दुष्यन्त के साथ जाने में लज्जा का बोध कर रही थी[4]। दुष्यन्त के सम्मुख राजदरबार में उसका मुख अवगुंठन से ढका था अतः राजा को कौतूहल हुआ था कि यह अवगुंठनवती कौन नारी है[5]। इसी लज्जा को सम्बोधित करते हुए गौतमी ने उससे कहा था कि क्षण-मात्र के लिए अपनी लज्जा त्याग दे; आ, मैं तेरा अवगुंठन खोल देती हूँ, जिससे तेरा स्वामी तुझे पहचान ले[6]।

अर्थात् स्त्रियों के लिए स्वेच्छाचार अच्छा नहीं समझा जाता था; परन्तु कहीं भी आने-जाने की उनके लिए रोक-टोक नहीं थी। वे बन्धु-बान्धवों के

---

१. अथ तस्य कथंचिदंकतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमंडनामनलायागुरुचन्दनैधसेः ॥—रघु०, ८।७१

२. अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥
कुसुमास्तरणे सहायतां वहुशः सौम्य गतस्त्वमावयोः।
कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रणिपातांजलियाचितश्चिताम् ॥—कुमार०, ४।३४, ३५

३. शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥—कुमार०, ४।३३

४. जिह्लेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।—अभि०, अंक ७, पृ० १३३

५. कास्विदवगुंठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।—अभि०, ५।१३

६. जाते मुहूर्त्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुंठनम्।
ततस्त्वां भर्त्ता अभिज्ञास्यति।—अभि०, अंक० ५, पृ० ८८

गृह-उत्सव में सम्मिलित हुआ करती थीं[1], जलविहार, स्नान[2] आदि में भी पति के साथ रहती थीं। खेतों की रखवाली करती गीत गाती थीं[3]।

इन सब बातों की भी सीमा थी। स्त्रियाँ अन्तःपुर में स्वतंत्रता से रहती थीं; पर वहाँ पुरुषों का प्रवेश सीमित और मर्यादित था। स्त्रियों के रहने का स्थान पुरुषों के स्थान से पृथक् रहता था। अग्निमित्र मालविका को अन्तःपुर में सरलता से नहीं देख पाया था।

समाज में नारी-स्थिति—भारतीय परम्परा में नारी भोग्यपदार्थ है। स्रक चन्दन के साथ नारी की गणना भी होती आई है[4]। कालिदास नारी को इन्द्रियार्थ-तृप्तिसाधन मानते हैं[5]। अतः भोग्यवस्तुओं में ही उनकी दृष्टि में नारी का स्थान है।

समाज में स्त्रियों का यथेष्ट आदर था। सुन्दर स्त्रियाँ अपने पति पर प्रभुता रखती थीं[6]। पति के समान ही स्त्रियाँ आदर और सम्मान प्राप्त करती थीं[7]।

---

१. संबन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतंन जगाय ।।—कुमार०, ७।५
—ततोऽवतीर्याशु करेणु कायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ।।—रघु०, ७।१७

२. धूतोद्यानं कुवलयरजोगंधिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः।—पूर्वमेघ, ३७
—कुश की रानियों के साथ जलक्रीड़ा—रघु०, १६।५६–७०
—यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिका।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यवगाहत विगाढमन्मथः ।।—रघु०, १९।९

३. इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः।—रघु०, ४।२०

४. इन्द्रियार्थात्स्रक्चन्दनवनितादेरिन्द्रियविषयाद्गरीय इति किमुत वक्तव्यम्।
—टीका मल्लिनाथ, रघु०, ७।३१

५. निश्चित्य चानन्यनिवृत्तिवाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत्।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ।।—रघु०, १४।५३
—आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ।—रघु०, ७।३१
—प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु। 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे स्याद्भोग्यवस्तुनि' इति केशवः।—टीका मल्लिनाथ, रघु०, ७।३१

६. प्रभुता रमणेषु योषिताम्।—विक्रम०, ४।२६

७. तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ।।—कुमार०, ६।१२

शंकर ने अरुन्धती का पुरुष समान ही आदर किया था। पति स्वयं पत्नी का वहुत अधिक आदर करता था[1]। इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप कि तुम ही मेरी एकान्त की सखी, सम्मतिदाता, ललितकलाओं की शिष्या थी, प्रेम के साथ नारी का भी स्थान व्यक्त कर देता है[2]। मेघदूत में यक्ष के विलाप से भी इसी बात की पुष्टि होती है। राम सीता से कितना स्नेह करते थे, यह सीता का परित्याग कर देने पर भी लक्ष्मण के मुख से समस्त वृत्तान्त सुन अश्रु वहाना व्यक्त करता है[3]। सीता के प्रति आदर और स्नेह की पराकाष्ठा, यज्ञ में सोने की मूर्ति का रखवा देना है[5]।

परन्तु नारी के विषय में समाज में अर्धसत्य प्रचलित थे। यद्यपि पत्नी सहधर्मचारिणी, धर्मपत्नी, सुगृहिणी, अनन्य-प्रेमिका, सती-साध्वी होती थी; पर स्त्रियों के विषय में कुछ विशेष प्रकार की उक्तियाँ भी सुनने को मिल जाती हैं, यथा स्त्रियों की सेवा का काम बहुत टेढ़ा है,[5] स्त्रियों का स्वभाव बहुत कठोर होता है,[6] स्त्रियाँ स्वभाव से ही बड़ी चालाक होती हैं,[7] स्त्रियाँ जब अधिक कामासक्त हो जाती हैं तब उनको ज्ञान नहीं रहता कि हमको क्या करना चाहिए, क्या नहीं[8]? स्त्रियों की प्रकृति ही दुष्टता की है। शकुन्तला के ऊपर दुष्यन्त ने यथेष्ट कटाक्ष किया है, जैसे 'इसे कहते हैं स्त्रियों की प्रत्युत्पन्नमति',[9] अपना काम साधनेवाली स्त्रियों के मीठे फुसलावे में कामी लोग ही आते हैं,[10] स्त्रियाँ बिना सिखाए ही बहुत चतुर हो जाती हैं, तब जो समझवाली हैं, उनका क्या कहना!

---

१. अर्चिता तस्य कौशल्या प्रिया कैकयवंशजा।—रघु०, १०।५५

२. गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु०, ८।६७

३. वभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।—रघु०, १४।८४

४. सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृति सखो यत्क्रतूनाजहार।—रघु०, १४।८७

५. सेवाकारा परिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः।—विक्रम, ३।१

६. कठिनाः खलु स्त्रियः।—कुमार०, ४।५

७. निसर्गनिगुणाः स्त्रियः।—माल०, अंक ३, पृ० २९४

८. अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः।—रघु०, १२।३३

९. इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।—अभि०, अंक ५, पृ० ९०

१०. एवमादिभिरात्मकार्यनिवर्त्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।
—अभि०, अंक ५, पृ० ९१

जब तक कोयल के बच्चे उड़ना नहीं सीखते, तब तक वह दूसरे पक्षियों से ही अपने बच्चों का पालन करवाती हैं, आदि-आदि[1]।

परन्तु यह सब कटाक्षमात्र ही है। किसी दुष्टा स्त्री का चरित्र उनके ग्रन्थ में नहीं मिलता, अतः अवश्य ही उन्हें समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। पत्नी, माँ, पुत्री सबके प्रति ही आदर की भावना थी। पराई स्त्री पर आँख न डालने का आदर्श था[2]। इसके अतिरिक्त स्त्री का आदर बिना किसी भेदभाव के होता था। उदाहरण के लिए शंकर का अरुन्धती के प्रति सद्भाव,[3] पार्वती की तपश्चर्या के समय बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों का उससे मिलसे आना,[4] मेना का मुनियों द्वारा सम्मान[5] आदि। विदुषी स्त्रियाँ समान आदर की पात्री होती थीं। उनका निर्णय सबको मान्य होता था। कौशिकी का निर्णय सबने ही स्वीकार किया[6]। यद्यपि एक-दो उदाहरण, यथा दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति स्त्रियों की स्वाभाविक दुष्टता कहकर आरोप लगाना[7] तथा अग्निमित्र को मालविका से दिल बहलाते देख कर इरावती का रसना से ताड़ित करने का प्रयत्न करना है,[8] तथापि वे अपवाद ही हैं। पति को विश्वासघात करते देख और दासी से दिल बहलाते देख क्रोध आ जाना स्वाभाविक है; पर जैसा बाद में देखा गया, पत्नी स्वयं स्वामी को

---

१. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत या प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥
—अभि०, ५।२२

२. अनिवर्णनीयं परकलत्रम् —अभि०, अंक ५, पृ० ८५

३. तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥—कुमार०, ६।१२

४. कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासंगवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ॥—कुमार०, ५।१६

५. मेनां मुनीनामपि माननीयाम्........—कुमार०, १।१८

६. मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति।—माल०, अंक १, पृ. २७२

७. इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।—अभि०, अंक ५, पृष्ठ ९०
—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्त्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।
—अभि०, अंक ५, पृष्ठ ९१
—स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥
—अभि०, ५।२२

८. इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति।—माल०, अंक ३, पृष्ठ ३११

दूसरा विवाह करने की अनुमति दे देती है। धारिणी का पुत्र इतना बड़ा है कि युद्ध करने जाता है, विजयी होता है। अवश्य ही अग्निमित्र अवस्था में काफी बड़े होंगे और मालविका उनके सम्मुख बालिका ही होगी; पर फिर भी पति की अनुरक्ति देखकर धारिणी मालविका के साथ अग्निमित्र का विवाह कर देती है। इरावती भी इसका समर्थन करती है[1]। अतः इरावती की ताड़ना क्रोधवश ही थी।

नारी-जीवन पर सांगोपांग दृष्टि—नारी के तीन रूप हैं : पुत्री, पत्नी तथा माता। कहना असंगत न होगा कि कालिदास ने तीनों ही रूपों को अपनाया तथा सम्यक् दृष्टि डाली।

कन्या-रूप—पुत्र की तरह ही कन्या का परिवार में मान था। सुपुत्री से पिता धन्य हो जाता था[2]। उसके जन्म के समय भी पुत्रोत्पत्ति की तरह ही आनन्द मनाया जाता था। पुत्र के समान ही कन्या भी माँ-बाप का स्नेह पाती थी[3]। पार्वती माता-पिता दोनों की ही दुलारी थीं। कन्या ही परिवार का जीवन और आनन्द थी, (कन्येयं कुलजीवितम्–कुमार०, ६।६२)। बाल्यावस्था में अपनी सखियों के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा करतीं, कभी गेंद खेलतीं[4], कभी बालू तट पर वेदी बनातीं[5], कभी गुड़िया खेलतीं[6] और कभी बालू का घर बनाना आदि खेला करतीं थीं[7]।

शिक्षा—पुत्र की तरह ही कन्या को भी शिक्षा दी जाती थी। विद्या के अतिरिक्त उनको ललितकलाओं की शिक्षा दी जाती थी। शकुन्तला कविता करना जानती थी, इसका दृष्टान्त उसका पत्र-लेखन है[8]। प्रसाधनकला अनसूया

---

१. इरावती पुनर्विज्ञापयति–सदृशं देव्याः प्रभावत्याः।
तव वचनं संकल्पितं न युज्यतेऽन्यथाकर्तुं इति।–माल०, अंक ५, पृष्ठ ३५५

२. प्रभा महत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥—कुमार०, १।२८

३. महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।–कुमार०, १।२८

४. मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये॥—कुमार०, १।२६

५.६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४

७. तत्र खलु मन्दाकिन्या पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलीभिः क्रीडन्ती विद्याधर-दारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निध्यातेति कुपिता उर्वशी।
—विक्रम०, अंक ४, पृ० २१३

८. तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रिमपि।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यंगानि॥—अभि०, ३।१४

और प्रियंवदा दोनों जानती थीं[१]। मालविका नृत्य-संगीत-विशारदा थी। परिव्राजिका न केवल संगीतकला की मर्मज्ञा थी, अपितु वैद्यकशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान उसे था[२]। यक्ष-पत्नी का पति-वियोग में चित्र बनाना[३], वीणा पर गाते-गाते मूर्च्छना आदि भूल जाना[४] उसके ललितकला-सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है।

कर्त्तव्य—शकुन्तला का नित्यप्रति वृक्ष सींचना[५], पार्वती का पूजा के निमित्त पुष्प चुनना, वेदी को धोना, पोंछना, नित्यकर्म के लिए जल और कुश लाना[६] व्यक्त करता है कि लड़कियों को प्रत्येक प्रकार का काम सिखाया जाता था। अतिथि-सत्कार उनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य था। शकुन्तला की सखियों का दुष्यन्त का सत्कार शिष्ट-भाषण उनकी उच्च शिक्षा और संस्कृति की अभिव्यक्ति है। कण्व ने शकुन्तला पर अतिथि-सत्कार का भार छोड़ा था[७]। पार्वती का ब्रह्मचारी वेश में आए शिव का सत्कार भी अतिथि-सेवा के कर्त्तव्य को व्यक्त करता है[८]। राजा हिमालय ने अपनी पत्नी और कन्या को सप्तर्षियों के आगमन पर अतिथि-सत्कार के लिए अर्पित किया था[९]।

---

१. अये अनुपयुक्त भूषणोऽयं जनः।
चित्रकर्मपरिचयेनांगेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः।—अभि०, अंक ४, पृ० ६७

२. छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥—माल०, ४।४

३. मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।—उत्तरमेघ, २५

४. उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तंत्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥—उत्तरमेघ, २६

५. त्वत्तोऽपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि येन नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषां आलवालपूरणे नियुक्ता।—अभि०, अंक १, पृष्ठ १२

६. अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषा चोपनेत्री।
गिरिशमुपचचार।—कुमार०, १।६०

७. शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य............—अभि०, अंक १, पृ० ९

८. तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती—कुमार०, ५।३१

९. एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥—कुमार०, ६।६३

शिक्षा का आदर्श—शिक्षा का आदर्श बालिकाओं को योग्य गृहिणी और माता बनाना था। कण्व का उपदेश इसका साक्षी है[1]। उमा की शिक्षा के विषय में बताता हुआ कवि विभिन्न ज्ञानों के विषय में बताता है जो उसे गत जीवन में स्वतः प्राप्त हो गए थे[2]। शकुन्तला की शिक्षा उसकी उच्च संस्कृति थी। उसका शिष्टाचार, संयम, सहनशीलता, हर्ष के कारण उद्वेलित न होना आदि उसकी वास्तविक शिक्षा के प्रतीक हैं। शकुन्तला का वृक्ष, लता[3] और हरिणों से प्रेम[4] उसके हृदय की विशाल करुणा अभिव्यक्त करता है। कवि 'निसर्गनिपुणाः स्त्रियः'[5] कह कर ही उनकी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता की प्रशंसा कर देता है।

पेशा—समृद्ध घरों की कन्याएँ गृह में ही रहती थीं, पर सामान्य वर्ग या छोटी जातियों की कन्याएँ खेतों में काम करतीं[6], राजाओं और समृद्ध व्यक्तियों के घरों में काम करती थीं। प्रायः रानी की परिचारिकाएँ कुमारी ही होती थीं[7]। मालविकाग्निमित्र में उपवन पालिका[8], सौरभांडरक्षिका[9] तथा अन्य परिचारिकाओं, मालिकाओं, वकुलावलिका, यवनी आदि का प्रसंग है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीय में भी यवनी और अन्य पारिचारिकाओं का उल्लेख है। प्रायः इन नौकरानियों का चरित्र दूषित हो गया था, क्योंकि राजा इनसे अपनी कामुकवृत्ति की शान्ति कर लिया करते थे[10]।

---

१. शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥—अभि०, ४।१८

२. स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः।—कुमार०, १।३०

३. न केवलं ताततनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।
—अभि०, अंक १, पृ० १२

४, यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥
—अभि०, ४।१४

५ माल०, अंक ३, पृष्ठ २९४

६. इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥—रघु०, ४।२०

७. बालिका आर्यपुत्रवचनमनुतिष्ठत्—माल०, अंक ४, पृष्ठ ३२१

८. ततः प्रविशत्युद्यानपालिका।—माल०, अंक ३, पृ० २९०

९. यत्सारभांडगृहव्यापारिता माधविका देव्या संदिष्टा।—माल०, अंक ४, पृ० ३१६

१०. क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्र दूतिकृतमार्गदर्शनः।
अन्वभूतपरिजनांगनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम्॥—रघु०, १९।२३

कुमारी-जीवन के आदर्श—भारतीय आदर्श नारी का चित्रण वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी कवि ने पूर्णरूप से नहीं किया। कुमारसम्भव की उमा आदर्श बालिका है। लड़कों की बाल्यावस्था से उसका कहीं अधिक मनोहारी रूप दर्शाया गया है। जहाँ वह उसकी बालक्रीड़ाओं का उल्लेख करता है वहाँ उसके नित्य प्रति उपचीयमान सौन्दर्य और छवि का वर्णन साहित्य की अभिनव वस्तु है। अतः हिन्दू बालिकाओं के जन्म से घृणा करते हैं, यह इनके वर्णन से असत्य सिद्ध होता है। लड़कों का महत्त्व आध्यात्मिक आदर्श के कारण है। प्रेम की सुकुमारता और सुक्ष्मता पुत्री के जन्म से ही पूर्ण होती है, पुत्री ही पिता में कोमल अनुभूति उत्पन्न करती है; क्योंकि वह कुछ समय के लिए ही परिवार को आनन्द दे पाती है। वसन्त की मादकता जहाँ उसके तरुण गात से टकराई, वह दूसरे गृह की ही सुषमा बन जाती है। जब कण्व जैसे वनवासी और विरागी मनुष्य भी शकुन्तला को बिदा करते समय 'आज शकुन्तला चली जाएगी' सोचकर और दुःखभरे अश्रुओं से इतने अवरुद्ध हो रहे थे, तब उन गृहस्थों को कितना कष्ट होगा जो पहले-पहल अपनी कन्याओं को बिदा करते होंगे[१]। इसका अनुमान पाठकों को दुःख में डुबा देता है। कन्या दूसरे का धन है, अतः पति के गृह में भेजकर पिता के हार्दिक सन्तुष्टि होती है[२]। कन्या के सम्बन्ध में इन विचारों ने पिता और पुत्री के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रेम के जिस सुकुमार, कोमल, उच्च तथा माधुर्यतर रूप की सृष्टि की, अवश्य ही यह कालिदास का आदर्श था।

युवती : पत्नीरूप

कर्तव्य और आदर्श—समाज में युवती नारी का स्नेहमय सम्मान था। मुग्धत्त्व और यौवन के बीच की अवस्था अत्यन्त स्पृहणीय थी[३]। यह सौन्दर्य

---

१. यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कंठया
कंठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चचिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥—अभि०, ४।६

२. अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥—अभि०, ४।१२

३. अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।
ईषद्बद्धरजः कणाग्रकपिशा चूते नवा मंजरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीस्थिता ॥—विक्रम०, २।७

पुरुष के लिए सबसे अधिक आकर्षक वस्तु थी। उनके विभ्रम और प्रणय चेष्टाओं से सारा समाज मुखरित था। यौवन बीतने पर लौट कर नहीं आता, अतः इसका उपभोग करना ही वांछनीय है[१], ऐसा ही युवतियों के सम्मुख आदर्श था। जो अपने यौवन का उपभोग नहीं करती थीं, उन्हें 'रत्न भरी मंजूषा' की संज्ञा दी जाती थी। जैसे 'रत्न भरी पिटारी' रत्न होते भी उनका भोग नहीं करती वैसे ही बिना भोग किया हुआ यौवन भी व्यर्थ है[२]। सुन्दरी स्त्री सुन्दर गुणों से युक्त भी समझी जाती थी[३]।

पत्नी धर्म-पत्नी थी[४]। पति के मनोनुकूल आचरण करना उसका सबसे बड़ा धर्म था। स्वेच्छाचारिता उसके लिए अच्छी नहीं समझी जाती थी[५]। के प्रत्येक कार्य में सहायता देना[६], गुरुजनों की परिचर्या करना, गृह-संचालन करना, उसका परम कर्तव्य था[७]। पति ही उसका सर्वथा था। उसके घर में दास्यवृत्ति भी पिता के घर रहने से कहीं श्रेयस्कर थी[८]। पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार था,[९] पर पत्नी अपने अनन्य प्रेम से उसको जीत लेती थी। पति के लिए ही उसका समस्त श्रृंगार था[१०]। पति के अखण्ड प्रेम को प्राप्त करना ही उसका चरम लक्ष्य था[११]। पति के प्रेम को प्राप्त करने के लिए वे

---

१. त्यजतमानमलं वत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।—रघु०, ९।४७

२. मुग्धेदानीं मंजूषेव रत्नभांडं यौवनगर्वं वहसि।—माल०, अंक ४, पृ० ३२५

३. यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥
—कुमार—०, ५।३६

४. शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति।—कुमार०, ७।८३
—किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः।—कुमार०, ८।५१

५. किं पुरोभागे स्वातंत्र्यमवलम्बसे?—अभि०, अंक ५, पृ० ९४

६. भवंत्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः।—कुमार०, ६।८६

७. शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥—अभि०, ४।१८

८. पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।—अभि०, ५।२६

९. उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।—अभि०, ५।२६

१०. स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः।—कुमार०, ७।२२
—प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।—कुमार०, ५।१

११. अखंडितं प्रेम लभस्व पत्युः—कुमार०, ७।२८

सब कुछ त्याग करने को प्रस्तुत हो जाती थीं, यहाँ तक की सौत लाने को भी तैयार हो जाती थीं[१]। वे सती-साध्वी और सच्चरित्रा होती थीं। पति उनके लिए देवता थे[२]। उनके पाप पर ध्यान न देती हुई वे अपने को ही अपराधिनी समझ अपने भाग्य की निन्दा किया करती थीं। सीता ने राम द्वारा परित्यक्त होने पर राम की निन्दा न करते हुए अपने भाग्य को ही कोसा[3]। वे दूसरे जन्म में भी उसी पति को पतिरूप में प्राप्त करना चाहती थीं[४]। पति का अनादर उनको असह्य या। उनके पातिव्रत का यही सच्चा आदर्श था। सती ने पिता द्वारा पति के लिए अपमानसूचक शब्दों को सुन योग से अपना शरीर छोड़ दिया[५]।

पति की प्रसन्नता और सन्तोष उनके जीवन का सच्चा सुख था। अपना अहंकार और सर्वस्व छोड़कर प्रिय जिसे प्यार करे, उसे प्यार करने को प्रस्तुत हो जाना उनके त्याग की पराकाष्ठा थी[६]। यह सब सैद्धान्तिक नहीं, अपितु व्यावहारिक था। वे सपत्नियों के साथ स्नेहपूर्ण और आदरपूर्ण व्यवहार करती थीं, इसके दृष्टान्त मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में हैं[७]। सपत्नी के

---

१. प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगा प्रापयन्त्युदधिम्। माल०, ५।१६

२. तमलभन्तपतिं पतिदेवताः।—रघु०, ९।१७

३. न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि।
आत्मानमेवास्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द॥—रघु०, १४।५७

४. साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः॥—रघु०, १४।६६

५. यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसंगः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत्।—कुमार०, १।५३
—अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥—कुमार०, १।२१

६. अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनि तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्त्तितव्यम्।—विक्रम०, अंक ३, पृ० २०५
—अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि।
—विक्रम०, अंक ३, पृ० २०६

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६
—प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।—माल०, ५।१९

आदर के कारण ही उर्वशी अपने पुत्र से बड़ी माँ को प्रणाम करने को कहती है[१]। पति के लिए प्रियानुप्रसादन व्रत भी किया करती थीं[२]। स्त्रियाँ अपने पति के मार्ग का अनुसरण करती हैं, यह चेतन में नहीं अपितु जड़ पदार्थों में भी हैं,[३] इससे उनके प्रेम की गहराई व्यक्त होती है। अतः पति के घर जाती शकुन्तला को तापस स्त्रियाँ यही आशीर्वाद देती हैं कि वह पति के सम्मान और स्नेह की प्राप्ति में सफल हो[४]। उर्वशी को भी यही आशीर्वाद मिलता है[५]।

कवि के मतानुसार नारी का आदर्श पत्नीत्व और मातृत्व है, अतः पति और पुत्रवती स्त्रियों का बहुत सम्मान होता था। सुयोग्य पति को दी गई कन्या दूसरे गृह की भी ज्योति बन जाती है, साथ ही अपने पूर्व गृह को भी आलोकित करती है[६]। स्त्री और पुरुष दोनों ही समान हैं। धर्मादि के सम्बन्ध में यह स्त्री है, अतः इसका सम्मान न किया जाय, ऐसा नहीं होता था। शङ्करजी ने अरुधन्ती को उतना ही सम्मान दिया था, जितना उनके स्थान पर कोई पुरुष होता तो उसे देते[७]। पार्वती का सम्मान सभी मुनिगण करते थे, यद्यपि वह अवस्था में बहुत छोटी थीं[८]। मेना योगियों, तपस्वियों आदि के द्वारा भी पूजी जाती थी[९]। पूजा और आदर चरित्र के कारण होता है, जाति के कारण नहीं[१०]।

विवाहादि मामलों में पत्नी की सलाह लेना[११], स्त्री को गृहिणी, सचिव,

---

१. ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व।—विक्रम०, अंक ५, पृ० २५६

२. किं नामधेयमेतद्देव्या व्रतम् ? भर्तः प्रियानुप्रसादनं नाम्।
—विक्रम०, अंक ३, पृ० २०४

३. शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि।—कुमार०, ४।३३

४. जाते भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व।—अभि०, अंक ४, पृ० ६५

५. विक्रम०, अंक ५, पृ० २४२

६. अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता।—कुमार०, ६।७९

७. स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्।—कुमार०, ६।१२

८. कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासंगवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते॥—कुमार०, ५।१६

९. स मानसीं मेरुसखः पितृणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मारूपां विधिनोपयेमे॥—कुमार०, १।१८

१०. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ७

११. शैलः सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत।
प्रायेण गृहिणीनेत्रः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः॥—कुमार०, ६।८५

सखी, शिष्यादि कहना[१], उसके प्रति पति के सम्मान को व्यक्त करता है यही नहीं धार्मिक अनुष्ठानों का उसके बिना न होना[२], दूसरा विवाह करने के पूर्व ज्येष्ठा पत्नी से मन्त्रणा करना, उसकी अनुमति पर ही विवाह करना[३] (Kalidas : his genius, ideals & Influence by Ram Swami Shastri Page 222) इसका पुष्ट प्रमाण है।

यह कहना कि उस समय नारी का कोई व्यक्तित्व नहीं था, उसका यही काम था कि वह जैसा पति कहे करती जाय, ठीक नहीं। कालिदास ने कहा है कि स्त्रियों का अधिकार है कि वे आवश्यकता समझें तो पति को किसी बात से रोकें[४]। स्त्रियाँ किसी कारण से ही पति पर क्रोध करती हैं[५]। यह उनके अधिकार और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की पुष्टि करता है; परन्तु अहंकार का समावेश किसी अवस्था में न होना चाहिए[६]। शकुन्तला को पिता का यही सबसे बड़ा उपदेश है कि अहंकार न करना[७]।

स्त्रियाँ पति के अतिरिक्त अपनी सास के प्रति भी विनयशील थीं। सासें भी बहुओं से प्रेम करती थीं[८]। पत्नी की स्नेहशीलता और विनय प्रशंसनीय थी।

---

१. गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु०, ८।६७
२. क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्नयो मूलकारणम्।—कुमार०, ६।१४
३. धारिणी (मालविकां हस्ते गृहीत्वा) इदमार्यपुत्रः प्रियनिवेदनानुरूपं पारितोषिकं प्रतीच्छत्विति। मालविकामवगुनवतीं कृत्वा आर्यपुत्र इदानीमिमां प्रतीच्छतु।
राजा—त्वच्छासनात्प्रवृत्ता एव वयम्।—माल०, अंक ५, पृ० ३५५–३५६
४. राजा की मालविका के प्रति अनुरक्ति देखकर देवी कहती हैं—यदि राजकार्येषु ईदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्।
—माल०, अंक १, पृ० २७६
५. अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः॥—माल०, १।१८
कदामुखं वरतनु कारणादृते तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम्।—माल०, ४।१६
६. भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी—अभि०, ४।१८
—अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः—विक्रम०, अंक १, पृ० १६३
७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६
८. क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे।
उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव,
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या।—रघु०, १४।५६,

वे स्वाभाविक लज्जा से ओतप्रोत होती थीं। गुरुजनों के सम्मुख पति के साथ जाने में संकुचित होती थीं[१]। पति को वे आर्यपुत्र कह कर सम्बोधित करती थीं।

मनोरञ्जन के साधन—मनोरञ्जन के लिए वे उपवन में विहार करतीं[२], झूला झूलतीं[३], जल-क्रीड़ा करतीं[४], वीणा या गीत गातीं[५], चित्र बनातीं[६], कथा सुनातीं[७] तथा नदी किनारे बालू में टीले बनाकर खेल खेला करतीं[८]। मदिरा-पान भी कभी-कभी करती थीं[९]।

मातृ-रूप—पति के वंश को चलाने के लिए पत्नी ही एकमात्र कारण थी। वीर पति के समान स्त्रियाँ वीर पुत्र की माता बनने को भी लालायित रहती

---

१. जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।—अभि०, अंक ७, पृ० १४३

२. राजा के प्रेम में संतप्त मालविका मन बहलाने के लिए उपवन में आती है। वहाँ अपने मन में छिपे प्रेम को अस्फुट शब्दों में व्यक्त कर मन को हलका करती है। प्रमदवन का उद्देश्य उपवन-विहार ही था। प्रमदवन सभी नाटकों में आया है।

३. नववसंतावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—
इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति।
—माल०, अंक ३, पृ० २९३
—मालविके गौतमचापलाद्दोल्लापरिभ्रष्टायाः सरुजौ मम चरणौ।
—माल०, अंक ३, पृ० २९६

४. कुश की रानियों के साथ जलक्रीड़ा—रघु०, १६।५६-७०

५. उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षीप्य वीणां
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।—उत्तरमेघ, २६

६. मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।—उत्तरमेघ, २५

७. भगवति! रमणीयं कथावस्तु। ततस्ततः। प्रवाल शयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।—माल०, अंक ४, पृ० ३१७

८. तत्र खलु मन्दाकिन्या पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलीभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकयोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निध्यातेति कुपिता उर्वशी।
—विक्रम०, अंक ४, पृ० २१३

९. चेटि निपुणिके श्रृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति। (अवस्थासदृशं परिक्रम्य) चेटि मदेन कलाम्यमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः।—माल०, अंक ३, पृ० ३०१

नोट: यथास्थान इसका विस्तृत वर्णन किया जायगा।

थीं। अतः पुत्रवती होने का ही उनको आशीर्वाद दिया जाता था[१]। वीर पुत्र की माँ बनने में वे गौरव अनुभव करती थीं। मालविकाग्निमित्र में वसुमित्र की विजय पर परिव्राजिका धारिणी को बधाई देती हैं, तब धारिणी यही कहती है कि मुझे यही सुख है कि मेरा पुत्र पिता के समान पराक्रमी निकला[२]। माँ अपने पुत्र की विजय के लिए व्रत रहती थी, दक्षिणादि देती थी[३]। कौशल्यादि अपने पुत्रों की चोट देखकर इतनी कातर हो गईं कि उनको माँ कहलाना अच्छा नहीं लगा। यह उनके पुत्र-प्रेम की पराकाष्ठा है[४]। पुत्र-प्रेम से उनके स्तनों से दूध की धार टपक-टपक कर चोली को भिगो देती थी[५]।

मातृ-रूप का समाज में यथेष्ट सम्मान था। पति पत्नी के दोहद की पूर्ति प्राण-पण से करता था[६]। सन्तान के प्रति ममता किस प्रकार की होती है,

---

१. वत्से। वीर प्रसविनी भव।—अभि०, अंक० ४, पृ० ६५
—कल्याणि वीरप्रसवा भव।—कुमार०, ७।८७
—तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे।
तस्यै मुनिर्दोहदलिंगदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच॥—रघु०, १४।७१

२. भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः॥—माल०, ५।१६
—भगवति! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः।
—माल०, अंक ५, पृ० ३५३

३. यतः प्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृतितस्यायुर्निमितं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां देवी दक्षिणायै परिग्राहयति।
—माल०, अंक ५, पृ० ३३९
—देव्याज्ञापयति आगमिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं संभावितव्येति।—अभि०, अंक २, पृ० ३९

४. ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवांगे सदयं स्पृशन्त्यौ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलांगनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम्॥—रघु०, १४।४

५. इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम्॥—विक्रम०, अंक ५, १२

६. न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोशलेश्वरः॥—रघु०, ३।५
—उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः॥—रघु०, ३।६
—तामंकमारोप्य कृशांगयष्टिं वर्णान्तराकान्तपयोधराग्राम्।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्।—रघु०, १४।२७

इसको सिखाने के लिए घड़ों से पौधों को सींचना सिखाया जाता था। सीता से वाल्मीकि ने इसी कारण पेड़ सींचने को कहा था[1]। पार्वती को भी स्तनों के समान घड़ों से सींचे गए पौधों के प्रति इतना अनुराग हो गया था कि बाद में कार्त्तिकेय के जन्म उपरान्त भी इन पौधों पर वात्सल्य कम नहीं हुआ[2]।

---

१. पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम्॥ —रघु०, १४।७८

२. अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति॥—कुमार०, ५।१४

सातवाँ अध्याय

खान-पान

भोज्य पदार्थों के प्रकार—खान-पान के सम्बन्ध में कालिदास की कृतियों में पर्याप्त चर्चा नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन दिनों की सभ्यता के अनुसार खान-पान की चर्चा काव्य में करना ग्राम्य माना जाता था। वैसे ही नाटकों में भोजनादि को रंगमञ्च पर दिखाने का निषेध था। अतः सामाजिक मनोरञ्जन के लिए ही विदूषक के पेटू होने की अभिव्यक्ति है।

पाणिनि के समय में भोज्य और भक्ष्य में भेद माना जाता था; परन्तु पतञ्जलि (२५० ई० पू०) के समय में यह भेद टूट चला था। जैसा कि महाभाष्य के निम्न अवतरण से जान पड़ता है—

'भक्षिरयं खरविशदे एव वर्तते तेन द्रवे न प्राप्नोति। नावश्यं भक्षिः खरविशदे एव वर्तते। किं तर्हि। अन्यत्रापि वर्तते। तद्यथा वायुभक्ष।'—महाभाष्य, ७।३।६९; अर्थात् यह कहना कि भक्ष शब्द का प्रयोग, जो खर विशद हो उसी के साथ होता है, जो द्रव या पेय हो उनके साथ नहीं, ठीक नहीं है; क्योंकि जो खर-विशद नहीं है, उसके लिए भी भक्ष शब्द का प्रयोग होता है, जैसे जल-भक्षण, वायु-भक्षण। आज भी बंगाली 'जल खाओ' कहते हैं।

कालिदास के पक्ष में कोई बात निर्णय कर नहीं कही जा सकती।

कात्यायन ने सम्पूर्ण खान-पान को एक पंक्ति के द्वारा 'अभ्यवहारस्य पञ्चविधित्वं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपानीयभेदेन' पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया है। कालिदास भी कात्यायन के ही पक्षपाती हैं। उन्होंने स्वयं 'पञ्चविधस्याभ्यहारस्य'[1] पद इसी कारण प्रयुक्त किया है। इस दृष्टिकोण से सम्पूर्ण खाद्य पदार्थ पाँच वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। भक्ष्य वर्ग में वे पदार्थ आते हैं जिनको काटकर खाना होता है, जैसे मोदक, रोटी; भोज्य में वे पदार्थ आते हैं, जिनमें दाँतों को बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता, जैसे उबला हुआ चावल; लेह्य में चटनी,

---

१. तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजनां
प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठा विनोदयितुम्।—विक्रम०, अंक २, पृ० १७१

मधु आदि चाटकर खानेवाले पदार्थ आते हैं; चोष्य में गन्ना आदि चूस कर खाने वाली वस्तुएँ और पानीय में पेय-पदार्थ ।

कालिदास ने यद्यपि प्रत्येक खाने योग्य छोटी-छोटी वस्तुओं का वर्णन नहीं किया, तथापि जौ, चावल, तिल, आदि अनाज; दूध, दही, मक्खन, मधु, गुड़ तथा मोदक, मत्स्यगण्डिका आदि मिठाइयों का परिचय दिया है । 'रसोईघर में पाँच प्रकार के पकवानों को देखने-भर से हमारी उदासी दूर हो जायेगी'[१]—विदूषक के इस कथन से आभास होता है कि कालिदास के समय में मनुष्य खाने-पीने के शौकीन थे । कालिदास ने अपने समस्त नाटकों में विदूषक को खाने की वस्तुओं से रुचि रखने वाला दिखाया है, यह केवल नितान्त हास्य के निमित्त नहीं; अपितु तत्कालीन जनसाधारण की रुचि-प्रदर्शन के हेतु ही किया । विदूषक एक स्थान पर कहता है कि मेरा पेट हलवाई की कढ़ाई की भाँति जला जा रहा है[२] । इस उपमा से यह कहा जा सकता है कि तरह-तरह की मिठाइयाँ, पकवान आदि हलवाई की दूकान पर निरन्तर बनते रहते होंगे, तभी उसकी कढ़ाई सदा जलती रह सकती है ।

निरामिष तथा सामिष दोनों प्रकार के भोजनों का चलन था । उस समय के ब्राह्मण तक मांसाहारी थे, अतः मांस खाना बुरा नहीं समझा जाता था । इस पर यथास्थान प्रकाश डाला जाएगा ।

सुविधा के लिए समस्य खाद्य-पदार्थों को अनाज, दूध तथा दही, मधु आदि, नाना मिष्ठान्न; गोश्त; फल; इलायची; काली मिर्च, लौंग, नमक आदि मसाले; पान, सुपारी आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

अनाज—मुख्य रूप से कालिदास जौ, चावल और तिल तीन ही अनाजों का नाम लेते हैं । मुख्य अनाज, गेहूँ तक का कहीं संकेत नहीं है । सम्भव है उनके वर्णित प्रदेशों और स्थानों में गेहूँ की उत्पत्ति नहीं होती हो, इसी कारण कहीं प्रसंग नहीं आ पाया ।

यव—यव का कवि ने अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है । विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर इसका प्रयोग बहुधा किया जाता था । कानों में लटकते जौ के अंकुर न केवल विवाह की शोभा थे;[३] अपितु वसन्त ऋतु में

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १

२. दृढ़ विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते ।—माल०, अंक २, पृ० २८९

३. तस्याः कपोले परभागलाभाद्व बन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ।—कुमार ७।१७
—वधूमुखं क्लान्तयवावतंसमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥—कुमार०, ७।८२
—तदंजनक्लेद समाकुलाक्षं प्रम्लानबीजांकुरकर्णपूरम् ।—रघु०, ७।२७

विलासी पुरुषों के आकर्षण-केन्द्र भी थे[१]। राज्याभिषेक के समय बड़ की छाल और दूर्वादल के साथ यवांकुर भी आरती उतारने के लिए शुभ समझे जाते थे[२]।

चावल—चावलों के कई प्रकारों का कवि ने वर्णन किया है। जिनमें—शालि, नीवार, कलम और श्यामाक मुख्य हैं।

(१) शालि[३]—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार यह एक प्रकार का चावल है, जो जाड़ों में पैदा हुआ करता है और जिसे जड़हन भी कहते हैं[४]।

(२) नीवार[५]—यह भी चावल का एक प्रकार है; परन्तु निकृष्ट श्रेणी में आता है। यह जंगलों में अधिक पैदा होता था। अतः तपोवन-वर्णन में ही इसका प्रसंग अधिकता से देखा जाता है[६]।

(३) कलम[७]—मल्लिनाथ की टीका के अनुसार यह शालि का ही प्रकार-विशेष है[८]।

---

१. अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवांकुरैः।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः॥—रघु०, ९।४३

२. दूर्वायवांकुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तांस भेजे नीराजनाविधीन्॥—रघु०, १७।१२

३. सम्पूर्ण ऋतुसंहार में इसके अनेक उदाहरण हैं : ३।१, १०, १६; ४।१, ८, १९; ५।१, १६;
—जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः॥—रघु०, १५।७८
—गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे।—रघु०, १७।५३

४. A kind of rice growing in winter which is replanted and called Jadahan.
—India as known to Panini, Page 102–103.

५. नीवार षष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।—अभि०, अंक २, पृ० ३५
—प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिका-
भिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति।—अभि०, अंक ४, पृ० ६५

६. शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥—अभि०, ४।२१
—अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः —रघु०, १।५०

७. आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥—रघु०, ४।३७
—उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिंगलाः।—कुमार०, ५।४७

८. कलमा शालिविशेषः —टीका, रघु०, ४।३७; कुमार०, ५।४७

(४ श्यामाक[1]—टीकाकार राघव भट्ट इसको 'धान्यविशेषः' कहते हैं[2]।

तिल—यव तथा चावल के अतिरिक्त अनाजों में तिल का नाम भी कवि देता है। मृत्यु होने पर तिल की अञ्जलि देने की प्रथा थी[3]।

लाज—विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर लाजाञ्जलि और लाजाहोम किया जाता था[4]। लाज को साधारण भाषा में आजकल 'खील' कहते हैं। राजा के सत्कार के उपलक्ष में पौर कन्याएँ उन पर खीलें बरसाती थीं[5]।

दाल—पाणिनि का समय ईसापूर्व ६ठी शताब्दी माना जाता है। कम-से-कम वे कालिदास के पूर्व अवश्य हुए। पाणिनि मुद्ग और माष दो दालों का प्रयोग करते हैं[6]। यद्यपि कालिदास के ग्रन्थों में किसी दाल का संकेत और प्रसंग नहीं है; परन्तु उनके समय में इसका प्रयोग अवश्य होता होगा।

दूध तथा इसकी परिवर्त्तित आकृति

कालिदास के समय में दूध, दही और मक्खन का प्रचार वहुतायत से था। उस समय गौ की पूजा ही इसी कारण की जाती थी कि इससे दूध, दही, मक्खन आदि की प्राप्ति हुआ करती है। दिलीप और सुदक्षिणा को नन्दिनी की सेवा करनी पड़ी थी; क्योंकि पूर्वजन्म में दिलीप ने कामधेनु को प्रणाम नहीं किया था।

इस वर्ग में कवि के वर्णित प्रसंगों में सबसे पहले हम दूध[7] का नाम ले

---

१. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥
—अभि०, ४।१४

२. श्यामाको धान्यविशेषः।

३. अन्यथा अवश्यं सिंचतं मे तिलोदकम् —अभि०, अंक ३, पृ० ४६

४. चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।—रघु०, ७।२५
—केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद।—कुमार०, ७।६९
—स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्।—कुमार०, ७।८०

५. अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः।—रघु०, २।१०
—विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम्।—रघु०, १४।१०

६. India as known to Panini by Sri V S. Agarwala, Page 104, मुद्ग (Mudga) (IV. 4. 25), Masha (V. I. 7; V. 2 4)

७. दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम्।—रघु०, २।२३
—भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्॥—रघु०, २।६३

सकते हैं। दूध के साथ इसकी निर्मित वस्तुओं में रघुवंश में खीर[1] का प्रसंग है। मक्खन के लिए कवि नवनीत[2] और हैयंगवीन[3] शब्द का प्रयोग करता है। दही[4] भी उस समय मनुष्य शौक से खाते थे। दही से शिखरिणी खाद्य-पदार्थ बनाया जाता था।

मधु तथा मिष्ठान्न—मधु का प्रयोग मधुपर्क में किया जाता था। वैवाहिक अवसरों अथवा किसी अतिथि के आ जाने पर उसके स्वागत के उपलक्ष में अर्घ्य अथवा मधुपर्क भेंट में दिया जाता था। मधुपर्क में मधु, चावल और दूर्वा रहते थे।

गन्ने का प्रसंग ग्रन्थों में बहुधा मिलता है। इससे शक्कर अथवा गुड़ को उत्पत्ति होती होगी। गुड़-विकार को टीकाकार मणिराम खण्ड, शर्करादि कहता है। गुड़-विकार गुड़ की बनी कोई वस्तु होगी। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में मत्स्यंडिका[5] शब्द का प्रयोग हुआ है। मत्स्यंडिका को टीकाकार शर्कराविशेषः कहता है। आकार में नाम से ऐसा आभासित होता है कि मछली के आकार की होगी।

मिष्ठान्न में कवि मोदक का नाम बहुधा लेता है। चावल अथवा गेहूँ के आटे में शक्कर मिला कर घी में भून कर गोल-गोल लड्डू बना लिए जाते होंगे। कवि इनको स्वयं एक स्थान पर चन्द्रमा की तरह गोल वर्णित करता है[6]।

मांस तथा मछली—कालिदास के समय मनुष्य मांसाहारी होते थे। अथवा यह कहना चाहिए कि उस समय मांस खाना बुरा नहीं समझा जाता था।

—यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥ —अभि०, ६।२८

१. हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् —रघु०, १०।५१
मल्लिनाथ के अनुसार—पयश्चरुं पायसान्नं 'अनवस्रावितोऽन्तरुष्मपक्व ओदनश्च चरु इति याज्ञिकाः'। स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम्। —रघु०, १०।५४
२. अहो नवनीतकल्पहृदय आर्यपुत्रः।—माल०, अंक ३, पृ० ३०९
३. हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्........—रघु०, १।४५
४. तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम्।—कुमार०, ७।७२
५. वयस्य एतत्खलु सोधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता।—माल०, पृ० २९६
६. ही ही भोः एष खलु खंडमोदकसश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम्। —विक्रम०, अंक ३, पृ० १९७

विदूषक को हरिणी का मांस अच्छा लगना[१] प्रमाणित करता है कि ब्राह्मण भी मांस खाया करते थे। क्षत्रिय राजा शिकार के शौकीन होते थे। राजा दुष्यन्त मृग, सूअर, सिंह के शिकार के शौकीन थे[२]। राजा दशरथ के शिकार का कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। हिरण, सूअर, जंगली भैंसा, बारहसिंघा, सिंह, चामरमृग आदि पशुओं का दशरथ ने शिकार किया था[३]। हाथी को मारना शास्त्र के विरुद्ध था[४]। हाथियों को राजा पकड़वा मँगाते थे और उनको युद्ध के लिए सुरक्षित रखते थे[५]। अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुनिलुब्धक[६] का प्रसंग आया है। चिड़िया आदि भी मार कर लाई जाती थीं।

मछली का समाज में आम प्रचलन था। यदि ऐसा न होता तो मुहावरों के रूप में इसका प्रयोग न होता—'भिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो

---

१. अहमपि प्रार्थ्यमानो यदा मिष्ठहरिणीमांसभोजनं न लभे तदैतत्संकीर्तयन्नाश्वासयाम्यात्मानम्।—विक्रम०, अंक ३, पृ० २०१

२. एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि।
अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्म-
विरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवी
पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते।
—अभि०, अंक २, पृ० २६

३. तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिः जघनाश्रयेषु॥
—रघु०, ९।६०

—तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुंखस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्॥
—रघु०, ९।६१

—प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमांगान्खंगाश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः।
श्रृंगं सदृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः॥
—रघु०, ९।६२

—व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान्।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान्॥
—रघु०, ९।६३

४. नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पंक्तिरथो विलंघ्य यत्.......—रघु०, ९।७४

५. तं सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः........—रघु०, १६।२

६. ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोस्मि।—अभि०, अंक २, पृ० २७

भणति गच्छ धर्मो मे भविष्यतोति' (विक्रम०, अंक ३, पृ० २०६)। पशुओं और पक्षियों के अतिरिक्त मछलियाँ भो उस समय के आहार में महत्त्वशील स्थान रखती थीं। मछुआ एक जाति-विशेष था, जिसका पेशा ही मछलियाँ पकड़ना[१] और उनको बेचना था। रात-दिन यही काम करने से उनके शरीर सदा मछलियों की दुर्गन्ध से भरे रहते थे[२]। मांस खाने की विधि का एक स्थान पर संकेत है। आज भी सलाइयों में मांस के छोटे-छोटे टुकड़े पिरोकर ऊपर रख दिए जाते हैं, नीचे आग जलती है। ये खाने में बहुत स्वादिष्ट समझे जाते हैं। इस प्रकार के मांस पकाने का संकेत 'शूल्यमांस' में मिलता है। (अभि०, अंक २, पृ० २६)। मछलियाँ कई प्रकार की होती थीं। इनमें रोहू[3] का नाम कवि ने अभिज्ञानशाकुन्तल में लिया है। इसो के पेट में अंगूठी मिली थी।

मांस के प्रकार—अतः मांस के प्रकार के नाते तीन वर्ग हो जाते हैं। पशुओं का मांस, पक्षियों का मांस और मछली। पशुओं में हिरन, सिंह, सूअर, जंगली भैंसा, बारहसिंघा का मांस खाया जाता था। पक्षी प्रत्येक प्रकार के ही खा लिए जाते होंगे। मछलियाँ भो सभी खाद्य-पदार्थ थीं। हाथी को छोड़ कर सभी भक्ष्य थे। यहाँ तक कि गाय का मांस भी। मधुपर्क में किसी समय इसका विशेष स्थान था[४]। मछली की गन्ध पहचानना, बाजार में बेचना आदि मछलियों के प्रचार का साक्षात् प्रमाण है।

---

१. अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।
—अभि०, अंक ६, पृ० ९७

२. जानुक विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्।
—अभि०, अंक ६, पृष्ठ ९८

३. एकस्मिन् दिवसे खंडशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमंगुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयार्थं दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः।
—अभि०, अंक ६, पृ० ९८

४. The Manava gr. 1. 9. 22 says that the veda declares that Madhuparka must not be without flesh and so it recommends that if the cow is let loose, goat's meat may be offered. Band. gr. says when the cow is let off the flesh of a goat or ram may be offered or some forest flesh (of a deer etc.) may be offered as there can be no madhuparka without flesh.
—History of Dharmshastra, Page 545

नोट : इससे मालूम होता है कि पहले गाय का मांस भी खाया जाता था। गाय को पवित्र मानने के कारण इसके स्थान पर बकरे और हिरन का मांस खाया जाने लगा।

प्राप्ति स्थान—शिकार के द्वारा ही मांस की प्राप्ति नहीं होती थी; अपितु दूकानें भी थीं जहाँ मांस बिकता था। ये दूकानें वहुधा एक ही स्थान पर होती थीं। अतः इन पर गीध मँडराते रहते थे[1]।

फल—अतिथि-सत्कार के लिए अथवा किसी से भेंट करते समय, यदि और कुछ न मिले, तो फलों का ही व्यवहार उत्तम समझा जाता था[2]। तपोवन में तो फल आहार के विशेष पदार्थ थे। अतिथियों का सत्कार फलों से ही किया जाता था। दुष्यन्त का सत्कार फलों से ही किया गया था[3]। इसी प्रकार रघुवंश, कुमारसम्भव[4] में भी तपोवन में अतिथियों का सत्कार फलों से किया जाता था, ऐसा प्रसंग कवि ने दिया है। इन फलों में आम,[5]

---

१. भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्रे आमिषलोलुपो भीरुकश्च।
—माल०, अंक २, पृष्ठ २८९

२. सखि! भगवत्याज्ञापयति। अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्र भवती देवी दृष्टव्या। तद्वीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति।—माल०, अंक ३, पृ० २९०

३. हला शकुन्तले! गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर।—अभि०, अंक १, पृष्ठ १७

४. विरोधिसत्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवर्चितातिथि।—कुमार०, ५।१७

५. कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्तिर्दृष्ट्वाऽध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान्।
—ऋतु०, ६।२८

—विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि॥—माल०, ४।१३

—नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः।
—अभि०, अंक १, पृष्ठ १४

—सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति।
क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते॥
—अभि०, अंक ३, पृष्ठ ४७

—चूतपादपस्य पार्श्व ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला।
—अभि०, अंक ६, पृष्ठ ११५

—आताम्रहरितपाण्डुरं जीवितसर्वं वसन्तमासस्य,
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमंगलं त्वां प्रसादयामि।—अभि०, ६।२

—मधुरिके! चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति।
—अभि०, अंक ६, पृष्ठ १०२

—सखीमवलम्ब्य स्थिता चूतांकुरं गृह्णाति।—अभि०, अंक ६, पृष्ठ १०३

—परलोक विधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः।
निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रिय चूतप्रवसो हि ते सखा॥—कुमार०, ४।३८

जम्बु[1] (जामुन), द्राक्षा[2] (अंगूर), खजूर,[3] नारियल,[4] बीजपूरक[5] (नीबू) का नाम कवि के ग्रन्थों में मिलता है। आम का वर्णन सबसे अधिक है।

मसाले—मसालों में इलायची,[6] काली मिर्च,[7] लौंग,[8] नमक[9] का प्रयोग

—छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।—पूर्वमेघ, १८

१. अये इयमातपान्त संधुक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते।
परभृता विहंगमेषु पण्डिता जातिरेषा।—विक्रम०, अंक ४, पृ० २२०
—महदपिपरदुःखं शीतलं सम्यगाहुः प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृता फलमभिमुखपाकं राजजम्बुद्रुमस्य॥
—विक्रम०, ४।२७

२. विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु॥—रघु०, ४।६५

३. खर्जूरी स्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु।
कटेषु करिणां पेतुः पुंनागेभ्यः शिलीमुखाः॥—रघु०, ४।५७
—यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो
भवेत् तथा स्त्रीरत्न परिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।
—अभि०, अंक २, पृ० ३३

४. ताम्वूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥—रघु०, ४।४२

५. समाहितिके देवस्योपवनस्थं बीजपूरकं गृहीत्वागच्छेति।—माल० अंक ३, पृ. २९०
—तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति।—माल०, अंक ३, पृ० २९०
—ननु सन्निहितं बीजपूरकम्।—माल०, अंक ३, पृ० २९१

६. ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिंगितचन्दनासु........—रघु०, ६।६४
—ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः।
तुल्यगंधिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः॥—रघु०, ४।४७

७. बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः॥—रघु०, ४।४६

८. तस्य जातुमलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियाक्लमम्।
आचचाम सलवंगकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानलः॥—कुमार०, ८।२५

९. दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः॥
—रघु०, ५।७३

किया जाता था। नमक घोड़ों को चाटने के लिए भी दिया जाता था[1]। इमली[2] का प्रसंग भी अभिज्ञानशाकुन्तल में मिलता है। भोजन को सुस्वादु बनाने के लिए मसालों के साथ इसका भी व्यवहार कदाचित् किया जाता होगा।

आधुनिक काल की तरह पहले भी मनुष्य पान,[3] सुपारी[4] का प्रयोग किया करते थे। पान के लिए ताम्बूल और सुपारी के लिए पूग शब्द कवि के ग्रन्थों में मिलते हैं।

पेय-पदार्थ (मदिरा)—तत्कालीन भारतीय समाज में मदिरा पीने की प्रचलित प्रथा थी। काम-क्रीड़ा के सहायक द्रव्यों में मधु की प्रमुखता थी। रति-प्रसंग में कालिदास ने बार-बार इसके महत्त्व और प्रभाव का वर्णन किया है। उन्होंने मधु को 'अनंगदीपनम्'[5] 'कामरतिप्रबोधकं'[6] 'मदनीयमुत्तमम्'[7] 'स्मरसखम्'[8] आदि माना है। वे इसको अवला मण्डनम्'[9] भी कहते हैं। मधु स्त्रियों

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ९

२. यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो
भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।
—अभि०, अंक २, पृ० ३३

३. ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः,
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥—रघु०, ४।४२
—ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिंगितचन्दनासु।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥—रघु०, ६।६४
—गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजाः।—ऋतु०, ५।५

४. ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिंगितचन्दनासु.......—रघु०, ६।६४
—ततोवेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्यचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥—रघु०, ४।४४

५. मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनंगदीपनम्।
इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत् पानमम्बिकाम् ॥—कुमार०, ८।७७

६. सुगन्धिनिश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम्।
निशासु हृष्टाः सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ॥
—ऋतु०, ५।१०

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६

८. पतिषु निर्विविशुर्मधुमंगनाः स्मरसखं रसखंडनवर्जितम्।—रघु०, ९।३६

९. चेटि निपुणिके शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनम् इति।
अपि सत्य एष लोकवादः।—माल०, अंक ३, पृष्ठ ३०१

के नयनों को विभ्रम शिक्षा देने में दक्ष है[1]—ऐसा उनका कहना है। मद के कारण उनकी आँखें घूमने लगती थीं, वाणी की गति स्खलित होने लगती थी।

नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ।।—कुमार०, ४।१२

मधु-प्रभाव-जन्य अल्हड़ सौन्दर्य से विभूषित युवतियों के मुख को कामीजन पहले आँख से ही देर तक पीते थे[2]। मधु-जन्य विक्रिया केवल मनचले रसिकों को ही नहीं, सज्जनों के लिए भी सुखद होती थी। मधुपान से रमणीयता बढ़ जाती है, ऐसा उस समय का विश्वास था[3]। कालिदास ने मधुपान से बढ़ी रमणीयता को आम्रता का सहकारता में परिणत हो जाना माना है[4]।

स्त्रियाँ अपने मुख को सुवासित करने के लिए मधुपान करती थीं[5]। इससे उनके मुख से ताजे मौलसिरी के फूल-सी सुगंधि आती थी[6]। अपने एक श्लोक में कालिदास ने मधु की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है। चितवन आदि मधुर-विलास में दक्ष एवं सहायक, बकुल की सुगन्ध को भी पराजित करनेवाले, काम के मित्र (काम को उकसानेवाला) मधु को स्त्रियों ने इतनी मात्रा में पीया, जिससे पति-प्रेम के रस में किसी प्रकार की बाधा न पड़े[7]।

---

१. वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामंडनं कल्पवृक्षः ।।—उत्तरमेघ, १२
—प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्—उत्तरमेघ, ३७

२. घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दु मदकारणस्मितम्।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ।।—कुमार०, ८।८०

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ और पिछले पृ० की पादटिप्पणी, नं० ९।

४. पार्वती तदुपयोगसम्भवां विक्रियामपि सतां मनोहराम्।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ।।—कुमार०, ८।७८

५ पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निश्वासवातैः सुरभीकृतांगः........—ऋतु०, ४।१२
—सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकंपितुं मधु।—ऋतु०, १।३
—सुगन्धिनिश्वास विकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकं।
निशासु हृष्टाः सह कामिभिः स्त्रियः ....—ऋतु०, ५।१०

६. आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः।
अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं........................ ।।—कुमार०, ८।७६

७. ललितविभ्रमबंधविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम्।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमंगनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ।।—रघु०, ९।३६

कवि ने स्त्रियों के ही मधुपान का बार-बार संकेत नहीं किया; अपितु पुरुषों के विषय में भी इसका प्रसंग दिया है। शक्ति में शैथिल्य आने पर वे भी मधुपान करते थे। यह विशेष प्रकार से तैयार किया जाता था। इसके पीते ही पुनः चैतन्य लौट आता था[1]। थक जाने पर तथा मनोरंजन के लिए भी मधुपान किया जाता था। रघु की सेना का मदिरा पिया जाना इसका प्रमाण है[2]।

रति-प्रसंग में स्त्री के साथ पुरुष भी मदिरापान किया करते थे। पार्वती के साथ शिव, इन्दुमती के साथ अज आदि का मदिरापान भी कवि ने इंगित किया है। प्रेयसी के पिये हुए मधु को--शेष मधु को उसी पात्र में पीना, प्रेयसी का अपने मुख में शराब भर कर प्रिय के मुख में डालना, प्रिय का अपने मुख में मदिरा भर कर प्रेयसी के मुख में उड़ेलना अर्थात् प्रिय द्वारा प्रेयसी को स्वोपभुक्त पदार्थ का दान कवि ने सूक्ष्मता से चित्रित किया है।

मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः —कुमार०, ३।३६

ददौ रसात्पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः
अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां संभावयामास रथांगनामा ।।—कुमार०, ३।३७

स्त्रियाँ बहुत चाव से ऐसा मधु चाहती थीं और पुरुष भी बकुल दोहद की

---

१. यत्स लग्न सहकारमासव रक्तपाटल समागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्त योनिरभवत्पुनर्नवः ।। —रघु०, १९।४६

इसमें मधुनिर्गमात् से बसन्त के ही चले जाने की नहीं, अपितु वीर्य के स्खलन होने की भी व्यंजना है।

रति-ओजक मधु के बनाने का प्रकार मल्लिनाथ ने इस प्रकार कहा है—

—तालक्षीरसितामृतामलगुडोन्मत्तास्थिकालाह्वया-
दार्विन्दद्रुममोरटेक्षु कदली गुग्गुलप्रसूनैर्युतम् ।
इत्थं चेन्मधु पुष्पभंग्युपचितं पुष्पद्रुमूलावृतं
क्वाथेन स्मरदीपनं रतिफलं सुस्वादु शीतं मधु ।।
—मेघदूत की टीका, उत्तरमेघ, ५

२. विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् ।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ।।—रघु०, ४।६५
—तांबूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ।।—रघु०, ४।४२

तरह स्त्रीमुख-मधु के लिए लालायित रहते थे[1]। कालिदास ने इस गण्डूष को प्रक्रिया को काष्ठागतस्नेह[2] का प्रतीक माना है।

मदिरा चषक में पी जाती थी। कवि ने एक स्थान पर शिरस्त्राण की उपमा मदिरा चषक से दी है[3]। समृद्ध व्यक्ति रक्तवर्ण के सूर्यकान्त मणि के चषक में मधु का पान किया करते थे[4]।

मदिरा पीने का स्थान और वातावरण भी विशेष ही होता था[5]। पान-भूमि[6] और मदिरालय के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इन स्थानों में मदिरा मिलती थी और एक साथ बहुत से मनुष्य बैठ कर पिया करते थे। ऐसे भी स्थल थे जहाँ मदिरा बिकती तो थी, परन्तु बैठ कर पोने के लिए स्थान नहीं था। ऐसी ही दुकान के सामने श्याल और धीवर ने (अभिज्ञान०) मित्रता पक्की की थी[7]।

---

१. सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरंगनाः।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥—रघु०, १९।१२
—मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि वाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलांजलिम् ॥—रघु०, ८।६८

२. 'इदं च तद्व्रतेः स्वभावकुटिलत्वं अभिव्यक्त्यवस्थामुन्मिषति यदेवं नाम प्रेम-परीक्षा प्रवर्त्तते यद्यहं ते प्रिया तन्मदुच्छिष्टं भुंक्ष्व, यद्यहं ते दयितः तद्भुक्त-शेषमुपभुंक्ष्व।'—भोज, शृंगारप्रकाश, भरतकोश, पृ० ७६२ पर उद्धृत।

३. शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥
—रघु०, ७।४९

४. लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु विभ्रति स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गंधमादनवनाधिदेवताः ॥—कुमार०, ८।७५

५. यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीं सहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गंभीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥—उत्तरमेघ, ५

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३
घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणी पानभूमिरचनाः प्रियासख........—रघु०, १९।११
—ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः।—रघु०, ४।४२

७. कादम्बरी साक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते।
तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः।—अभि०, अंक ६, पृ० १०१

रति-प्रसंग में ग्रीष्म ऋतु में प्रायः पुरानी शराब जिसको कवि पुराण शीधु[1] कहता है, पी जाती थी। यह सहकार की मंजरी के टुकड़े और ताजे पाटल के फूल से सुवासित रहती थी। जाड़ों में पुष्पासव[2] पी जाती थी। अतः स्पष्ट है कि मदिरा कई प्रकार की होती थी। वैसे कवि ने मदिरा के लिए मद्य[3] आसव[4], मधु[5], वारुणी[6], कादम्बरी[7], शीधु[8], मदिरा[9] शब्दों का प्रयोग किया है। अवश्य ही इनमें हलकी, तेज एवं रंग और प्रकार आदि का अन्तर रहा होगा। कवि के ग्रन्थों में चार प्रकार विशेष आए हैं।

---

१. मनोज्ञगन्धं सहकारभंगं पुराणशीधुं नव पाटलं च।
संबध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥—रघु०, १६।५२
—यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥—रघु०, १९।४६

२. पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निश्वासवातैः सुरभीकृतांगः।
परस्परांगव्यतिषंगशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः ॥—ऋतु०, ४।१२
—गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजाः। —ऋतु०, ५।५

३. निशासु हृष्टा सहकामिभिः स्त्रियः पिवन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम्।
—ऋतु०, ५।१०

४. ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ —रघु०, ४।४२
—ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः।—रघु०, १९।१२
—पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्ब।—कुमार०, ३।३८
—अयं चिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन अभिलषतु
तावदासवसुरभिरसं शल्लकीभंगम् ॥—विक्रम०, ४।४४

५. मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि वाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलांजलिम् ॥—रघु०, ८।६८
—विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥—रघु०, ४।६५

६. नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥—कुमार०, ४।१२

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ७, पृ० १६२। ८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

९. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५; मदिरा०,—उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायाः तस्याः समागतमिवाननमाननेन।—विक्रम०, २।१३;—मधुकरमदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं...........—विक्रम, ४।४२

(अ) नारिकेलासव[१]—यह नारियल से बनाई जाती होगी। इसी कारण इसका नाम नारिकेलासव पड़ा।

(ब) फूलों के पराग से बनी मदिरा जिसको पुष्पासव[२] की संज्ञा दी गई है।

(स) अंगूर की बनी शराब[3]।

(द) शीधु[४]—मल्लिनाथ की टीका के अनुसार यह गन्ने से बनाई जातो थी। सहकार की मंजरी के टुकड़े और ताजे पाटल के फूलों से यह सुवासित रहती थी[५]। प्रधानतः उच्च कुल के मनुष्य सुगन्धित मदिरा का प्रयोग किया करते थे।

मदिरा से उन्मत्त मनुष्य को और भी उन्मत्त करने वाली वस्तु मत्स्यण्डिका थी[६]।

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल 'रति-फल'[७] को मदिरा का पर्यायवाची शब्द मानते हैं तथा उनके मतानुसार कादम्बरी[८] जिसका उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तलम् में किया गया है, एक विशेष प्रकार की मदिरा है[९]।

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४।

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० २,—ऋतु०, ४।१२, ऋतु०, ५।५; —नं० ४, कुमार० ३।३८

३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ५,—रघु०, ४।६५

४. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १

५. 'शीधुः पक्वेक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेषः'—टीका मल्लिनाथ, —रघु०, १६।५२

६. वयस्य एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता।—माल०, अंक ३, पृ० २९६

७. ओसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं।—उत्तरमेघ, ५

८. पूर्व उल्लेख।—अभि०, अंक ६, पृ० १०१

९. On page 197, in the names of wines known to kalidasa 'Ratiphal' (Megh Duta II) is left out Similarly Kadambari mentioned in Shakuntala was not a phrase for wine but a particular kind of wine.

—Book Reviews (India in Kalidasa) by V. S. Agarwala, Taken from the Journal of the U. P. Historical Society, Vol. XXII, 1949.

आठवाँ अध्याय

वेश-भूषा

'संस्कृति' शब्द को भारतवासियों ने दर्शन तथा धर्म तक ही बहुधा सीमित रखा। आगे चल कर कुछ मनीषियों ने कला तक इसका विस्तार किया; परन्तु परिधि अभी भी सीमित थी। वे भारतवासियों की ही उस मुख्य विशेषता को भुला बैठे कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उचित सन्तुलन ही मूल लक्ष्य है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का अर्थ स्वतः व्यापक और विस्तृत हो जाता है। अतः संस्कृति के अर्थ को अब और विस्तृत करने की आवश्यकता पड़ी। धर्म और मोक्ष के क्षेत्र को सभी लेते थे, पर अर्थ और काम को महत्त्व किसी ने नहीं दिया था।

'काम' भारतीय जीवन का विशिष्ट अंग है, इसमें कोई संदेह नहीं। यदि ऐसा न होता तो अन्य शास्त्रों के साथ इसकी शिक्षा लेने की कोई आवश्यकता नहीं थी। सारा कलिदास का साहित्य इस बात का साक्षी है कि राजपुत्रों की शिक्षा का यह एक आवश्यक अंग समझा गया। यथार्थ में प्रवृत्तियों को दबाना नहीं, अपितु उचित मात्रा में तथा उचित विधि से उपयोग करना ही स्वास्थ्य और मानसिक विकास की सृष्टि करता है। भारतीय द्रष्टाओं के अनुसार अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के सन्तुलित प्रयोग से ही उन्नति की ओर हम अग्रसर हो सकते हैं। धर्म और मोक्ष के साधन में लगे रहने से तथा अर्थ और काम को बिलकुल छोड़ देने से जीवन एकांगी हो जाता है। उसमें पूर्णता नहीं आ पाती।

यह कामवृत्ति अट्टालिका, महल, अलंकृत नगर, वेशभूषा, साजसज्जा आदि के प्रति रुचि, दास-दासी की बहुलता, सभी में दृष्टिगोचर होती है। सबसे अधिक इस प्रवृत्ति की प्रवणता 'सौन्दर्य-प्रतिष्ठा' में देखी जाती है। कहना अनुचित नहीं कि कवि की दृष्टि इसके सम्पूर्ण अंग पर पड़ी। कवि 'सत्यं शिवं सुन्दरं' पर विश्वास रखते हुए भी सुन्दरं को समुचित स्थान देना नहीं भूला। प्रकृति के साथ-साथ मानव के सौन्दर्य को भी उन्होंने जी भरकर देखा और कहना अत्युक्ति नहीं कि सौन्दर्य के दोनों अंग, मानसिक और शारीरिक, उनकी लेखनी से खिल उठे। हर अंग का उन्होंने सांगोपांग वर्णन किया। उनकी सूक्ष्म विवेचना किसी भी दृष्टि-कोण से क्यों न देखी जाय, सराहना करने योग्य है।

कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा

स्त्री-सौन्दर्य—कवि के अनुसार सौन्दर्य वही है जिससे नित्यप्रति आनन्द मिले। इसके साथ-ही-साथ इसकी प्रतिष्ठा और सार्थकता पति द्वारा प्रशंसा और उसके प्रेम को प्राप्त करना है[1]। कवि सच्चे सौन्दर्य के[2] लिए किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं समझता। कमल सेवार से घिरा होने पर भी सुन्दर लगता है, चन्द्रमा का कलंक भी उसकी शोभा को बढ़ाता ही है। रूप में पवित्रता कवि का उद्देश्य प्रतिभासित होता है। वे इसकी तुलना बिना सूँघे हुए फूल, नखों से अछूते पल्लव, बिना बिंधे हुए रत्न, बिना चखा हुआ नवीन मधु और बिना भोगे हुए पुण्य के फल से करते हैं[3]।

कदाचित् कवि को सुकुमारता प्रिय है; क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति जितनी नारी-सौन्दर्य-वर्णन में रमी, उतनी पुरुष-सौन्दर्य में नहीं। पुरुष-सौन्दर्य में कठोरता और वीरता ही सर्वत्र मिलती है; परन्तु लावण्य, कमनीयता, सलोनापन, स्त्री-सौन्दर्य का प्रतीक है। स्त्री के एक-एक अंग में उन्होंने लावण्य और सुकुमारता के दर्शन किए। प्रतीत होता है, उन्होंने स्त्री के शारीरिक-सौन्दर्य को देखा और खूब देखा। सौन्दर्य की चरमप्रतिष्ठा को दो-चार पंक्तियों में कहना वे अच्छी तरह जानते थे। यक्ष की पत्नी के सौन्दर्य को वे एक ही श्लोक में व्यक्त कर सौन्दर्य का आदर्श प्रस्तुत कर देते हैं।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यं,
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥[4]

---

१. निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेणु सौभाग्यफला हि चारुता।—कुमार०, ५।१

२. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम् ॥
—अभि०, १।१६
—यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननं।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते ॥ —कुमार०, ५।६

३. अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ —अभि०, २।१०

४. उत्तरमेघ, २२

अनन्य सुन्दरी उर्वशी कवि के शब्दों में—

सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुंगघनस्तनी,
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती,
दृष्टा त्वया तर्हि विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥[१]

इसी प्रकार उनकी मालविका भी सौन्दर्य का आदर्श है—

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः,
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालांगुली,
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः ॥[२]

ऋतुसंहार की नायिकाएँ भी ऐसी ही सुन्दरी हैं। 'गुरुनितम्ब, निम्नानाभिः, सुमध्या, कनककमलकान्ति, चारुताम्राधरोष्ठ, श्रवणतटनिषक्त पाटलोपान्तनेत्र, अंससंसक्तकेश, वदनविम्ब, पृथुजघनभरार्त्त, किंचिदानम्रमध्याः स्तनभरपरिखेदान्-मन्दमन्दं व्रजन्त्यः............'[३]

सौन्दर्य के उसी आदर्श को वे बार-बार कहते हैं—

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु ।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनंगो बहुधा स्थितोऽद्य ॥[४]

कवि कृत्रिमावरणगुण्ठित सौन्दर्य की अपेक्षा नैसर्गिक सौन्दर्य को ही श्रेष्ठ एवं उत्तम समझता है। शकुन्तला का लावण्य जितना दुष्यन्त को प्रभावित कर सका, उतना किसी और रानी का नहीं। शकुन्तला के अंग प्रकृति के तथ्यों के समान हैं। उसके अधर किसलयवत्, कोमल विटप का अनुकरण करने वाली बाहु, अंगों में सन्नद्ध यौवन, कुसुमवत् लोभनीय हैं[५]। केसर के वृक्ष के निकट खड़ी हुई वह लता के सदृश प्रतीत होती है[६]। यह विशेषता निसर्ग-कन्या शकुन्तला की ही नहीं है, पार्वती भी अपनी विलास-चेष्टाओं को तन्वी लताओं के पास और विलोलदृष्टि हरिणांगनाओं के पास धरोहर के रूप में रख देती है[७]। यक्ष

---

१. विक्रम०, ४।५९ २. माल०, २।३

३. ऋतुसंहार, ५।१२,१३,१४ ४. ऋतुसंहार, ६।१२

५. अधरः किसलयरागः कोमल विटपानुकारणौ बाहू ।
कुसुमनिव लोभनीयं यौवनमंगेषु संनद्धम् ॥—अभि०, १।२०

६. लता सनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति ।—अभि०, अंक १, पृ० १३

७. लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं, विलोलदृष्टं हरिणांगनासु च ।—कुमार०, ५।१३

अपनी प्रियतमा के अंगों के सौन्दर्य को प्रकृति में देखने की चेष्टा करता है। प्रियंगु की लता में शरीर, डरी हुई हिरणी की आँखों में चितवन, चन्द्रमा में मुख, मोर के पंखों में केश, नदी-वीचिओं में भ्रूविलास की झलक देखकर उसे विरह में कुछ शान्ति मिलती है[1]।

वर्ण—शारीरिक सौन्दर्य में सबसे प्रथम वर्ण आता है। कवि स्त्रियों के सम्बन्ध में गोरे रंग[2] का ही वर्णन करता है[3]। इन्दुमती गोरोचन के समान गौरवर्ण की वर्णित है। इन्दु के समान कान्ति स्त्री-वर्ण की विशेषता है[4]। पुरुष के लिए वर्ण की कोई कैद नहीं, स्वयंवर के समय पाण्डच देश के राजा नीलकमल के समान साँवले कहे गए हैं[5]। राजा रामचन्द्र जो भी साँवले थे। परन्तु उनके सौन्दर्य के सम्मुख सब कुछ तुच्छ था। कवि के अनुसार तो पुरुष का सारा सौन्दर्य वीरता का प्रतीक था। अतः अंग-अंग में वीरता और कठोरता का व्यक्तीकरण है। इस प्रसंग में एक बात बहुत महत्त्वशील है। कवि गौर शरीर-यष्टि वाली कन्या को साँवले वर्ण वाले पुरुष के साथ विवाह करने को महत्त्व देता है। धन के साथ बिजली की जो छवि है वही इस प्रकार की युवती की छटा भी प्रस्फुटित होती है[6]।

शरीरयष्टि—युवावस्था में शरीरयष्टि में अनुपम लावण्य स्वतः ही आ जाता है। मदिरा के अभाव में भी अद्‌भुत मस्ती छा जाती है। इसी कारण स्थिरयौवना[7] उर्वशी का प्रभाव पुरूरवा पर इतना अधिक था। बाल्यावस्था के

---

१. श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा-
न्हंतेकस्मिन्क्वचिदपि न ते चंडि सादृश्यमस्ति ॥—उत्तरमेघ, ४६
—कनककमलकान्ति............ —ऋतु०, ६।३२

२. कनककमलकान्ति...........—ऋतु०, ६।३२

३. त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः —रघुवंश, ६।६५, नितान्तगौरे —कुमार०, ७।१७

४. इन्दुप्रभां—रघुवंश, ६।७०, शरदिन्दुकान्तिवदनं—माल०, २।३
—'कनककमलकान्ति' भी गौरवर्ण का प्रतीक है—ऋतु०, ५।१३

५. इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ—रघुवंश, ६।६५

६. इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ —रघु०, ६।६५

७. सुरसुन्दरी जघनभरासला पीनोत्तुंगघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।—विक्रम०, ४।५६

व्यतीत हो जाने पर पार्वती की शरीरयष्टि, बिना किसी मदिरा के शरीर को मतवाला बना देने वाले यौवन के प्रवेश मात्र से उसी प्रकार खिल उठा, जैसे तूलिका से उन्मीलित चित्र अथवा सूर्य की किरणों से कमल[१]।

सौन्दर्य के दृष्टिकोण से शरीरयष्टि लता के सदृश लहराती हुई उत्तम मानी जाती है। अतः तनु शरीरा कवि की नायिकाओं की विशेषता है[२]। 'सन्नतांगि' और 'सन्नतगात्रि' शब्दों से ऐसा आभासित होता है कि शरीरयष्टि का कुछ झुका हुआ रहना श्रेष्ठ माना जाता है[३]। वैसे भी लजीली प्रकृति की होने के कारण युवतियाँ बहुधा झुकी हुई-सी ही रहती हैं[४]।

शारीरिक अंगों में कवि की दृष्टि हर स्थान पर पहुँची है। उसकी सूक्ष्म दृष्टि से कोई अंग भी अछूता नहीं रह सका। नखशिख वर्णन में कवि की समता में अन्य कोई ठहर ही नहीं पाता।

केश—लम्बे, घने, घुँघराले एवं काले बाल सौन्दर्य की चरम प्रतिष्ठा हैं। पार्वती के केश इतने सुन्दर थे कि यदि पशुओं में भी मनुष्यों के समान लज्जा होती तो चमरी अपने बालों पर इतराना भूल जाती[५]। केश के यथार्थ सौन्दर्य से

---

१. असंभृतं मण्डनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥—कुमार०, १।३१
—उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥
—कुमार०, १।३२

२. तन्वी श्यामा शिखरिदशना........... —उत्तरमेघ, २२
—तनुशरीरा —विक्रम०, ४।५६

३. संनतांगी—सा राजहंसैरिव संनतांगी गतेषु लीलांचितविक्रमेषु।
—कुमार०, १।३४
संनतगात्रि—यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते।
—कुमार०, ५।३६
अवनतांगि—अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः........—कुमार०, ५।८६

४. चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।—रघु०, ७।२५
—शालीनतया —रघु०, ६।८१

५. लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥—कुमार०, १।४८

मयूर के प्रसारित पंख अधिक सादृश्य रखते हैं। वियोगावस्था में इसी शिखीबर्हभार को देखकर उसे (यक्ष को) अपनी पत्नी के केशों का अनायास स्मरण हो आता है[१]।

नितम्ब तक लटके हुए बाल वाली युवती सुन्दरी मानी जाती है[२]। बाल लम्बे होने पर भी यदि सीधे हों तो सौन्दर्य में वृद्धि नहीं होती। इसी कारण कवि कहीं अराल-केश, कहीं कुटिल-केश, कहीं विकुंचिताग्रान् आदि शब्दों का प्रयोग करता है[3]। पार्वती, इन्दुमती, इरावती आदि सभी के अराल-केश थे।

घुँघराली के साथ-ही-साथ घनी एवं काली लटें भी केश-सौन्दर्य को अद्वितीय कर देती हैं। नितान्त घन नील कवि का प्रिय उपमान है[४]।

भ्रू—सर्वत्र लहर ही भ्रू का उपमान आया है। अतः कहा जा सकता है कि लहर के समान अराल अथवा कुछ वक्र भ्रू ही सुन्दर मानी जाती थी[५]। लहरों के अतिरिक्त भ्रू की उपमा धनुष से भी दी गई। कामदेव के धनुष को भी परास्त करने वाली लम्बी तथा मनोहर भ्रू ही सौन्दर्य की पराकाष्ठा का प्रतीक थी। यक्ष की पत्नी नदीवीचि के समान भ्रूयुक्ता थी और पार्वती की लम्बी और मनोहर भ्रू ऐसी प्रतीत होती थी, मानो किसी ने तूलिका लेकर बना दी हो। यही नहीं कामदेव के धनुष की सुषमा भी उसके सम्मुख फीको पड़ गई थी[६]। अतः धनुष के

---

१. श्यामास्वंगं चकितहारिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्। —उत्तरमेघ, ४६

२. शिरोरुहैः श्रोणितटावलंविभिः ....
स्त्रियः रतिं संजनयंति कामिनाम्—ऋतु०, २।१८

३. अरालकेश—रोमांचलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्वानिराक्रामदरालकेश्याः।—रघु०,८१
—कुटिलकेश—रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशिमान्त्यमः।
—कुमार०, ८।४५
—अपराधिनि मयि दंडं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि।—माल०, ३।२२

४. केशान्नितान्तघननीलविकुंचिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः।
—ऋतु०, ३।१९
—निर्माल्यदामपरिभुक्तमनोज्ञगन्धं मूर्ध्नोऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ताः।
—ऋतु०, ४।१६

५. आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भंगो भ्रुवां द्वन्द्वचराःस्तनानाम्। रघु०, १६।६३
—उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्।—उत्तरमेघ, ४६
—भ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरंगैः।—ऋतु०, ३।१७

६. तस्याः शलाकांजननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनंगः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच॥—कुमार०, १।४७

समान भ्रू नहीं अपितु भ्रू के सदृश उसका धनुष था[1]। निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि वंकिम भ्रू में ही अपार सौन्दर्य निहित था। वक्रता के अतिरिक्त लतावत् (अर्थात् तनु) होना, तथा भौंरों की भी श्यामलता को चुरा लेना सुन्दर भ्रू की विशेषता थी[2]। संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि लम्बी, पतली, काली तथा कुछ वक्र भ्रू अनुपम लावण्य का आगार कही जाती थी।

नेत्र--आकार में बड़ी-बड़ी तथा अति आयत, यदि श्रवणतट-निषक्त भी हो, ऐसी आँखें कवि को प्रिय हैं। उनकी उर्वशी के अपांग दीर्घ एवं श्वेत हैं, वह आयताक्षि है[3], मालविका के नेत्र अत्यायत और दीर्घ हैं[4], ऋतुसंहार की कामिनियों के नेत्र श्रवणतट-निषक्त तथा उपान्त-लोहित हैं[5]। पार्वती के नेत्र भी दीर्घ हैं। आकार में कमल के समान खिले हुए हैं। यह कमल का उपमान अन्य स्थानों पर भी देखा जाता है। उत्पलाक्षि कवि का प्रिय सम्बोधन है[6]।

---

१. अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुश्रृंग रतिवलयपदांके चापमासज्य कंठे।
—कुमार०, २।६४

२. तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्। —पूर्वमेघ, ५१
—भ्रूलता—अथ स योषिद्भ्रूलताचारुश्रृंग........—कुमार०, २।६४
—विकुंचितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने........—कुमार०, ५। ७४
—उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः। —अभि०, ३।१३

३. दीर्घापांगा सितापांगा दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत्।—विक्रम०, ४।२१
—यदिदं रथसंक्षोभादंगेनांगं ममायतेक्षणया स्पृष्टं........—विक्रम०, १।१३
—तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं निशावसाने नलिनीव पंकजम्।—विक्रम०, १।६
—प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्या क्षणविघ्नमाचरन्त्या,
यदियं पुनरप्यपांगनेत्रा परिवृतार्धमुखी मया हि दृष्टा।—विक्रम०, १।१८

४. अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति।—माल०, ३।७
—तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः।—माल०, ४।१४

५. श्रवणतटनिषक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः।—ऋतु०, ५।१३

६. दीर्घनयने—कुमार०, ८।५५; उत्पलाक्षि—य उत्पलाक्षिप्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुंजते।—कुमार०, ५।३५; अन्योन्यमुत्पीडयदुपलाक्ष्याः —कुमार०, १।४०; तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य। —कुमार०, ७।२०; मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यति।—उत्तरमेघ, ३७; फुल्लनीलोत्पलाक्षि—ऋतु०, ३।२८ नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि—ऋतु०, ३।१७। विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः।
—ऋतु०, २।१२

विस्तृत आकार में नेत्र तभी लुभावने हो सकते हैं जब उनमें कोई भाव भी हो। अतः कवि नेत्र के साथ चितवन प्रत्येक स्थान में लेता है। चितवन की दृष्टि से सरलता, भोलापन तथा हलका-सा आश्चर्य कवि को अभिप्रेत है। कहना असंगत न होगा कि यह गुण मृगी में अत्यधिक पाये जाते हैं। अतः कवि ने मृग उपमान का कमल से कहीं अधिक प्रयोग किया है। राजा दिलीप जब सुदक्षिणा को लेकर बन जाते हैं तब हरिणों की सरल चितवन को वे सुदक्षिणा के नेत्रों के समान समझते हैं[१]। पार्वती के नेत्र आकार में कमलवत् थे; परन्तु चितवन चंचल मृग की-सी थी[२]। उनकी चितवन को देख कर कवि को यह भ्रम हो जाता है कि हरिण ने उसके नेत्रों का गुण लिया है या पार्वती ने हरिण के नेत्रों का[3]। यही नहीं तपस्या करते समय वे हरिण के नेत्रों से अपनी आँखें नापा करती थीं[४]। उन्होंने जिस प्रकार अपनी विलास चेष्टाओं को लताओं के पास धरोहर के रूप में रख दिया था उसी प्रकार अपनी विलोल दृष्टि हरिणांगनाओं के पास[५]। यक्ष की पत्नी के नेत्र चकित हरिणी के सदृश थे। अथवा वियोगावस्था में यक्ष को अपनी पत्नी के नेत्र इतने अधिक सुन्दर लगते हैं कि चकित हरिणी के नेत्र भी उस सौन्दर्य के सम्मुख फीके लगते हैं[६]। इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् अज को ऐसा लगता है कि उसने पति के मन को बहलाने के लिए अपनी मीठी बोली कोयलों को, चाल हंसिनियों को और चंचल-चितवन हरिणियों

---

१. परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥––रघु०, १।४०

२. अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः ....
यः उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते। –कुमार०,५।३५

३. प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगांगनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगांगनाभिः।––कुमार०, १।४६

४. अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥ –कुमार०, ५।१५

५. पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम्।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणांगनासु च ॥–कुमार०,५।१३

६. चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ––उत्तरमेघ, २२
––श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।............
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥ ––उत्तरमेघ, ४६

को दे दी थी[१]। राजा दशरथ मृग पर वाण चलाने ही वाले थे; परन्तु उनके नेत्रों को देखकर उन्हें अपनी प्रियतमा के नेत्र स्मरण हो आए, अतः उनके हाथ ढीले पड़ गए। उन्होंने वाण चलाने के विचार को अपने हृदय से निकाल दिया[२]। स्त्रियों को यह भोली चितवन मृग ही सिखाते हैं[३]। कालिदास की सभी नायिकाएँ अनन्य-सुन्दरी और मृगनयनी हैं। शकुन्तला और मालविका दोनों ही सारंगाक्षी थीं[४]। यक्षपत्नी मृगाक्षी,[५] उर्वशी मृगलोचनी,[६] ऋतुसंहार की कामिनियाँ 'हरिणेक्षणाक्ष्यः' थीं[७]।

जिस प्रकार मृग का भोलापन, कुछ चञ्चलता और कुछ आश्चर्य का भाव नेत्रों की सुषमा की वृद्धि करता है, उसी प्रकार चकोर की मस्ती भी नयनों को सुभावना वना देने में समर्थ है; परन्तु इतना फिर भी कहा जा सकता है कि मृग का सौन्दर्य इसमें नहीं है और भोलापन तथा आश्चर्यमिश्रित चपलता इसकी तुलना में कहीं अधिक सलोनी है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि जहाँ कवि

---

१. कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनोद्धूतलासु विभ्रमाः ॥—रघु०, ८।५९
—त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरह तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥—रघु०, ८।६०

२. तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः प्रौढप्रिया नयनविभ्रमचेष्टितानि ॥
—रघु०, ९।५८

३. न नमयितुमधिज्यमस्मि सक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥—अभि०, २।३

४. प्रथमं सारंगाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तं,
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम् ॥—अभि०, ६।७
—तया सारंगाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं,
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम्।—माल०, ३।१

५. त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शंके मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति। —उत्तरमेघ, ३७

६. मयाज्ञातं मृगलोचनां निशाचरः कोऽपि
हरति यावन्नु नव तडिच्छ्यामलो धाराधरो वर्षति।—विक्रम०, ४।८

७. अवेक्ष्यमाणा हरिणेक्षणाक्ष्यः प्रबोधयन्तीव मनोरथानि।—ऋतु०, ४।१०

असंख्य बार 'सारंगाक्षि' और 'मृगाक्षि' शब्द का प्रयोग करता है, वहाँ चकोर के समान नेत्र दो ही स्थानों पर वर्णित हैं[१]।

परन्तु स्त्री के मदभरे नेत्र देखकर हो पुरुष अपनी सुध-बुध बिसार देता है। मदिरा से मतवाले नेत्र बड़े ही लुभावने लगते हैं[२]। कवि को जितना 'मृगाक्षि' शब्द प्रिय है, उतना ही 'मदिराक्षि' शब्द भी। इसी शब्द को उसने कई स्थानों पर थोड़ा-बहुत रूपान्तर कर प्रस्तुत किया है[३]। उनको इन्दुमती, शकुन्तला, उर्वशी सभी के नेत्र मदभरे थे, जो पति की वियोगाग्नि को उद्दीप्त ही अधिक कर रहे थे।

बरौनियाँ—बड़ी-बड़ी बरौनियाँ सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हैं। शकुन्तला के न केवल नेत्र ही दीर्घ थे; अपितु बरौनियाँ भी बड़ी-बड़ी थीं[४]।

अधर—कवि के मतानुसार लाल, चिकने और ऊपर का ओष्ठ केवल एक रेखा के द्वारा निचले ओष्ठ से विभक्त सौन्दर्य का लक्षण है[५]। इसकी लाली

---

१. इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम्।—रघु०, ६।५९
—चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।—रघु०, ७।२५

२. पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्ब।—कुमार०, ३।३८

३. मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम्॥—रघु०, ८।६८
—अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणांगनाभिः।
—अभि०, १।२५
—अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे,
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति।—अभि०, ३।४
—उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणायाः तस्याः समागतमिवाननमाननेन।
—विक्रम० २।१३
—मधुकर मदिराक्ष्या शंस तस्याः प्रवृत्तिं वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे।
—विक्रम०, ४।४२

४. उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं वाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम्।
—अभि०, ४।१५

५. रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्पदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः॥
—कुमार०, ७।१८

कहीं विद्रुम[१], कहीं बिम्वाफल[२] अथवा प्रवाल[३] के समान वर्णित हैं। यक्ष की पत्नी के अधर पके बिम्बाफल के समान हैं, पार्वती और मालविका दोनों ही की बिम्बाफलवत् अधरकान्ति ने महादेव और अग्निमित्र को अतिशय प्रभावित किया। संयमी देवताओं के भी पूज्य शंकर जी को दृष्टि तपस्या के टूटने पर सबसे प्रथम पार्वती के अधर पर ही पड़ी। पल्लव के सदृश सुकुमार और बिम्वा के समान चारु अधर[४] वाली कामिनियाँ हर ऋतु में पुरुषों के धैर्य को विलुप्त कर देती हैं[५]। इसका सौन्दर्य लाली में ही है[६]। अतः इसकी कान्ति की उपमा रक्ताशोकवत्[७] और कहीं बन्धूक[८] के पुष्प के समान भी दी गई है। शरद् ऋतु में बन्धूक की कान्ति पुष्प को छोड़ कर स्त्री के अधरों में पहुँच जाती है।

---

१. पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुट विद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥
—कुमार०, १।४४

२. सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफं।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविंदेन निवारयन्ती ॥ —कुमार०, ३।५६
—हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बाफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥
—कुमार०, ३।६७
—दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतं,
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥—माल०, ४।१४
—तन्वीश्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा........ ।—उत्तरमेध, २२

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

४. विलोचनेन्दीवर वारिबिन्दुभिर्निषक्त बिम्बाधरचारुपल्लवाः —ऋतु०, २।१२

५. अधररुचि शोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः।
—ऋतु०, ३।२६

६. कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिषक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः।
उषसि वदनबिम्बैरंससंसक्तकेशैः श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिताः योषितोऽद्य ॥
—ऋतु०, ५।१३

७. रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः....
मदनप्रियः दिशतु वःपुष्पागमामंगलम् ॥—ऋतु०, ६।३६

८ बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्री ॥
—ऋतु०, ३।२७

प्रवासी पथिक तो बन्धुजीव के पुष्प देख कर अपनी पत्नी के अधरों की याद कर रो भी देते हैं।

दशन—परन्तु निर्जीव सौन्दर्य में कोई आनन्द नहीं। अधर कितने ही सुन्दर हों, यदि उन पर मुस्कराहट न हो तो उनकी सुषमा व्यर्थ, नीरस एवं फीकी ही है। सुन्दर मुस्कराहट स्त्री में प्राण फूँक देती है, इसीलिए कवि 'शुचस्मिते'[१] कह, निर्जीव सौन्दर्यको तिरस्कृत कर देता है। मुस्कराहट के समय हलका-हलका दाँतों का दीखना ही कवि को अभिप्रेत है। इस प्रकार के सौन्दर्य की विवेचना करता हुआ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह इतनी सुन्दर लगती है जैसे मूँगे के बीच जड़ी मुक्ता, अथवा लाल कोंपल में कोई श्वेत पुष्प[२]। शिखरिदशना[3] शब्द से व्यक्त होता है कि छोटे-छोटे दाँत उस समय के सौन्दर्य का मापदण्ड थे। दाँतों की उपमा कुन्द की कली से भी दी गई है[४]। मुस्कान पर चमक उठने वाले यह कुन्द की कली के समान दाँत न केवल कवि को ही प्रिय हैं अपितु वसन्त ऋतु भी इनके सौन्दर्य को परास्त करने का प्रयास करता है[५]।

मुख-गन्ध—मदिरा से सुवासित मुख-सौन्दर्य में मद की सृष्टि करता है। स्वयं कवि को मदिरा-सुवासित मुख अति प्रिय है। अनेक स्थानों पर मुख की

---

१. शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत॥
—कुमार०, ५।२०

—ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः॥—रघु०, ८।४९

२. पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥
—कुमार०, १।४४

३. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा नम्ननाभिः।—उत्तरमेघ, २२

४. रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः,
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः।
चूतामोदसुगन्धिमन्दपवनः श्रृंगारदीक्षागुरुः
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मंगलम्॥—ऋतु०, ६।३६

५. परभृतकलगीतं ह्लादिभिः सद्वचांसि स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः।
करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभैरुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम्॥
—ऋतु०, ६।३१

आसव गन्ध का उसने वर्णन किया है। अज को देखने के लिए मदिरा से सुवासित मुख वाली झरोखों से झाँकती हुई स्त्रियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो झरोखों में कमल खिले हुए हों[१]। ग्रीष्म ऋतु में रसिकों को प्रिया के मुख के वाष्प से सुगन्धित मदिरा ही प्रिय लगती है। वर्षा ऋतु में मदिरा पीकर ही अपनी सुवासित सुगन्ध से प्रेमियों के मन में प्रेम उत्पन्न करती हैं[२]। हेमन्त ऋतु में पुष्पों के आसव से सुगन्धित मुख वाले स्त्री-पुरुष अपने सुगन्धित निश्वासों से एक-दूसरे के अंगों को सुरभित करके कामरस का अनुभव करते हुए शयन करते हैं[३]। शिशिर में ताम्बूल, इत्र आदि का प्रयोग कर तथा पुष्पासव से मुख को सुगन्धित कर स्त्रियाँ शयन-गृह में पति के सम्मुख जाती हैं[४]।

किसी-किसी में यह मुखोच्छ्वासगन्ध नैसर्गिक भी होती है। उर्वशी का मुखोच्छ्वास कमल की सुगन्ध के समान मधुर एवं आह्लाददायक है। स्वयं भौंरा तक इसको अनुभव कर लेने के पश्चात् कमल को प्यार करना छोड़ देता—ऐसा पुरूरवा अनुभव करता है[५]। यक्ष की पत्नी की मुखोच्छ्वास धरती के समान सोंधी है। अर्थात् जिस प्रकार पानी पड़ने पर पृथ्वी में से सोंधी-सोंधी गन्ध आती है, वैसी ही उसके मुखोच्छ्वास में भी थी। इसी को याद करके यक्ष दिन-प्रतिदिन कृश होता चला जाता है[६]। पार्वती के श्वास से कमल के समान गन्ध निकला

---

१. तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥—रघु०, ७।११

२. प्रियामुखोच्छ्वास विकम्पितं मधु सुतंत्रिगीतं मदनस्य दीपनं,
..................शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः॥—ऋतु०, १।३
—ससीधुभिः स्त्रियः रतिं संजनयन्ति कामिनाम्।—ऋतु०, २।१८

३. पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रे निश्वासवातैः सुरभीकृतांगः।
परस्परांगव्यतिषंगशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः॥—ऋतु०, ४।१२

४. गहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजाः।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः॥—ऋतु०, ५।५

५. यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं
तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन्।—विक्रम०, ४।४२

६. धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पंचबाणः क्षिणोति।—उत्तरमेघ, ४८

करती थी। अतः आकर्षित होकर भौंरे उनके लाल-लाल ओठों के पास आते थे, जिन्हें वे घबरा कर छोटे-छोटे कमलों से मार कर भगा देती थीं[१]।

वाणी—जिस प्रकार चंचल, बाँकी चितवन से रमणीयता में वृद्धि होती है, उसी प्रकार कोयल के समान मीठी वाणी भी सबका हृदय आकर्षित कर लेती है। पार्वती की वाणी तो कोयल से भी मधुर थी, यही नहीं उनकी मधुर वाणी के सम्मुख कोयल की मीठी बोली भी विना मिले वीणा के तार के सदृश कर्णकटु प्रतीत होती है[२]। इन्दुमती कीं मृत्यु के पश्चात् उसकी मीठी बोली ही कोयल को मिल जाती है। ऐसा लगता है मानो अज का दिल बहलाने के लिए वह अपना गुण कोयल में छोड़ जाती है[३]। शूर्पणखा राम को रिझाने के लिए कोयल के समान मीठी वाणी का प्रयोग करती है; परन्तु सीता के हास से जल कर कर्कश एवं कठोर हो जाती है, इसी से लक्ष्मण ताड़ लेते हैं कि यह स्त्री बड़ी खोटी है[४]।

मुख-विम्ब—मुख प्रायः दो प्रकार का पाया जाता है। चन्द्रविम्ब की तरह अथवा कमल की तरह कुछ लम्बा। कवि गोल मुख को अधिक प्रतिष्ठा देता है। उनकी इन्दुमती पूनो के चन्द्रमा के समान गोल मुख वाली थी[५]। उर्वशी पूर्ण

---

१. सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं विम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती॥—कुमार०, ३।५६
—मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना........
—कुमार०, ५।२७

२. स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना॥—कुमार०, १।४५

३. कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतं।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥—रघु०, ८।५९
—त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः॥
—रघु०, ८।६०

४. लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामंजुवादिनीं,
शिवाघोरस्वनां पश्चाद्बुबुधे विकृतेति ताम्।—रघु०, १२।३९

५. अथांगदाश्लिष्टभुज भुजिष्या हेमांगदं नाम कलिंगनाथम्।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं वालामवालेन्दुमुखीं वभाषे॥—रघु०, ६।५३

चन्द्रमा के समान मुखवाली अनन्य सुन्दरी थी[1] । पार्वती के मुख में चन्द्रमा और कमल दोनों के ही गुण पाये जाते हैं[2] । मालविका की मुख-कान्ति शरत्कालीन इन्दु के समान थी[3] । ऋतुसंहार की कामिनियाँ चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर मुखवाली हैं[4] । कमल भी यथास्थान मुख का उपमान बनकर आया है[5] ।

बाहु—लताके सदृश लम्वी, पतली तथा सुकुमार बाहुएँ सौन्दर्य का आगार समझी जाती थीं । गहनों से सजी भुजलताएँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानो फूलों के बोझ से झुकी हुई हरी बेलों की टहनियाँ । कभी कवि को ये शाखाएँ धृत-भूषण बाहुकान्ति को हरती हुई भी आभासित होती हैं[6] । पार्वती की बाहुएँ सिरस के फूल से भी अधिक कोमल थीं इसलिए कामदेव ने महादेव जी के गले में पार्वती की भुजलताओं का फन्दा डाला था[7] ।

---

१. न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनंगविचेष्टितम् ।
अभिमुखीष्विवकांक्षितसिद्धिषु व्रजति निर्वृत्तिमेकमपदे ननः ॥
—विक्रम०, २।९

—बर्हिण त्वामित्यभ्यर्थये आचक्ष्वमेतत अत्र वने
भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता ।
निशामय मृगांकसदृशवदना हंसगतिः अनेन
चिह्नेन ज्ञास्यस्याख्यातं तव मया ॥—विक्रम०, ४।२०

२. चन्द्रं गतापद्मगुणान्न भुंक्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोलो द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥
—कुमार०, १।४३

३. दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः........—माल०, २।३

४. वदनविजितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तरुण्यः रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेश्म ।
................प्रवलमदनहेतोस्त्यक्तसंगीतरागाः ।—ऋतु०, ३।२३

५. विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी...........—ऋतु०, ३।२८
—रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः ।
कुन्दापीडविशुद्धदंतनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः ॥—ऋतु०, ६।३६
—पुंडरीकमखि पूर्वदिङ्मुखं केतकैरिव रजोभिराहतम् ।—कुमार०, ८।५८

६. श्यामालताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम् ।
—ऋतु०, ३।१८

७. शिरीषपुष्पाधिक सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति में वितर्कः....—कुमार०,१।४१

कमल के समान लाल, सुकुमार और सुन्दर हथेलियाँ लावण्य का चिह्न समझी जाती थीं[1]। अथवा मूँगे जैसे लाल-लाल कोमल पल्लव अथवा कोंपल के समान सुकुमार हथेलियाँ बाहुलता के सौन्दर्य को बढ़ा देती थीं[2]।

पयोधर—यौवन का प्रवेश-द्वार है पयोधर। यौवन की वृद्धि के साथ इसकी भी वृद्धि होती है। पूर्ण यौवन में सौन्दर्य खिल उठता है और उन्नत, विशाल एवं पीन स्तन ही सौन्दर्य में मद प्रवाहित करते हैं। कवि की सभी नायिकाएँ यौवनवती हैं, अतः सभी के स्तन गुरु, पीवर, उन्नत, पीन तथा विशाल हैं[3]।

आकृति में घड़े-जैसे पयोधर स्थान-स्थान पर वर्णित हैं[4]। कदाचित् इसीलिए कवि मण्डलाकार स्तन अथवा स्तनमण्डल का प्रयोग करता है[5]। गोलाई के

---

१. मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया
विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव।—माल०, ५।६

२. करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभैः उपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम्।
—ऋतु०, ६।३१

३. एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः।
गाढांगदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते॥—रघु०, १६।६०
—तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम्॥—रघु०, १९।३२
—यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः॥—रघु०, १९।९
—स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवना।—ऋतु०, १।७
—दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसिततुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः।
—ऋतु०, २।२६
—विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः।—माल०, ३।७
—मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः।
मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः॥—विक्रम०, १।७

४. यः हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।—रघु०, २।३६
—अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
—कुमार०, ५।१४

५. सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः
..................विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः।—ऋतु०, १।८
—तन्वंशुकैः कुंकुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि।—ऋतु०, ६।५

अतिरिक्त उसमें कड़ापन भी होना चाहिए। 'स्तनेषु कठिनः' यौवन की विशेषता है[१]। विरह अथवा किसी अन्य सन्ताप से यह कठोरता विलीन हो जाती है,[२] पयोधरों में शिथिलता के साथ कुछ झुकाव भी प्रारम्भ हो जाता है।

चकवा-चकवी के जोड़े के समान[३] युगल स्तन जितने पीन एवं उन्नत होंगे उतने ही घने होते जायँगे[४]। वे उभर कर एक-दूसरे से सटते चले जायँगे। इस प्रकार उनके बीच का अन्तर अल्प-अतिअल्प होता चला जाएगा[५]। यही सौन्दर्य है। पार्वती के पयोधरों के बीच यह अन्तर इतना कम हो गया कि मृणाल का सूत्र भी नहीं समा सकता था[६]।

एक गुण और कवि ने एक-दो स्थानों पर परिलक्षित किया है—स्तनों के भार से कुछ आगे झुका रहना[७] अथवा स्तन-भार से चाल का धीमी होना[८]।

नाभि—पानी की भँवर के समान गहरी नाभि में कवि सौन्दर्य देखता है। इन्दुमती 'आवर्त्तमनोज्ञनाभि' युक्त थी। कुश की रानियों की नाभियाँ भी आवर्त्त-

---

१. नेत्रेषु लोलः मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु। —ऋतु०, ६।१२

२. क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्ययुक्तस्तनं,
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।—अभि०, ३।८

३. आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भंगो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम्।
—रघु०, १६।६३

४. सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः।
—विक्रम०, ४।५६

५. अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वतपर्वसु सन्नता।
इदमनंगपरिग्रहमंगना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव॥—विक्रम०, ४।४६

६. अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥—कुमार०, १।४०

७. श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।—उत्तरमेघ, २२
—आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥
—कुमार०, ३।५४

८. न दुर्वहश्रोणि पयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः।—कुमार०, १।११
—पृथुजघनभरार्त्ताः किंचिदानम्रमध्याः स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः।
—ऋतु०, ५।१४

शोभा को प्राप्त थीं। यक्ष-पत्नी भी सुन्दरता के इस लक्षण को धारण किए हुए थी[1]। आवर्त्तनाभि के समान निम्ननाभि का भी प्रयोग कवि ने किया है[2]। आकार में चाहे थोड़ा परिवर्तन हो, पर तात्पर्य दोनों से ही गहरी का है।

नतनाभि के नीचे पतली रोमराजि, जो यौवन का सोपान है, सौन्दर्य के दृष्टिकोण से उत्तम मानी जाती है। पार्वती की यह रोमराजि कमर पर बँधी रशना के बीच में स्थित नीलम की कान्ति-लहर-सी जान पड़ती थी[3]। वर्षा की नव-फुहार से यह रोमराजि आनन्दित-सी होती है, अतः रोमांच हो जाने से खड़ी हो जाती है[4]।

कटि--उन्नत, पीन, पयोधर के पश्चात् कवि की दृष्टि कटि-प्रदेश की ओर विशेष रूप से मुड़ जाती है। पयोधर जितने उन्नत, गुरु, पीन एवं विशाल हों उतने ही सुन्दर माने जाते हैं और कटि जितनी कृश और तनु हो उतनी ही उत्तम है। क्षीण तथा कृश कटि सौन्दर्य को बढ़ा देती है कालिदास इसे कहीं नहीं भूले। उन्होंने अपनी प्रत्येक नायिका की कमर पतली बताई है और इसी पतली कमर को कहीं वे पेशलमध्या[5], कहीं वेदिविलग्नमध्या[6], कहीं मध्ये

---

१. नृपं तमावर्त्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री।--रघु०, ६।५२
--आवर्तशोभानतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम्।
--रघु०, १६।६३
--वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः सलिलसुभगं दर्शितावर्त्तनाभेः।--पूर्वमेघ, ३०

२. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वविम्वाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।--उत्तरमेघ, २२
--त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा।--ऋतु०, ५।१२

३. तस्या प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः॥--कुमार०, १।३८

४. नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजिं ललितवलिविभंगैर्मध्यदेशैश्च नार्यः।
--ऋतु०, २।२६

५. एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितवालचूता,
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा................--रघु०, १३।३४

६. मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।--कुमार०, १।३९
--तया वियुक्तस्य विलग्नमध्यया भविष्यसि त्वं यदि संगमाय मे।
--विक्रम०, ४।६७

क्षामा[1], कहीं सुमध्या[2], कहीं मध्यगता सुमध्यमा[3], कहीं तनुमध्या[4], कहीं कृशोदरि[5], कहीं पाणिमितो मध्यः[6] आदि-आदि शब्दों से व्यक्त करते हैं। शकुन्तला की पतली कमर विरह में और भी पतली हो जाती है; परन्तु फिर भी उसकी सुन्दरता में कोई अन्तर नहीं आता, वह वायुस्पर्श से मुरझाई पत्तियों वाली माधवी लता के समान लगती है[7]।

त्रिवलय--कवि की सूक्ष्म दृष्टि से त्रिवलय की भी शोभा नहीं छूट सकी। उसकी दृष्टि के अनुसार मानो कामदेव को ऊपर स्तन आदि अंगों तक चढ़ा ले जाने के लिए नवयौवन मानो यह सोपान रच देता है[8]। वर्षाऋतु में त्रिवलय पर फुहारों के पड़ने से तो रोमराजि सिहर कर खड़ी हो जाती है इस छोटी-सी बात को भी कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से क्षण भर को भी न हटा सका[9]।

---

१. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः। --उत्तरमेघ, २२
--विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति।--माल०, ३।७

२. त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा। —ऋतु०, ५।१२

३. शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा........
—कुमार०, ५।२०

४. अनेन तनुमध्या मुखरनूपुराराविणा नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः........
--माल०, ३।१७

५. रक्ताशोककृशोदरी क्वनुगता त्यक्त्वानुरक्तं जनं।--विक्रम०, ४।६२
--विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि।
—कुमार०, ५।४२

६. मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं...................--माल०, २।३

७. क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्ययुक्तस्तनं,
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।...............
--अभि०, ३।८
—शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते।
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी॥--अभि०, ३।८

८. मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥—कुमार०, १।३९

९. नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजि ललितवलिविभंगैर्मध्यदेशेश्च नार्यः।
--ऋतु०, २।२६

नितम्ब—स्त्रियाँ गजगामिनी ही सुन्दरी मानी जाती हैं। अतः विशाल गुरु नितम्ब ही सौन्दर्य का मापदण्ड है[1]। उसकी विशेषता एवं पराकाष्ठा भारी एवं गोल में है[2]। अतः एक स्थान पर उर्वशी के नितम्ब चक्र के समान कहे गए हैं[3]। नितम्ब के भार से धीरे-धीरे चलना शुभ लक्षण माना गया है। कवि ने अपनी नायिकाओं में इस विशेषता को भी चित्रित किया है[4]।

नितम्ब की एक विशेषता और कवि ने शकुन्तला और उर्वशी में दिखाई है। नितम्ब के भार से एड़ी का निशान गहरा पड़ना शुभ लक्षण माना जाता है[5]। कुंज के द्वार पर दुष्यन्त पीली रेती में भारी नितम्बवाली सखियों के पैरों के उन

---

१. एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः
गाढांगदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ।—रघु०, १६।६०
—नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥—रघु०, ७।२५
—हारैः सचंदनरसैः स्तनमंडलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः ।
—ऋतु०, ३।२०
—त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा । —ऋतु०, ५।१२
—विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः ....—माल०, ३।७
—पृथुनितम्ब नितम्बवतो तव । —विक्रम०, ४।४६
२. नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्वविम्वा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ।
—ऋतु०, ३।३
—दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्वैः ।
—ऋतु०, २।२६
३. रथांगनामन्वियुतो रथांगश्रोणिविम्वया
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृत्तः । —विक्रम०, ४।३७
४. तन्वीश्यामा शिखरिदशना ....
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम् ॥ —उत्तरमेघ, २२
—स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव । —अभि०, २।२
—नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्वविम्वा मन्दं गतिमश्वमुख्यः ।—कुमार०, १।११
५. पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्या दृश्येत चारुपदपंक्तिरलक्तकांका ।
—विक्रम०, ४।१६
—अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् । —अभि०, ३।६

चिह्नों को देखता है जो एड़ी की ओर गहरे और आगे की ओर उठे हुए हैं। पुरूरवा उर्वशी के इसी चिह्न को ढूँढने की चेष्टा करता है। इसी से उसके मार्ग का, जहाँ गई थी, आभास हो सकता था।

जघनप्रदेश—पृथु जघन अथवा भरा हुआ जघनप्रदेश ही स्त्री को सुन्दर बनाता है। भरे जघनप्रदेश से ही चाल धीमी होती है[१]। जिसके कारण स्त्रियाँ गजगामिनी कहलाती हैं। जाँघ चिकनी और ढलवाँ अच्छी मानी जाती है। अतः इसके सौन्दर्य के लिए केले[२] अथवा हाथी की सूँड़ से[३] इसकी उपमा दी जाती है। पार्वती में ये दोनों ही गुण हैं[४]। विधाता ने उसके जघन-निर्माण के लिए सुन्दरता की समस्त सामग्री एकत्र की (कुमार०, १।३५)।

चरण—कवि की पार्वती सौन्दर्य की प्रतिष्ठा थीं। उनके चरणों की सुन्दरता स्वभाविक लाल, कोमल तथा कुछ ऊपर को उठे अंगुष्ठ में निहित थी[५]। इस प्रकार

---

१. रे रे हंस किं गोप्यते गत्यनुसारेण मया लक्ष्यते केन, तव शिक्षिता एषा गतिर्लालसा सा त्वया दृष्टा जघनंभरालसा।—विक्रम०, ४।३२

—सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुंगघन-
स्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः।—विक्रम०, ४।५९

—पृथुजघनभरार्त्ताः किंचिदानम्रमध्याः स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः।
—ऋतु०, ५।१४

—अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।—अभि०, ३।६

२. क्व न खलु सा रम्भोरुर्गता स्यात्।—विक्रम०, अंक ४, पृष्ठ २१७

—अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।—रघु०, ६।३५

—संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्।—उत्तरमेघ०, ३८

३. कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम्।—रघु०, १३।१८

—अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।
—अभि०, ३।१९

—सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः।
आसंजयामास यथाप्रदेशं कंठे गुणं मूर्त्तमिवानुरागम्॥—रघु०, ६।८३

४. करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपार्वतनशंकि मे मनः।—रघु०, ८।५३

—नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
—कुमार०, १।३६

५. अभ्युन्नतांगुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्॥—कुमार०, १।३३

के चरणों से चलती हुई वे ऐसी प्रतीत होती थीं मानो वे पग-पग पर स्थलकमल उगाती हुई चल रही हों। शकुन्तला के पैर कमल के समान सुकुमार एवं अरुण थे[1]। चमचमाते हुए नखोंवाले तथा नई कोंपल के समान पंजों से युक्त मालविका के कारण अग्निमित्र को अतिशय प्रभावित कर देते हैं[2]। यथार्थ में कमल के समान उसके चरणों के प्रहार से यदि अशोक में कलियाँ न फूटीं तो अग्निमित्र के अनुसार सुन्दरी के चरणाघात से फूल उठने की चाह जो मस्त-प्रेमियों के मन में होती है यह अशोक के मन में व्यर्थ ही हुई[3]। पार्वती के समान मालविका की भी उँगलियाँ कुछ ऊपर को उठी थीं[4]।

चाल—गजगामिनी और हंसगति से परिलक्षित होता है कि धीरे-धीरे चलना ही शुभ माना जाता था। इन्दुमती अपनी सुन्दर चाल को अपनी मृत्यु के उपरान्त मानों कलहंसिनियों को देती है[5]। युवती पार्वती झनझनाते हुए नूपुरों से जब चलती थीं तो ऐसा प्रतीत होता था, मानों राजहंसों ने नूपुर की मधुर ध्वनि को सीखने के लोभ से अपनी सुन्दर चाल पहले ही उसे सिखा दी हो[6]। स्वयं उर्वशी भी हंस की तरह गतियुक्ता थी[7]। कभी-कभो हंस भी

---

१. अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।
--अभि०, ३।१६

२. नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
--माल०, ३।१२

—आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये॥ --माल०, ३।१६

३. अनेन तनुमध्या मुखरनूपुराराविणा नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन सम्भावितः।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम्॥
—माल०, ३।१७

४. मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालांगुली। --माल०, २।३

५. कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्........ —रघु०, ८।५९

६. सा राजहंसैरिव संन्नतांगी गतेषु लीलांचितविक्रमेषु।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि॥ --कुमार०, १।३४

७. निशामय मृगांकसदृशवदना हंसगतिः अनेन चिह्नेन ज्ञास्यस्याख्यातं तव मया।
--विक्रम०, ४।४०

—यदि हंस गता न ने नतभ्रूः सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे।
—विक्रम०, ४।३३

--सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुंगघन-
स्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः।—विक्रम०, ४।५९

सुन्दरियों की इस मन-भावनी चाल को परास्त करने की चेष्टा करते हैं[१]।

मुद्रा—सुन्दर अंग विशेष मुद्राओं में और भी सुन्दर लगते हैं। इसके अतिरिक्त मुद्राओं से विशेष भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। पार्वती का सुन्दर मुख को कुछ तिरछा कर खड़ा रह जाना, शिव के प्रति उनके प्रेम को व्यक्त करता है[२]। शकुन्तला का कविता रचते समय भ्रू को ऊँचा करना, उसकी विचार-तन्मयता के साथ दुष्यन्त के प्रति अनुराग को भी प्रमाणित करता है[३]। इसी प्रकार बाएँ गाल पर हाथ रखे बैठी शकुन्तला भी दुष्यन्त की स्मृति में अपनी सुध भूली हुई लगती है[४]। इसी प्रकार धनुष खींचने की मुद्रा में जब सुदर्शन अपने शरीर का ऊपरी भाग कुछ आगे कर लेते थे, बाल ऊपर बाँध लेते थे, बाईं जाँध झुका देते थे, और बाण चढ़ाकर, धनुष की डोरी कान तक खींच लेते थे, तब बहुत प्यारे लगते थे[५]। इसी प्रकार पार्वती के सौन्दर्य से प्रभावित होकर क्षण भर में ही सँभल कर उन्होंने इधर-उधर देखा कि इस विकार को मन में लाया कौन? उन्होंने उसी समय कामदेव को धनुष खींचकर गोल किए, दाहिनी आँख की कोर तक चुटकी से धनुष की डोरी खींचे, दाएँ कन्धे को झुकाए और बाएँ पैर का घुटना मोड़े, बाण चलाने की इस मुद्रा में देखा[६]। समाधि में स्थित महादेव जी की निश्चल मुद्रा भी न केवल उनके संयम

---

१. हंसैर्जिता सुललिता गतिरंगनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः।
—ऋतु०, ३।१७

२. विवृण्वती शैलसुतापि भावमंगैः स्फुरद् बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥ —कुमार०, ३।६८

३. उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥—अभि०, ३।१३

४. वामहस्तोपहितवदना लिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तया आत्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम्॥
—अभि०, अंक ४, पृ० ६०

५. व्यूहस्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽचित सव्यजानुः।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः॥ —रघु०, १८।५१

६. स दक्षिणापांगनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥ —कुमार०, ३।७०
—पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवांकमध्ये॥

को व्यक्त करती है, अपितु उनके हृदय की एकाग्रता और अनन्यता को भी इससे पुष्टि होती है। इसी प्रकार नृत्य करने के पश्चात् जब मालविका अपना बाँया हाथ नितम्ब पर रख लेती है, दूसरा हाथ श्यामा की डाली के समान ढोला और मधुर प्रतीत होता है, नीचे आँखें किए अपने पैरों के अँगूठे से धरती पर बिखरे हुए फूलों को धीरे-धीरे सरकाती रहती है, उसकी यह मुद्रा नृत्य करते समय के सौन्दर्य से कहीं अधिक प्रभावशाली और लावण्य का आगार अग्निमित्र को प्रतिभासित होती है[1]। अग्निमित्र को उसकी यह डाह-मुद्रा भी बड़ी प्यारी लगती है, जिसमें भौंह के चढ़ने से उसके माथे की बिन्दी हट जाती है और निचला ओष्ठ फड़कने लगता है[2]।

पुरुष-सौन्दर्य—कालिदास ने जितना स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन किया उतना पुरुष-सौन्दर्य का नहीं। नारी की सुकुमारता को उन्होंने अंग-अंग में दिखाया, इसलिए कि उसके लावण्य के लिए इसकी घोर आवश्यकता थी; पर पुरुष-सौन्दर्य उनकी दृष्टि में वीरता का प्रतीक है। अतः अंग-अंग में उन्होंने विशालता और कठोरता के दर्शन किए। राजा दिलीप का सौन्दर्य देखिए—

'व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहे क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥'—रघु०, १।१३

इसी प्रकार रघु का सौन्दर्य—

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत् ॥ —रघु०, ३।३४

देहयष्टि—कवि ऐसे ही बलवान् शरीर की प्रशंसा करता है जिसका आगे

भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कंठप्रभासंगविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥
—कुमार०, ३।५४, ४६, ४७

१. वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामा विटप सदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
पादांगुष्ठाललितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितिमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥—माल०, २।६

२. भ्रूभंगभिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या ।
कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुः सन्दर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा ॥
—माल०, ४।९

का भाग निरन्तर धनुष खींचने से ऐसा कड़ा पड़ जाय कि उस पर न धूप का ही प्रभाव पड़े, न पसीना ही छूटे[1]।

वर्ण—गौर अथवा श्याम कोई भी वर्ण हो, कवि इसमें कोई हानि नहीं समझता। स्वयं राम श्याम वर्ण के थे और सीता गौरवर्णा। इसके पहले भी इन्दुमती गोरोचन के समान गौर थी और सुनन्दा ने पाण्ड्य देश के राजा का वर्णन किया कि यह नील कमल के समान साँवले हैं। इनसे विवाह कर तुम उसी प्रकार शोभित होगी जैसे घन के साथ बिजली[2]। इसी वंश में नल के, आकाश के समान साँवले वर्ण का पुत्र हुआ था[3]।

नेत्र—विशाल नेत्र पुरुष-सौन्दर्य में भी शुभ लक्षण माने जाते थे[4]। कमल[5] तथा हरिण[6] इनके नेत्रों के भी उपमान बन कर आए हैं।

अधर—लाल ओठ में सौन्दर्य का चिह्न माना जाता है। हिमालय के अधर धातुवत् ताम्र थे[7]। इसका प्रसंग केवल एक ही आया है।

वाणी—स्त्रियों की तरह इनमें भी मधुर वाणी प्रशंसनीय मानी जाती थी। रघुवंशीय क्षेमधन्वा के पुत्र देवानीक इतना मधुर बोलते थे कि शत्रु भी उनका मित्रवत् आदर करते थे[8]।

---

१. अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्त्ति ॥
—अभि०, २।४

२. इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनगौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥—रघु०, ६।६५

३. नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम्।—रघु०, १८।६

४. कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥—रघु०, ४।१३

५. पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः..............—रघु०, १८।४
—पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः......................—रघु०, १८।३०

६. परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु।—रघु०, १।४०
—मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवाप द्विपदं नृसिंहः।—रघु०, १८।३५

७. धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो.......।
—कुमार०, ६।५१

८. वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद्द्विषतामपीष्टः।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् ॥—रघु०, १८।१३

स्कन्ध—ऊँचे और भारी कन्धे वीरता के चिह्न हैं। अतः वृष के समान स्कन्ध का ही, जहाँ पुरुष-सौन्दर्य दिखाया गया है, वर्णन है[1]। जिस प्रकार राम वृष के समान ऊँचे कन्धे वाले थे, वैसे ही रघु भी यौवनावस्था में भारी कन्धे से युक्त हो गए[2]।

वक्षःस्थल—पुरुष के हर अंग में वीरता का प्रदर्शन करने के लिए कवि ने विशालता दिखाई है। जहाँ कहीं वक्षःस्थल का वर्णन है वहाँ कठोरता और विशालता की अभिव्यक्ति के लिए उसने कभी शिलापट्ट[3] के समान, कभी कपाटवत्[4] कहा है। यदि ये उपमान नहीं भी आए हैं तब भी उसने विशाल वक्षःस्थल अवश्य कह दिया है[5]।

भुजाएँ—लम्बी एवं कठोर भुजाएँ पुरुष-सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं। कहीं शालप्रांशु के समान[6], कहीं शेषनाग के समान[7], कहीं देवदारु के सदृश[8], कहीं नगर-परिघ के अनुरूप[9] उसने भुजाओं का सौन्दर्य कहा है। कभी अन्य उपमा

---

१. कलत्रवानहं वाले कनीयांसं भजस्व मे।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कंधः शशास ताम्॥ —रघु०, १२।३४
—व्यूढोरस्को वृषस्कंधः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्र धर्म इवाश्रितः। —रघु०, १।१३

२. युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः........—रघु०, ३।३४

३. तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः। —रघु०, १८।१७
—धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति॥ —कुमार०, ६।५१

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —रघु०, १।१३
—अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः। —रघु०, ६।३२

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —रघु०, १।१३

७. स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्प पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः॥ —रघु०, १४।३१

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३ —कुमार०, ६।५१

९. एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घ भुजो बुभोज। —रघु०, १८।४
—नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीमेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति। —अभि०, २।१५
—तवहृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं परिघगुरुभिर्दोर्भिर्विष्णोः प्रसह्य च रुक्मिणीम्। —माल०, ५।२

न मिलने के कारण उदग्रबाहु[1], आजानुविलम्बि[2] आदि शब्द कह कर ही रह जाता है। लम्बाई के साथ-साथ मोटा होना भी आवश्यक था। पुष्टता के लिए वह जुए के समान उपमान प्रयोग करता है[3]। भुजाओं पर धनुष के खींचने से घट्ठे पड़ना ज्याघातकिरणलांछन अथवा धनुष खींचने से कड़ा पड़ जाना, पुरुष-सौन्दर्य की मुख्य विशेषता मानी गई[4]।

नाभि—गहरी नाभि स्त्रियों के समान पुरुषों को भी सुन्दरता का लक्षण मानी जाती थी[5]। उन्नाभ का यह नाम गहरी नाभि के ही कारण पड़ा था।

कटि—विशालता प्रत्येक अंग में कवि ने चित्रित की है; पर कटि-प्रदेश सूक्ष्म ही अच्छा माना[6]। अवन्तिनाथ के सौन्दर्य की यह मुख्य विशेषता थी।

जघन-प्रदेश—बाहुओं के समान जंघाओं का भी दीर्घ होना शुभ लक्षण कवि ने माना[7]। राम की भुजाएँ और जघन दोनों ही शेषनाग के समान दीर्घ थे।

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ५--रघु०, ६।३२

२. तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन॥ --रघु०, १६।८४

३. युवा युगव्यायतबाहुरंसलः -- रघु०, ३।३४
--अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन।--रघु०, १८।४८

४. ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात धनुषा धनुर्भृतः।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे॥ -रघु०, ११।४०
—देखिए, पादटिप्पणी, नं० २ —रघु०, १६।८४
--ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः।
—रघु०, ६।५५
—देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३ --रघु०, १८।४८
—अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलैशैरभिन्नम्।
--अभि०, २।४
—अनभिलुलितज्याघातांक मुहुर्मणिबन्धात्कनकवलयं स्रस्तंस्रस्तं मया प्रतिसार्यते।
—अभि०, ३।११

५. उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नत नाभिरन्ध्रः।--रघु०, १८।२०

६. अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।—रघु०, ६।३१

७. देखिए, पृ० १९० की पादटिप्पणी, नं० ७

चरण—प्रभात की लाल किरणों से भरे कमल के समान चरण तथा लाल नख चरण-सौन्दर्य का प्रतीक समझा गया[1]। अग्निवर्ण में असंख्य दोषों के होते हुए भी एक यह गुण था।

स्त्रियों में यदि वायु की-सी चञ्चलता[2] अच्छी समझी गई तो पुरुष सागर के समान गम्भीर[3] तथा विशुद्ध वृत्ति[4] वाले ही श्रेष्ठ एवं उत्तम माने गए। वीर पुरुष की न केवल आकृति ही गम्भीर होनी चाहिए, अपितु हृदय की गम्भीरता भी इतनी ही आवश्यक है।

सौन्दर्य की परिभाषा तथा तत्त्व

नेत्रों का कोई भी सौन्दर्य कितना ही प्रभावित क्यों न करे, हृदय में कितना ही बस क्यों न जाएँ, फिर भी यह अनुभव तथा व्यक्त करना मनुष्य के लिए कठिन अवश्य है कि आखिर सौन्दर्य है क्या वस्तु ? इसके तत्त्व क्या हैं ? आत्मा के लिए इसका प्रयोजन क्या है ?

कालिदास को इन तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान था। वह अच्छी तरह जानते थे कि स्त्री और पुरुष की आकृति में जो सौन्दर्य दीखता है वह प्राकृतिक-सौन्दर्य का ही एक अंग है। अन्यथा स्त्री-सौन्दर्य की वह कोमल पल्लव तथा फूली हुई लताओं से कभी तुलना नहीं करता—

'आवर्जिता किंचिदिवस्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥'—कुमार०, ३।५४

'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ॥'—अभि०, १।२०

---

१. तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपंकजतुलाधिरोहणम् ॥—रघु०, १९।८

२. कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥—रघु०, ८।५९
—त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥—रघु०, ८।६०

३. पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः।—रघु०, १८।४

४. स किंवदन्ती वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्प पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥—रघु०, १४।३१

यावत्पुनरियं सुभ्रूरुत्सकाभिः समुत्सुका सखीभिर्याति सम्पर्कलताभिः श्रीरिवार्तवी ।
—विक्रम०, १।१४

'कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्' ।।—अभि०, ५।१३

कभी-कभी कवि को स्त्री-सौन्दर्य प्राकृतिक सुषमा को भी पार करता हुआ प्रतीत होता है । उसे आभास होता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य स्त्री-सौन्दर्य का अंग है अतः वह प्रकृति में स्त्री-सौन्दर्य देखता है ।

लग्नद्विरेफांजनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ।।—कुमार०, ३।३०

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरवकं श्यामं द्वयोर्भागयोः
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मंजरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीस्थिता ।।—विक्रम०, २।७

यौवन-श्री और सौन्दर्य के विषय में कवि का कहना है कि यह शरीररूपी लता का स्वभाविक श्रृंगार है, विना मदिरा के ही मन को मतवाला बनाने वाला है ।

असम्भृतं मण्डनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ।।–कुमार०, १।३१

सौन्दर्य क्या है ?

सौन्दर्य के अनुभव में जितना आनन्द है, परिभाषा वतानी उतनी ही कठिन । एक कवि का कहना है—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।' अंग्रेजी कवि कीथ का कहना है कि, 'सौन्दर्य वही है जो मनुष्य को सदा आह्लाद प्रदान करे' (A thing of beauty is a joy forever) । रामस्वामी शास्त्री के मतानुसार सौन्दर्य गत्यात्मक गुण है और निश्चल आत्मा के आनन्द की गत्यात्मक अभिव्यक्ति है । सौन्दर्य में मृदुता, अनुकूलता और अतुलनीय छटा का समावेश है; पर यह उसका सार तथा मूलतत्त्व नहीं है । इसमें सदा नवीनता और ताजगी रहती है । यह स्वयं साध्य है; पर साधन नहीं । इसकी उपस्थिति में ही तथा इसी की शक्ति से आत्मा के आनन्द तत्त्व का चरम उत्कर्ष होता है । अतः सौन्दर्य आत्मा के आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति है । इसी कारण ईश्वर को आनन्द, प्रेम तथा सौन्दर्य के नामों से विभूषित करते हैं[1] ।

---

१. Beauty is a dynamic quality and is the dynamic expression of the static bliss of the soul. Softness, symmetry and splendour are among its characteristics but not are its essence. It is sonl

स्वयं कालिदास सौन्दर्य को आध्यात्मिक अर्थ में अधिक लेते हैं। इसकी पुष्टि शकुन्तला के सौन्दर्य के व्यक्तीकरण से होती है—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
.... स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे ॥—अभि०, २।९

उर्वशी के सौन्दर्य का वर्णन करने में वे एक पग और आगे बढ़ जाते हैं। भोग-विलास से दूर रहने वाले ऋषि ऐसा रूप नहीं उत्पन्न कर सकते; वसन्त, कामदेव अथवा चन्द्रमा ने ही ब्रह्मा बन इसकी रचना की होगी—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
श्रृंगरैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतुहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥
—विक्रम०, १।१०

सब में कवि का संकेत है कि सौन्दर्य में चित्र की-सी ताजगी तथा स्फूर्तिदायक आनन्द है। इसमें दिव्यत्व है, अतः इसके लावण्य, सुषमा और सुकुमारता से हृदय में आकर्षण अवश्य होता है। यही सबसे बड़ा कारण है कि सौन्दर्य से सभी बहुत अधिक प्रभावित होते हैं।

सौन्दर्य के तत्त्व—कवि सबसे प्रथम सौन्दर्य के तत्त्वों में सर्वांगपूर्णता को लेता है। अर्थात् जिस सौन्दर्य में कोई अभाव, कोई दोष न हो। मालविका के सौन्दर्य में अग्निमित्र को कोई दोष न खटका। प्रत्येक मुद्रा, प्रत्येक अवस्था में वह एक समान ही सुन्दरी प्रतीत होती थी।

'अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य'—माल०, अंक २, पृ० २८२

'अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति'– माल०, अंक २, पृ० २८२

अनवद्यता के साथ-साथ कान्ति में स्वाभाविकता का होना वांछनीय है। दूसरे शब्दों में अक्लिष्ट कान्ति अनवद्यता के उपरान्त दूसरा तत्त्व माना जाता

---

deep evernew and everfresh. It is an end itself and not a means. The bliss element of the soul has the fullest play in its presence and under its power. Beauty is a manifestation of the bliss of the soul. That is God is called by all names Ananda, Prema and saundarya.

Kalidas: His Ganius, Ideals and Influence.
by K. S. Ram Swami Sastri, Vol. II, P. 164.

है। शकुन्तला की यही अक्लिष्ट कान्ति[१] दुष्यन्त को प्रभावित कर गई थी। ऐसा सौन्दर्य मानवों में बिना किसी दिव्यसंयोग के सम्भव नहीं होता। शकुन्तला के सौन्दर्य में मानवत्व तथा देवत्व दोनों का योग था[२]।

सौन्दर्य में वह लावण्य है जिसके लिए वाह्य साधन अपेक्षित नहीं हैं। सौन्दर्य स्वतः शरीर का सबसे बड़ा आभूषण है, जो हर अवस्था में खिल उठता है :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥
—अभि०, १।१९

पार्वती के सौन्दर्य को भी यही विशेपता थी—

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते॥ —कुमार०, ५।९

कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय, निपुण-से-निपुण चित्रकार भी लावण्य की रेखा भर खींच पाता है[३]। जिस प्रकार आभूषण से सौन्दर्यवृद्धि होती है, वैसे ही सौन्दर्य स्वयं आभूषण की शोभा को द्विगणित कर देता है[४]। शरीर जो सौन्दर्यपूर्ण है, आभूषणों का ही आभूषण है। 'आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः'[५]।

सौन्दर्य का चरम तत्त्व उन्होंने शकुन्तला में ही दिखाया है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैरनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥
—अभि०, २।१०

इसमें कोई सन्देह नहीं, कवि की प्रत्येक उपमा साभिप्राय है। फूल और पत्तों में ताजगी और सुकुमारता है, रत्न की ज्योति सदा एक-सी रहनेवाली है,

---

१. इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
—अभि०, ५।१९

२. मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ —अभि०, १।२४

३. यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥—अभि०, ६।१४

४. कंठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥
—कुमार०, १।४२

५. आभरण............—विक्रम०, २।३

शहद आकर्षक है। अतः सौन्दर्य में लावण्य, सुकुमारता, नवीनता और कान्ति ही नहीं, अपितु यह ईश्वर की एक कल्याणदायक तथा पवित्र देन है।

कालिदास का यह भी विश्वास है कि सौन्दर्य और पाप कभी साथ-साथ नहीं रह सकते। सौन्दर्य कभी पापाचार का कारण नहीं होता—

'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति' –अभि०, अंक ४, पृ० ५७

कुमारसंभव में भी इस भाव की पुनरावृत्ति है—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥ —५।३६

कालिदास के समान अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर भी सौन्दर्य की यह विशेषता मानता है[1]।

मानव-आत्मा पर सौन्दर्य का प्रभाव पड़ता अवश्य है। इन्दुमती के सौन्दर्य का प्रभाव स्वयंवर में आए प्रत्येक राजा पर पड़ता है और प्रत्येक के हृदय में उसकी प्राप्ति की लालसा जग पड़ती है[2]। महान् सौन्दर्य अलंकार ही नहीं, अपितु जीवन को भी पवित्र कर देनेवाला है, उसी प्रकार जैसे, लौ दीपक को प्रकाशित करती है और गंगा तीनों लोकों को अलंकृत कर देती है[3]।

कन्याओं और स्त्रियों का वर्णन कवि ने विशेष रूप से किया है। कुमार-सम्भव प्रथम सर्ग में उमा की कन्या वय और यौवनावस्था का अंग-प्रत्यंग चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त मालविका का नृत्य करते समय, दोहद समय, चित्रलेखा का उर्वशी के विषय में कथन—'अपि नाहमेव पुरूरवा भवेयमिति', शकुन्तला का पानी देते समय सौन्दर्य, विरहदग्धा शकुन्तला का लावण्य, यक्ष-पत्नी का 'तन्वी श्यामा शिखरिदशना................'लावण्य का सत्य ही कोई अंग उन्होंने अछूता न छोड़ा[4]।

सुन्दर-सुन्दर बालक और पुरुष भी कवि की दृष्टि से न बचे। भरत का सुन्दर हाथ जो आधा खिला कमलवत् था[5], राजा दिलीप जिसका वक्ष विशाल

---

१. There's nothing ill can dwell in such a temple. (Tempest)

२. रघुवंश, ६।११–१९

३. प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥
—कुमार, १।२८

४. कुमार०, १।३२–४९; माल०, १।३,६, ३।११,१२; विक्रम०, अंक ३, पृ० १९८; अभि०, १।२०, ३।७,८; उत्तरमेघ, २२।

५. अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपंकजम्। —अभि०, ७।१६

था, शाल के समान लम्बी भुजाएँ थीं,[1] रघु जिसका वक्ष कपाट के समान था और जो 'परिणद्धकन्धरः' था[2], दुष्यन्त लम्बा और पुष्ट, सभी अवर्णनीय हैं। सबसे सजीव वर्णन महादेव का वर रूप है। कण्व और मरीचि की शान्तमूर्त्ति भी प्रशंसनीय है।

प्रयोजन—इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास ने सौन्दर्य का शारीरिक तथा लोक-पक्ष अधिकांश में लिया; परन्तु तदपि उन्होंने सौन्दर्य का प्रयोजन आध्यात्मिक ही माना। उन्होंने अच्छी तरह परखा कि जीवन में सौन्दर्य का प्रयोजन है क्या। सौन्दर्य का तभी मूल्य है जब वह हमारे अन्दर श्रद्धा, आदर और प्रसन्नता के भाव उत्पन्न कर दे तथा हम सृष्टिकर्त्ता के प्रति इसके लिए अनुगृहीत हों, यदि यह शौर्यदात्री हो, त्याग और सेवा की प्रेरक हो, स्वार्थ से मुक्त कर हृदय में सजीवता तथा चेतनता की उत्पत्तिकारिणी हो, आत्मा में परमात्मा की अनुभूति प्रदान करनेवाली हो। इसके विपरीत यदि यह मोह और ऐन्द्रिय-लिप्सा से युक्त कर मनुष्य को सांसारिक बनाए, काम और बर्बरता को उत्पन्न करे तो यह निरर्थक ही है। कवि उन्नति की ओर ले जानेवाली सुन्दरता का पुजारी था। इसी के उत्कर्ष के लिए उसने यत्र-तत्र कामान्ध सौंदर्य की भी उत्पत्ति की। कुमारसंभव का 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता', 'स्त्रीणां प्रिया-लोकफलो हि वेशः' उसके हृदय के सच्चे विश्वास की अभिव्यक्ति है। उमा का अपने सौन्दर्य से शिव को न जीत पाना ही प्रमाणित करता है कि सौन्दर्य को भक्ति का और भक्ति को भगवान् का अनुगामी बनना चाहिए।

वस्त्र

संस्कृति के अन्तर्गत अब तक किसी ने अपनी दृष्टि इस ओर नहीं फेरी। किसी ने कभी ध्यान ही नहीं दिया कि भारतवासियों के वस्त्र तथा पहिरावे में भी कोई विशेषता हो सकती है। कौन कह सकता है कि आजकल जिस ढंग से धोती, साड़ी, ब्लाउज, पगड़ी आदि पहनी जाती है वही ढंग पहले भी था। आजकल के और प्राचीन समय के अलंकारों में भी बहुत अन्तर रहा होगा। वस्त्रों के रंग और प्रकार भी कुछ दूसरे ही रहे होंगे।

---

१. व्यूढोरस्को वृषस्कंधः शालप्रांशुमहाभुजः ....—रघु०, १।१३

२. युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षा परिणद्धकन्धरः —रघु०, ३।३४

—अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णुं स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥
—अभि०, २।४

इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उठता है कि कालिदास के समय सिले वस्त्र पहने जाते थे कि नहीं ? समस्त ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन करने से इस बात का कहीं प्रमाण नहीं मिलता। कंचुक या कंचुकी का कोई प्रसंग नहीं है। इसके विपरीत दुकूल, अंशुक, उत्तरीय, उष्णीश, स्तनांशुक, स्तनपट्ट नाम मिलते हैं, जिनसे व्यक्त यही होता है कि इस समय सिले कपड़े पहनने का चलन नहीं था। वैसे कूर्पासक शब्द से कहा जा सकता है कि समय पड़ने पर कपड़े सिले पहने जाते होंगे। एक वस्त्र निम्न भाग के ढकने को और दूसरा ऊपर के भाग को ढकने के लिए प्रयोग किया जाता था। दुकूलयुग्म[1] और क्षौमयुग्म[2] का यही महत्त्व है। ऊर्ण[3] शब्द मिलने के कारण ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि शीत अनुभव होने पर गरम चादर ओढ़ ली जाती होगी। भारतवर्ष में इतना शीत का प्रकोप देखने में आता भी नहीं है। यही नहीं, अच्छा भोजन प्राप्त हो सकने के कारण स्वास्थ्य भी यथेष्ट अच्छा रहता था, अतः इससे अधिक की आवश्यकता भी अनुभव न होती होगी। स्तनांशुक और स्तनपट्ट नामों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आजकल की ब्लाउजों की तरह कोई वस्त्र न था। अधिक शीत में स्त्रियाँ कूर्पासक[4] पहनती थीं। यह कोई ढीला-ढाला बेढंगा-सा सिला, कुछ होगा, क्योंकि अधिकांश में इसका प्रयोग नहीं है।

दूसरा प्रमाण यह है कि वस्त्रों से सर्वांग सौष्ठव पर प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिए, यह उस समय की वेश-भूषा का लक्ष्य प्रतीत होता है। मालविकाग्निमित्र में परिव्राजिका साफ-साफ कहती है—'सर्वांगसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशो स्तु[5]।' डाक्टर मोतीचन्द का भी ऐसा ही अनुमान है कि सिले कपड़ों से अंग ढक देने से उसकी गठन खूबी से नहीं दिखाई जा सकती[6]।

इस समय की जितनी भी स्त्रियों की मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनमें दो विशेषताएँ देखी जाती हैं—प्रथम वे ऊपर चादर या ओढ़नी नहीं लेतीं, द्वितीय उनका वक्षस्थल खुला हुआ है, नाभि भी इसी प्रकार दीखती है। बहुत-से विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि ऐसी निर्लज्जता से स्त्रियाँ किसी के सम्मुख नहीं आ सकतीं। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि लज्जा और निर्लज्जता की परिभाषा हर समय में बदलती रही है। जो बात आजकल लज्जा की है वह प्राचीनकाल में नहीं भी हो सकती है। इसकी पुष्टि के लिए सारा संस्कृत-साहित्य साक्षी है,

---

१. रघु०, ७।१८ २. अभि०, अंक ४, पृष्ठ ६८

३. रघु०, १६।८७; कुमार०, ७।२५; माल०, अंक ५, पृष्ठ ३५६

४. ऋतु०, ४।१७, ५।८ ५. माल०, अंक १, पृष्ठ २७९।

६. प्राचीन वेश-भूषा, लेखक डा० मोतीचन्द, पृष्ठ ६८।

पयोधर के समस्त गुण—कठोरता, उन्नतत्व, पीनत्व, विशालता, आदि-आदि, खूब अच्छी तरह से, एक-एक बात वर्णित है। यहीं तक रहता तो भी ठीक था। कहा जा सकता है कि यह सब वस्त्र पहनने पर भी नहीं छिप सकतीं, पर गोरे स्तन और साँवली घुण्डियाँ जब तक दिखाई न पड़ें तब तक कोई वर्णन नहीं करेगा। नाभि, रोमावली सबका वर्णन प्रमाणित करता है कि सिला वस्त्र नहीं पहना जाता होगा और स्त्रियाँ शृंगार के सबसे सुन्दर क्षणों में ऊपर स्तनांशुक तक धारण नहीं करती होंगी[१]। शकुन्तला का चित्र बनाते समय स्तनों के बीच मृणाल तन्तुओं की माला दिखाना भी इसी की पुष्टि करता है[२]।

कपड़ों के प्रकार—सूती, रेशमी और ऊनी तीनों प्रकार के वस्त्र उस समय पाए जाते थे। कवि के ग्रन्थों में कौशेय, क्षौम, पत्रोर्ण, कौशेय-पत्रोर्ण, दुकूल और अंशुक नाम हैं।

कौशेय[३]—डाक्टर मोतीचन्द के अनुसार यह कोशकार देश का बना रेशमी वस्त्र था[४]। वैसे ही यह जहाँ कहीं प्रयुक्त हुआ है वहाँ रेशमी वस्त्र ही लगता है।

क्षौम[५]—डाक्टर मोतीचन्द के अनुसार यह बहुत महीन और सुन्दर वस्त्र था। यह अलसी की छाल के रेशों से बनता था[६]। कौशेय के समान यह भी रेशमी वस्त्र वर्ण श्वेत[७] ही प्रतीत होता है। क्षौम की उपमा दुधिया रंग के क्षीर-सागर से बाण ने दी है। क्षौम जैसा नाम से व्यक्त है कदाचित् क्षुमा या अलसी नामक पौधे के रेशों से तैयार होता था। भाँग, सन और पटसन के रेशों से भी

---

१. तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥—रघु०, १९।३२

२. न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।—अभि०, ६।१८
बाण का भी ऐसा कहना है—दाहिनी ओर वासगृह (सोने का कमरा) और बाईं ओर 'सौध' जिसकी छत अधिकांश खुली रहती थी। यहाँ रानी यशोवती स्तनांशुक को भी छोड़कर चाँदनी में बैठती थी।
—'हर्षचरित', पृष्ठ ९२

३. कुमार०, ७।७; ऋतु०, ५।८

४. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा, भूमिका पृ० ९, अध्याय ४, पृष्ठ ५६

५. रघु०, १०।८, १२।८; उत्तरमेघ, ७; अभि०, ४।५, अंक ४, पृष्ठ ६८; कुमार०, ७।२६

६. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा, भूमिका, पृष्ठ ५

७. क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ॥—कुमार०, ७।२६

वस्त्र तैयार किए जाते थे; पर क्षौम अधिक कीमती, मुलायम और बारीक होता था। चीनी भाषा में 'छु-म' एक प्रकार की घास के रेशों से तैयार वस्त्रों के लिए प्राचीन नाम था, जो बाण के समकालीन एवं उससे पूर्व प्रयुक्त होता था। यही चीनी घास भारतवर्ष के पूर्वी भागों आसाम, बंगाल में होती थी। अतः यह रेशों से तैयार होनेवाला वस्त्र है। यह अवश्य ही आसाम में बननेवाला कपड़ा था; क्योंकि आसाम के कुमार भास्कर वर्मा ने हर्ष के लिए जो उपहार भेजे थे, उनमें यह भी था[१]।

पत्रोर्ण[२]—ऊर्ण का अर्थ श्री सीताराम चतुर्वेदी की प्रकाशित टीका में ऊन मिलता है। इससे यह व्यक्त होता है कि पत्रोर्ण का अर्थ ऊनी वस्त्र ही था। मालविका को पहनाने के लिए पत्रोर्ण का नाम आया है अतः यह ऊनी वस्त्र ही होगा[3]। वैसे (ऋग्वेद, १।६७।३) में भेड़ को 'ऊर्णावती' कहा है, तो पत्रोर्ण माने ऊन हो सकता है; परन्तु डाक्टर मोतीचन्द का कहना है कि नागवृक्ष, लिकुच, वकुल और वटवृक्षों की छालों से निकले रेशे से इसका निर्माण होता था। इसका रंग क्रमशः गेहुँआ, सफेद और मक्खन का-सा होता था[४]। नागवृक्ष से बना पत्रोर्ण का कपड़ा पीला, लिकुच का गेहुँआ, वकुल का सफेद होता था[५]। गुप्तकाल में पत्रोर्ण धुला हुआ रेशमी बहुमूल्य कपड़ा समझा जाता था। वासुदेव जी भी इसे रेशम मानते हैं, जिसे क्षीरस्वामी ने कीड़ों की लार से उत्पन्न कहा है ('लकुचवटादिपत्रेषु कृमिलालोर्णाकृतं पत्रोर्णम्' —क्षीरस्वामी) क्षीरस्वामी का कहना है कि इस रेशम को वड़ और लकुच को पत्तियाँ खानेवाले कीड़े पैदा करते थे। शायद यह किसी किस्म का जंगली रेशम रहा हो[६]।

कौशेय-पत्रोर्ण[७]—यदि पत्रोर्ण का अर्थ ऊनी लिया जाय तो कौशेयपत्रोर्ण से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऊन में कुछ रेशम मिलाकर भी सुन्दर, चिकने व चुभनेवाले वस्त्रों का निर्माण होता होगा। यह कुछ अद्भुत बात नहीं है। आजकल भी ऊन में रेशम मिलाकर वस्त्रों का निर्माण होता है। नहीं तो यह भी रेशमी वस्त्रों का एक प्रकार है।

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ७६

२. कुमार०, ७।२५; रघु०, १६।८७ ३. माल०, ५।१२, अंक ५, पृ० ३५६

४. डा० मोतीचन्द, प्राचीन वेश-भूषा, भूमिका, पृ० ९

५. डा० मोतीचन्द, प्राचीन वेशभूषा, पृ० ५५

६. डा० मोतीचन्द, प्राचीन वेशभूषा, पृ० १४९

७. माल०, अंक ५, पृ० ३५६

दुकूल[१]—यह वस्त्र दुकूल वृक्ष की छाल के रेशे से बना करता है, ऐसा डाक्टर मोतीचन्द का अनुमान है। बंगाल का बना दुकूल सफेद होता था[२]। विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर क्षोम तथा कौशेय का प्रयोग किया जाता था[३]; परन्तु एक स्थान पर दुकूल का भी नाम आया है[४]। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार आज कल भी शान्तिपुरी और चन्देरी की साड़ियाँ सूती होते हुए भी १५० रु०, २०० रु० और इससे भी मँहगी आती हैं, इसी प्रकार दुकूल का कोई प्रकार बहुत महीन और अच्छा भी होता होगा। अंशुक से दुकूल मोटा होता होगा, क्योंकि पुरुष दुकूल ही धारण करते हैं[५] और स्त्रियाँ भी शरीर के निम्न भाग पर दुकूल ही का अधिकांश में प्रयोग करती हैं[६]। दुकूल का रंग ज्योत्स्ना की तरह धवल वर्णित है[७]।

हंसचिह्न दुकूल[८]—श्वेत दुकूल के अतिरिक्त छपा दुकूल भी होता था। वहुधा हंस, चक्रवाक आदि के चित्र छपे रहते थे। यह बहुत मांगलिक समझा जाता था। विवाहादि अवसरों पर इसका प्रयोग होता था[९]।

अंशुक[१०]—ग्रीष्म में इसका अधिक प्रयोग होने के कारण, ऐसा अनुमान है कि यह वस्त्रों का सबसे महीन प्रकार है। अंशुक इतना श्वेत होना चाहिए कि चन्द्रमा की निर्मल किरणों का धोखा हो जाय[११]। यह इतना महीन भी होना चाहिए कि निश्वास से उड़ जाय[१२]। अंशुक कई प्रकार का होता था। सितांशुक,

---

१. रघु०, ७।१८; कुमार०, ७।३२; कुमार०, ७।७२, ७।७३; कुमार०, ७।७८; ऋतु०, १।४, २।२६, ३।७, ४।३; विक्रम०, अंक ५, पृ. ३३९; माल०,५।७
२. डा० मोतीचन्द, प्राचीन वेशभूषा, भूमिका, पृ० ८
३. कुमार०, ७।७, ७।२६; अभि०, ४।५, अंक४, पृ० ६८; रघु०, १२।८
४. रघु०, ७।१८, कुमार०, ७।७२
५ रघु०, ७।१८; कुमार०, ७।३२,७२–७३, ५।७८।
६. ऋतु०, १।४, २।२६, ३।०, ४।३
७. ऋतु०, ३।७; डा० मोतीचन्द, प्राचीन वेशभूषा, पृ० ५५ में, पौंड्र देश में बने दुकूल नीले और चिकने, सुवर्णकुड्या में बने दुकूल ललाई लिए होते हैं, कहते हैं। बंगाल का दुकूल सफेद और मुलायम होता है।
८. कुमार०, ५।६७, ७।३२, रघु०, १७।३२
९. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६
१०. कुमार०, १।१४, ७।३, ८।२,७१; ऋतु०, १।७, ३।१, ४।३, ६।५,२१; रघु०, १०।९; पूर्वमेघ, ६६; रघु०, ६।७५; विक्रम०, ३।१२, ४।१७
११. कुमार०, ८।७१ १२. रघु०, १६।४३

चीनांशुक, रक्तांशुक, नीलांशुक[1]। अमरकोष में क्षौम और दुकूल को पर्यायवाची कहा है और नेत्र और अंशुक को समान अर्थवाची। राजद्वार के वर्णन में बाण ने अंशुक और क्षौम को अलग-अलग माना है। अंशुक की उपमा मन्दाकिनी के श्वेत प्रवाह से दी है अन्यत्र अंशुक की सुकुमारता की उपमा दुकूल की कोमलता से दी गई है (चीनांशुक सुकुमारे शोणसैकते दुकूलकोमले शयने इव समुपविष्टा)[2]। अंशुक दो प्रकार का था, एक भारतीय और दूसरा चीन देश से लाया हुआ, जो चीनांशुक कहलाता था। यह भी रेशमी वस्त्र ही था[3]। बहुत पतले रेशमी कपड़े या चीन के बने रेशमी कपड़े को चीनांशुक कहते हैं[4]।

तनूनि[5]—यह किसी विशेष वस्त्र का नाम नहीं लगता। ऐसा लगता है कि महीन वस्त्र के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है।

कालिदास ने किसी ऊनी कपड़े का नाम नहीं दिया; परन्तु डाक्टर मोतीचन्द ने ई० पू० ३ शताब्दी से ई० पू० १ शताब्दी के बीच में ही भेड़ के ऊन से बने कम्बलों का प्रसंग दिया है। भेड़ के ऊन से बने शाल (आविक) सफेद, गहरे लाल या मिश्रित लाल रंग के होते थे[6]। डाक्टर मोतीचन्द ने अनेक प्रकार के ऊनी कपड़ों के नाम और प्रकार दिए हैं।

भारीवस्त्र--जिस प्रकार गर्मियों में अंशुक का प्रयोग होता था, उसी प्रकार कठोर शीत में भारी-भारी वस्त्रों को उपयोग में लाया जाता था[7], पर इस प्रकार के वस्त्र का कहीं नाम नहीं मिलता।

मृगछाला—विशेष अवसरों पर वस्त्रों के स्थान पर इसका भी प्रयोग होता था। यज्ञ तथा विद्यारम्भ-संस्कार के समय पवित्र होने के नाते इसका प्रयोग किया जाता था। मृगछाला में रुरु मृग का चर्म[8], अजिन[9] और मेध्य[10]

---

१. सितांशुक--ऋतु०, ३।१; विक्रम०, ३।१२; चीनांशुक—अभि०, १।३२; रक्तांशुक--ऋतु०, ६।२१; नीलांशुक--विक्रम०, अंक ३, पृ० १९८
२. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६
३. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७८
४. डा० मोतीचन्द, प्राचीन वेशभूषा, पृ० १४८
५. ऋतु०, ६।१५
६. डा० मोतीचन्द, प्राचीन वेशभूषा, पृ० ५०
७. ऋतु०, ५।२, ६।१५
८. रघु०, ३।३१
९. रघु०, ३।३१
१०. रघु०, ३।३१, १४।८१

विशेष है। शार्दूल की खाल बिछाने के काम में भी आती थी। मेध्याजिन आदि भी बिछाए जाते थे[1]।

वल्कल—तपस्वीजन वस्त्रों के स्थान पर वल्कल धारण करते थे। शकुन्तला, सीता आदि ने भी तपोवन में वल्कल का ही प्रयोग किया था[2]। राम ने वन जाते समय मांगलिक वस्त्रों का परित्याग कर वल्कल ही पहन लिए थे। इसी प्रकार पार्वती भी अपने रेशमी वस्त्रों को उतार कर लाल-लाल वल्कल वस्त्र पहन लेती हैं[3]। इसी की वे ओढ़नी भी ओढ़ लेती थीं[4]।

वस्त्रों के मुख्य रंग—मनुष्य सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनने के शौकीन थे। "मनोज्ञ वेशः"[5] शब्द इसकी पुष्टि करता है। वे श्वेत, उज्ज्वल वस्त्र भी धारण करते थे और रंगीन भी। रंगों में नीला, लाल, काषाय, हरा, कुसुम्भी और कुंकुम मुख्य थे। श्वेत में दुकूल और अंशुक दोनों प्रकार थे[6]। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी का अंशुक एक स्थान पर नीला और एक स्थान पर शुकोदर 'श्याम-वर्ण' का था[7]। वसन्तऋतु में कुसुम्भी रंग का दुकूल[8] और कुंकुम के रंग में रँगी स्तनांशुक[9] धारण की जाती थी। दूसरे शब्दों में, किंशुक, कुसुम्भ और कुंकुम के वस्त्र स्त्रियाँ पहना करती थीं। सांसारिक भोग-विलास को छोड़ देने पर काषाय रंग[10] के वस्त्र धारण किए जाते। लाल रंग स्त्रियों का प्रिय रंग था[11]। अपने जीवन के सबसे सरस दिनों में श्रृंगार के सबसे सुन्दर क्षणों में वे इसे धारण किया करती थीं[12]। हरे रंग का भी कहीं-कहीं प्रसंग है[13]।

साधारण वेश-भूषा—साधारण रीति से वेश-भूषा के विषय में यह कहा जा सकता है कि इसका लक्ष्य प्रधान रूप से सौन्दर्य-वृद्धि था, अंगों को भली

---

१. कुमार०, ७।३७; रघु०, १४।८१, ४।६५
२. रघु०, १५।८२; अभि०, १।१६, पृ० १३, पृ० १०, १।१४, ६।१७
३. रघु०, १२।८, कुमार०, ५।८, ५।४४,८४
४. कुमार०, ५।१६ ५. रघु०, ६।१
६. सितदुकूल—ऋतु०, २।२६; ज्योत्स्नादुकूल—ऋतु०, ३।७; सितांशुक—विक्रम०, ३।१२; काशांशुक—ऋतु०, ३।१; शुद्धवेश—रघु०, १।४६, १६।६५
७. विक्रम०, अंक ३, पृष्ठ १६८, ४।१७ ८. ऋतु०, ६।५
९. ऋतु०, ५।६, ६।५
१०. रघु०, १५।७७; माल०, अंक ५, पृ० ३५०
११. अरुणरागांशुक—रघु०, ६।४३; कुमार०, ५।८, ३।५४; ऋतु०, ५।६, ६।५, १५, २१
१२. कुमार०, ३।५४ १३. रघु०, ६।५०, ५१

प्रकार ढकना गौण। कालिदास का साहित्य इस बात स्पष्ट प्रमाण है कि अंग-सौष्ठव न केवल उसका प्रधान उद्देश्य है, अपितु नायक स्वयं नायिका के एक-एक अंग का उभार, वर्ण, आकार, कठोरता, शिथिलता आदि गुण अच्छी तरह देखता है। स्तन, नितम्ब, जघन आदि का खुला चित्रण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जो भी वस्त्र उपयोग में लाए जाते थे, वे सौन्दर्य-वृद्धि के लिए तथा आकृति को ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रखने को।

स्त्री और पुरुष की वेश-भूषा में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। लगभग वेश-भूषा एक-सी ही है। हाँ, स्त्रियाँ स्तनांशुक और कूर्पासक आदि पहनती हैं; पर इसके स्थान पर पुरुषों का कोई वस्त्र नहीं है।

क्षौमयुग्म,[1] दुकूलयुग्म[2] और कौशेय-पत्रोर्ण[3] युग्म आदि शब्दों से व्यक्त होता है कि पूरे शरीर को ढकने के लिए दो वस्त्र प्रयुक्त किए जाते थे। एक निम्न भाग के लिए और दूसरा ऊपर के भाग के लिए। पुरुष एक वस्त्र निम्न भाग को ढकने के लिए पहनते थे और दूसरा चादर या दुशाले की तरह ऊपर ओढ़ लेते थे। स्त्रियाँ भी एक वस्त्र निम्न भाग को ढकने के लिए धारण करती थीं और दूसरा ओढ़नी[4] की तरह ओढ़ लेती थीं; परन्तु इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है, वह यह कि ओढ़नी का विवाह अथवा किसी विशेष अवसर पर ही प्रसंग आया है, इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यह आवश्यक नहीं था कि वे ओढ़नी ओढ़ें।

नितम्ब के ऊपर अधिकांश में दुकूल धारण किया जाता था[5]। स्त्रियाँ कभी-कभी अंशुक या क्षौम भी पहनती थीं;[6] पर पुरुष कभी नहीं। अतः कहा जा सकता है कि अंशुक से दुकूल मोटा होता होगा। इसी कारण निम्न भाग के लिए पुरुष तो दुकूल ही प्रयुक्त करते थे; हाँ, स्त्रियाँ दुकूल अधिक और अंशुक बहुत कम। वैसे भी पुरुष के वर्णन में हर जगह कवि ने कठोरता दिखाई है, इसीलिए कदाचित् उससे अंशुक नहीं धारण करवाया।

दुकूल पहना कैसे जाता था?—साँची के कई अर्द्धचित्रों में (शुंग-कालीन) साड़ी पहनने की रीति आधुनिक सकच्छ साड़ी पहनने की रीति से कहीं अधिक मिलती है। इसके अतिरिक्त दो और तरह से भी साड़ी पहनी

---

१. क्षौमयुग्म—अभि०, अंक ४, पृ० ६८ २. दुकूलयुग्म—रघु०, ७।१८
३. 'माल०, अंक ५, पृ० ३५६
४. कुमार०, ८।२; अभि०, अंक ६, पृ० ११६, पृ० ८८; माल०, ५।७
५. ऋतु०, १।४, २।२६, ४।३; रघु०, ७।१८, १६; पूर्वमेघ, ६७; ऋतु०, ६।५
६. कुमार०, १।४, ८।७; उत्तरमेघ, ७

जाती थी। एक में चूनन की लाँग पीछे खोंस ली जाती थी, दूसरे में बगल में। यह दोनों पुरुष की तरह ही हुई। पहली में भी एक भाग कमर में लपेट लिया जाता था और चूनन की लाँग पीछे खोंस ली जाती थी[1]। डाक्टर मोतीचन्द का कहना है कि स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही लाँगदार धोती पहनते थे[2]। इस विषय पर प्रमाण सहित यद्यपि कुछ कहा नहीं जा सकता; परन्तु फिर भी कुछ रूपरेखा स्पष्ट अवश्य है। इतना तो प्रमाणित है कि आजकल की साड़ी की तरह उस समय स्त्रियाँ दुकूल अथवा अंशुक धारण नहीं करती थीं; क्योंकि कहीं आँचल का संकेत नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि आजकल की-सी मर्यादा और लज्जा का भाव उस समय न था और स्त्रियाँ पुरुषों की तरह ही निम्न भाग के ऊपर साड़ी पहन लेती होंगी और उसके ऊपर रसना, मेखला आदि धारण कर लेती होंगी; पर इसकी सम्भावना कम है; क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो नीवी-बन्धन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कवि ने नीवी-बन्धन शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग किया है[3], अतः इसका भी कोई-न-कोई महत्त्व अवश्य होना चाहिए। चूँकि उस समय सिले कपड़ों का चलन नहीं था, अतः लहँगा भी सीकर ही पहन लेती होंगी, इसमें ही नीवी बन्धन हो सकता है, यह भी सम्भावना कम है। अतः इतना कहा जा सकता है कि वे दुकूल या अंशुक को लहँगे की तरह पहनती होंगी। आजकल की तरह नीचे पेटीकोट नहीं पहने जाते थे; क्योंकि युग्ल और युग्म के यह बाहर का वस्त्र हो जाता, अतः दुकूल स्थानाच्युत न हो इसलिए ऊपर रशाना, कांची या मेखला किसी से दृढ़ करना बहुत आवश्यक था। डाक्टर मोतीचन्द नीवी को कमरबन्द या पटका कहते हैं[4]। हो सकता है कि दुकूल को लहँगे की तरह पहन कर ऊपर से इसे कसकर गाँठ बाँधकर पहन लिया जाता होगा। इसके ऊपर सौन्दर्य के लिए रशना आदि धारण कर ली जाती होगी।

दूसरी बात महत्त्वशील यह है कि आजकल की तरह साड़ी नाभि के ऊपर से नहीं पहनी जाती थी। नाभि और त्रिवलय दोनों ही दीखते रहते थे[5]। ऋतु-संहार के अनुसार वर्षा के जल से नाभि की रोमावली खड़ी हो जाती थी[6]।

---

१. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा, पृ० ८१
२. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा, अध्याय ३ तथा अध्याय ६
३. उत्तरमेघ, ७; रघु०, ७।९; कुमार०, ७।६०, ८।४
४. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा पृष्ठ १९
५. रघु० ६।५२, १६।६३ ; पूर्वमेघ, ३० ; उत्तरमेघ, २२ ; ऋतु०, ५।१२
त्रिवलय–कुमार०, १।३९
६. ऋतु०, २।२६; कुमार०, १।३८

आजकल की तरह नीची साड़ी भी नहीं पहनी जाती थी; क्योंकि एँड़ी और नूपुर सदा दिखाई पड़ते रहते थे। इसका यह भी आशय नहीं है कि वह घुटने तक ही रहती होगी। नीचे का सारा अंग ही ढका रहता होगा[१]।

स्तनांशुक तथा कूर्पासक—नाभि, त्रिवलय, रोमराजि और पयोधरों का सांगोपांग वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि आजकल के ब्लाउज की तरह कुछ न पहना जाता था। ये अंग खुले ही रहते होंगे। ग्रन्थों में स्तनांशुक[२] का वर्णन बहुत है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग-सौष्ठव वस्त्र धारण करने का प्रधान लक्ष्य था, अंग ढकना नहीं, अतः चूँकि उस समय अच्छा सीना कोई नहीं जानता था इसलिए स्तनांशुक का ही प्रयोग होता था। हाँ, घोर शीत में वे कूर्पासक[३] धारण करती थीं। डाक्टर मोतीचन्द इसे 'आधी बाँह की मिर्जई' कहते हैं[४]। यदि यह न भी माना जाय तब भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सर्दी से बचने के लिए ढीला-ढाला, उलटा-सीधा, जम्परनुमा कोई वस्त्र सीकर पहन लेती होंगी। कूर्पासक स्त्री और पुरुष दोनों का ही पहनावा थोड़े भेद से था। स्त्रियों के लिए यह चोली के ढंग का था और पुरुषों के लिए फतुई या मिर्जई के ढंग का। इसकी दो विशेषताएँ थीं, एक तो यह कटि से ऊँचा रहता था, दूसरे प्रायः आस्तीन रहित। वस्तुतः कूर्पासक नाम इसलिए पड़ा कि इसकी आस्तीन कोहनियों से ऊपर ही रहती थी[५]।

अंशुक रेशमी वस्त्र है और इतना महीन कि कभी-कभी निश्वास से भी उड़ जाय[६]। इसी का टुकड़ा लेकर वे वक्षःस्थल पर सामने से ले जाकर पीछे गाँठ बाँध लेती थीं, वैसे ही जैसे शकुन्तला ने वल्कल बाँध रखा था[७]।

ओढ़नी—अंशुक अथवा दुकूल तथा उत्तरीय[८] के ओढ़ने का भी प्रसंग यत्र-तत्र मिलता है। दुष्यन्त के सम्मुख जब शकुन्तला गई थी तब उसका मुख ढका हुआ था, अतः अवश्य ही ओढ़नी की तरह क्षौम उसने ओढ़ रखा होगा[९]। इसी

---

१. निर्नाभि कौशेयम्—कुमार०, ७।७
२. विक्रम०, ५।१२, ४।१७; ऋतु०, १।७, ४।३, ६।५
३. ऋतु०, ४।१७, ५।८
४. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा, पृष्ठ १६१
५ वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन; पृष्ठ १५२
६. रघु०, १६।४३ ७. अभि०, अंक १, पृष्ठ १३
८. रघु०, १६।१७; अभि०, अंक ६, पृष्ठ ११६
९. अभि०, अंक ५, पृष्ठ ८८ अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्; ५।१३

प्रकार मालविका भी वसन्तोत्सव पर विवाह की वेश-भूषा में छोटी-सी ओढ़नी ओढ़े हुए थी[१]। पार्वती भी 'त्वगुत्तरासंगवती' थीं[२]। विवाह के समय अवगुंठन[३] का चलन था। अतः अवश्य ही कुछ ओढ़ा जाता होगा। कौशेयपत्रोर्णयुगलम्, क्षौमयुग्म अथवा दुकूलयुग्म शब्दों से स्पष्ट ही है कि ओढ़ने का कोई पृथक् वस्त्र नहीं था। इन्हीं दो में से एक नीचे और एक ऊपर धारण किया जाता था।

ओढ़ने का ढंग—ओढ़ने के दो ही ढंग हो सकते हैं या तो दोनों छोर सामने लटकते रहते थे या एक सामने और दूसरा कन्धे पर होता हुआ पीछे जा सकता है। आजकल जैसा लहँगे के साथ दुपट्टा ओढ़ा जाता है वैसा कोई ढंग उस समय न था; क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि पयोधर खुले दीखते ही रहते थे। कुमारसंभव, सर्ग ८, श्लोक २[४] को देखने से ऐसा आभास होता है कि छोर सामने ही लटकते रहते थे, नहीं तो शंकरजी कभी अंशुक पकड़कर जाने से नहीं रोक सकते थे। डाक्टर मोतीचन्द का भी ऐसा हो अनुमान है कि ओढ़नी नाममात्र के ही लिए पड़ी रहती थी। कभी-कभी वे सिर भी ढक लेती थीं। परन्तु ऐसा आवश्यक नहीं था। शायद विवाहादि अवसरों पर वे ढक लेती होंगी[५]।

पुरुषों की वेश-भूषा—स्त्रियों की तरह पुरुष भी दो वस्त्र उपयोग करते थे। शकुन्तला के लिए यदि क्षौमयुग्म[६] शब्द आया है, तो अज के लिए दुकूल-युग्म[७]। इसका आशय यह है कि एक निम्न भाग को आवृत करने के लिए और दूसरा ऊपर के भाग को ढकने के लिए उपयोग किया जाता था। ऊपर वाला दुपट्टा या उत्तरीय होता था जो कदाचित् कन्धों से होता हुआ काँख के नीचे से निकाल लिया जाता होगा अथवा बदन ढकता हुआ बाँए कन्धे पर रख लिया जाता होगा। इस उत्तरीय का प्रयोग स्थान अथवा अवसर विशेष पर किया जाता था। विवाह, राज्याभिषेक अथवा जनता में जाते समय[८]। साधारण रूप से उनके शरीर का ऊपरी भाग अनावृत ही रहता था, कंचुकी अथवा सिले हुए किसी

---

१. माल०, ५।७
२. कुमार०, ५।१६
३. अवगुण्ठनवतीं कृत्वा—माल०, अंक ५, पृष्ठ ३५६
४. व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥
५. माल०, ५।७
६. अभि०, अंक ४, पृ० ६८
७. रघु०, ७।१२,१९
८. रघु०, ७।१८,१९ (विवाह)

वस्त्र का कहीं प्रसंग नहीं आया है। पहनने के वस्त्रों में क्षौम[1] और दुकूल[2] दो ही नाम मिलते हैं। राज्याभिषेक आदि मांगलिक अवसरों पर क्षौम[3] और वैसे अधिकतर दुकूल ही वे धारण किया करते थे। श्री डाक्टर मीतीचन्द के अनुसार दुकूल को वे लाँगदार धोती की तरह पहनते थे[4]।

वारबाण[5]—डा० वासुदेव के अनुसार गुप्त सिक्कों पर समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि जैसा कोट पहने हैं, वही वारबाण ज्ञात होता है। वारबाण कंचुक की अपेक्षा ऊँचा मोटा चिलटे की तरह का कोट था, जिसका ईरान में चलन था। यह भी कंचुक की तरह का ही पहनावा था; पर इससे कम लम्बा, घुटनों तक नीचा होता था[6]। डा० मोतीचन्द दस तरह के ऊनी कपड़ों में इसका नाम देते हैं। वारबाण भी ऊनी होते थे[7]। शामा शास्त्री की टीका में इसका अर्थ कोट दिया हुआ है[8]।

उष्णीश—सिर पर पगड़ी बाँधने का भी उस समय प्रचलन था। कालिदास के ग्रन्थों में अलकवेष्ठन[9], शिरसा[10] वेष्ठन शोभिना, शिरस्त्र जाल[11] शब्दों का प्रयोग मिलता है।

'अलकवेष्ठन' शब्द से ऐसा आभास होता है कि इस प्रकार की पगड़ी के फेंटे शिर के लम्बे बालों से मिला-मिला कर बाँधे जाते थे अर्थात् इस प्रकार की पगड़ी बालों के साथ ऐसी फँस-सी जाती थी कि पगड़ी सिर से उतार कर कहीं रखी नहीं जा सकती थी।

'शिरसा वेष्ठनशोभिना' भी पगड़ी का ही दूसरा नाम है; परन्तु प्रथम प्रकार की पगड़ी से यह विभिन्न है। यह पगड़ी रघु के चरणों पर अज ने रखी है। अतः यह बाँधे जाने के पश्चात् सिर से हटाई जा सकती थी। पगड़ियाँ बँधी

---

१. रघु०, १२।८
२. रघु०, ७।१८,१९, १७।२५, कुमार०, ५।७८
३. रघु०, १२।८
४. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेशभूषा, पृ० ७७. अध्याय ६
५. तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ।—रघु०, ४।५५
६. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेशभूषा, पृ० १५०
७. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेशभूषा, पृ० ५२
८. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेशभूषा, पृ० ५३
९. रघु०, १।४२ १०. रघु०, ८।१२
११. रघु०, ७।६२

बँधाई पहनी जाती थीं[१]। स्वयं इस शब्द से ऐसा आभास होता है कि यह बालों से न उलझ कर सिर के ही चारों ओर घुमा-फिरा कर बाँधी जाती होगी।

युद्ध के प्रसंग में 'शिरस्त्रजाल' शब्द का प्रयोग हुआ है अतः यह शिरस्त्र, शिरस्त्राण आदि की ही तरह लगता है[२]। यह भी सम्भव हो सकता है कि पगड़ी बाँधने से पहले सिर पर लोहे की चिपकी टोपी रख कर, ऊपर पगड़ी ऐसी सटी-सटी बाँधी जाती हो कि जाल की तरह सारी टोपी को ढक दे।

पगड़ी के स्थान पर सोने के पट्ट भी धारण किए जाते थे। इसके लिए जाम्बूनदपट्ट[३] शब्द कवि ने प्रयुक्त किया है।

कभी-कभी पगड़ी को सजाने के लिए मोतियों की लड़ियों का भी प्रयोग किया जाता था (डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा, पृ० ७७)।

जूता—रघुवंश में श्री रामचन्द्र की पादुका का प्रसंग आया है[४]। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में भी पादुका शब्द का प्रयोग मिलता है[५]। इससे विशेष बात तो निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। सम्भव है कि आजकल की तरह चमड़े के जूते उस समय न पहने जाते हों। बाँस, तृण, मूँज अथवा लकड़ी, कम्बल आदि के जूते ही सब प्रयोग करते हों। इस बात की इस कारण सम्भावना है कि आजकल भी जहाँ आधुनिक सभ्यता पूरी तरह नहीं घुसी है, विशेषकर पहाड़ी स्थानों में, घास और मूँज की चप्पलें काम में लाई जाती हैं। अतः कहा जा सकता है कि इसी प्रकार की पादुका ही उस समय प्रचलित होगी। अमीर मनुष्य इन्हीं पादुकाओं को चाँदी, सोने तथा वैदूर्य आदि मणियों से जड़ लेते होंगे।

उत्तरच्छद[६]—इन वस्त्रों के अतिरिक्त शय्या, सिंहासन आदि पर चादर बिछाई जाती थी जो उत्तरच्छद कहलाती थी।

उपधान—शय्या पर उपधान[७] का भी प्रयोग प्रचलित था। डा० मोतीचन्द उपधान को परों से भरी तकिया कहते हैं (प्राचीन वेश-भूषा, पृष्ठ १६, भूमिका)।

वस्त्र परिवर्त्तन—ऋतुसंहार इस बात को पूर्णतः स्पष्ट करता है कि ऋतुओं के अनुसार मनुष्य वस्त्र परिवर्त्तित कर देता था। दिन तथा रात के

---

१. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेशभूषा, भूमिका, पृ० १३

२. रघु०, ७।६२,६६ ३. रघु०, १८।४४ ४. रघु०, १२।१७

५. चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम् —माल०, अंक ५, पृ० ३४७

६. हंसधवलोत्तरच्छद —कुमार०, ८।८२, ८।८६; भिन्नविषमोत्तरच्छद—रघु०, ६।४, १७।२१; विक्रम०, अंक ५, पृ० २३६

७. कुमार, ५।१२

वस्त्र पृथक्-पृथक् रखे जाते थे[१]। स्नान करने के समय वस्त्र परिवर्तन कर लिया जाता था। यह स्नानीयक कहलाता था[२]। इसी प्रकार विवाह, राज्याभिषेक आदि अवसरों पर वेश-भूषा नितान्त दूसरी हो जाती थी[३]। व्रत, उत्सवादि के अवसर पर भी वेश परिवर्त्तित कर लिया जाता था[४]।

कपड़े सुगन्धित करने की प्रथा—वस्त्रों को काला, अगरु, आदि के धुएँ से सुगन्धित भी कर लिया जाता था। इस बात का उल्लेख ऋतुसंहार और रघुवंश दोनों में है[५]।

वेश-भूषा के प्रकार

कवि के ग्रन्थों में नाना प्रकार की वेश-भूषाओं का परिचय मिलता है। मनुष्यों की रुचि वस्त्र और वेश-भूषा की ओर यथेष्ट परिपक्व थी। अवसर परिस्थिति और ऋतु के अनुसार वे पृथक्-पृथक् वेश-भूषा धारण किया करते थे। ग्रीष्म की वेश-भूषा और शीतकालीन वेश-भूषा में अन्तर था, जो वैवाहिक वेश-भूषा थी वह व्रती अथवा विरही की नहीं थी। अभिसारिका को और शिकारी की कुछ और ही अस्तित्व लिए हुई थी; परन्तु इन सब वेश-भूषाओं की रेखा भर ही है, शेष सब अनुमान ही करना पड़ता है।

शिकारी की वेश-भूषा—शकुन्तला और रघुवंश दो ग्रन्थों में इसका संकेत मिलता है। दुष्यन्त अपने परिजनों से कहता है कि 'अपनयन्तु मृगयावेषम्'।[६] इससे इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि शिकार करते समय विशेष प्रकार की ही वेश-भूषा होगी। इससे अधिक स्पष्ट प्रतीति रघुवंश में है। श्रीदशरथजी आखेट करने के समय अहेरी का वेश धारण किए हुए थे। उनके ऊँचे कन्धे पर धनुष टँगा था, उनके केशों में वनमाला गुँथी हुई थी और वे वृक्षों के पत्तों के समान गहरे हरे रंग का कवच पहने हुए थे[७]। इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि शिकार करते समय हरे रंग के वस्त्र पहने जाते थे, इस कारण कि जानवर हरे-हरे पत्तों के बीच उनको पहचान न सकें, इसी कारण सिर में जंगली फूलों की माला भी गुँथी रहती होगी, जिससे यह फूल कवच-रूपी हरे-हरे पत्तों के बीच खिले हुए लगें।

डाकुओं की वेश-भूषा—मालविकाग्निमित्र[८] में राजकुमारी मालविका और परिव्राजिका को डाकू घेर लेते हैं। इन डाकुओं की वेश-भूषा स्वयं परिव्रा-

---

१. ऋतु०, ५।१४ २. माल०, ५।१२; कुमार०, ७।६
३. कुमार०, ७।११; रघु०, १७।२५, हंसचिह्नदुकूलः १२।८ मंगलक्षौम, ७।१८
४. विक्रम०, ३।१२; रघु०, १।४६ ५. ऋतु०, ६।१५; रघु०, १६।४१
६. अभि०, अंक २, पृष्ठ ३२ ७. रघु०, ६।५०, ५१ ८. माल०, ५।१०

जिका इस प्रकार बताती है—सहसा कन्धों पर तूणीर कसे, पीठ पर लम्बे-लम्बे पंख बाँधे हुए और हाथ में धनुष-बाण लिए हुए डाकू हम पर टूट पड़े। अतः कहा जा सकता है कि ये लोग हाथ में धनुष-बाण लिए रहते होंगे। कन्धों पर तूणीर बंधा रहता होगा और पीठ पर लम्बे-लम्बे पंख किसी चिड़िया या मोर, शुतुर्मुर्ग आदि के धारण करते होंगे।

मछुए की वेश-भूषा—अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अंक ६ में मछुए का प्रसंग आया है जिसे राजा की गिरी अँगूठी प्राप्त होती है। वेशविन्यास में कोई बात नहीं मिलती; पर उसके पास से कच्चे मांस की दुर्गन्ध आ रही थी ऐसा कहा गया है[१]।

यवनी वेश—यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्त्रियाँ कम-से-कम दो, अधिक-से-अधिक तीन वस्त्र पहनती थीं। यवनी का भी यही वेश होगा। अन्य स्त्रियों से यवनी का वेश थोड़ा पृथक् रहता था। शिकार के समय वे गले में जंगली फूलों की माला तथा हाथ में सदा धनुष रखती थीं[२]। यवनी राजा की सेविकाएँ होती थीं।

द्वारपाल की वेश-भूषा—कवि के समस्त ग्रन्थों में द्वारपाल का प्रसंग है; परन्तु उसने फिर भी कभी वेश का स्पष्ट आभास नहीं दिया। इसको वेश-भूषा में कोई विशेषता न रही होगी, हाँ हाथ में बेंत की छड़ी का अवश्य सब स्थानों में वर्णन है[३]।

अभिसारिका—अन्य स्त्रियों से इनका वेश-विन्यास पृथक् रहता था। इनका काम ही आकर्षित करना तथा रिझाना था, अतः वस्त्रों और आभूषणों की तड़क-भड़क इनकी विशेषता थी। परिस्थिति के अनुसार उनका वेश भी परिवर्तित रहता था। उत्तरमेघ में उनका वर्णन, बालों में मन्दार के पुष्प, कानों में स्वर्ण कमल और गले में मोतियों की माला, इस प्रकार किया है[४]। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे केश में फूल तथा कान, गले आदि में सुन्दर-सुन्दर आभूषण धारण किया करती थीं। वे कभी-कभी चमकते सुन्दर नूपुर पैरों में पहना करती थीं;[५] परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आभूषण वे बहुत अधिक धारण करती थीं; क्योंकि विक्रमोर्वशी में 'अल्पाभूषणभूषितः नीलांशुकपरिग्रहः अभिसारिकावेशः'[६] आया है।

---

१. अभि०, अंक ६, पृष्ठ ९८
२. अभि०, अंक २, पृष्ठ २७
३. अभि०, अंक ५, ३
४. उत्तरमेघ, ११
५. रघु०, १६।१२
६. विक्रम०, अंक ३, पृष्ठ १९८

तपस्वियों की वेश-भूषा—वर्णाश्रम धर्मानुसार सभी मनुष्य गृहस्थाश्रम के सुखों को भोगने के पश्चात् जीवन के अन्तिम दिनों में विरक्त हो संन्यास धारण कर लेते थे। तपस्वी, ऋषि, मुनि, सभी वल्कल[१] धारण किया करते थे। कुमारसम्भव में पार्वती जब श्री शंकरजी को प्राप्त करने के लिए तपस्विनी बन वन में गईं तब उन्होंने प्रातःकालीन सूर्य के समान लाल-लाल वल्कल लपेट लिया था[२]। इसी प्रकार सीताजी ने भी राम द्वारा परित्यक्त किए जाने पर वल्कल धारण कर लिया था[3]। स्वयं श्री राम ने राज्याभिषेक के वस्त्र त्याग कर वल्कल वस्त्र वनवास जाने के लिए पहन लिए थे[४]। श्री भरत ने भी राज्य को स्वीकार न कर चीर-वस्त्र धारण कर लिए थे[५]। रघुवंशी सभी राजा अन्त में वल्कल पहनते थे[६]।

तपस्वियों की वेश-भूषा का बहुत स्पष्ट आभास अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मिलता है। दुष्यन्त आश्रम के निकट बिना किसी के बताए अनुमान कर लेते हैं कि यह तपोवन है। नदी-तालाबों पर वे नहाते होंगे, वल्कल वस्त्रों को धोते भी होंगे; क्योंकि उनकी टपकी हुई बूँदें मार्ग भर में मिलती हैं[७]। स्वयं शकुन्तला भी वल्कल ही धारण करती है, इसका आभास दो स्थानों पर मिलता है; प्रथम जब शकुन्तला अपनी सखी अनसूया से कहती है, 'सखि अनसूये ! अति पिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियंत्रास्मि। शिथिलय तावदेतत्'।[८] स्वयं दुष्यन्त तक कहता है—'काममनुरूपमस्या वपुषो वल्कलम्........'[९] इसके पश्चात् भी दुष्यन्त जब शकुन्तला का चित्र बनाता है तब एक ऐसा भी वृक्ष बनाता है जिस पर वल्कल टँगे हुए थे[१०]। अतः तपस्वि-कन्याएँ तथा तपस्वी दोनों ही वल्कल वस्त्र अवश्य पहनते थे।

वल्कल के अतिरिक्त जटाएँ धारण करना, कमर में मूँज की बनी त्रिगुणां मौजीं को धारण करना, हाथ में रुद्राक्षमाला लेना उनकी विशेषता थी[११]। तपस्या करते समय न केवल पार्वती की ही ऐसी रूपरेखा थी, अपितु शिवजी भी जटा बाँध मृगछाला कमर में गाँठ बाँध कर पहन कर बाघम्बर पर बैठ कर तपस्या कर रहे थे। उनके कानों में रुद्राक्ष की माला टँगी हुई थी[१२]। अतः वल्कल के

---

१. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २, ३, ४, ५, ६, के सब प्रसंग
२. कुमार०, ५।८,४४
३. रघु०, १४।८२
४. रघु०, १२।८
५. रघु०, १३।६६, १३।२२
६. रघु०, १८।२६, ८।११
७. अभि०, १।१४
८. अभि०, अंक १, पृष्ठ १३
९. अभि०, अंक १, पृष्ठ १३, श्लोक १९
१०. अभि०, ६।१७
११. कुमार०, ५।९,१०
१२. कुमार०, ३।४६

अतिरिक्त वे मृगचर्म आदि को भी कमर पर धारण कर सकते थे। इंगुदी के तेल को वे सिर में डाला करते थे (अभि०, अंक २, पृष्ठ ३४)।

अजिन आषाढ़धारी होना उनके लिए आवश्यक था[१]। तपस्वी के समान ही ऋषि, मुनि भी शरीर पर वल्कल, हाथों में माला और कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किया करते थे[२]।

इनकी कन्याएँ सोने-चाँदी के आभरणों के स्थान पर पुष्पों के आभूषण पहनती थीं। इनके आभूषण अधिकतर कमलनाल के ही होते थे[३]। सिरस के फूल कानों में और कमलतन्तु की माला गले में पहनना[४] इसकी सूचना देता है कि ये सब साधारण स्त्रियों की तरह आभूषणप्रिय थीं। इसी प्रकार हाथों में कमलनाल का वलय धारण कर लिया करती थीं[५]।

वैरागी अपने वस्त्रों के स्थान पर काषाय वस्त्र धारण करते थे[६]।

राजा की वेश-भूषा—अन्य पुरुषों की तरह वे दुकूल अथवा क्षोम धारण[७] किया करते थे। उनके सिर पर राजमुकुट[८] शोभायमान रहता था। छत्र[९] और चँवर[१०] इनके विशेष चिह्न थे। इनके चरणों को रखने के लिए एक चौकी[११] रहती थी जो भद्रपीठ या हेमपीठ कहलाती थी। इसके अतिरिक्त राजदण्ड[१२] भी इनका चिह्न था। यदि राजा दरबार में सिंहासन पर न बैठ कहीं बाहर भी आ-जा रहा हो या उपस्थित हो तब भी उसके साथ छत्र, चँवर, मुकुट अवश्य रहेगा। इसके अतिरिक्त उनके सभी आभूषण रत्नजटित सोने और मुक्ता के होंगे।

किरात की वेश-भूषा—कुमारसम्भव में वह भी केवल एक स्थान पर

---

१. कुमार०, ५।३०
२. कुमार०, ६।६; विक्रम०, ५।१९
३. अभि०, ३।२४–विसाभरण; ३।१६
४. अभि०, ६।१८
५. अभि०, ३।७
६. इमे काषाये गृहीते।—माल०, अंक ५, पृष्ठ ३५०
७. रघु०, १२।८, १७।२५, ७।१८,१९
८. रघु०, ४।८५, ६।१९,३३; १८।३८,४१; ९।१३,२०; १३।५९; १०।७५; कुमार०, ५।७९ विक्रम०, ४।६७
९. रघु०, २।१३, ३।१६, ४।५, ८५; १४।११, १७।३३, १८।४७; विक्रम०, ४।१३
१०. रघु०, १४।११, १७।२७; ऋतु०, ३।४; विक्रम०, ४।१३; रघु०, १३।११
११. रघु०, ४।८४, ६।१५, १७।२८, १८।४१
१२. अभि०, ५।८

किरातों के विषय में कहा गया है कि यह कमर में मोर के पंख धारण करते थे[1]।

शिव के गणों की वेश-भूषा—श्री शंकर भगवान् के शिष्य और अनुयायी सिर पर नमेरु के फूलों की माला पहनते थे। शरीर पर भोजपत्र धारण कर मैनसिल से शरीर रँगते थे[2]।

वैवाहिक वेश-भूषा—कवि श्रृंगार-प्रिय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैवाहिक-वेश-भूषा का उसने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कदाचित् विवाह का वेश श्वेत होता था; क्योंकि वैवाहिक वस्त्र पहनकर पार्वती कास के फूलों से युक्त पृथ्वी की तरह शोभायमान हुई थीं[3]। रेशमी वस्त्र[4] अथवा हंसचिह्न दुकूल[5] विवाह का मुख्य वस्त्र था। इनकी अनुपस्थिति में कौशेयपत्रोर्ण[6] भी प्रयोग किया जा सकता था। इस समय ओढ़नी अवश्य ओढ़ी जाती थी; क्योंकि वस्त्र के नाम के साथ युग्म शब्द आया है[7]। अवगुण्ठन का भी प्रचार होगा। मालविका को अवगुण्ठनवती करके ही धारिणी ने अग्निमित्र को सौंपा था[8]। वैवाहिक सजावट भी विशेष प्रकार की थी। हाथ में विवाह कौतुक अथवा ऊन का कंगन[9], मुख पर चन्दनादि से पत्र-रचना, केश में महुए की माला गूँथना, अंजन, अंगराग, आलता, लाक्षारस, माथे पर विवाह का हरताल और मैनसिल से बना तिलक, सब वधू की शोभा को द्विगुणित कर देते थे[10]। इन सब के अतिरिक्त योग्य आभूषण इस समय कन्या धारण करती थी[11]। विवाह की वेश-भूषा और श्रृंगार अतः सविशेष ही था[12]। नववधू लाल रंग का अंशुक धारण करती थी (रक्तांशुक—ऋतु०, ६।२१)।

कन्या के समान वर भी वैवाहिक श्रृंगार किया करता था। शरीर पर

---

१. कुमार०, १।१५   २. कुमार०, १।५५
३. कुमार०, ७।११   ४. कुमार०, ७।२६
५. कुमार०, ५।६७   ६.७. माल०, अंक ५, पृ० ३५६
८. ओढ़नी ओढ़े थी।—माल०, ५।७, अवगुण्ठन—माल०, अंक ५, पृ० ३५६
९. कुमार०, ५।६६, ७।२५; रघु०, १६।८८
१०. कुमार०, ७।१४, १५, १७, १८, १९, २०, २३, २४
११. कुमार०, ७।५, २१; माल०, ५।७
१२. यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे विवाहनेपथ्यमिति।—माल०, अंक ५, पृ० ३४१। विवाहनेपथ्येन खलु शोभते मालविका, पृष्ठ ३४३।

अंगराग धारण कर[१], सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहनकर[२] उसकी सुन्दरता भी खिल उठती थी। हंस आदि जिसमें गोरोचन से बने हों ऐसा दुकूल इस समय पहना जाता था[३]। माथे पर हरताल का सुन्दर तिलक[४] और सिर पर मुकुट[५], उसको मानो यथार्थ में राजा बना देते थे। आतपत्र और उसके आसपास हिलते हुए चँवर[६] उसके तेजोमण्डल को प्रदीप्त कर देते थे। किसी विशाल वाहन पर[७] आसीन हो मंगलवाद्य[८] के साथ वर कन्यापक्ष के द्वार पर विवाह के लिए जाया करता था।

विरहिणी और विरही की वेशभूषा—प्रेमाख्यानक काव्य होने के कारण विरहिणी और विरही का वर्णन बहुत अधिक है। स्त्रियाँ विरह में समस्त शृंगार छोड़ देती थीं। मलिन वस्त्र धारण[९] कर अतीत की याद में ही अपना समय व्यतीत किया करती थीं[१०]। उनके बाल रूखे और लटकते रहते थे। वे एक वेणी ही धारण करती थीं। पति ही विरहावस्था की समाप्ति पर उनके बाल सुलझाता था। नख बढ़ते रहते थे। आँखें काजलरहित तथा होंठों का रँगना छूट जाता था। आभूषणों को वे नहीं पहनती थीं। अधिकतर वे व्रत, पूजा अथवा तपादि करती रहती थीं। यक्ष की पत्नी, मालविका, शकुन्तला सबकी ही रेखा इसी प्रकार कवि ने खींची है।[११]

पुरुष भी इसी प्रकार प्रिया का चित्र बनाते, रोते और याद करते थे। उनका शरीर कृश हो जाता था। आभूषण उन स्थानों पर से बार-बार नीचे आ सरकते थे। वे स्वयं आभूषण पहनना छोड़ देते थे। राजकाज मन्त्री पर

---

१. कुमार०, ७।३२ २. कुमार०, ७।३४

३. कुमार०, ७।३२ ४. कुमार०, ७।३३

५. कुमार०, ७।३५ ६. कुमार०, ७।४२.

७. कुमार०, ७।३७ ८. कुमार०, ७।४०

९. वसने परिधूरेवसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घ विरहव्रतं बिभर्ति ॥ —अभि०, ७।२१
—नातिपरिष्कृतवेशः —माल०, अंक ३, पृ० २९६
—मलिनवसने —उत्तरमेघ, २६

१० उत्तरमेघ, २३–२७, ३०, ३१, ३३, ३४, ३७, ३९

११. वसनेपरिधूसरेवसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घ विरहव्रतं बिभर्ति ॥—अभि०, ७।२१

छोड़ वे प्रिया की याद में ही दिवस व्यतीत करते थे[1]। पुरूरवा तो उर्वशी के विरह में प्रमत्त का-सा आचरण करने लगा था[2]।

व्रती की वेश-भूषा—पार्वती ने व्रत के समय आभूषण तथा रेशमी वस्त्र का परित्याग कर दिया था। नेत्रों में अंजन और होंठों में लाक्षारस लगाना छोड़ दिया था[3]। साधारण रीति से यदि गृहस्थों की स्त्रियाँ व्रत करती थीं तो वे श्वेत रेशमी वस्त्र धारण करती थीं। शरीर पर मांगलिक आभूषण और केश में दूर्वादल शोभायमान रहता था[4]।

यज्ञ के समय का वेश—मृगछाला कमर में पहनना तथा मेखला धारण करना आवश्यक था। यज्ञ के समय हाथ में दण्ड और मृगश्रृंग ले लिया जाता था[5]।

छात्र-वेश—पवित्र रुरु के चर्म को पहन कर पिता से रघु ने शिक्षा ग्रहण की थी।[6] अतः निष्कर्ष यह निकलता था कि ऐश्वर्य-भोग और विलास को त्याग कर सादगी अपनाना ही छात्रों का उद्देश्य था।

स्नानीय वेश—स्नान करते समय एक पृथक् ही वस्त्र धारण किया जाता था, जिसे स्नानीय-वस्त्र कहते हैं। स्नान करने के पूर्व तैल, उबटन आदि लगाया जाता था, इसी कारण यह वस्त्र-विशेष धारण करना आवश्यक था[7]।

राज्याभिषेक की वेश-भूषा—राज्याभिषेक के समय तीर्थों आदि के जल से स्नान करवाने के पश्चात् केश को फूल और मोतियों से सजाया जाता था। कस्तूरी की सुगन्ध से युक्त अंगराग से मुख पर चित्रकारी की जाती थी। सिर पर पद्मराग मणि, आभूषण, माला आदि राजा धारण करता था और विवाह की तरह इस समय हंसचिह्न दुकूल ओढ़ा लेता था। छत्र, चँवर, मुकुट, पादपीठ उसकी राज्यसत्ता को प्रमाणित और राज्याभिषेक को पूर्ण कर देते थे[8]।

ग्रीष्मकाल का वेश—ग्रीष्मकाल में मोटे-मोटे वस्त्र उतार कर झीने, पतले वस्त्र धारण करना ही मनुष्यों को प्रिय था[9]। स्त्रियाँ रेशमी वस्त्र पहन, स्तनों

---

१. अभि०, ६।६, अंक ६, पृ० १०७, १०८, पूरा अंक ६; कृशता—इसके पूर्व ३।११; माल०, ३।१—कृशता। अंक ३, पृ० ३०४ कृशता। पूर्वमेघ, २, उत्तरमेघ, ४६,४७,४९,५०,५१;

२. विक्रम०, अंक ४, पूरा
३. कुमार०, ५।५१, ३४, ११
४. विक्रम०, ३।११
५. रघु०, ९।२१
६. रघु०, ३।३१
७. कुमार०, ७।९; माल०, ५।१२
८. रघु०, १७।१६,२२,२५,२७,२८,३३
९. ऋतु०, १।७

पर चन्दन लगा, नानाप्रकार के आभूषण धारण कर, सिर के केशों को सुगन्धित कर पतियों को सुख देती थीं[१]। इस ऋतु में ऐसे पतले वस्त्र पहने जाते, जो साँस से हवा में उड़ जायँ[२]। रत्नजड़ी ओढ़नी प्रचार में थी[३]। मनुष्य विलास-प्रिय थे, इससे ऐसी ही प्रतीति होती है। अपने सामर्थ्यानुसार सब विलास में निमग्न रहा करते थे।

वर्षाकालीन वेश—स्त्रियाँ महीन, श्वेत वस्त्र धारण कर, सुन्दर मुक्ता-माला पहन, केश को केसर, केतकी, कदम्ब आदि से इस ऋतु में सजाया करती थीं[४]। रशना, स्वर्णजटित कुण्डल आदि आभूषण पहन कर,[५] काले अगरयुक्त चन्दन का अवलेप कर,[६] मदिरा पीकर[७] शयनागार में पति के सम्मुख जाया करती थीं।

शरद्कालीन वेश—इस ऋतु में स्त्रियाँ अपनी घनी, घुँघराली, काली लटों में मालती के फूल गूँथ कर, कानों में नीलकमल पहन, चन्दन से शरीर अलंकृत कर मोतियों के हार, रशना से शोभित होकर पतियों को रिझाती हैं[८]।

हेमन्त वेश—घोर शीत के आगमन के कारण हार, चन्दन, कंगन आदि आभूषणों का पहनना इस ऋतु में छूट जाता है। नए रेशमी वस्त्र और महीन चोली भी अब वे नहीं पहनतीं। मुख को वे पत्र-रचना और केश को काले अगरु से शोभित करती थीं[९]।

शिशिरकालीन वेश—इसमें शौकीन-से-शौकीन भी मोटे-मोटे वस्त्र,[१०] कूर्पासक[११] पहनती थीं। नितम्बों पर रेशमी वस्त्र डाल,[१२] मदिरापान कर,[१३] स्तनों पर गर्मी के लिए केसर का अवलेप करती हैं[१४]। चन्दन का प्रयोग छूट जाता है[१५]।

वसन्त समय का वेश—पुनः पुष्पमाला और चन्दन का प्रयोग प्रारम्भ हो

---

१. ऋतु०, १।४, ६, १२
२. रघु०, १६।४३
३. रघु०, १६।४३
४. ऋतु०, २।१८, २६, २१
५. ऋतु०, २।२०
६. ऋतु० २।२२
७. ऋतु०, २।१८
८. ऋतु०, ३।१, ३, १९, २०
९. ऋतु०, ४।२, ५; रघु०,१९।४१
१०. ऋतु०, ५।२
११. ऋतु०, ५।८
१२. ऋतु०, ५।८
१३. ऋतु०, ५।१०
१४. ऋतु०, ५।९
१५. ऋतु०, ५।४

जाता है[१]। लाल दुकूल,[२] कुंकुम के रंग में रँगी चोली,[३] कान और केशों में कर्णिकार और अशोक के पुष्प[४], कंगन, रशना आदि[५] से उनका शरीर पुनः सुन्दर हो उठता है। मुख पर पत्र-रचना, वक्षःस्थल पर प्रियंगु, कालीयक, कस्तूरी और केसर का अवलेप लगाती हैं। कालागुरु से सुगन्धित और महावर से रँगे महीन वस्त्र धारण[६] करने से उनका सौन्दर्य खिल उठता है।

आभूषण

नानाप्रकार के वस्त्रों की तरह स्त्री-पुरुष तरह-तरह के आभूषण पहनने के शौकीन थे। वे नानाप्रकार के आभरण,[७] भूषन[८] तथा मण्डन[९] से अपना शरीर अलंकृत किया करते थे। रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, ऋतुसंहार, अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र प्रत्येक ग्रन्थ में अनगिनत प्रकार के आभरण तथा आभूषण आए हैं।

प्रकार—आभूषणों को पृथक्-पृथक् न लेकर यदि वर्ग में विभक्त कर दिया जाय तो कहा जा सकता है कि उस समय रत्नजटित आभूषण[१०], स्वर्णाभूषण[११], मुक्ता के आभूषण[१२] तथा पुष्पाभरण[१३] धारण किए जाते थे।

मणियाँ—रत्न-जटित आभूषणों में भी कवि ने पृथक्-पृथक् रत्नों के नाम

---

१. ऋतु०, ६।३, ७
२ ऋतु०, ६।५
३. ऋतु०, ६।५
४. ऋतु०, ६।६
५. ऋतु०, ६।७
६. ऋतु०, ६।१४, १५
७, माल०, ५।७; ऋतु०, २।१२; उत्तरमेघ, १३,३५; कुमार०, ३।५३, ७।२१; रघु०, १४।५४ रघु०, १६।४१,८६; विक्रम०, अंक ३, पृ० १९८
८. भूषण—रघु०, १८।४५, १९४५; उत्तरमेघ, १२; ऋतु०, १।१२
९. मंडन—कुमार०, १।४, ७।५; उत्तरमेघ, १२; अभि०, ६।६
१०. ऋतु०, २।५; मणिकुंडल—२।२०; मणिनूपुर—ऋतु० ३।२७
११. कांचनकुण्डल—ऋतु०, ३।१९; कांचनवलय—अभि०, ६।६
१२. उत्तरमेघ, ३०; मुक्ताजाल—उत्तरमेघ, ३८, ४९; रघु०, १३।४८, १९।४५; पूर्वमेघ, ३४, कुमार०, ७।८९
१३. ऋतु०, २।१८, २१, २५; ऋतु०, ३।१९, ४।२, ५।८, ६।३, ६, ३३; माल०, अंक ३, पृ० ३०५-३०६; विक्रम०, ४।४६, ६१; अभि०, ३।७, १६, १।४, २८, ६।१८

दिया है। वैदूर्य मणि[1], इन्द्रनील[2], महानील[3], पद्मराग[4], मूँगा[5], मरकत[6], चन्द्रकान्त[7], सूर्यकान्त[8], सित मणि[9] अर्थात् हीरा, प्रत्येक मणि उस समय थी और इसे प्रयुक्त करने की रीति सबको भली प्रकार ज्ञात थी। दूसरे शब्दों में आजकल जितने प्रकार की भी मणियाँ देखी जाती हैं, उस समय भी सब थीं। यहाँ तक कि नीलम के दो भेद, एक हलके नीले रंग का और दूसरा गहरे नीले रंग का, भी कवि ने इन्द्रनील और महानील से दिखा दिए हैं। सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त के आभूषण नहीं हैं, परन्तु हर्म्यों झालर आदि में उनका उल्लेख कवि ने किया है।

स्त्री और पुरुष के आभूषणों में अन्तर—स्त्री और पुरुष लगभग एक-से ही आभूषण पहनते थे। अंगद, वलय, हार, अंगूठी, कुण्डल दोनों के ही आभूषण हैं। पुरुष वलय केवल बाएँ हाथ में पहनते थे। वे गले में माला भी पहनते थे। कमर के आभूषण रशना, मेखला, कांची और पैरों के नूपुर स्त्रियाँ ही धारण किया करती थीं। इसी प्रकार पुष्पों से स्त्रियाँ ही अपना शरीर अलंकृत करती थीं, पुरुष नहीं। पुरुषों का भी एक अलंकार विशेष था, शिखा-मणि, किरीट या मुकुट। सामान्य रूप से सभी पुरुष नहीं अपितु केवल राजा ही इनको धारण किया करता था।

सिर के आभूषण

शिखामणि, किरीट, मौलि, जाम्बूनदपट्ट आदि सिर के भूषण हैं; परन्तु यह जनसाधारण के धारण की वस्तु नहीं। केवल राजा ही इन सबको धारण किया करते थे।

चूड़ामणि[10]—साधारण रूप से इसको मुकुट का ही पर्यायवाची मानते हैं, परन्तु यह स्वयं संकेत करता है कि साधारण मुकुट से यह भिन्न रहा होगा। मुकुट में मणि हो या न हो, परन्तु चूड़ामणि में बीच में एक बहुत बड़ी मणि का होना बहुत आवश्यक है। यह अन्य स्थलों से अधिक एक स्थल पर स्वयं कवि ने

---

१. कुमार०, ७।१०; उत्तरमेघ, १६; ऋतु०, २।५
२. पूर्वमेघ, ५०; उत्तरमेघ, १७; रघु०, १३।५४, १६।६९
३. रघु०, १८।३२ ४. रघु०, १७।२३, १८३२
५. कुमार०, १।४४, पूर्वमेघ, ३४ ६. पूर्वमेघ, ३४, उत्तरमेघ, १६,
७. उत्तरमेघ, ९, कुमार०, ८।६७ ऋतु०, ३।२१
८. कुमार०, ८।७५, अभि०, २।७ ९. उत्तरमेघ, ५, रघु०, १८।२१
१०. रघु०, १७।२८; कुमार०, ६।८१, ७।३५

स्पष्ट किया है। शंकरजी ने जब वैवाहिक-वेश धारण किया तब उनके मस्तक के बीच चमकता चन्द्रमा उनका चूड़ामणि बन गया[१]।

शिखामणि[२]—जिस प्रकार राजा चूड़ामणि धारण किया करते थे, उसी प्रकार सामन्त शिखामणि। शिखामणि किसी प्रकार का मुकुट नहीं, प्रत्युत पगड़ी में लगाने की कलँगी है, इसके बीच में मणि रहता होगा, इसी कारण इसका नाम शिखामणि पड़ा।

किरीट[३]—चूड़ामणि तो छोटे-छोटे राजा धारण करते हैं, परन्तु बड़े सम्राट् किरीट। चूड़ामणि का जहाँ कहीं प्रसंग है, विशेष उनमें कोई प्रभावशाली नहीं; पर किरीट रावण ने धारण किया है या इन्दुमती के स्वयंवर के राजा ने। अतः चूड़ामणि से किरीट का स्थान ऊँचा है।

मुकुट[४]—मुकुट किरीट से मूल्य में नीचे आता है। रत्न तो इसमें भी जड़े रह सकते हैं; परन्तु चूड़ामणि की तरह बीच में एक बड़ा रत्न नहीं था, यही इसमें और चूड़ामणि में मुख्य अन्तर है। मुकुट में ताम, झाम, झालर आदि लगी होगी। आजकल के मुकुटों में भी ऐसी ही रूपरेखा देखी जाती है; परन्तु इसकी तुलना में चूड़ामणि सादगी से परिपूर्ण, छोटा, पर सुन्दर होगा।

मौलि[५]—इसका स्थान भी किरीट से नीचे लगता है; क्योंकि रघु ने जिन राजाओं को पराजित किया है उनके सिर के आभूषण का नाम मौलि आया है, तत्पश्चात् राजा सुदर्शन के मुकुट और उनके शत्रुओं के मुकुट का पर्यायवाची है, तीसरी बार राम जब वनवास को गए हैं, अर्थात् राजा होने के पूर्व, तब उन्होंने मौलिमणि को छोड़ कर जटाजूट बाँधा है। देवता शिवजी को नमस्कार करते हैं इनके सिराभूषण का नाम मौलि है। अतः सबसे उत्कृष्ट किरीट, चूड़ामणि, मुकुट, तब मौलि आएगा। शिखामणि तो सामन्त ही धारण करते हैं। मौलि सबसे नीचा है; पर मुकुट से ऊँचा[६]। इसे राजा बनने से पूर्व भी धारण किया जा सकता था।

जाम्बूनदपट्ट[७]—वराहमिहिर के अनुसार पट्ट सोने के होते थे और पाँच

---

१. कुमार०, ७।३५ २. रघु०, ६।३३; विक्रम०, ४।६७
३. रघु०, ६।१९, १०।७५ ४. रघु०, ९।१३
५. मौलिमणि—रघु०, ३।८५, १८।३८,४१; १३।५९ कुमार०, ५।७९
६. राजा दशरथ ने मौलि पहना था; पर इनके शत्रुओं ने मुकुट—रघु०, ९।२०
७. रघु०, १८।४४

प्रकार के बनाए जाते थे—राजपट्ट, महिषीपट्ट, युवराज-पट्ट, सेनापति-पट्ट और प्रसाद पट्ट (जो राजा की विशेष कृपा का द्योतक था)। संख्या में पाँच शिखाएँ, दो और तीन में तीन शिखाएँ, चार में एक शिखा होती थी। प्रसाद पट्ट में शिखा या कलँगी नहीं लगाई जाती थी.... (बृहत्संहिता, ४८।२४) [1]। अतः यह एक प्रकार का सोने का पट्टा है जिसको पगड़ी के ऊपर बाँध लिया जाता होगा। यह भी राज-चिह्न है। मुकुट, किरीट आदि आकार में बड़े होते होंगे, जो बड़े सिर पर ही आ सकते होंगे। बालक के सिर पर चूँकि कोई मुकुट आदि नहीं आ सकता, इसलिए यदि बालक ही राजा बने तो मुकुट के स्थान पर उसको सोने का पट्टा ही बाँध दिया जाता होगा। इससे वह राजा है, ऐसा भी व्यक्त हो सकता है और सिर सूना भी नहीं रहता।

कर्णाभूषण

स्त्री-पुरुष दोनों ही के कानों में छेद होता था और दोनों ही उसमें कुछ-न-कुछ पहना करते थे। पुरुष केवल कुण्डल ही पहनते थे; क्योंकि इनके कर्णाभरणों में एक स्थान पर कुण्डल[2] और दूसरे स्थान पर कर्णभूषण[3] शब्द का प्रयोग हुआ है; परन्तु स्त्रियाँ कर्णपूर, कुण्डल, कनककमल और अवतंस पहनती थीं।

कर्णपूर[4]—दूसरे शब्दों में हम इसको कर्णफूल कह सकते हैं। कर्णपूर शब्द से ही स्पष्ट होता है कि यह आभूषण कानों को ढक लेता होगा अर्थात् सारा कान नहीं अपितु जहाँ छेद है, उसका सारा प्रदेश ही। इसमें पीछे पेंच लगा होगा, जिससे गिरने न पाए और अपने स्थान से सरके भी नहीं।

कुण्डल—मणि[5] अथवा कांचन[6] दोनों ही के कुण्डल होते थे। इसे लड़कियाँ और लड़के दोनों ही पहन सकते थे। यह गोल-गोल छल्ले की तरह होते थे, जो खटके से बन्द हो जाते होंगे।

कनककमल[7]—कर्णपूर और कनककमल में लम्बा-चौड़ा अन्तर नहीं है। आकार में यह गोल न होकर कमल के आकार के, अतः लम्बे हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि ये गिर सकते हैं। उत्तरमेघ, ११ में गिर जाने का प्रसंग है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें पीछे पेंच न होकर काँटा होता होगा।

---

१. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल : 'हर्ष-चरित' : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ९८

२. रघु०, ६।५१ ३. रघु०, ५।६५

४. रघु०, ७।२७; कुमार०, ८।६२; ऋतु०, २।२५

५. ऋतु०, २।२० ६. ऋतु०, ३।१९ ७. उत्तरमेघ, ११

कालिदास का अभिप्राय कनककमल से सुनहले रंग के कमल से भी हो सकता है।

अवतंस[१]—जहाँ कहीं भी अवतंस का प्रसंग है, वहाँ पुष्पों के ही अवतंस स्त्रियाँ कान में धारण करती हैं। केवल एक स्थान पर पार्वती के अवतंस जाम्बूनद के कहे गए हैं[२]। फूलों को कानों में पिरोया ही जा सकता है। फूल नीचे लटकता ही रहेगा। अतः कर्णपूर से यह इसका प्रथम अन्तर हुआ। कर्णपूर कानों में ठीक हो जाता होगा, पर यह नीचे लटकता था। कुमारसम्भव, सर्ग ७ में शिवजी के पीछे-पीछे माताएँ चलने लगीं तब रथ के झटके से उनके कर्णावतंस हिलने लगे[३]। इससे आजकल के झुमके ही उस समय के अवतंस होंगे। ये ही हिल सकते हैं और फूलों को यदि कान में पिरो भी लिया जाय तो इसका यही आकार आएगा। तीसरी बात और एक है, कवि अवतंस के सरकने[४] का वर्णन करता है, अतः ये लटकते होंगे और पीछे पेंच के स्थान पर कनककमल की तरह काँटा लगा होगा।

कण्ठाभूषण

कण्ठाभूषण स्त्री तथा पुरुष दोनों ही धारण करते थे। दूसरी महत्त्वशील बात यह है कि कण्ठाभूषण मुक्ताहार ही थे, चाहे एकावली हो, हारयष्टि हो या हार-शेखर। कवि हार का तात्पर्य मुक्ता के हार ही लेता है[५]। इसको कवि स्वयं ही स्पष्ट कर देता है। कुश की रानियों के हार जल-क्रीड़ा करते समय टूट जाते हैं और वे मुक्ता के समान जल-बिन्दुओं को देखकर समझती हैं कि टूटा नहीं है। यही नहीं, वे उत्तरमेघ में भी यही कहते हैं—

अन्वेष्टव्यामवनिशयने संनिकीर्णैकपार्श्वां तत्पर्यङ्कप्रगलितनवैश्छिन्नहारैरिवास्रैः।
भूयो भूयः कठिनविषमां सादयन्तीं कपोलादामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण॥[६]

मोतियों के हार ही सरलता से टूट सकते हैं। कण्ठाभरण, हार आदि के विषय में कवि एक बात बहुत अधिक कहता है कि ये हार स्तनमण्डल पर पड़े थे, उनसे टकराते थे[७]। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हार आजकल की तरह छोटे-छोटे नहीं अपितु लम्बे पहने जाते थे। मुक्ताहार के मध्य में कभी-कभी रत्न अथवा मणियाँ भी पिरो दी जाती थीं[८]।

---

१. ऋतु०, २।१८, रघु०, १३।४९, कुमार०, ४।८, रघु०, १६।६१
२. कुमार०, ६।६१
३. कुमार०, ७।३८
४. कुमार०, ६।६१; रघु०, १३।६१
५. रघु०, १६।६२, उत्तरमेघ, ३०
६. उत्तरमेघ, ३०
७. ऋतु०, १।६, ८; २।१८; ३।२०; ६।७; कुमार०, १।४२
८. रघु०, ६।१४, पूर्वमेघ, ५०

हार के प्रकार

(१) **मुक्तावली**[१]—मोतियों की एक लड़ी की माला ही मुक्तावली है। इसका प्रमाण यह है कि चित्रकूट के नीचे बहती हुई गंगा उसके गले में पड़ी मुक्तावली के सदृश लगती है[२]। एकावली का दूसरा आकार ही मुक्तावली है।

(२) **तारहार**[३]—मल्लिनाथ तारहार को स्थूल मुक्ताहार कहते हैं। यह पुरुषों का आभूषण है, अतः कहा जा सकता है कि पुरुष बड़े-बड़े मोतियों की माला पहनते थे; पर स्त्रियाँ छोटे मोतियों की। बढ़िया मोती के हार गुप्तयुग में तार-हार कहलाते थे (हर्षचरित, वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ १७८)।

(३) **हार शेखर**[४]—मुक्तावली की तरह ही हार-शेखर मोतियों की माला है। अन्तर यह हो सकता है कि मुक्तावली हार-शेखर से लम्बाई में बड़ी होगी। हार-शेखर छोटी माला है, क्योंकि शेखर मस्तक को कहते हैं और मस्तक के आकार की यह माला होगी, इसीलिए इसका नाम हारशेखर पड़ा। कण्ठी की तरह यह चिपटा रहता होगा।

(४) **हारयष्टि**[५]—जहाँ मुक्तावली और हारशेखर एक लड़ की माला है, वहाँ हारयष्टि अनेक लड़ियों का हार है; परन्तु इसके बीच में चन्द्रहार की तरह पक्खे नहीं पड़े रहते थे। दूसरे शब्दों में यह केवल मुक्ताओं की ही लड़ियाँ थीं जो ऊपर जाकर एक में मिल जाती थीं। प्राचीन वेश-भूषा में (पृष्ठ ७२, चित्र ५०) यक्षिणी की वेश-भूषा में दिखाया आभूषण यही हारयष्टि है।

(५) **हार**[६]—हारशेखर, हारयष्टि, तारहार, निर्धौतहार सब हार के ही प्रकार हैं, जिनमें आकार का थोड़ा-थोड़ा भेद है। साधारण रूप से किसी भी प्रकार के हार को हार की संज्ञा दे दी गई है।

(६) **लम्बहार**[७]—हारों में कुछ छोटे जैसे हारशेखर होते होंगे और कुछ लम्बे, जिन्हें कवि लम्बहारः कहता है। साधारणतः पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा लम्बे हार ही पहनते होंगे, इसीलिए उनके हार को लम्बहार एक पृथक् नाम दे दिया गया है। स्त्रियों के ऐसे लम्बे हार को स्तनलम्बिहार कहा गया है[८]।

---

१. रघु०, १३।४८; विक्रम०, ५।१५ २. रघु०, १३।४८
३. रघु०, ५।५२ ४. ऋतु०, १।६ ५. ऋतु०, १।८; कुमार०, ८।६८
६. ऋतु०, १।४,२८; २।१८; ३।३,२०; ६।७; उत्तरमेघ, ३०; कुमार०, ५।८
७. रघु०, ६।६० ८. रघु०, १६।४३

(७) निर्धौत हार[१]—श्वेत वर्ण दो प्रकार का होता है, एक दुग्ध की तरह धवल, दूसरा जल की तरह। मुक्ता के भी ये दो प्रकार होते हैं। निर्धौत हार उन मुक्ताओं से बनता होगा जो जल की तरह पारदर्शी हों; क्योंकि जहाँ निर्धौत हार का प्रसंग है, वहाँ ओस की बूँदों को इन मोतियों के समान कहा गया है।

(८) इन्द्रनील मुक्तामयी[२]—मोतियों की माला के बीच-बीच में रत्नों से जड़े पक्खे भी आ सकते हैं। यह उसका ही प्रकार है। इसमें बीच-बीच में इन्द्रनील हैं।

(९) कभी-कभी '८' की तरह ही मुक्तामयी माला के बीच में एक बड़ी-सी इन्द्रनील मणि भी पिरो दी जाती थी, जिसको आजकल के पेण्डेण्ट का रूप कह सकते हैं[३]।

(१०) मुक्ताकलाप[४]—एकावली के समान ही इसकी भी रूपरेखा होगी। इसकी कोई विशेष रूपरेखा होगी, इसकी प्रतीति नहीं है। पार्वती के गोल गले में ऊँचे-ऊँचे स्तनों पर मुक्ताकलाप था, ऐसा प्रसंग है। अतः एकावली या मुक्तावली से यह लम्बाई में काफी छोटी होगी। तभी इसका आकार ग्रीवा की तरह गोल आ सकता है।

(११) निष्क[५]—आग की चिनगारियों के साथ इसकी समता दिखाए जाने से यह कहा जा सकता है कि सोने की यह माला होगी और छोटे-छोटे दाने मोतियों के समान इसमें पुरे होंगे अर्थात् मोतियों की माला की तरह यह सोने के मोतियों की माला होगी।

(१२) रत्नानुविद्धप्रालम्ब[६]—जिस प्रकार सोने की माला पहनी जाती थी उसी प्रकार रत्नों की माला भी। यह बहुत कुछ चन्द्रहार जैसा हो जाता होगा। सोने की लड़ियाँ रहती होंगी और बीच-बीच में रत्नों के पक्खे। डाक्टर मोतीचन्द की पुस्तक में (पृ० ७०, चित्र ४९) यक्षिणी के गले में इसी तरह की माला है।

इस प्रकार हार के १२ प्रकार हुए, जिनको यदि संक्षेप में कर दिया जाय तो कहा जा सकता है कि हार एक लड़ी के थे और कई लड़ी के, दूसरी बात

---

१. रघु०, ५।७०
२. रघु०, १३।५४
३. पूर्वमेघ, ५०
४. कुमार०, १।४२
५. कुमार०, २।४९
६. रघु०, ६।१४

यह कि हार के बीच में एक लाकेट की तरह मणि रहती थी या बीच-बीच में कई। मोतियों के हार बहुत अधिक प्रचार में थे; पर सोने के और रत्न-मिश्रित सोने के भी हार प्रचलित थे। हार सीधे तथा हलके थे और जाल की तरह भारी।

(१३) मुक्ताजाल[१]—अलकों में भी मुक्ताजाल का प्रयोग किया जाता था (मुक्ताजालग्रथितमलकम् —पूर्वमेघ, ६७)। कभी-कभी अभिसारिका के केश की मुक्ताएँ मार्ग में बिखर जाती थीं। उत्तरमेघ, ११ में इनके ही बिखर जाने का संकेत है।

कराभूषण

अंगद, वलय, केयूर, कटक और अंगूठी ये पाँच कराभूषण हैं, जो स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से पहनते थे। आकार में थोड़ा अन्तर था। पुरुष सादे धारण करते थे; पर स्त्रियों के इन्हीं आभूषणों में घुँघरू आदि की कोई-न-कोई विशेषता रहती थी।

(१) अङ्गद[२]—भुजाओं पर बाँधने का एक आभूषण है। स्त्री[३] और पुरुष दोनों ही इसे समान रूप से धारण करते थे। यह पीछे बँध जाता था।

(२) केयूर[४]—अंगद की तरह यह भी भुजबन्ध है। अंगद से इसमें एक विशेषता है, इसमें नोक होती थी। रघुवंश में अज के द्वारा मारे गये योद्धाओं में एक के केयूर की नोंक शिवा के तालू में चुभ गई थी[५]।

(३) वलय[६]—अंगद भुजबन्ध है, पर वलय कड़ा, जो पहुँचियों पर पहना जाता था। अंगद और वलय एक ही स्थान पर नहीं पहने जाते थे; क्योंकि कवि ने ऋतुसंहार में एक साथ ही (वलयांगद) दोनों का प्रयोग किया है[७]। पूर्वमेघ में इसे वह प्रकोष्ठस्थित ही कहता है[८]। आकार में यह गोल कड़े की तरह होता है; क्योंकि कहीं अक्षमाला को वलय की तरह लपेटना कहा है[९], कहीं शिवजी सर्पों को वलय की तरह लपेटे हुए हैं[१०]। पुरुष केवल बाएँ हाथ में वलय पहनते थे—

---

१. मुक्ताजालैःस्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैः च हारैः— उत्तरमेघ, ११

२. रघु०, ६।१४,५३; १६।६०

३. रघु०, १६।६०

४. रघु०, ६।६८, ७।५०, कुमार०, ७।६९; स्त्रियाँ —रघु०, १६।५६

५. रघु०, ७।५०

६. अभि०, ३।११, ६।६; कुमार०, २।६४, ५।६८; पूर्वमेघ, ६४; रघु०, १३।४३, १६।७३; पूर्वमेघ, २; माल०, २।६; रघु०, १६।२२

७. ऋतु०, ४।३, ६।७

८. पूर्वमेघ, २

९. रघु०, १३।४३

१०. पूर्वमेघ, ६४, कुमार०, ५।६८

'प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं ।
विभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः ॥ —अभि०, ६।६

(अ) **काञ्चन वलय**[१]—वलय का यह सबसे सीधा प्रकार है। यह पुरुष ही अधिकांश में धारण करते हैं। लड़कियों का केवल दो स्थानों पर प्रसंग है[२]।

(ब) **कंगन की तरह नोकदार**[३] (वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं—पूर्वमेघ, ६५)—आजकल के कंगनों की तरह नोकदार कुछ जड़ाऊ वलय भी स्त्रियाँ पहनती थीं। कुलिश का अर्थ कुछ लोग हीरा कहते हैं।

(स) **शिञ्जावलय**[४]—घुँघरूदार कड़े, जो ताली बजाने पर मृदुलध्वनि कर उठें।

(४) **अंगूठी**—अंगूठी साधारण होती थी। रत्नजड़ी[५], रत्नों से नाम लिखा हुआ हो,[६] इस प्रकार की अथवा जिस पर सर्प[७] आदि किसी का चित्र बना हो। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अंगूठी पहनते थे।

(५) **कटक**[८]—कड़े की तरह का एक आभूषण है। यह पुरुषों का है। संक्षिप्त रूप से अंगद और केयूर सीधे पट्टीनुमा होते थे, जो पीछे बँध जाते होंगे; परन्तु वलय और कटक चूड़ी की तरह ही पहने जाते थे तथा ढीले रहते थे; क्योंकि मालविका का वलय प्रकोष्ठ पर आकर ठहर गया था।

कटि के आभूषण

कमर के आभूषणों में मेखला, रशना एवं काञ्ची तीन आभूषण हैं यद्यपि इन तीनों के सोने, रत्न एवं मुक्ता आदि के कई प्रकार भी होंगे।

मेखला[९]—रशना का जहाँ कहीं नाम है वहाँ वह बजती है, ऐसा सर्वत्र कहा गया है; परन्तु रशना का यह गुण मेखला में नहीं पाया जाता। कहीं-कहीं

---

१. अभि०, ३।११, ६।६, मेघदूत—पूर्वमेघ, २, कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
२. माल०, २।६, कुमार०, २।६४ ३. पूर्वमेघ, ६५
४ उत्तरमेघ, १६
५. रघु०, ६।१८, अभि०, अंक ६, पृ० ६८
६. अभि०, पृ० २२,६०,७६,९७,११२
७. माल०, पृ० २६३ ८. माल०, अंक २, पृ० २८६
६. कुमार०, १।३८, ८।२६,८३,६७,८९,१४; ७।६१; रघु०, १०।८, १५।१, रघु०, १६।१७,२५,४०; ऋतु०, १।४,६

कवि, मेखला से रानियाँ राजा को बाँध देती थीं, ऐसा भी कहता है[१]। अतः चौड़ाई में यह पतली होती होगी। इस बात का दूसरा प्रमाण यह है कि कवि एक स्थान पर कुमारसम्भव में कहता है कि नहाती हुई पार्वती के चारों ओर घूमती हुई मछलियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानों उसने मेखला धारण की हो[२]। रघुवंश में भी नदी में तैरती हंसों की पंक्तियाँ मेखला कही गई हैं[३]।

मेखला सादी सोने की होती थी (हेम-मेखला[४]) अथवा मणि-मेखला[५] जिसमें रत्न जड़े हों। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त शिंजित मेखला[६] भी थी अर्थात् ध्वनि उत्पन्न करने के लिए स्थान-स्थान पर घुँघरू भी डाल दिए जाते थे। कभी-कभी स्त्रियाँ साड़ी पर घण्टियों से बनी मेखलाएँ पहनती थीं[७]। कवि, मेखला टूट जाती थी, ऐसा भी कभी-कभी कहता है[८]। अतः मेखला मुक्तामयी भी होती होगी; क्योंकि यही टूट सकती है, सोने और रत्न का नहीं।

(२) रशना[९]—रशना में अधिकतर शब्द वर्णित है[१०] अतः घुँघरू तो अवश्य ही इसमें लगे रहते होंगे। मेखला से रशना का यह पहला अन्तर है। मेखला की तरह यह भी पतली होगी; क्योंकि मालविकाग्निमित्र में इरावती अग्निमित्र को रशना से ताडित करने का प्रयत्न करती थी[११]। मेखला की तरह रशना की उपमा भी मछलियों की पंक्तियों[१२], हंस की पंक्तियों[१३] अथवा विहगावलियों[१४] से दी है। अतः आकार-प्रकार में यह मेखला की ही तरह है। केवल घुँघरू का अन्तर है। घुँघरू हैं, इसका प्रथम प्रमाण यह कि शब्द वर्णित है, दूसरा यह कि सूत्र में पिरोए जा सकते हैं[१५] और सूत्र टूटने या छूटने पर यही

---

१. रघु०, १९।१७; कुमार०, ४।८ २. कुमार०, ८।२६
३. रघु०, १९।४० ४. ऋतु०, १।६
५. रघु०, १६।४५; कुमार०, १।३८; ऋतु०, ६।४
६. रघु०, ६।३७
७. डा० मोतीचन्द : प्राचीन वेश-भूषा, पृ० ७१
८. कुमार०, ८।८३, ८६; उत्तरमेघ, ३८; रघु०, १६।२५
९. कुमार०, ५।१०, ७।६१; ऋतु०, ३।३, २०, ६।२६; माल०, अंक ३, पृ० ३११; विक्रम०, ४।५२; उत्तरमेघ, ३; रघु० ७।१०, ८।५८, १५।८३, १६।६५, १६।४१
१०. रघु०, ८।५८, १६।६५ ११. माल०, अंक ३, पृ० ३११
१२. ऋतु०, ३।३ १३. उत्तरमेघ, ३
१४. विक्रम०, ४।५२ १५. कुमार०, ७।६६, रघु०, ७।१०

बिखर सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि निरे घुँघरू ही हों और कुछ नहीं, प्रत्युत घुँघरू भी जगह-जगह लगे होंगे। मछली हंस आदि की शकल में रत्नमणि आदि भी रहती होंगी और घुँघरू भी।

प्रकार में हेमरशना[1] जिसमें रत्नादि बिलकुल न हो; रशनाकलाप[2], जिसमें घुँघरुओं की संख्या अधिक हो और क्वणितरशना[3] जिसमें बड़े-बड़े बजते घुँघरू ही हों, हैं।

काञ्ची[4]—मेखला और रशना की तरह यह कभी बाँधने के काम नहीं आई, न ही मछलियाँ, हंस, विगह इसके प्रतीक हुए। अतः यह पतली पट्टी न होकर चौड़ी पट्टी-सी होती होगी। यह सोने की[5] अथवा काञ्चनमयी रत्नचित्रों से परिपूर्ण थी[6]। इस काञ्ची को शब्दमयी बनाने के लिए घुँघरू का प्रयोग भी कर दिया जाता था। क्वणितकनककाञ्ची का कवि प्रसंग देता है[7]। कनककिंकणी[8] का एक प्रकार और मिलता है, जो इससे मिलता-जुलता है, आकार में कुछ पतला हो जाता होगा। यक्षिणी चन्दा की वेश-भूषा में कमर पर वह चौखूँटी तख्तियों से बनी एक सतलड़ी करधनी पहने है—(प्राचीन वेश-भूषा, पृष्ठ ७०, चित्र ४६)। पृष्ठ ७२, चित्र ५० पर भी ऐसी ही करधनी पहने एक स्त्री है, जिसमें चार लड़ियाँ हैं; पर चारों भिन्न हैं। एक चौखूँटी तख्ती की, दूसरी मौलसिरी के फूलों के आकार की, तीसरी तरबूजेदार मनकों की, चौथी गोल मनकों की। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्त्रियाँ एक ही समय काञ्ची, रशना सब पहन लेती होंगी।

कटि के इन आभूषणों के विषय में एक बात महत्त्वशील है। ये दुकूल अथवा क्षौम के जैसे ऊपर पहने जाते हैं, वैसे ही उस समय नीचे भी पहने जाते थे[9]।

पैर का आभूषण

नूपुर[10]—पैरों में स्त्रियाँ नूपुर धारण करती थीं। नूपुर का अर्थ विछुए नहीं, अपितु पायल था। इसके पक्ष में प्रमाण यह कि एक तो कुमारी कन्याएँ भी

---

१. रघु०, १९।४१; ऋतु०, ६।२६ २. रघु०, १६।६३; ऋतु०, ३।२०
३. पूर्वमेघ, ३९ ४. ऋतु०, २।२०, ६।७, ३।२६, ४।४
५. क्वणितकनककाञ्ची —ऋतु०, ३।२६
६. ऋतु०, ४।४ ७. ऋतु०, ३।२६
८. रघु०, १३।२३ ९. रघु०, १०।८, १९।४१
१०. कुमार०, १।३४; ऋतु०, १।५, ३।२७, ४।४; रघु०, ८।६३, १३।२३, १६।१२; ऋतु०, ३।२०; विक्रम०, पृष्ठ १८७, ३।१५, ४।३०; माल०, पृष्ठ २९९, ३०२, ३०६; अंक ३, ३।१७

इसे धारण कर सकती थीं[१] और दूसरा बिछुए जैसे में मणि आदि नहीं जड़ी जा सकती। वे बहुत बड़े हो जायँगे। इसमें सदैव शब्द वर्णित है[२]। अतः कहा जा सकता है कि इसमें घुँघरू अवश्य लगाए जाते होंगे। शिञ्जितनूपुर,[३] मणिनूपुर,[४] भास्वत कलनूपुर[५] (चमकते हुए और शब्द करने वाले सुन्दर-से) कलनूपुर[६] आदि शब्द कवि के ग्रन्थों में आए हैं। संक्षेप में केवल सोने के और मणिजटित दो ही प्रकार विशेष हैं।

आभरण-मञ्जूषा[७]—समस्त आभरणों को रखने के लिए एक पिटारी अथवा सन्दूक भी होता था, जो आभरण-मञ्जूषा कहलाता था। इसके लिए दूसरा प्रचलित शब्द समुद्गक था। जंगल में रहनेवाले पत्तों से भी समुद्गक बना लेते थे। अनुसूया ने शकुन्तला की बिदाई के अवसर के लिए एक बकुल की माला 'नारिकेल समुद्गक' में रख छोड़ी थी।

पुष्पाभरण—स्वर्ण तथा रत्नजटित आभूषणों की तरह स्त्रियाँ पुष्प के आभूषणों से भी अपने शरीर अलंकृत किया करती थीं। ऋतुओं के अनुसार उनको ननाप्रकार के पुष्प मिल भी जाते थे।

केश—सिर में वे कुरबक,[८] नवकदम्ब, नवकेशर और केतकी के फूलों की माला कभी धारण करतीं,[९] कभी मधूक की (कुमार०, ७।१४)। वर्षाऋतु में कभी केशपाश को पुष्पावतंस से सुरभीकृत करतीं,[१०] कभी बकुल और मालती के फूलों की माला से अलंकृत करती थीं[११]। शरद्‌ऋतु में घनी, काली लटों में मालती के फूल गूँथती थीं[१२]। शिशिर तक में वे केश को फूलों से सजाती थीं[१३]। वसन्तऋतु शृंगार के लिए बहुत उपयुक्त होने के कारण स्त्रियाँ इस ऋतु में, विशेषतः चम्पे की माला से केश सजातीं[१४], कभी कुरबक के फूलों से केशपाश अलंकृत करती थीं[१५]। कवि की सर्वसुन्दरी उर्वशी जुही और रक्त-कदम्ब से केश की शोभा बढ़ाती थी[१६]। अशोक और नवमल्लिका के फूल भी

---

१. माल०, अंक ३ पूरा
२. कुमार०, १।३४; रघु०, १३।२३; ऋतु०, ४।४; विक्रम०, ३।१५, ४।३०; माल०, ३।१७; ऋतु०, ३।२०
३. कुमार०, १।३४; विक्रम०, ४।३०
४. ऋतु०, ३।२७
५. रघु०, १६।१२
६. ऋतु०, ३।२०
७. माल०, अंक ४, पृष्ठ ३२५; अंक ५, पृष्ठ ३५५
८. उत्तरमेघ, २
९. ऋतु०, २।२१
१०. ऋतु०, २।२२
११. ऋतु०, २।२५
१२. ऋतु०, ३।१९
१३. ऋतु०, ५।८
१४. ऋतु०, ६।३
१५. ऋतु०, ६।३३
१६. विक्रम०, ४।४६, ६१

केश-सौन्दर्य के लिए उत्तम थे ।[१] नीप-पुष्प से सीमन्त अलंकृत किया जाता था[२] ।

कर्ण—केश-रचना की तरह कानों में शिरीष[३], यवांकुर[४] तथा अन्य सुगन्धित पुष्पों के अवतंस पहने जाते थे[५] । वर्षाऋतु में नवकदम्ब का कर्णपूर[६], शरद् में कानों में नीले कमल[७], वसन्त में नवकर्णिकार के अवतंस[८] स्त्रियाँ पहनती थीं । शकुन्तला कमलनाल के आभूषण पहनती थी । कानों में शिरीष की डण्ठल डाल लेती थी[९] । मालविका दोहद के समय आम की मञ्जरी और अशोक के अवतंस पहने थी[१०] । कुकुमद्रुम मञ्जरी के भी अवतंस वर्षाऋतु में पहने जाते थे[११] ।

कण्ठ—वक्षःस्थल पर फूलों के हार पहने जाते थे[१२] । शकुन्तला गले में कमल के तन्तुओं की माला पहना करती थी[१३] ।

कर (वलय)—शकुन्तला मृणाल का वलय पहनती थी[१४] । अन्य किसी ने कभी किस पुष्प का वलय पहना, इसका कोई संकेत नहीं है ।

काञ्ची—काञ्ची भी फूलों की पहनी जाती थी । केसरदामकाञ्ची इनमें विशेष है[१५] ।

शृंगार

केश-रचना--स्त्री और पुरुष[१६] दोनों ही लम्बे-लम्बे बाल रखते थे । रघुवंश में राजा दिलीप की लटें लताओं के समान उलझ गई थीं[१७] । बाल तभी उलझ सकते हैं, जब लम्बे हों । बच्चों के भी काकपक्ष होता था[१८] । अर्थात्

---

१. ऋतु०, ६।६
२. उत्तरमेघ, २
३. उत्तरमेघ, २, रघु०, १६।६१, अभि०, १।२८
४. रघु०, १३।४९
५. ऋतु०, २।१८
६. ऋतु०, २।२५
७. ऋतु०, ३।१९
८. ऋतु०, ६।६
९. अभि०, अंक ६, पृ० ११७
१०. माल०, अंक ३, पृ० ३०५,३०६
११. ऋतु०, २।२१
१२. ऋतु०, २।१८, ४।२, ६।३
१३. अभि०, ६।१८
१४. अभि०, ३।७
१५. कुमार०, ३।५५
१६. रघु०, ७।४६, १।८, १९।४३; अभि०, ७।११
१७. रघु०, १।८
१८. रघु०, १८।४३; विक्रम०, पृ० २४८, शिखंडक (अंक ५); रघु०, ३।२८, ११।१,४२,५

उनके बाल इतने लम्बे होते थे कि वे सुन्दर छल्ले बनाते हुए इधर-उधर लटका करते थे। पुरुषों के बाल इतने लम्बे होते थे कि रानियाँ अर्थात् उनकी पत्नियाँ उनके बाल पकड़ कर रोक लेती थीं[१]। यवन लोग दाढ़ी रखते थे[२]। दुःख के समय में या किसी प्रिय व्यक्ति के वियोग-काल में भारतवासी भी श्मश्रु रखते थे[३]।

स्त्रियों के केश लम्बे होते थे[४]। लम्बे, घुँघराले[५] और काले बाल[६] सौन्दर्य की दृष्टि से उत्तम माने जाते थे, जिनको वे तेल डालकर चिकने रखती थीं। विरहावस्था में तेल के अभाव के कारण ही उनके बाल रूखे रहते थे और उलझते थे[७]।

स्त्रियाँ चोटी[८] भी करती थीं और जूड़ा भी बनाती थीं। एकवेणी का बहुत अधिक प्रसंग है। विरहावस्था में बाल खुले नहीं रहते थे, अपितु जैसा पति के सम्मुख प्रतिदिन तेल डालतीं, वेणी आदि धारण करतीं, फूलों से अलंकृत करतीं, वैसा उनकी अनुपस्थिति में नहीं। अतः बाल उलझते रहते थे, जो उनके पति ही आकर सुलझाते थे। एकवेणी[९] शब्द से ऐसा आभास होता है कि आजकल की तरह कदाचित् तब भी दो चोटियाँ की जाती हों।

संस्कृत के अमरकोष में अलक का स्वरूप 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अलकावली बनाने में चूर्ण का प्रयोग किया जाता था। दूसरे शब्दों में कुंकुम, कपूर आदि के अवलेप से बालों में भँवर पैदा किए जाते थे। कालिदास भी इसी का समर्थन करते हैं। रघुवंश में वर्णित केरल देश की स्त्रियों के अलकों के सम्बन्ध में चूर्ण का उल्लेख है—

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः॥[१०]

रघुवंश के अष्टम सर्ग में इन्दुमती के केशों का वर्णन करते हुए कवि ने अलकों का

---

१. रघु०, १९।३१ २. रघु०, ४।६३
३. रघु०, १३।७१, कूर्चे—अभि०, अंक ६, पृ० ११६
४. शिरोरुहैः श्रोणितटावलंबिभिः........ — तु०, २।१८
५. रघु०, ६।८१ 'अरालकेश'; कुमार०, ८।४५ कुटिलकेश; माल०, ३।२२, कुटिलकेश ६. ऋतु०, ४।१६
७. स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं,
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण। —उत्तरमेघ ३४; उत्तरमेघ ३०
८. रघु०, १४।१२ वेणी; पूर्वमेघ १८, ३१; उत्तरमेघ ४१
९. अभि०, ७।२१; उत्तरमेघ, ३०, ३४ १०. रघु०, ४।५४

वास्तविक स्वरूप बताया है[१]। इसमें अलकों का वलीभृत विशेषण स्पष्ट करता है कि छल्लेदार या घूँघरदार बाल उस समय की विशेष प्रकार की केशरचना थी। लटों को चूर्ण, कुन्तल या अलक के रूप में लाने से उनकी लम्बाई कम हो जाती होगी। कवि ने विरहिणी यक्षपत्नी के केशों को लम्बालक[२] कहा है। विरह में स्निग्ध पदार्थ तैलादि के बिना शुद्ध-स्नान के कारण उसके अलक कपोलों पर लटक आते थे, अतः उसका पूरा मुख नहीं दिखाई देता था[3]। इससे यह ध्वनि निकलती है कि विरह में केश-रचना (बालों को घूँघरदार) नहीं करती थीं, अतः वे लम्बे होकर कपोलों पर लटक आते थे।

मल्लिनाथ ने अलक की व्याख्या 'स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्' की है। इससे पूर्णरूप से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि अलकों में वक्रता अथवा घुमाव रहता था।

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल इन घुँघराले बालों के बनाने के कई प्रकार वर्णित करते हैं।

(अ) इसमें सीमन्त या माँग के दोनों ओर केवल वलीभृत अलकों की समानान्तर पंक्तियाँ सजी रहती हैं। भारत-कला-भवन में इस केश-विन्यास के कई नमूने हैं।

(ब) सीमन्त या केशवीथी को एक आभूषण से सज्जित किया जाता है। इसका वर्तमान रूप सिरबोर कहा जा सकता है। इस आभूषण के लिए सीमन्त स्थान कुछ विस्तृत दिखाया जाता है और थोड़ा हटा कर घूँघर प्रारम्भ किया जाता है। बाणभट्ट ने सिरबोर के लिए हर्षचरित में 'चटुला तिलक' शब्द का प्रयोग किया है।

(स) घूँघर की पहली पंक्ति ललाट के ऊपर अर्द्धवृत्त की तरह घूमती हुई सिर के प्रान्त भाग तक जाती है। यह देखने में खुली छतरी-सी लगती है।

(द) वासुदेव जी इस प्रकार को पटियादार घूँघर कहते हैं। माँग के दोनों ओर पहले पटिया मिलती है, तत्पश्चात् घूँघर शुरू होकर दोनों ओर फैल जाते हैं[४]।

---

१. कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान्।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशंकि मे मनः ॥—रघु०, ८।५३

२. हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वादिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्ते-र्बिभर्ति।—उत्तरमेघ, २४

३. निश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं,
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्। —उत्तरमेघ, ३३

४. वासुदेवशरण अग्रवाल : कला और संस्कृति, पृ० २४६

यह सब अलक अर्थात् घूँघर के विभिन्न प्रकार हैं। अलक, केश-रचना के अतिरिक्त वे अन्य प्रकार की केश-रचना भी अभिव्यक्त करते हैं। जो निम्न-लिखित हैं—

कुटिल पटियां—माँग के दोनों ओर कनपटी तक लहराई हुई शुद्ध पटिया मिलती है। वे ही छोर पर ऊपर को मुड़ कर घूम जाती हैं। देखने में यह मोर की फहराती पूँछ-सी मालूम होती है। कालिदास ने स्त्री-केशों को मोरों का बर्हभार[१] कहा है, वहाँ उनका आशय इसी प्रकार के केश-विन्यास से है।

चूडापाश—आधुनिक 'जूड़ा' शब्द इसी 'चूडा' शब्द का रूपान्तर है। इसमें माँग के दोनों ओर बालों की पटिया बनी रहती है। वे ही सिर के पीछे जूड़े के रूप में बाँध दी जाती हैं।

छत्तेदार केश-रचना—इसमें माँग के दोनों ओर बाल शहद के छत्ते की तरह झँझरोदार-से जान पड़ते हैं। संस्कृत में इस रचना को क्षौद्रपटल या मधु-पटल-विन्यास कहा जा सकता है। कालिदास ने पारसीकों के दाढ़ीदार श्मश्रुल सिरों की उपमा क्षौद्रपटल से दी है[२]।

मौलि—इसमें बालों का जूड़ा बना कर माला से बाँध लिया जाता है। मौलि के भीतर भी फूलों की माला गूँथी जाती थी। कवि ने इसका उल्लेख किया है[३]।

वेणी-बन्धन,[४] केश-बन्धन,[५] अलक-संयमन,[६] केशपाश[७] आदि शब्दों से ऐसा लगता है कि वे जूड़ा बनाती थीं। शकुन्तला प्रथम अंक में जूड़ा खुल जाने से शकुन्तला की लटें बिखर जाती हैं, जिन्हें वह बड़ी कठिनाई से सम्हालती है[८]। अतः चोटी का ही जूड़ा नहीं, खुले बालों का जूड़ा बनाया जाता था;[९] पर वेणी-

---

१. शिखिनां बर्हभारेषु केशान्। —उत्तरमेघ, ४६

२. भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव॥ —रघु०, ४।६३

३. तेऽस्य मुक्तागुणोनद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम्। —रघु १७।२३

नोट : ये विभिन्न केश-विन्यास प्रणालियाँ श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'कला और संस्कृति' में विस्तारपूर्वक वर्णित की हैं।

४. रघु०, १०।४७ ५. अभि०, अंक ६, पृष्ठ ११५ ६. विक्रम०, ३।६

७. ऋतु०, ४।१५, ५।१२; उत्तरमेघ, २, कुमार०, ७।५७, ६

८. अभि०, १।२८ ९. रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः —रघु०, ९।६७

बन्धन शब्द से ऐसा लगता है कि चोटी का भी जूड़ा बनाया जाता होगा[1]।

वे माँग निकालती थीं[2]। माँग भरने का भी एक स्थान पर प्रसंग है। अरुणचूर्ण का प्रयोग माँग भरने के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं रखता[3]। वे माँग को फूलों से सजाती थीं[4]। जूड़े को वे बहुधा पुष्पों से अलंकृत करतीं[5] अथवा वैसे ही केशों को नानाप्रकार के पुष्पों से सुन्दर बनाती थीं[6]। कभो-कभी मुक्ताजाल से भी अलकों की सुन्दरता बढ़ाया करती थीं[7]।

केवल पुष्प, रत्न, मुक्ता ही केश-सौन्दर्य के लिए ही नहीं, नानाप्रकार के चूर्ण भी सुरभित करने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। वे बालों को काले अगरु,[8] धूप[9] से सुगन्धित किया करती थीं। कस्तूरी का चूर्ण[10] भी कदाचित् बालों को सुगन्धित करने के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। अलक-चूर्ण[11] का भी कुमारसम्भव में प्रसंग आता है।

इन सब उपकरणों से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि केश-रचना[12] का बहुत बड़ा महत्त्व था।

मुख-सौन्दर्य

(१) पत्र-रचना—स्त्री[13] और पुरुष[14] दोनों ही मुख पर[15] (और शरीर के अन्य भाग पर भी[16]) पत्र-रचना किया करते थे। पत्र-रचना का संकेत कुमारसंभव[17], रघुवंश[18], मालविकाग्निमित्र[19], ऋतुसंहार[20] में स्थान-स्थान पर

१. रघु०, १०।४७ २. उत्तरमेघ, २ ३. रघु०, १६।६६
४. उत्तरमेघ, २, ५. रघु०, ७।६
६. कुमार०, ५।१२, ७।१४, ८।७२; विक्रम०, ४।२२, ४६, ६१; उत्तरमेघ, २; ऋतु०, २।२१, २२, २५; ३।१९; ५।८; ६।३, ६, ३३; रघु०, ९।६७
७. पूर्वमेघ, ६७; रघु०, १७।२३ ८. पूर्वमेघ, ३६; ऋतु०, ४।५, ५।१२
९. कुमार०, ७।१४; ऋतु०, ५।१२; रघु०, १६।५०, १७।२२
१०. चमूरेणुचूर्ण—रघु०, ४।५४ ११. कुमार०, ८।१९
१२. केशरचना—ऋतु०, ४।१६
१३. कुमार०, ७।१५, माल०, ३।५, कुमार०, ३।३०,३३,३८; रघु०, ६।७२, १६।६७ १४. रघु०, १७।२४
१५. माल०, ३।५, कुमार०, ३।३०,३३,३८; रघु०, ६।७२, १६।६७
१६. कुमार०, ७।१५, रघु०, ९।२९, १६।६७ (मुख और स्तन), रघु०, १७।२४
१७. कुमार०, ३।३०,३३,३८, ७।१५
१८. रघु०, ६।७२, १६।६७, १७।३४, ९।२९
१९. माल०, ३।५ २०. ऋतु०, ४।५, ६।८

आया है। यह रचना गोरोचन और कुंकुम से की जाती थी। पार्वती के शरीर पर पत्र-रचना गोरोचन से की गई थी[1], रघुवंश में राजा अतिथि के राज्याभिषेक के अवसर पर मुख पर गोरोचन, चन्दन और अंगराग से पत्र-रचना की गई थी[2]। पत्र-रचना अञ्जन से भी होती थी[3]। थोड़े से शब्दों में काला, श्वेत और लाल रंग पत्र-रचना के लिए प्रयुक्त किए जाते थे[4]।

(२) माथे पर तिलक—माथे पर तिलक भी मुख-सौन्दर्य के लिए विशेष महत्त्व रखता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही तिलक का प्रयोग किया करते थे[5]। यह तिलक हरताल और मनःशिला का बनाया जाता था। महादेव और पार्वती दोनों के विवाह के अवसर पर ऐसा ही तिलक लगा था[6]। तिलक का मालविकाग्निमित्र[7] और रघुवंश[8] में भी संकेत है। तिलक कदाचित् स्त्रियाँ लाल रंग का लगाती थीं; परन्तु आसपास अञ्जन से भी या छोटी-छोटी बिन्दियाँ लगाती होंगी या बाहर की रेखा; क्योंकि काले मोरों से घिरा तिलक का फूल स्त्रियों के तिलक की समानता प्राप्त करता है, ऐसा कवि ने मालविकाग्निमित्र में कहा है[9]। कुमारसम्भव में भी तिलक का फूल स्त्रियों के तिलक के समान है, ऐसा कहा गया है[10]।

(३) अञ्जन—सौन्दर्य के लिए आँखों में अञ्जन[11] का प्रयोग किया जाता था। यह अञ्जन काला होता था[12] अर्थात् सुरमे के रंग का नहीं। कवि काले बादलों को घुटे अंजन के समान कहता है[13]। एक स्थान पर नीले आकाश को अञ्जन के समान कहा है[14]। अतः कहा जा सकता है कि अञ्जन कुछ हलके काले रंग का और कुछ गहरे काले रंग का होता होगा। विरह में[15] या तपस्या

---

१. कुमार०, ७।१५ २. रघु०, १७।२४
३. कुमार०, ३।३० ४. माल०, ३।५
५. कुमार०, ७।२३,३३; रघु०, १८।४४ (सुदर्शन ने लगाया था) कुमार०, ३।३०, माल०, ३।५, ४।९
६. कुमार०, ७।२३,३३ ७. माल०, ३।५, ४।९
८. रघु०, १८।४४ ९. माल०, ३।५ १०. कुमार०, ३।३०
११. रघु०, ७।२७, १६।५९, १९।१०, कुमार०, १।४७, ५।५१, ७।२०,५९, ८२; उत्तरमेघ, ३७, तु०, १।११, २।२
१२. कुमार०, ७।२०,८२ १३. ऋतु०, २।२, ३।५
१४. ऋतु०, १।११ १५. उत्तरमेघ, ३७

में[1] काजल लगाना वर्जित हो जाता था, अतः आँखें रूखी हो जाती थीं। यह अञ्जन शलाकाओं से लगाया जाता था। शलाकाओं का बहुधा कवि प्रसंग देता है[2]।

(४) ओष्ठराग—ओष्ठ रँगने का भी अधिक चलन था। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के उन ओष्ठों का वर्णन करता है, जो रँगे न जाने के कारण पीले पड़ गए थे[3]। कुमारसम्भव में भी ओष्ठराग का प्रसंग है[4]। स्वयं पार्वती तपस्या करते समय यद्यपि ओष्ठ रँगना छोड़ चुकी थीं; पर उनके ओष्ठ तब भी लाल थे[5]। स्नान करते समय यह ओष्ठराग धुल जाता था[6]। अतः ओष्ठ स्वाभाविक लाल न भी हों तब भी रँग कर लाल कर लिए जाते थे। रघुवंश की तरह विक्रमोर्वशीय में भी ओष्ठराग की स्पष्ट प्रतीति है[7]। ओष्ठराग तपस्या करते समय[8] और विरहावस्था में[9] श्रृंगार के अन्य उपकरणों की तरह छोड़ दिया जाता है। एक अन्य महत्त्वशील बात इस प्रसंग में यह है कि आजकल की तरह ओष्ठराग कई रंग का नहीं होता था। केवल लाल रंग का ही था[10]।

अलता—जिस प्रकार ओष्ठ पर ओष्ठराग प्रयुक्त किया जाता था, वैसे ही चरणों पर अलता[11]। अलता के लिए कवि कभी राग-लेखा, कभी पादराग, कभी लाक्षारस, कभी आलक्तक, कभी राग-रेखा-विन्यास, कभी चरणराग, कभी द्रवराग, कभी निर्मितराग, आदि शब्द कहता है। राग-रेखा-विन्यास शब्द से

---

१. कुमार०, ५।५१
२. कुमार०, १।४७, रघु०, ७।८, कुमार०, ७।५९
३. अभि०, ७।२३
४. कुमार०, ३।३०, ५।११,३४, ७।१८
५. कुमार०, ५।३४ ६. रघु०, १९।१०
७. विक्रम०, ४।१७ ८. कुमार०, ५।११,३४
९. अभि०, ७।२३ १०. अभि०, ७।२३, कुमार०, ५।३४
११. विक्रम०, ४।१६—चारुपदपंक्तिरलक्तकांकर। पूर्वमेघ, ३६ पादराग। माल०, ३।११ रागलेखा। अंक ३, पृ० ३०३ रागरेखाविन्यास। अंक ३, १३ आलक्तक। कुमार०, ४।१९ निर्मितराग; ५।६८ आलक्तक, ७।१९ रंजयित्वा, ५८ आलक्तक; ८।८९ चरणराग। रघु०, ७।७ द्रवराग—आलक्तांक; १६।१५ चरणान्सरागान्; रघु०, १८।४१ आलक्तक, १९।२५ आलक्तांकितम्, २६ चरणराग; उत्तरमेघ, १२ लाक्षाराग; अभि०, ४।५ लाक्षारस।

ऐसा प्रतीत होता है कि आलता लगाने की भी कला थी[1]। मालविका के चरणों को वकुलावलिका ने आलक्तक से बहुत सजाया था[2]। स्त्रियाँ तो इस कला में प्रवीण[3] हुआ ही करती थीं; पर पुरुष भी इस कला में दक्ष हुआ करते थे। मालविकाग्निमित्र में तो सखी का सरल हास्य है कि मैंने इस कला को राजा से सीखा है[4] पर रघुवंश के अन्तिम सर्ग में कामुक अग्निवर्ण अपने विलासीपन में स्वयं रानियों को महावर लगाने बैठ जाया करता था[5]। स्त्रियों की तरह पुरुष भी अपने महावर लगाते थे; पर अवसरविशेष पर[6]।

श्रृंगार के अन्य उपकरण

अञ्जन, तिलक, ओष्ठराग और आलता के अतिरिक्त श्रृंगार के लिए नाना प्रकार के अवलेप, उषीर, चन्दन, अंगराग, पुष्प, सुगन्धित द्रव्य, इत्र, तेल, तथा सुगन्धित चूर्णों का प्रयोग किया जाता था।

पुष्प—फूलों का बहुत अधिक प्रयोग होता था। आभूषण वाले प्रसंग में बताया ही जा चुका है कि किस-किस प्रकार के पुष्प किस स्थान पर और किस रूप में धारण किए जाते थे। फूलों की रशना, अवतंस, वलय, हार, वेणी आदि सभी थी। पूर्वमेघ, २८ में पुष्पलावी नाम की जाति का प्रसंग है जो फूलों को बेचती थी। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में भी 'उद्यान-पालिका' है, अतः फूलों का उस समय बहुत अधिक चलन था, इसमें कोई संशय नहीं।

चन्दन[7]—शीतलता तथा सौन्दर्य के लिए चन्दन का प्रयोग किया जाता था, केवल हेमन्त[8] और शिशिर को छोड़कर सभी ऋतुओं में स्त्रियाँ चन्दन का प्रयोग करती थीं[9]। चन्दन को कस्तूरी की सुगन्धि में बसाकर सुगन्धित भी कर लिया जाता था[10]। अथवा प्रियंगु, कालीय, कस्तूरी और कुंकुम में मिलाकर सुगन्धित

---

१. माल०, अंक ३, पृ० ३०३ २. माल०, अंक ३, पृ० ३०३, ३०४
३. माल०, अंक ३, पृ० ३०३, ३०४; कुमार०, ७।१९
४. माल०, अंक ३, पृ० ३०३ ५. रघु०, १९।२५,२६
६. रघु०, १८।४१
७. विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्। —कुमार०, ५।८
—तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिका चंदनधूसरालका।—कुमार०, ५।५५
—क्लिष्टकेशविलुप्तचंदनम्। —कुमार०, ८।८३
८. मनोहरैश्चंदनरागगौरैस्तुषारकुन्देन्दुनिभैश्चहारैः। विलासिनीनां स्तनशालिनीनामलंक्रियन्ते........॥
९. ऋतु०, १।२,४,६,८; ऋतु०,३।२०, ६।३२
१०. चन्दनेनांगरागं च मृगनाभिसुगंधिना—रघु०, १७।२४

अवलेप भी बना लिया जाता था[१]। काले अगरु में चन्दन मिलाकर भी अवलेप बनाए जाते थे[२]।

चन्दन के तीन प्रकार पाए जाते हैं—

हरिचन्दन—इसका प्रयोग स्त्री[३] तथा पुरुष[४] दोनों करते थे।

रक्तचन्दन[५]—इसका प्रयोग चोट पर किया जाता था।

सितचन्दन[६]—सौन्दर्य के लिए प्रयोग किया जाता था उसी प्रकार जैसे हरिचन्दन तथा साधारण चन्दन।

अंगराग[७]—चन्दन की तरह शरीर पर अंगराग का भी प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी इसको कस्तूरी में बसा कर सुगन्धित कर लेते थे[८]। अनसूया ने सीता के शरीर पर इतना सुगन्धित अंगराग लगाया था कि फूलों से भौंरे भी उड़-उड़ कर इधर ही आने लगे थे[९]। सितांगराग[१०] और कालीयक अंगराग,[११] नीपरजांगराग[१२] इसके प्रकार-विशेष हैं।

अन्य अवलेप—चन्दन तथा अंगराग एक प्रकार के अवलेप ही हैं। अनुलेपन शब्द इंगित करता है कि अवलेपों के भिन्न-भिन्न प्रकार शारीरिक-सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त किए जाते थे और विरह में अनुलेपन छोड़ दिया जाता था[१३]। अन्य अवलेपों में शुक्लागुरु,[१४] कालागुरु और चन्दन,[१५] केसर का अवलेप,[१६] प्रियंगु, कालीयक, कुंकुमसिक्त, कस्तूरी, और चन्दन मिश्रित अवलेप,[१७] उषीरानुलेपन[१८] आते हैं।

गोरोचन—गोरोचन श्वेतवर्ण का पदार्थ है अतः कवि इन्दुमती के से सखी सुनन्दा के द्वारा कहलवाता है कि तुम गोरोचन-सी गौरवर्ण हो, यदि श्यामवर्ण

---

१. ऋतु०, ६।१४
२. ऋतु०, २।२२
३. कुमार०, ५।६९
४. रघु०, ६।६०; अभि०, ७२
५. माल०, अंक ४, पृ० ३१७
६. ऋतु०, ६।७
७. रघु०, १६।५८
८. रघु०, १७।२४
९. रघु०, १२।२७
१०. पुरुष भी प्रयोग करते थे —कुमार०, ७।३२
११. कुमार०, ७।९; ऋतु०, ४।५
१२. पुरुष —रघु०, १९।३७
१३. ऋतु०, २।१२
१४. कुमार०, ७।१५
१५. ऋतु०, २।२२
१६. कुंकुमरागपिंजरैः —ऋतु०, ५।९
१७. ऋतु०, ६।१४
१८. अभि०, अंक ३, पृष्ठ ४१, अंक ३, श्लोक ७

वाले पाण्ड्य देश के राजा से विवाह कर लोगी तो उतनी ही सुन्दर लगोगी, जैसे बादल के साथ बिजली[1]। गोरोचन का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों ही मुख पर पत्र-रचना के लिए करते थे। राजा अतिथि ने राज्याभिषेक के अवसर पर पत्र-रचना के लिए ही इसका प्रयोग किया था[2]। उधर पार्वती के विवाहावसर पर उनके मुख पर पत्र-रचना इसी से की गई थी[3]। गोरोचन से दुपट्टे पर चित्र भी, हंस आदि के वना दिए जाते थे[4]। यह शुभ माना जाता था।

हरिताल और मैन्सिल—माथे पर तिलक लगाने के लिए विवाह के शुभ अवसर पर हरिताल और मैन्सिल का प्रयोग किया जाता था[5]।

तेल—नहाने से पूर्व तेल मला जाता था[6]। तेल मलवाने का आशय स्वास्थ्य-वृद्धि ही था। ऋतुसंहार में स्त्रियाँ हेमन्तऋतु में तेल मलवाती थी, ऐसा प्रसंग है[7]। शकुन्तला में भी नहाने से पूर्व तेल मलवाने का वर्णन है[8]। विशेष प्रकारों के तेलों के नाम नहीं आए हैं। केवल इंगुदी तेल (जिसका व्यवहार वनवासी करते थे) का शाकुन्तल में नाम है[9]।

सुगन्धित द्रव्य

सारे शरीर पर ही सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। यहाँ तक कि स्नान करने के पश्चात् सरोवरों के जल में यही सुगन्धि बस जाती थी और वे महँकते रहते थे[10]। केश, वस्त्र, कक्ष सब ही सुवासित इन्हीं सुगन्धित द्रव्यों से किए जाते थे।

(१) काला अगरु[11]—केश, वस्त्र और कक्ष काला कगरु से सुगन्धित किए जाते थे।

(२) धूप[12]—काला अगरु की तरह धूप का प्रयोग भी वस्त्र, कक्ष और केशों को सुगन्धित करने के लिए किया जाता था।

---

१. रघु०, ६।६५ २. रघु०, १७।२४
३. कुमार०, ७।१७ ४. कुमार०, ७।३२
५. पार्वती—कुमार०, ७।२३, शिव—कुमार०, ७।३३
६. कुमार०, ७।६ ७. ऋतु०, ४।१८
८. अभि०, ५।११ ९. अभि०, २, पृष्ठ ३४
१०. पूर्वमेघ, ३७; रघु०, १६।२१; ऋतु०, १।४
११. केश— तु०, ४।५, ६।१५; कक्ष—ऋतु०, ५।५
१२. बाल—पूर्वमेघ, ३६; ऋतु०, ४।५, कुमार०, ७।१४; वस्त्र—ऋतु०, ६।१५; ऋतु०, ५।५

(३) कस्तूरी[1]--वस्तुओं को सुगन्धित करने के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता था। अवलेपों को सुगन्धित करने के लिए उनको इसकी सुगन्धि में बसा लिया जाता था।

सुगन्धित चूर्ण

सुगन्धित द्रव्यों की तरह नानाप्रकार के सुगन्धित चूर्णों का प्रयोग किया जाता था। आजकल जैसे मुख पर पाउडर का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार मुख, केश और शरीर के अन्य भागों पर तरह-तरह में चूर्ण लगाए जाते थे।

(१) लोध्रप्रसवरज--लोध्र का चूर्ण मुख को गौरवर्ण का करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। उत्तरमेघ इस बात की पुष्टि करता है[2]। कुमारसम्भव में भी लोध्रचूर्ण का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग पहले, स्नान से पूर्व शरीर पर है[3]। तत्पश्चात् गालों पर अर्थात् स्नान करने के पश्चात् मुख पर इसका प्रयोग है[4]।

(२) अम्बुज रेणु[5]—शरीर पर यह प्रयुक्त किया जाता था। परन्तु सम्भावना इसकी भी है कि मुख पर भी अवसरानुकूल इसका प्रयोग हुआ करता होगा।

(३) केसर-चूर्ण[6]—रघुवंश में सीताराम चतुर्वेदी 'बभ्रुलुलितस्रगाकुलं' का अनुवाद केसर-चूर्ण करते हैं। इस कथनानुसार केसर-चूर्ण का प्रयोग केश में किया जाता था। देखिए, टीका मल्लिनाथ—रघु०, १६।२५।

(४) केतक रज[7]—केवड़े के फूलों का पराग सुगन्धित चूर्ण का एक प्रकार था जो शरीर पर सुगन्धि के लिए मला जाता था।

(५) मुखचूर्ण[8]—इन सब चूर्णों के अतिरिक्त मुख का कोई चूर्ण विशेष भी रहा होगा, जिसमें कई वस्तुओं का सम्मिश्रण कर दिया जाता होगा। अतः इसको किसी पुष्प आदि की संज्ञा न देकर मुखचूर्ण ही कहा गया।

(६) कस्तूरी का चूर्ण[9]—बालों को सुगन्धित करने के लिए कस्तूरी का चूर्ण लगाया जाता था।

(७) केशचूर्ण[10]—कस्तूरी के चूर्ण की तरह अन्य केशचूर्ण भी थे जिनको कोई विशेष नाम न देकर केशचूर्ण कह दिया गया।

---

१. ऋतु०, ६।१४; रघु०, ४।५४, १७।२४ २. उत्तरमेघ, २
३. कुमार०, ७।९ ४. कुमार०, ७।१७
५. रघु०, १३।६० ६. रघु०, १९।२५ ७. रघु०, ४।५५
८. रघु०, ९।४५ ९. रघु०, ४।५४ १०. कुमार०, ८।१९

संक्षेप में समस्त चूर्णो को तोन वर्गों में संक्षिप्त किया जा सकता है। मुख-चूर्ण, केशचूर्ण तथा शरीर पर लगाने का चूर्ण। मुखचूर्ण में लोध्र, अम्बुज, केश में कस्तूरी और शरीर पर केतकचूर्ण और केसरचूर्ण आ सकता है।

मृगरोचन—श्री सीताराम चतुर्वेदी इसे गोरोचन कहते हैं। टीका में भी इसे गोरोचन ही कहा गया है। इसी प्रकार तीर्थ मिट्टी, दूर्वा, किसलय, केसर-मालिका भी श्रृंगार के लिएं प्रयुक्त हुआ करती थी[१]।

दर्पण—दर्पण का प्रसंग अनेक स्थानों पर आया है। कुमारसम्भव,[२] रघुवंश,[३] शकुन्तला,[४] ऋतुसंहार[५] सब में ही दर्पण शब्द का वर्णन और नाम है, अतः व्यक्त होता है कि श्रृंगार देखने के लिए इसकी उपयुक्तता सब समझते थे। सोने के चौखट पर दर्पण,[६] कदाचित् दानी लोगों की वस्तु थी। दर्पण की अनुपस्थिति में खड्ग में भी मुख-छवि देख ली जाती थी[७]।

प्रसाधन-कला—प्रसाधन-कला और प्रसाधन-विधि में कौशल छिपा था। यह कला प्रत्येक को नहीं आती थी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सखियाँ अपने चातुर्य से शकुन्तला को सजाने को चेष्टा करतो हैं[८]। इसी प्रकार पार्वतो के विवाह के अवसर पर प्रसाधिका उन्हें अंजन आदि लगाती है[९]। अतिथि के राज्याभिषेक पर प्रसाधिकाएँ उसका श्रृंगार करती हैं[१०]। मालविकाग्निमित्र में भी वकुलावलिका महावर से मालविका के चरण अति कौशल के साथ रँगती है और उनके पूछने पर कि, उसने इस कला को किससे सीखा, वह परिहास में कहती है—महाराज से[११]। इसी नाटक के पंचम अंक में पंडिता कौशिकी से कहा जाता है—'यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे विवाहनेपथ्यमिति'[१२]। कभी-कभी नायक भी अपनी प्रेयसी का प्रसाधन किया करता था। अग्निवर्ण भी कभी-कभी स्त्रियों के चरणों में महावर लगा दिया करता था। महादेव जी ने भी पार्वती का फूलों से श्रृंगार किया था[१३]।

---

१. अभि०, अंक ४, पृष्ठ ६४ २. कुमार०, ७।२२, २६, ३६, ८।११
३. रघु०, १४।२६, ३७, १६।२८, ३० ४. अभि०, ७।३२
५. ऋतु०, ४।१४ ६. रघु०, १७।२६ ७. कुमार०, ७।३६
८. अभि०, अंक ५, पृष्ठ ६६ ९. कुमार०, ७।२०
१०. रघु०, १८।२२ ११. माल०, अंक ३, पृष्ठ ३०३
१२. माल०, अंक ५, पृष्ठ ३४१ १३. रघु०, १९।२६; कुमार०, ८।२७

नवाँ अध्याय

सामाजिक जीवन, रीति-रिवाज तथा आचार-व्यवहार

पारिवारिक जीवन

दाम्पत्य जीवन तथा गृहस्थ जीवन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो चुका है कि पति-पत्नी किस प्रकार अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्व का पालन करते हुए परस्पर सुखी जीवन व्यतीत किया करते थे। परिवार में पति, पत्नी और बच्चों के अतिरिक्त भाई, बहिन, सास, ससुर, बहू, मामा, चाचा तथा माँ और पिता दोनों ओर के सम्बन्धियों का वर्णन प्रमाणित करता है कि उस समय भी संयुक्त परिवार की प्रथा रही होगी।

मित्र—पारिवारिक बन्धुओं के अतिरिक्त मित्र का भी तत्कालीन समाज में उच्च स्थान था। उन दिनों 'साप्तपदीनं सख्यं'[1] का मुहावरा प्रसिद्ध था। इसी को कालिदास ने 'बातचीत चलाने के नाते हम दोनों मित्र हो गए हैं'[2] इस स्वरूप में भी व्यक्त किया है। मित्र का स्थान कितना उच्च था, इसका प्रमाण कामदेव की मृत्यु के पश्चात् रति के विलाप करते हुए 'पुरुष अपनी स्त्री से प्रेम करने में भले ही ढिलाई कर दे; पर सुहृद में उसका प्रेम अटल रहता है, अतः तुम उसे ही दर्शन दो', ये शब्द हैं[3]। अतः मित्र पत्नी से भी अधिक निकट होता

---

१. प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥—कुमार०, ५।३९

२. सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते।—रघु०, २।५८

३. अयि सम्प्रति देहि दर्शनं स्मरपर्युत्सुक एष माधवः।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥—कुमार०, ४।२८
—नहि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्।
कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥—माल०, ४।६

था। वही समस्त कार्यों को अपने प्राणों की बाजी लगा कर सम्पादित करता था। बुद्धि-बल से ही मित्र की इच्छापूर्त्ति अथवा सिद्धि नहीं, अपितु अटल स्नेह ही कार्य को सिद्धि-द्वार तक पहुँचाता था। इन्हीं कारणों से मित्र का समाज में बहुत आदरपूर्ण और उच्च स्थान था। अनसूया और प्रियंवदा ने अपनी सखी शकुन्तला के लिए क्या-क्या किया, इसका जितना भी वर्णन किया जाय, थोड़ा ही है। दोनों के मिलन में सहयोग, विवाह में सम्मति ही नहीं, सहायता भी, इन्हीं लोगों की देन थी। दुर्वासा को मनाना, प्रसन्न कर सखी को शाप से मुक्त कराने का भी इन्हीं लोगों का प्रयत्न था। राजा के भूल जाने पर शकुन्तला से अधिक इनको ही चिन्ता थी कि कैसे राजा को इस विवाह की याद दिलाई जाय। समस्त कार्य सहसा ही सम्पन्न देखकर इनके हर्ष का पारावार न रहा, यद्यपि सखी के बिछुड़ने का भी दुःख थोड़ा न था। इनकी परस्पर मित्रता और प्रेम को देखकर दुष्यन्त के मुख से भी ये शब्द निकल पड़े, 'आप लोग एक-सी रूपवाली और एक-सी अवस्थावाली हैं, आप लोगों का यह सौहार्दभाव मुझे बड़ा प्यारा लगता है'[१]।

मित्रता करते समय, कवि चेतावनी भी देता है, कि मनुष्य को सदा सोच-समझ कर कार्य करना चाहिए। अयोग्य व्यक्ति की मित्रता से बड़ा दुष्परिणाम भी होता है। बिना किसी के स्वभाव को भली प्रकार जाने कभी मित्रता नहीं करनी चाहिए, नहीं तो यह मित्रता शत्रुता बन जाती है। अतः अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए[२]।

पाणिनि ने 'साप्तपदीनं सख्यम्' प्रयुक्त किया है[3]। कालिदास ने भी इसी अर्थ में साप्तपदीन का प्रयोग किया है[४]। मित्रता साप्तपदीन इसलिए कहलाती थी कि इसकी स्थापना सात पद चलने से ही होती थी। अथर्ववेद, महाभारत में भी इसी बात की पुष्टि है। गृह्यसूत्रों में 'पति-पत्नी को सात मंत्र पढ़कर ही साप्तपदी मित्र बनाता है, ऐसा लिखा है[५]। कालिदास में भी इसी

---

१. अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्। —अभि०, अंक १, पृ० १७

२. अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्॥ —अभि०, ५।२४

३. साप्तपदीनं सख्यं —(५, २, २२)

४. प्रयुक्त सत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते॥
—कुमार०, ५।३९

५. India as known to Panini, by Vasudeva Sharan Agarwal, P. 97

की प्रतिध्वनि हैं, जहाँ अज इन्दुमती को सखी कह कर सम्बोधित करता है[१]।

भृत्यवर्ग—परिवार में समृद्धि के अनुसार भृत्य रहा करते थे, जिनका काम अपने स्वामी की सेवा करना था। इन सेवकों के साथ सदा दया और स्नेह के साथ व्यवहार करना ही उत्तम समझा जाता था। कण्व ने शकुन्तला को पति के घर जाते समय उपदेश ही यही दिया था कि, 'अपने परिजनों के प्रति उदार रहना'[२]।

सेवकों का आदर्श अपने स्वामी के प्रति सच्चा रहना था। जिस काम का उनको भार दिया जाय उसको पूरी तरह से करना उनका कर्त्तव्य था। जिसकी रक्षा का भार सेवक को मिलता था, उसको वह प्राण देकर भी रक्षा करता था, नहीं तो उसके नष्ट हो जाने पर स्वामी के सम्मुख उसकी क्या स्वामि-भक्ति[3]? राजा दिलीप इसी कारण नन्दिनी की रक्षा के बदले अपने शरीर का मांस देने के लिए तैयार हो गए थे।

राजा के पास भृत्यों को लम्बी सेना रहा करती थी। इनमें चारण, वैतालिक,[४] लेखक,[५] दौवारिक,[६] प्रतिहारी,[७] द्वारपाल,[८] वस्त्र पहनाने वाले,[९]

---

१. गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु०, ८।६७
२. भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी। —अभि०, ४।१८
३. भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन॥—रघु०, २।५५
४. वर्ण के अध्याय में इसके उदाहरण दिए जा चुके हैं।
५. मंगलगृह आसनस्था भूत्वा विदर्भविषयाद्भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लेखं लेखकैर्वाच्यमानं श्रृणोति। —माल०, अंक ५, पृ० ३३९
(लेखक पढ़कर सुनाया करते थे)
६. दौवारिकः —(प्रणम्य) आज्ञापयतु भर्त्ता —अभि०, अंक २, पृ० २९
७. प्रतिहारी —जयतु जयतु देवः —अभि०, पृ० १२०
—इतो इतो देवः —माल०, अंक ४, पृ० ३१७
—ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी। —रघु०, ६।२०
८. ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः॥ —कुमार०, ६।४८
९. अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमंचिताक्षिपक्ष्मा।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम्॥
—रघु०, ५।७६

प्रसाधक[१] अर्थात् सजाने वाले, रनिवास के सेवक,[२] किराती,[३] यवनी[४] आदि थे। बच्चों को खिलाने के लिए धात्री[५] भी रहती थी। यह रानी के शिशुओं को स्तनपान भी कराती थी[६]। कन्या के बड़ी हो जाने पर भी उसके ऊपर धात्री रहती थी[७]।

गृह : गृह-सम्बन्धी फर्नीचर तथा बर्तन

गृह—तपस्वी-जन पर्णकुटी,[८] पर्णशाला[९] अथवा उटज[१०] में रहते थे। अर्थात् इनके घर घास-पत्तों इत्यादि से बनाए जाते थे। नागरिक के रहने के घर सद्म,[११] वेश्म,[१२] सौध,[१३] प्रासाद[१४] आदि कहलाते थे। इनको शिल्पीजन

---

१. उदाहरण अध्याय 'वेशभूषा' में दिए जा चुके हैं।
—रघु०, १७।२२; कुमार०, ७।२०

२. दुकूलवासा स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः। —रघु०, ७।१९

३.४. देखिए, अध्याय 'वर्ण-व्यवस्था'

५. उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम्।
—रघु०, ३।२५

६. कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्री स्तन्यपायिनः।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः॥ —रघु०, १०।७८

७. बबन्ध चास्राकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसन्निवेशम्।
धात्र्यंगुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम्॥
— कुमार०, ७।२५

८. देखिए, 'तपस्वी जीवन' —अध्याय 'शिक्षा'

९. देखिए, 'तपस्वी जीवन' अध्याय 'शिक्षा', विशेषकर—रघु०, १२।४०, १।९५

१०. देखिए, 'तपस्वी जीवन' रघु०, १।५०,५२, १४।८१; अभि०, पृ० १७, ५८; कुमार०, ५।१७, रघु०, १९।२

११. न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि।
—रघु०, ३।१९

—ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः॥ —कुमार०, ६।४८

१२. कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदंगनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः॥ —रघु०, १९।५

१३. तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनिःस्पृहस्तपः॥ —रघु०, १९।२

१४. तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृंगाणि दिवापि कुर्वन् ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि॥—कुमार०,७।६३

बनाते होंगे। अवश्य ही यह ईंटों के बनते होंगे। पाणिनि के समय में भी ईंट के मकान बनने लगे थे[1]। वानीर-गृह भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थे[2], जो प्रायः नदी-तट पर बने होते थे।

इन गृहों में अपनी आवश्यकतानुसार अनेक कक्ष होते थे अथवा एक ही बड़े मकान को कई भागों में विभक्त कर दिया जाता था जिसका अपने आवश्यकतानुसार मनुष्य प्रयोग किया करते थे। शयनगृह, यज्ञशाला, अग्निशाला, स्नानागार, महानस, सारभांडगृह आदि कई विभाग थे। राजाओं के महलों में भी इसी प्रकार का विभाजन था। उनका न्यायालय पृथक् रहता था, ततः शुद्धान्त पृथक्। इसके अतिरिक्त ऋतु के अनुकूल विश्रामदायक कई भवन और भी रहते थे। समुद्रगृह, मणिहर्म्य भवन, प्रवात-शयनगृह, मेघ-प्रतिच्छन्द इसी प्रकार के भवन थे। राजाओं के पास विनोद के लिए भी पृथक् भवन थे। नाट्यशाला, चित्रशाला, संगीतशाला आदि इसी प्रकार के स्थान थे। इनके विषय में 'स्थापत्य-विभाग वाले' अध्याय में प्रकाश डाला जायगा।

फर्नीचर—बैठने की सभी वस्तुएँ आसन[3] कहलाती थीं। गजदंतासन, सिंहासन, वेत्रासन, कनकासन इत्यादि बैठने की वस्तुओं के विभिन्न प्रकार हैं।

सिंहासन[4] राजा के ही बैठने के लिए होता था। यही सुवर्ण का बना होता

—विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ —उत्तरमेघ, १

१. India as known to Panini, by V. S. Agarwala,
—P. 135 (1953 Ed,)

२. अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ —रघु०, १३।३५
—बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ —रघु०, १६।२१

३. एतदासनमास्यताम्—विक्रम०, पृष्ठ १८२
—महेन्द्रभवनं गच्छता भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितः
।—विक्रम०, पृष्ठ १९२

४. समयेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना, तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमंडलम्।
—रघु०, ४।४
—महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥—रघु०, ७।१८
—कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय....—रघु०, १८।४०

था तथा इसमें तरह-तरह के रत्न जड़े रहते थे[१]। टी० ए० गोपीनाथ राव के अनुसार यह चार पायों का बना होता था। इसका नाम सिंहासन पड़ा ही इसलिए कि इसके चारों पायों पर चार छोटे-छोटे सिंह बने होते थे[२]।

कनकासन[३] (कनकासन कोच-सा भी हो सकता है जिसपर वर-कन्या दोनों बैठ सकें), रत्नवदासन[४] सोने के अथवा रत्न जड़े आसन होते थे। वेत्रासन बेत के बने आसन थे। यह ऋषि-मुनियों के बैठने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे[५]। मथुरा के म्यूजियम में बेत की कुरसी है, अतः वेत्रासन इसी का रूप है।

हाथीदाँत के सिंहासन भी होते थे। गजदंतासन[६] इसी प्रकार के सिंहासन की व्याख्या है।

इन बड़े-बड़े आसनों के अतिरिक्त चौकियाँ (Stool) भी होती थीं। राजा अपने चरणों को इन्हीं चौकियों पर रखा करते थे। यह पादपीठ[७] कहलाता

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४ रघु०, ७।१८

—तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये—रघु०, ६।६

२. The Hindu Iconography, Vol. I, Pt. I, Page 21

३. तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥ रघु०, ७।२८

—क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ।
जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥
—कुमार०, ७।८८

४. परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन॥ —रघु०, ६।४

५. तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः।
इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्रांजलिर्भूधरेश्वरः॥ —कुमार०, ६।५३

६. ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः॥ —रघु०, १७।२१

७. वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम्।
चूडामणिभिरुद्धृष्टपादपीठं महीक्षिताम्॥ —रघु०, १७।२८

—पादपीठ—को नु खल्वेष सबाणासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन सयंम्यमानशिखण्डकस्तिष्ठति। —विक्रम०, पृ० २४८

था। सोने का बना होने के कारण, हेमपीठ,[1] तपनीयपीठ[2] भी सम्बोधित होता था। छोटी चौकी पीठिका कहलाती थी। धारिणि अपने सूजे, चोट खाए पैर को सोने की पीठिका पर ही रखे बैठी थी, जब अग्निमित्र उसे देखने आया था[3]। भद्रपीठ[4] भी इसी प्रकार की चौकी थी, जिस पर बिठाकर (राज्याभिषेक के अवसर पर) राजा को तीर्थों के जल से नहलाया जाता था।

जैसा प्रसंगों से अभिव्यक्त होता है, विष्टर पूज्यजनों अथवा राजकीयजनों के बैठने के लिए प्रस्तुत किया जाता था[5]।

मंच[6] (Raised Plateform) को हम प्लेटफार्म कह सकते हैं। मंच पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ लगी रहती थीं, इन पर सिंहासन रखे थे। तल्प[7] और

---

१. कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् रत्नपुष्पोपहारेणच्छायामानर्च पादयोः।
—रघु०, ४।८४

—आकुञ्चिताग्रांगुलिना ततोऽन्यः किंचित्समावर्जितनेत्रशोभः।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम्॥
—रघु०, ६।१५

२. तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम्।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ॥ —रघु०, १८।४१

३. अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि।
चरणं रुजापरीतं कलभाषिणि मां च पीडयितुम्॥ —माल०, ४।३

४. इति कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति। —विक्रम०, पृ० २५५
—तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम्॥ —रघु०, १७।१०

५. नारद—आयुष्मानेधि। राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम्—विक्रम०, पृ० २५४
—परिचेतुमुपांशुधारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्। —रघु०, ८।१८
—तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम्।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम्॥
—कुमार०, ७।७२

६. स तत्र मंचेषु मनोज्ञवेषान् सिंहासनस्थानुपचारवत्सु।
वैमानिकानां मरुतापमश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान्॥ —रघु०, ६।१
—वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मंचम्।
शिलाविभंगैर्मृगराजशावस्तुंगं नगोत्संगमिवारुरोह॥ —रघु०, ६।३

७. इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झांचकार।
—रघु०, ५।७५

पर्यङ्क पलंग की तरह थे, जिन पर शयन किया जाता था। पलंग को जब गद्दे तकिए से युक्त कर, सोने के लिए उपयुक्त कर दिया जाता था, तब यह शय्या[1] कहलाती थी। सिंहासन, मंच, पलंग आदि सभी उत्तरच्छद[2] अथवा आस्तरण[3] से ढके रहते थे अथवा इनमें यह बिछाई जाती थीं। उत्तरच्छद से शय्या को ढक दिया जाता था और कुर्सी, पीठ आदि को आस्तरण से आंच्छादित और शोभित करते थे। ये रंग-बिरंगे भी होते थे[4] और हंस की तरह श्वेत भी[5]। कदाचित् शय्या का आच्छादन श्वेत और अन्य रंग-बिरंगे हुआ करते थे।

बर्तन—बर्तन मिट्टी[6], सोने[7] अथवा अन्य कीमती धातुओं के बनते थे,

---

—अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्द्धविसृष्टतल्पः॥ —रघु०, १६।६

१. अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव॥
—रघु०, ३।१५

—तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशांगरागम्।
—रघु०, ५।६५

—शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृंखलकर्षिणस्ते।
—रघु०, ५।७२

२. देखिए, पादटिप्पणी, नं १ —रघु०, ५।६५
—ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः॥ —रघु०, १७।२१
—तेन भिन्नविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम्।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलांछितम्॥
—कुमार०, ८।८९

३. परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः। —रघु०, ६।४

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३

५. तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनं चारुदर्शनम्। —कुमार०, ८।८२

६. स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः॥—रघु०, ५।२

७. अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥ —रघु०, २।३६
—हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम्।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम्॥ —रघु०, १०।५१

जिन पर मणि भी जड़ी रहती थी[1]। समृद्ध व्यक्ति सोने आदि कीमती धातुओं के बर्तन प्रयोग करते होंगे, सामान्य वर्ग मिट्टी के।

साधारणतः बर्तन के लिए सामान्य शब्द पात्र[2] आया है। सम्भवतः कटोरे की तरह, बीच में गहरा, कोने उठे हुए, फैले आकार का बर्तन (पात्र) होगा; क्योंकि खीर इसी प्रकार के बर्तन में रखी जा सकती है[3]।

कुंभ[4], कलश[5] और घट[6] पानी रखने के पात्र थे। कुम्भ का मुख संकीर्ण था, अतः पानी भरने में ऐसा शब्द होता था कि दशरथ को भी हाथी

---

१. लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥
—कुमार०, ८।७५

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ६ —रघु०, ५।२, और नं० ७ —रघु०, १०।५१

३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ७ —रघु०, १०।५१

४. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ७ —रघु०, २।३६
—तस्याधिकारपुरुषे प्रणते प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्........।
—रघु०, ५।६३
—कुंभपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनिदोऽम्भसि तस्याः।
तत्र स द्विरदबृंहितशंकी शब्दपातिनमिषु विससर्ज ॥ —रघु०, ९।७३
—हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥
—रघु०, ९।७५
—तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयांबभूव ॥
—रघु०, ९।७६
—आवर्जिताष्टापदकुंभतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयां बभूवुः। —कुमार०, ७।१०

५. एव नूनं तवात्मगतो मनोरथः (इति कलशमावर्जयति)
—अभि०, अंक १, पृ० १५

६. स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणादद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासःप्रमाणाधिकः। —अभि०, १।२८
—अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
—कुमार०, ५।१४

के पानी पीने का भ्रम हो गया[1]। घट और कुम्भ में आकार का अन्तर है। घट छोटा कुम्भ है जिसे स्त्रियाँ सरलता से उठा सकती थीं और वृक्षों को पानी आदि दिया करती थीं[2]। जलभरे कुम्भ देखना, शुभ शकुन समझा जाता था[3]। कलश भी पानी रखने का पात्र था। चषक[4] छोटे प्याले थे, जिसमें मदिरा पी जाती थी। आजकल भी मदिरा पीने के चषक विशेष प्रकार के ही होते हैं।

किकंकत लकड़ी के चम्मच,[5] पत्तों के दोने[6] भी प्रयुक्त किए जाते थे। अन्य आवश्यक सामग्रियों में वेत्रयष्टि,[7] छाता,[8] नाना प्रकार की वस्तुओं के रखने

—एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता। —रघु०, १३।३४

—पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम्॥—रघु०, १४।७८

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४ —रघु०, ६।७२

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ६

३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४ —रघु०, ५।६३

४. शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्याऽच्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः॥
—रघु०, ७।४९

५. सम्भ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकंकतस्रुचाम्। (स्रुचा)
—रघु०, ११।२५

६. दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपमुंक्ष्वेति तमादिदेश।—रघु०, २।६५

७. आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
—अभि०, ५।३

—लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः।
मुखार्पितैकांगुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत्॥
—कुमार०, ३।४१

८. औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥
—अभि०, ५।६

के लिए मञ्जूषा,[१] कारण्डक,[२] तालवृन्त की पिटारी, टोकरी[३] या पेटक[४] थे। ताड़ के पंखे[५] आदि भी थे। कमल के पत्तों से भी पंखा झल लिया जाता था[६]। आलोक के लिए दीपकों का प्रयोग किया जाता था। ये तैल से जलते थे[७]। समृद्धिशाली रत्नजटित दीपक रखते थे[८]।

वाहन (सवारी)—नदियों को पार करने के लिए नौकाएँ[९] प्रयोग की

---

१. पुत्रविजयनिमित्तेन पारितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मञ्जूषाऽस्मि संवृता।
—अभि०, अंक ५, पृ० ३५५

२. वर्त्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेत्तोमुखं प्रस्थितास्मि।—अभि०, अंक ६, पृ० ११६

३. दुकूलोत्तरच्छदे तालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया भर्तुरभ्यन्तरविलासिनीमौलिरत्नयोग्यो मणिरामिषशंकिना गृध्रेणाक्षिप्तः।—विक्रम०, पृ० २३६

४. पेटक—अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटकं प्रवेशय।—विक्रम०, अंक ५, पृ० २४२

५. व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात्।
न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकम्॥—कुमार, २।३५

६. किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्संचारयामि नलिनीदल तालवृन्तैः।
—अभि०, ३।१९

७. निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव। —रघु०, ३।१५
—रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥
—रघु०, ५।३७
—भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः।
—रघु०, ५।७४
—ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्।—रघु०, ८।३८
—निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान्।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि॥—रघु०, १२।१

८. अर्चिस्तुंगानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः। —उत्तरमेघ, ७

९. ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः....—रघु०, १४।३०
—रथाद् स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य।
गंगां निषादाहृतनौविशेषस्ततार संघामिव सत्यसंधः॥
—रघु०, १४।५२; रघु०, १६।३४, ५७

जाती थीं। स्थल पर घोड़े,[१] हाथी,[२] ऊँट,[३] साँड़,[४] रथ,[५] खच्चर[६] आदि सवारियों से कार्य सम्पन्न होता था। युद्ध के समय घोड़े और हाथी दोनों प्रयुक्त किए जाते थे। विवाह के समय वर हाथी पर चढ़ता था[७]। राजा भी हाथी पर बैठकर घूमने निकलता था[८]।

रथ में घोड़े जुतते थे। इनमें बैठकर युद्ध भी होता था और वैसे भी यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए सुविधाजनक सवारी थी। आखेट के समय भी दुष्यन्त रथ पर बैठा था। स्त्रियों के योग्य छोटा रथ होता था, जिसे कर्णीरथ[९] कहा जाता था। चतुरस्रयान[१०] पालकी की तरह होता था, जिसे चार आदमी कन्धे पर उठाते थे।

राजकीय जीवन

सामान्य जनता के जीवन पर दृष्टि डाली जा चुकी है। परन्तु वर्ग-विशेष का जीवन और कर्तव्य इन सबसे विभिन्न था। राजकीय जीवन के आदर्श और सिद्धान्त सामान्य वर्ग से पृथक् थे।

राजा के गुण—पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था, चाहे वह कितना ही दुराचारी क्यों न हो। फिर भी राजा में बहुत-से गुणों का होना आवश्यक था। कवि ने जन्म की अपेक्षा व्यक्तिगत

---

१. सामान्य। सम्पूर्ण ग्रन्थों में असंख्य उदाहरण।

२.३ आरोप्यचक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति।–रघु०, ६।३२

४. मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम्॥—रघु०, ४।२२

५. असंख्य उदाहरण।—रघु०, १।५४, ३।४७, ७।७०, ९।१०, ११

६. खच्चर—अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतिमना महर्षिः।
—रघु०, ५।३२

७. ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः। —रघु०, ७।१७

८. स पुरं पुरहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजां क्रममाणश्चकारद्यां नागेनैरावतौजसा।
—रघु०, १७।३२

९. श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यवन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥—रघु०, १४।१३

१०. मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि........ —रघु०, ६।१०

गुणों को अधिक महत्ता दी है[१]। इन गुणों में स्वस्थ, पुष्ट, मांसल देह का होना अति आवश्यक था[२]। राजा दिलीप इसके आदर्श थे। इस प्रकार के स्वास्थ्य को प्राप्त कर ही राजा प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता था। 'ज्ञाने मौनं, क्षमा शक्तौ, त्यागे श्लाघाविपर्ययः'[३] राजा के लिए अनिवार्य थे। राजा अज की सम्पूर्ण सम्पत्ति ही सबके सेवार्थ नहीं थी वरन् गुण, शक्ति और प्रतिभा भी[४]। राजा दशरथ बहुत निरलस थे, यहाँ तक कि अपने इसी गुण के कारण लक्ष्मी जी की कृपा-दृष्टि भो प्राप्त की थी[५]। राजा अतिथि ने बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त को थी[६]। उनका धर्म, अर्थ, काम के संतुलन को महत्ता देना,[७] राजा का राजर्षि कहलाना,[८] राजत्व को आश्रम[९] कहना, राजा के उत्तम गुणों का प्रमाण है।

इस सफल राजत्व के लिए दूसरों को प्रसन्न रखने की शक्ति का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार निशाकर को चन्द्र इसलिए कहा जाता है कि, दूसरों के

---

१. धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः।
सोऽतीत्य तेजसां वृत्ति सममेवोत्थितो गुणैः। —रघु०, १७।३४
—इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम्॥ —रघु०, १७।७५
२. देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा' —कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा।
३. रघु०, १।२२
४. बलमार्त्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना॥ —रघु०, ८।३१
५. उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः॥—रघु०, ९।१५
६. अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट्पूर्वमजयद्रिपून्॥ —रघु०, १७।४५
७. न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥ —रघु०, १७।५७
८. अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥—अभि०, २।१४
९. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ८; —रघु०, १।५८

हृदय को शीतलता देता है, सूर्य को तपन इसलिए कहा जाता है कि, वह दूसरों को संतप्त करता है उसी प्रकार राजा भी दूसरों को प्रसन्न करने के कारण ही राजा कहलाता है[1]। दक्षिणी वायु के समान न अधिक शीत, न अधिक उष्ण होना,[2] प्रत्येक व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार करना कि सब यही समझें कि हम पर राजा की कृपा है,[3] सागर के समान गंभोर, भयदायक और परोपकारी होना,[4] साथ ही किसी के हृदय में विरक्ति अथवा घृणा न उत्पन्न होने देना, नम्र, विनयशील और हँसी में भी कटु अथवा बुरे वचन न कहना,[5] प्रत्येक परिस्थिति में उदार रहना,[6] सत्यवादी, न्यायप्रिय होना,[7] प्रजा की भलाई के लिए मृगया, जुआ, मदिरा आदि विलास से दूर रहना,[8] शास्त्र दृष्टि से प्रजा का पालन करना, राजा के गुणों के आदर्श थे। कवि ने दुष्यन्त, दिलीप, रघु, अज, राम, दशरथ, अतिथि आदि सबको आदर्श रूप में ही चित्रित किया है।

---

१. यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरंजनात् ॥ —रघु०, ४।१२

२. स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ —रघु०, ४।८

३. अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नस्य विमानना क्वचित् ॥ —रघु०, ८।८

४. न च न परिचितो न चाप्यरम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः ॥
—माल०, १।११

—द्वारे नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन्।
तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि ॥
—माल०, १।१२

५. न कृपणा प्रभवत्यपि वासने न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ —रघु०, ९।८

६. येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बंधुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥ —अभि०, ६।२३

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५
—समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ —रघु०, ९।६

८. न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ —रघु०, ९।७

राजकीय दिनचर्या—राजा के दैनिक-कर्तव्य और समय-विभाजन के विषय में कवि ने बहुत-से स्थानों में संकेत किया है। कौटिल्य ने दिन को ८ भागों में विभक्त किया है। प्रत्येक समय का कर्तव्य भी निर्धारित किया है। कवि स्वयं इस विभाजन को स्वीकार करता है[1]। प्रातः धर्मासन में जाना,[2] तीसरे पहर वहाँ से आना,[3] राजा की इसी दिनचर्या का प्रमाण है। अतः राजा का जीवन नियन्त्रित, नीरस और बद्ध था। राजा का कभी अपने काम से अवकाश न पाना, अपने उत्तरदायित्व से मुक्त न होना, इसी नीरसता को पुष्टि है[4]। राजा का कर्तव्य अपने सुख को तिलाञ्जलि दे, दूसरों को सुखी करना था। राजा के तीन मुख्य कार्य—राष्ट्र-रक्षा, राष्ट्र-शिक्षा और राष्ट्र की आर्थिक उन्नति—थे। राजा का प्रजा का सच्चे अर्थों में पिता कहलाना,[5] इसी कर्तव्य के कारण था। क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति ही 'पीड़ितों की रक्षा करें' यह हुई।

राजकीय कर्तव्य—राजकीय कर्तव्यों में सबसे प्रमुख न्याय है। उसको स्वयं नियमों का पालन करना चाहिए और प्रजा के द्वारा भी पालन करवाना

---

१. षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः। —विक्रम०, २।१
'षष्ठे भागे मंत्रः स्वैरविहारो वा' (कौटिल्य का अर्थशास्त्र अध्याय १६) के समानान्तर है।

२. मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि।
चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्यधर्मासनमध्यासितुम्।
—अभि०, अंक ६, पृष्ठ १०७

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १
—प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥
—अभि०, ५।५

४. भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव रात्रिदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥ —अभि०, ५।४
देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —अभि०, ५।५
—औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥
—अभि०, ५।६

५. प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ —रघु०, १।२४

चाहिए[१] । न्याय का पालन करते समय ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात आदि से परे होना चाहिए[२] । राजा को न्याय-सभा में जजों और प्रतिद्वन्द्वी आदि के साथ बैठना चाहिए, जिससे वह स्वयं निर्णय की उपयुक्तता पर अपना ध्यान दे सके[३] । कई निर्णायकों के रहने से पक्षपात का भय नहीं रहता[४] । अपनी अनुपस्थिति में मन्त्री से भी न्याय-सभा में बैठकर न्याय करने को वह कह दिया करता था[५] । दण्ड अपराध के अनुसार ही दिया जाता था[६] । चोरी के बदले शूली[७] अर्थात् मृत्यु-दण्ड, गिद्धों से मांस नुचवाना, आदि दण्ड दिए जाते थे[८] ।

संक्षेप में शान्ति और सुव्यवस्था रखना ही उसका प्रधान कर्तव्य था ।

कर (Taxation)—कर लगाने और वसूल करने का मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आमदनी का एक बहुत छोटा अंश राजा को दे, जिससे वह उनके लिए कल्याणदायक कार्य कर सके । राज्य में जिस बात का अभाव रहता था उसकी पूर्त्ति इसी कर से होती थी[९] । अतः राज्यकोष का सदा भरा रहना ठीक था; परन्तु लोभ या स्वार्थवश नहीं, अपितु प्रजा के सहायतार्थ[१०] ।

---

१. रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ —रघु०, १।१७

२. द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदंगुलीवोरगक्षता ॥ —रघु०, १।२८

३. स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥ —रघु०, १७।३९

४. सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय । —माल०, अंक १, पृ० २७६

५. मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि । चिर प्रबोधनान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयता-मिति । —अभि०, अंक ६, पृ० १०७

६. यथापराध दण्डानाम्............ —रघु०, १।६

७. एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतीर्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः ।
—अभि०, अंक ६, पृ० १००

८. एष नौ स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते ।
गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि । —अभि०, अंक ६, पृ० ९९

९. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ —रघु०, १।१८

१०. कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ —रघु०, १७।६०

प्रजा से आमदनी का $\frac{1}{6}$ भाग कर के रूप में लिया जाता था। यह 'षष्ठांश वृत्ति' कहलाता था[१]। तपस्विजन भी इस कर से मुक्त न थे[२]। मुनिवर्ग उञ्छवृत्ति से एकत्र धान्य का छठा अंश राजा के नाम पर नदी के किनारे फेंक देता था, राजा उसे लेता नहीं था। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त ने कहा है कि, 'तपस्वी कर नहीं देते, अपनी तपस्या का षष्ठांश देते हैं।' इसके अतिरिक्त राजा खानों से भी रुपया वसूल किया करता था। वन्य-उत्पत्ति पर भी कर लगता था[३] अर्थात् खान की मणि, पृथ्वी के धान्य, वन के हाथी सब ही राजा की आमदनी के उद्गम स्थान थे। निस्संतान मनुष्य के मर जाने पर उसका धन भी कोष में मिला लिया जाता था[४]। नैगम और सार्थवाह आदि राजा को बहुत कुछ भेंट करते थे[५]। विजय प्राप्त होने पर पराजित राजा हाथी, घोड़े, सेना और अन्य वस्तुएँ विजेता-पक्ष को देता था[६]।

शासन-प्रबन्ध—भारतवर्ष ने प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक सत्ताओं का प्रयोग कर अन्त में यह निष्कर्ष निकाला कि राजा और मंत्रिमंडल के सहयोग से शासन-प्रबन्ध उत्तम है। कवि की भी अपनी यही सम्मति है। मंत्रिमंडल

---

१. यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक्। —रघु०, १७।६५

—औघस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः।

—रघु०, २।६६

—षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः। —अभि०, ५।४

२. निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापांजलयः पितॄणाम्।
तान्युंछषष्ठांकितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित्॥ —रघु०, ५।८

—नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति। राजा—मूर्ख। तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।—अभि०, पृ० ३५

३. खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः॥ —रघु०, १७।६६

४. समुद्रव्यापारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतावदमात्येन लिखितम्।

—अभि०, अंक ६, पृ० १२१

५. धाराहारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः। —विक्रम०, ४।१३

६. आपादपद्मप्रणाताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥ —रघु०, ४।३७

—तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुंगाद्रविणराशयः।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाःकोशलेश्वरम्॥ —रघु०, ४।७०

का गुप्त रूप से मिलना, मंत्रणा करना, केवल निर्णयों का समय-समय पर प्रकाशन होना,[१] राजा के दृढ़ शासन का प्रमाण है। न केवल रघुवंश अपितु मालविकाग्निमित्र में भी राजा मंत्रियों के साथ सलाह करता दिखाया गया है[२]। राजा बाह्यनीति के सम्बन्ध में इसी मंत्रिपरिषद् की सम्मति जानने की चेष्टा करता है[३]। मंत्रिमण्डल राज्य के आवश्यक कार्यों पर विचार करता था; पर इसके साथ ही राजा की सम्मति भी मंत्रिमंडल के निर्णय के साथ-साथ आवश्यक समझी जाती थी। जब मंत्रिपरिषद् के निर्णय को राजा भी स्वीकार कर लेता था, तब वह कार्य किया जाता था[४]। निर्णय मंत्रिपरिषद् ही करता था; पर राजा को सम्मति भी आवश्यक थी[५]।

राज्याभिषेक के अवसर पर सारी तैयारी करना[६], राजा की मृत्यु के पश्चात् नए राजा को बिठाना[७] अथवा अनुपस्थित होने पर वहाँ बुलाना[८] अमात्य-परिषद् का ही काम था। राजा के बाहर चले जाने पर सब काम और सम्पूर्ण भार मन्त्रियों पर ही आ जाता था। राजा दिलीप मंत्रियों पर

---

१. तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेंगितस्य च।
फलानुमेयाः प्रारंभाः संस्काराः प्रावतना इव॥ —रघु०, १।२०

२. ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मंत्रिणा लेखहस्तेनान्वास्यमानो राजा।
—माल०, अंक १, पृ० २६७; देखिए, माल०, अंक १, पृ० २६८ भी।

३. देखिए, माल०, पृ० २६८

४. विजयतां देवः। देव आमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः मंत्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम् कुतः —
द्विधाविभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेनिर्देशे परस्परोपग्रहनिर्विकारौ॥
राजा—तेन हि मंत्रिपरिषदं ब्रूहि—सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेवं क्रियतामिति। —माल०, अंक ५, पृ० ३५२

५. अमात्यो विज्ञापयति—विदर्भगतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत्। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति। (राजा के निर्णय के बाद।) कंचुकी—एवममात्यपरिषदे निवेदयामि। —माल०, अंक ५, पृ ३५१

६. राजा—आर्य लातव्य, मद्वचनादमात्यपरिषदं ब्रूहि संभ्रियतामायुषो राज्याभिषेक इति। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २५२

७. स्वर्गगामिनस्तस्य तमैकमात्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार॥ —रघु०, १८।३६

८. अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम्।
मौलेरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः॥ —रघु०, १२।१२

राज्य-भार छोड़ कर पुत्र की इच्छा से वसिष्ठ के पास गए[१]। राजा दुष्यन्त के साथ भी यही हुआ। वे मन्त्रियों पर सब छोड़, इन्द्र से लड़ने चले गए[२]। पुरूरवा भी राज्य का काम मन्त्रियों पर छोड़, उर्वशी के साथ गन्धमादन पर पर्वत-विहार के लिए चला गया था[३]। राजा की उपस्थिति में भी यदि वह विलास में फँस कर राज्यकार्यों की ओर ध्यान न दे तो मन्त्रियों पर ही सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आ जाता था। अग्निवर्ण इसका उदाहरण है[४]। मालविकाग्निमित्र से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि मन्त्रिपरिषद् के कार्य करते समय राजा वहाँ नहीं रहता था। परिषद् अपना निर्णय अमात्य के द्वारा राजा को कहलवा देती थी। जब राजा और परिषद् का निर्णय एक हो जाता था तब कार्यरूप में परिणति होती थी। अभिज्ञानशाकुन्तल में अमात्य का निर्णय धनमित्र की सम्पत्ति को राजकोष में मिलाना था, पर राजा ने अपना निर्णय इसके विपरीत दिया था, वही सर्वमान्य हुआ। अतः ऐसा कहा जा सकता है, कि निर्णय में प्रधान हाथ राजा का रहता था। वह अपनी व्यक्तिगत सम्मति देने के लिए सदा स्वतन्त्र था, वह भी आदेश के रूप में।

परराष्ट्र नीति—राजा त्रयी, वार्ता, दंडनीति और आन्वीक्षिकी[५] का ज्ञाता होता था। प्रभु-शक्ति[६], मन्त्र-शक्ति[७] और उत्साह-शक्ति[८] तीनों की सहायता से राजा राज्य-भार को सरलता से वहन करने में समर्थ होता था। साम, दाम,

---

१. संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ —रघु०, १।३४

२. राजा—मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि—त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजा। अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणिव्यापृतं धनुः। —अभि०, ६।३२

३. उर्वशी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता। —विक्रम०, पृ० २१३

४. सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः।
संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ —रघु०, १९।४

५. विस्तृत वर्णन और उदाहरण के लिए देखिए, अध्याय 'शिक्षा'।

६. अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान्।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पंच शरीरगोचरान् ॥ —रघु०, ८।१९

७. मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः।
स जातु सेव्यमानोपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ —रघु०, १७।५०

८. स भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन संपत् ॥—कुमार०, १।२२

दण्ड, भेद[1] राजनीति के लिए इन चारों उपायों की भी जानकारी राजा को भली-भाँति रहती थी[2]। राजा के सैनिक-कर्तव्यों का उल्लेख भी कवि ने किया है। राजनीति के साथ सैनिक-शक्ति भी उसके लिए आवश्यक थी। शौर्य और नीति दोनों का ही अवलम्बन उसके लिए आवश्यक था। दुर्ग[3], सन्धि, विग्रह, यान, आसन आदि षड्गुण[4], मौल, भृत्य, सुहृच्छ्रेणी, द्विषदाटविक आदि ६ बलों[5] का उपयोग भी राजा जानता था। युद्ध में सफलता के लिए रेगिस्तान में खाईं खोदने, नदी के ऊपर पुल बनाने और जंगल साफ करने का कौशल बहुत आवश्यक था[6]। राजा के लिए इन सबकी जानकारी भी आवश्यक थी।

युद्ध का आशय अधर्म नहीं था। 'यशसे विजिगीषूणां'[7] न कि विजय राज्य-प्राप्ति के लिए होनी आदर्श थी[8]। शत्रुदल का संहार कर सिंहासन

---

१. इति क्रमात्प्रयुंजानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥ —रघु०, १७।६८

—सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥
—रघु०, १०।८६

२. कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ —रघु० १७।४७

३. दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम्।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः ॥ —रघु०, १७।५२

४. स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ —रघु०, १७।६७
रघु०, १०।८६, रघु०, ८।२१ षड्गुण (पणबन्ध)

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४

—स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ —रघु०, ४।२६

६. मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ —रघु०, ४।३१

७. रघु०, १।१७

८. गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ —रघु०, ४।४३

पर फिर उनको बिठाना इसका प्रमाण था[1]। कूटनीति को जानने पर भी इसका प्रयोग असंगत और निन्द्य समझा जाता था।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए षड्गुणों से परिचय ही नहीं, अधिकार रखना आवश्यक था। अज इनका प्रयोग करता था। परन्तु प्रधानता सन्धि को ही देता था[3]। परराष्ट्रनीति के लिए इनका उपयोग आवश्यक था। युद्ध का उद्देश्य शक्तिशाली राजाओं का बल कम करना और दुर्बलों की शक्ति बढ़ाना था[4]। कौटिल्य का मत अतः राजा के लिए उपयोगी था। मालविकाग्निमित्र में मन्त्री का यह कथन कि, नया राजा जिसने प्रजा के बीच अभी पैर न रोपे हों, नए पौधे की तरह शीघ्र ही उन्मूलित किया जा सकता है, परराष्ट्रनीति की सफलता का रहस्य था[5]।

इस राजकीय-शक्ति के साथ आध्यात्मिक-शक्ति भी यदि मिल जाय तो राजा सम्पूर्ण विश्व को पराजित कर सकने में समर्थ था।

मन्त्रियों के प्रकार—अतः राजा की सहायता के लिए अनेक मन्त्री थे। बाह्यनीति का मन्त्री मालविकाग्निमित्र में आया है, जो युद्ध-सम्बन्धी सभी कार्यों को करता है। लगान और न्याय मन्त्री जो राजकोष की देखरेख करता था, कई विभागों की आमदनी और व्यय का हिसाब-किताब रखता था और न्याय करता था। आमात्य, पिशुन इसी प्रकार का मन्त्री था[6]। राज्यकार्य में

---

१. आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिता ॥ —रघु०, ४।३७

२. कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ —रघु०, १७।६९

३. पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुंक्त समीक्ष्य तत्फलम्। —रघु०, ८।२१

४. शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः।
समीरणसहायोऽपि नाम्भः प्रार्थी दवानलः ॥ —रघु०, १७।५६

५. अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ —माल०, १।८

६. राजा—वेत्रवती मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि, चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति। —अभि०, पृ० १०७
प्रतिहारी—देव अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति।
—अभि०, अंक ६, पृ० १२०

पुरोहित का स्थान भी बहुत महत्त्व का था। धर्म-सम्बन्धी कार्यों में यही सलाह देता था। शकुन्तला को न पहचान पाने पर दुष्यन्त के धर्म-संकट में पड़ने पर, इसी ने उचित मन्त्रणा दी थी।

इनके अतिरिक्त 'सेनापति'[१] और आजकल की तरह का 'कलक्टर' उस समय नागरिक श्याल[२] लगता है। इसकी सहायता के लिए रक्षक[3] आदि भी, राजकीय कार्यों में सहायक थे। धर्माध्यक्ष धर्म-सम्बन्धी कार्यों की देख-रेख के लिए नियुक्त किया जाता था। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला की सखियों को परिचय ही यही दिया था कि, मैं राजा की ओर से राज्य की धार्मिक-क्रियाओं की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया हूँ[४]। नगर की शान्ति और रक्षा के लिए राष्ट्रीय था[५]। दुर्गरक्षक भी होते थे। दुर्गरक्षक वीरसेन का नाम आया है (माल०, पृ० २६८)।

अतः न्याय-विभाग, सेना-विभाग, पुलिस-निभाग, सम्पति-विभाग आदि आजकल की तरह ही विभाजन थे।

राजा की शिक्षा—शासन-प्रबन्ध से राजा को कितना योग्य सशक्त और विद्वान् होना चाहिए, इसका आभास मिलता है। व्यक्तिगत जीवन का आनन्द और सुख उसके लिए था अवश्य; पर उसमें अधिक तन्मय न होना ही सिद्धान्त था। अतः राजा की शिक्षा के ऊपर विशेष ध्यान दिया जाता था। दण्डनीति, राजनीति, शस्त्रविद्या आदि के साथ शास्त्र, इतिहास, धर्म आदि का ज्ञान भी उसके लिए आवश्यक था[६]।

राजा के विनोद—आखेट, दोलाधिरोहण, रानियों के साथ जलक्रीड़ा, संगीत, नाटक, पासा खेलना इनके विनोद थे[७]। विलासी राजा मदिरा

---

१. राजा—-इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुपयोज्यतां सेनाधिपतिः।
—माल०, अंक १, पृ० २६८

२. ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च।
—अभि०, अंक ६, पृ० ९७

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २

४. भवति यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमाश्रमिणामविघ्नक्रियोपलंभाय धर्मारण्यमिदमायातः। —अभि०, अंक १, पृष्ठ १८

५ आर्य कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः।
—अभि०, पृ० १०४

६. देखिए, विस्तृत परिचय के लिए, अध्याय 'शिक्षा'

७. देखिए, इसी अध्याय में, 'उत्सव और विनोद'

और स्त्रियों में अनुरक्ति रखते थे । आदर्श राजा इन सब से दूर रहते थे[1] ।

राजचिह्न—पीछे चँवर आदि के ढुलाए जाने से, आतपत्र के सिर पर होने से और मुकुट आदि के धारण करने से व्यक्ति पहचाना जाता था कि यह राजा है । राजकीय चिह्नों में सिंहासन, आतपत्र, चँवर, मुकुट, राजदण्ड, पैर रखने की चौकी, शंख आदि मुख्य थे । इनका वर्णन यथाप्रसंग किया जायगा ।

स्वास्थ्य : रोग तथा चिकित्सा

आयुर्वेद का विकास अपनी पूर्णता पर पहुँच चुका था । सिद्धहस्त वैद्य ध्रुवसिद्धि[2] का उल्लेख इसका अकाट्य प्रमाण है । अवश्य ही स्वास्थ्य की अवहेलना नहीं की जाती थी । 'समस्त धार्मिक कार्यों में शरीर की रक्षा करना सबसे प्रथम कर्त्तव्य है',[3] यह उक्ति केवल कहने भर की वस्तु नहीं, अपितु स्वास्थ्य की ओर आम जनता की रुचि का प्रकाशन मात्र है । जब तक मनुष्य का शरीर स्वस्थ नहीं होगा, तब तक वह किसी कार्य में भी दत्तचित्त नहीं हो सकता, यही मूल भाव उस समय के प्रचलित विश्वास 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' का आधार था ।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुषों के स्वस्थ शरीर के विभिन्न दृष्टिकोण थे । पुरुष के शरीर में ओज, शक्ति और कठोरता स्पृहणीय माना जाता था । चौड़ी छाती, साँड़ के-से कन्धे, शाल के वृक्ष की-सी लम्बी भुजाएँ[4] स्वास्थ्य की प्रतीति करा देती हैं । संस्कारोल्लिखित मणि-सा शरीर,[5] अर्थात् कठिनाइयों का सामना करते-करते भी जो निश्श्रीक और शिथिल न हो अपितु सदा तेज से दमकता रहे, पुरुष-सौन्दर्य का प्रतीक था। स्त्री के शरीर की कोमलता को पुष्टता की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया जाता था । लता-सी सुकुमार देह

---

१. न मृगयाऽभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ —रघु०, ९।७

२. ध्रुवसिद्धिः क्षिप्रमानीयताम् —माल०, अंक ४, पृ० ३१९

३. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् —कुमार०, ५।३३

४. व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः । —रघु०, १।१३

५. चिन्ताजागरण-प्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः ।
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥ —अभि०, ६।६
—स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥
—रघु०, ३।१८

उनका सबसे बड़ा सौन्दर्य था। कोमलता के जितने प्रतीक हैं वे सब स्त्री-सौन्दर्य के साथ थे[१]। कालिदास के युग में स्त्री विलास की सामग्री थी। सभी कन्दुक-लीला से थक जाती हैं,[२] केश के गिरे फूल भी उन्हें गड़ते हैं[३]। उनका पौरुष अपने पति को मेखला दाम से ही बाँधने तक सीमित है[४]। सम्भव है, यह उच्च एवं धनी स्त्रियों के ही सम्बन्ध में चरितार्थ हो, सामान्य साधारण वर्ग की नारी का स्वास्थ्य अवश्य अच्छा होगा।

कवि ने पित्त[५],धातुक्षय अथवा वीर्यस्खलन,[६] मांस[७] आदि का अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। अवश्य ही इन सबका ज्ञान पूर्णता को पहुँच चुका होगा। पित्त के शमन में भोजन ही लाभदायक होता है। विदूषक की यह उक्ति निष्कारण नहीं, अपितु सप्रयोजन है[८]। भोजन को समय पर न करने से भी रोग हो जाते हैं[९]।

---

१. 'कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा' में इसकी सम्यक् विवेचना की जा चुकी है।

२. क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
—कुमार०, ५।१६

३. महार्हशय्या परिवर्त्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
—कुमार०, ५।१२

४. रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति। —माल०, अंक ३, पृ० ३११

—अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभंगकुटिलं च वीक्षितम्।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः॥ —रघु०, १९।२७

५. भवति त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनसमर्थं भवति।
—विक्रम०, अंक २, पृ० १८९

६. यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ।
येन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः॥ —रघु०, १९।४६

इसमें 'मधुनिर्गमात्' से केवल वसन्त के चले जाने का ही भाव नहीं, वीर्यस्खलन की भी ध्वनि है।

७. देखिए, अध्याय 'आहार'

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५

९. अत्र भवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।
—माल०, अंक २, पृ० २८८

जहाँ कवि ने वैद्य,[१] चिकित्सक,[२] भिषज्[३] आदि शब्दों का प्रयोग करके इस शास्त्र के जानने वालों से परिचित किया, वहाँ रोग के दो प्रकार हैं—मानसिक और शारीरिक। इस बात का भी व्यक्तीकरण किया। मानसिक रुज्[४] मानसिक रोगों की ही संज्ञा है। काम-ताप भी मानसिक रोग ही है। काम-ताप और आतप-ताप (लू) में यद्यपि ऊपर देखने से बहुत समानता लगती है; पर फिर भी बहुत भेद है। काम-ताप मानसिक है और आतप-ताप शारीरिक। कवि ने बड़ी सूक्ष्मता से दोनों के भेद को इंगित किया है। लू और काम-ताप दोनों में बेचैनी होती है; परन्तु लू लग जाने पर युवतियों में सुन्दरता नहीं रह जाती[५]। यद्यपि काम-ताप में गाल मुरझा जाते हैं, मुँह सूख जाता है, स्तनों की कठोरता जाती रहती है, कमर और भी पतली हो जाती है, कन्धे झुक जाते हैं, देह पीली पड़ जाती है; परन्तु वायु से मुरझाई पत्तियों वाली माधवी लता के समान युवती और भी सुन्दर लगती है[६]।

---

१. भो अहल्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्यः सचिवः उर्वशीपर्युत्सुकस्य च भवतोऽहं द्वावप्यत्रोन्मत्तौ। —विक्रम०, अंक २, पृ० १७५

—दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि।

—माल०, अंक २, पृ० २८७

—अचिरात्त्वां वैद्यश्चिकित्सिष्यति —माल०, अंक ४, पृ० ३२०

२. अत्र भवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।

—माल०, अंक २, पृ० २८८

३. कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथगर्भमर्मणि....... —रघु०, ३।१२

—दृष्टदोषमपि तन्त्र सोऽत्यजत्संगवस्तु भिषजामनाश्रवः ....

—रघु०, १९।४९

४. अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो
मे यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति। —अभि०, ३।४

—नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मनसीं........ —विक्रम०, २।११

५. मनस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयोर्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु।

—अभि०, ३।१७

६. क्षाम क्षाम कपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी॥ —अभि०, ३।८

आतप-ताप में बड़ी बेचैनी हो जाती है। शरीर को ठण्डक पहुँचाने के लिए उशीर का अनुलेप उस समय प्रयुक्त किया जाता था[1]। मोच आ जाने पर शीत-क्रिया[2] प्रशस्त थी। मोच आए अंग को पूर्णतः विश्राम दिया जाता था। यदि पैर में मोच आई हो तो, चौकी पर पैर रखकर चुपचाप बैठे रहना ही अच्छा समझा जाता था[3]। मोच आए स्थान पर रक्तचन्दन का लेप लाभकारी समझा जाता था[4]। व्रण-विरोपण के लिए इंगुदी तैल श्रेष्ठ माना जाता था[5]। अक्षिदोष[6] अर्थात् आँखों का दुखना आदि भी रोग थे। कण्डूयन[7] शब्द के प्रयोग से खुजली आदि त्वचा रोग भी होंगे, इसका आभास होता है। इसी प्रकार 'दंशनिवारण'[8] शब्द से मच्छर-डांस आदि से उत्पन्न रोग भी, जैसे—ज्वर[9] आदि भी प्रचलित होंगे।

गर्भावस्था—गर्भ तथा गर्भिणी के सम्बन्ध में कभी-कभी बड़ी सूक्ष्म बातों का आभास मिलता है। गर्भ को दोहद भी कहते थे[10]। गर्भ के रहने के क्या-

---

१. प्रियंवदे कस्येदमुशीरानुलेपं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते (आकर्ण्य) किं ब्रवीषि? आतपलङ्घनाद्‌बलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः शरीरनिर्वापणायेति।
—अभि०, अंक ३, पृ० ४१

२. आतपाक्रान्तोऽयमुद्देशः। शीतक्रिया चास्या रुजः प्रशस्ता।
—माल०, अंक ४, पृ० ३२१

३. अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि।
चरणं रुजापरीतं कलभाषिणि मां च पीडयितुम्॥ —माल०, ४।३

४. प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति। —माल०, अंक ४, पृ० ३१७

५. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥
—अभि०, ४।१४

६. न खलु अक्षिदुःखितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते।—विक्रम०, अंक २, पृ० १६०

७. आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥—रघु०, २।५

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ७

९. उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीवतया प्रकाश्यताम्॥ —रघु०, ८।८४

१०. निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ।—रघु०, ३।१
गर्भ को दोर्हृद क्यों कहते थे, इसकी विवेचना की जा चुकी है।

क्या लक्षण हैं,[1] कवि ने भली प्रकार इसका संकेत किया है। लोध्र के समान मुख का पीला पड़ जाना, मिट्टी खाना, स्तनों की वृद्धि और घुण्डियों का काला पड़ जाना आदि गर्भ के लक्षणों का उल्लेख कवि ने यत्र-तत्र किया है[2]। प्रारम्भिक दिनों में कष्ट होता है; परन्तु तत्पश्चात् गर्भिणी पहले की तरह हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर लगने लगती है[3]। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता है, उठने-बैठने में कठिनाई होती है। यहाँ तक कि स्वागत के लिए उठना और प्रणाम करना भी भार हो जाता है। थकावट से आँखों में आँसू आ जाते थे[4]। गर्भिणी के मन की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करना अभिभावक का कर्तव्य है[5]।

गर्भ के मर्मज्ञ भी उस समय पाए जाते थे। ऐसे चिकित्सकों की संज्ञा

१.२. शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ —रघु०, ३।२
—तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम्॥—रघु०, ३।३
—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥
—रघु०, ३।८
—अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यंजितदोहदेन॥ —रघु०, १४।२६
—तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्॥
—रघु०, १४।२७
—आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायं।
कानि दिनानि वपुरभूत्केवलमलंसक्षणं तस्याः॥ —विक्रम०, ५।८

३. क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा। —रघु०, ३।७

४. सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः॥ —रघु०, ३।११

५. न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोशलेश्वरः॥
—रघु०, ३।५
—उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः॥—रघु०, ३।६
देखिए, पादटिप्पणी, नं० १, २; —रघु०, १४।२७

'कुमारभृत्य' थी । किस प्रकार गर्भ पुष्ट हो सकता है और सुविधा एवं सरलता से प्रसव होता है, इन सब शास्त्रों के विद्वान् भी उस समय थे[1] ।

शल्य-शास्त्र का भी कवि ने उल्लेख किया है । अंग में भिदी किसी वस्तु को निकालना[2] अथवा किसी अंग को काट देना[3] इसी शास्त्र की विशेषता है ।

सर्प-विष को दूर करने के कई उपाय थे । या तो उस अंग को काट ही दिया जाता था, या जला दिया जाता था, या घाव में से लहू निकाल दिया जाता था[4] । तान्त्रिक-विधि भी इसके लिए थी । मन्त्र और औषध से सर्प बँध जाता था[5] । अतः 'उदकुम्भ-विधान' अर्थात् पानी के घड़े के सहारे किसी ऐसी वस्तु से विष उतारा जाता था, जिसमें नाममुद्रा जड़ी हुई हो[6] । मालविकाग्निमित्र में गौतम का विष सर्पमुद्रा वाली अंगूठी लेकर ही दूर किया जाने का प्रपञ्च किया गया था[7] ।

रोगों में छोटे-छोटे सामान्य रोगों के साथ राजयक्ष्मा,[8] क्लीब[9] आदि भयंकर रोगों का भी उल्लेख कवि के ग्रन्थों में है । असाध्य रोगों को वैद्य छोड़ देता था[10] । रोग फैलने न पावें अर्थात् छूत के रोग इधर-उधर फैल कर जनता

---

१. कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥—रघु०, ३।१२

२. अमोघं सन्दधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ —रघु०, १२।९७

३. त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता । —रघु०, १।२८
—छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम् ।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः । —माल०, ४।४

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३ —माल०, ४।४

५. राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः । —रघु०, २।३२

६. उदकुम्भविधानेन सर्वमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम् । तदन्विष्यतामिति ।
—माल०, अंक ४, पृ० ३२०

७. इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयकं पश्चान्मम हस्ते देह्येतत् ।
—माल०, अंक ४, पृ० ३२१

८. तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसंभवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥—रघु०, १९।४८

९. मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम् । —रघु०, ८।८४

१०. असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवांस्तत्रभवत्या ।
—विक्रम०, अंक ३, पृ० २०७

के लिए हानिकारक न होंवें—चिकित्सक इस बात का ध्यान रखते थे।[१]

रोग का उपचार करने के पूर्व उसके निदान के विषय में भी (Diagnosis) जानने की चेष्टा की जाती थी। अतः निदान-शास्त्र का भी उस समय निस्सन्देह अस्तित्व था[२]।

दवा के लिए कवि के ग्रन्थों में ओषधि[३] शब्द का प्रयोग हुआ है। हिमालय को ओषधिप्रस्थ इसीलिए कहा है कि वहाँ ओषधियाँ (जड़ी-बूटी) प्रचुर मात्रा में थीं[४]।

पाणिनि के ग्रन्थ में बवासीर, हृद्रोग, कुष्ठ, न्युब्ज, खाँसी, अतिसार (पेचिश), वातिकी (वायुरोग), आस्राव (सायन इसको मूत्रातिसार कहता है) आदि रोग मिलते हैं; पर कालिदास के ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं है[५]। केवल कुब्ज का नाम दो स्थान पर आया है[६]।

उत्सव और विनोद

भारतवर्ष में सदा से ही उत्सवों की धूम रही है। वैसे भी मनुष्यों को उत्सव प्रिय होते हैं[७]। अपने हृदय के आह्लाद और उमंग को व्यक्त करने

---

१. तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशान्तिमपदिश्य मंत्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः॥ —रघु०, १९।५४

२. विकारं खलुपरमार्थतः अज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य।
—अभि०, अंक ३, पृ० ४४

३. स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः।
लंकास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः॥ —रघु०, १२।७८
—अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम्॥ —रघु०, १२।९७
—राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मंत्रौषधिरुद्धवीर्यः। —रघु०, २।३२

४. तत्प्रयाग्तौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम्।
महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः॥ —कुमार०, ६।३३

५. India as known to Panini, by V. S. Agarwala, Chap. III, Health & Disease.

६. भो वयस्य यद्वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति तत्किमात्मनः प्रभावेण उत नदीवेगस्य। —अभि०, अंक २, पृ० २८
—चतुःशालात् कुब्जः सारसिको निष्क्रामति। —माल०, अंक ५, पृ० ३३८

७. उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः। —अभि०, अंक ६, पृ० १०४

का साधन उत्सव ही हैं; परन्तु भारतवासी प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर, विश्वात्मा के सौन्दर्य की कल्पना में विभोर होकर उत्सव मनाते हैं। अतः उत्सव प्रकृति से अनुप्राणित हैं। भारतीय संस्कृति में परमात्मा को आनन्द का प्रतीक कहा गया है। आत्मा भी अतःकारणात् आनन्द में कभी-कभी डूबती है। यह सच्चा आनन्द प्रकृति के नित्यप्रति नवीन स्वरूप को देखकर उद्दीप्त हो जाता है। अतः प्रकृति परिवर्त्तन पर फूलों को फूलता देखकर प्रायः उत्सवों की आयोजना की जाती थी[१]। प्रकृति के आधार पर मनाए जाने वाले उत्सवों में विशेष उल्लेखनीय दो हैं—कौमुदी महोत्सव और वसन्तोत्सव।

(अ) कौमुदी महोत्सव—आश्विन की पूर्णिमा को कौमुदी महोत्सव मनाया जाता था। वात्स्यायन ने इसके लिए 'कौमुदीजागरः' शब्द का प्रयोग किया है[२]। वात्स्यायन के अनुसार यह देश-व्यापी (माहिमानी) क्रीड़ा थी[३]। बोलियों में इसके लिए कीजागर शब्द अभी पिछले दिनों तक प्रचलित था। कालिदास के ग्रन्थों में इस उत्सव का उल्लेख नहीं मिलता।

(ब) वसन्तोत्सव—कालिदास के समय में यह उत्सव धूमधाम से मनाया जाता था; परन्तु किसी दुःख के कारण यह उत्सव रोक भी दिया जाता था (अभि०, अंक ६, पृ० १०३)। कवि ने वसन्तोत्सव,[४] ऋतूत्सव,[५] वसन्तावतार,[६] शब्दों का प्रयोग इसी प्रसंग में किया है। वसन्तोत्सव कई दिनों तक मनाया

---

१. आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥ —अभि०, ४।६

२. कामसूत्र, १।४।४२; भोज के समय में इस उत्सव को 'कौमुदी प्रचार' कहते थे—शृंगारप्रकाश।

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १, १।४।४२

४. अनात्मज्ञे देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभंगं किमारभसे।
—अभि०, अंक ६, पृ० १०३

५. किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारंभमिव राजकुलं दृश्यते।
—अभि०, अंक ६, पृ० १०१

—अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः॥ —रघु०, ९।४६

६. अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। —माल०, अंक ३, पृ० २९३

जाता था और इसके अन्तर्गत कई एक प्रकार के उत्सव और क्रीड़ाएँ शामिल थीं, जिनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं :

(१) मदन-महोत्सव—इस उत्सव का संकेत अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अंक ६) में है। चेटियाँ आम की मंजरी लेकर कामदेव की पूजा करना चाहती हैं, करती भी हैं[1]। इससे यह प्रत्यक्ष होता है कि मदन-महोत्सव में कामदेव की आम की मंजरियों से पूजा की जाती थी। कामसूत्र में जिसे 'सुवसन्तक-उत्सव' कहा गया है, वह संभवतः मदनोत्सव ही है। यशोधर ने सुवसन्तक को मदनोत्सव ही माना है और इसे नृत्यगीतवाद्य-प्रधान क्रीड़ा कहा है[2]।

(२) अशोक दोहद—वसन्तोत्सव का यह एक अंग था। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इसका विशद उल्लेख किया है यह उत्सव प्रायः अन्तःपुर के प्रमदवन में मनाया जाता था। सुन्दर स्त्री के पैर-ताड़न से अशोक में फूल लग जाते हैं—यह एक मान्यता थी। उद्यानपालिका अशोक को न फूलता देखकर रानी के पास जाया करती थी और कहती थी कि इसके फूलने का कोई उपाय करना चाहिए। प्रायः यह पदाघात रानी किया करती थी। यही पदाघात 'दोहद' कहलाता था। रानी के अस्वस्थ होने पर यह कार्य कोई भी सुन्दर स्त्री करती थी, परन्तु उसे रानी का ही पायल पहनना पड़ता था। धारिणी ने अस्वस्थ होने पर अपने पहनने का नूपुर मालविका को दिया था। उस सुन्दरी को अन्य आभूषणों से भो सजाया जाता था। चरणों में बड़े कलात्मक ढंग से महावर लगाया जाता था। वकुलावलिका ने आलक्तक इतना सुन्दर लगाया था कि मालविका को पूछना ही पड़ा कि तुमने यह प्रसाधन-कला किससे सीखी ? अलता लगे पैर को प्रायः मुख की वायु से सुखाया जाता था। सुन्दरी पहले अशोक के पत्तों का अवतंस लगाती थी, तत्पश्चात् बाएँ पैर से अशोक पर आघात करती थी[3]। यह क्रीड़ा बड़े धूमधाम से मनाई जाती थी। प्रायः अन्तःपुर की रानियाँ और राजा इसमें सम्मिलित रहते थे। कवि ने प्रणय-व्यापार के लिए एकान्त की अवतारणा की, अतः अन्य व्यक्तियों को नहीं रखा। इरावती दैवयोग से आती है

---

१. सखि अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि। —अभि०, अंक ६, पृ० १०२

२. सुवसन्तो मदनोत्सवः, तत्र नृत्यगीतवाद्यप्रायाः क्रीडाः।

—कामसूत्र, जयमंगला, १।४।४२

३. देखिए, माल०, अंक ३ पूरा और पाँचवा अंक भी।

और राजा भी मालविका को देखने भर के लिए वहाँ आ पहुँचता है[१]। यह परिवर्तन कवि ने प्रासंगिक और क्षणिक ही किया है। पंचम अंक में तथावत् प्रतिहारी आकर राजा को सूचना देती है कि मेरे साथ चलकर उस फूले हुए अशोक को देखकर मेरा उत्सव सफल कर दीजिए[२]। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अशोक के फूलने पर उसे देखने का भी उत्सव मनाया जाता था। सब एक साथ कुसुम-समृद्धि देखते थे[३]। ब्राह्मण को दक्षिणा भी मिलती थी, जिसे 'वसन्तोत्सवोपायन' कहते थे[४]।

(३) दोला—वसन्तोत्सव के साथ ही कवि ने इसका उल्लेख किया है। अतः वसन्त ऋतु में ही कालिदास के समय दोला होता था। राजा और रानी दोनों ही दोलोत्सव में भाग लेते थे[५]। राजाओं के दोले प्रायः उनके परिजन हिलाते होंगे। रानियाँ झूला झूलने में पटु होती थीं। परन्तु कभी-कभी आलिंगन-सुख लेने के लिए दोले की रस्सी छोड़कर राजा के गले में अपनी बाहें डाल देती थीं। राजा भी ऐसे अवसर का स्वागत करते थे[६]। राजाओं के झूले प्रायः एक स्थान विशेष में सदा पड़े ही रहते थे। इसे 'दोलागृह' कहते थे[७]।

(४) नाटक—मनोरंजन के लिए नाटक भी खेले जाते थे। मालविका-

---

१. अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतार व्यपदेशेनेरावतया निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम् तत्प्रमदवनमेव गच्छावः।
—माल०, अंक ३, पृ० २९३

२. देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसहदर्शनेन ममारंभः सफलः क्रियतामिति। —माल०, अंक ५, पृ० ३४२

३. माल०, अंक ५, पृ० ३४२ से ३४५ तक

४. वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति।
—माल०, अंक ३, पृ० ३०१

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १
—माल०, पूरा अंक ३ इसी के प्रसंग से भरा है।

६. ताः स्वमंकमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया।
मुक्तरज्जुनिविडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः॥ —रघु०, १९४४
—अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः॥ —रघु०, ९।४६

७. ननु सम्प्राप्ते स्वो दोलागृहं —माल०, अंक ३, पृ० ३०१
यह दोलागृह प्रमदवन में होता था।

ग्निमित्र नाटक वसन्तोत्सव पर ही जनता के सामने सबसे पहले खेला गया था[१]।

सामान्य वर्ग की स्त्रियाँ वसन्त में विशेष राग-रंग मनाती थीं। सिर में चम्पे के फूलों का जूड़ा बनाकर, स्तनों पर मनोहर फूलों की माला पहनती थीं[२]। कुसुम्भ के फूलों से रँगी लाल साड़ी, स्तनों पर केसर के रंग में रँगी चोली[३], कानों में कर्णिकार के पुष्प, चंचल, काली, घुँघराली अलकों में अशोक के फूल और नवमल्लिका की कलियाँ[४] वसन्तकालीन शृंगार थीं। शृंगार कर वे अपने पतियों के पास जाती थीं तथा कामसुख को प्राप्त करती और कराती थीं। वसन्तकाल की वेशभूषा का विस्तृत वर्णन दिया जा चुका है[५]।

पुत्रजन्मोत्सव—पुत्र के जन्म पर आमोद-प्रमोद मनाया जाता था। नृत्य और गीत की धूम मच जाती थी। वारवनिताएँ नृत्य करती थीं, मंगल-वाद्य बजते थे[६]। राजा पुत्रजन्म के हर्ष में बन्दियों को कारागार से छोड़ देता था[७]।

विवाहोत्सव—इसके विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। विवाह से पूर्व नगर की अच्छी तरह सजावट की जाती थी। इन्द्रधनुष के समान रंग-विरंगे तोरण और झण्डियों से नगर सजाया जाता था[८]। वर और कन्या

---

१. अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। —माल०, अंक १, पृष्ठ २६१

२. ईषत्तुषारैः कृतशीतहर्म्यैः सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः।
कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः॥ —ऋतु०, ६।३

३. कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम्।
तन्वंशुकैः कुंकुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि॥ —ऋतु०, ६।५

४. कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम्॥
—ऋतु०, ६।६

५. देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'

६. सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि॥
—रघु०, ३।१९

७. न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्॥
—रघु०, ३।२०

८. तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणांकम्।
वरः स बध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम्॥ —रघु०, ७।४

के राजपथ पर चलते समय स्त्रियाँ उनको देखने के लिए झरोखों पर दौड़ पड़ती थीं[1]। उत्सुकता इतनी गहरी रहती थी कि किसी का जूड़ा खुल जाता था; परन्तु उसे बाँधने की सुध ही नहीं रहती थी। केश थामे-थामे ही वह खिड़की पर पहुँच जाती थी। बालों के ढीले पड़ जाने से उनमें गुँथे फूल नीचे गिरते जाते थे[2]। कोई यदि महावर लगवा रही होती थी, तो जल्दी से पैर खींच कर गीले पैरों से ही झरोखे की ओर दौड़ जाती थी। फलस्वरूप झरोखे तक लाल पैरों की छाप-ही-छाप पड़ जाती थी[3]। यदि कोई आँखों में अंजन लगा रही होती थी तो एक ही आँख में लगे-लगे, बिना दूसरी में लगाए देखने को अधीर दौड़ पड़ती थी[4]। नीवी-बन्धन यदि हड़बड़ी में खुल जाता था तो कपड़ों को हाथ से थामे-थामे ही झरोखों पर खड़ी हो जाती थी और उसके हाथ के आभूषणों की चमक नाभि तक पहुँच जाती थी[5]। यदि कोई बैठी मणियों की रशना गूँथ रही होती थी और एक छोर को पैर के अँगूठे में बाँध रखा होता था तो आधी पिरी होने पर भी वह वर-वधू को देखने के लिए भागती थी और वहाँ पहुँचते-पहुँचते मणियाँ इधर-उधर निकल कर बिखर जाती थीं, केवल डोरा पैर में बँधा रह जाता था[6]। वर-कन्या अथवा वर इस प्रकार झरोखों पर बैठी स्त्रियों के

---

१. ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ —रघु०, ७।५

२. आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥
—रघु०, ७।६, कुमार०; ७।५७

३. प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकांका पदवीं ततान ॥
—रघु०, ७।७; कुमार०, ७।५८

४. विलोचनं दक्षिणमंजनेन संभाव्य तद्वंचितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥
—रघु०, ७।८; कुमार०, ७।५९

५. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥
—रघु०, ७।९; कुमार०, ७।६०

६. अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमंगुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥
—रघु०, ७।१०, कुमार०, ७।६१

द्वारा देखे जाते हुए राज-भवन में पहुँचते थे, जहाँ विवाह-संस्कार होता था। (यदि स्वयंवर प्रथा है तो वर-कन्या दोनों ही स्वयंवर मंच से राज-भवन साथ-साथ आते थे। यदि बारात आई है तो वर और उसके साथी ही राज-भवन में आते थे, कन्या राज-भवन में होती ही थी)। विवाह के बाद उन पर अक्षत, खीलें डालकर[1] मनोरंजन के लिए नाटक भी खेला जाता था[2]।

राज्याभिषेक का उत्सव—राज्याभिषेक के लिए चार खंभों पर आश्रित नया विमान (मंडप) बनवाया जाता था[3]। भद्रपीठ पर बैठे राजा को समस्त तीर्थों का जल लेकर हेमकुम्भी से डालकर नहलाया जाता था[4]। चारों ओर तूर्य, पुष्कर आदि मंगल-वाद्यों की सुमधुर ध्वनि गूँजती रहती थी[5]। दूब, जौ के अंकुर और बड़ की छाल तथा मधूक के पुष्प से राजकुल के वृद्ध राजा की नीराजना (आरती) करते थे[6]। अथर्ववेद के मंत्रों का उच्चारण करते हुए ब्राह्मण पुरोहित को आगे कर राजा को नहलाते थे[7]। भाट और चारण राजा की प्रशंसा में गीत गाते थे[8]। अभिषेक के पश्चात् स्नातकों को दान दिया जाता था,[9] वे भी राजा

---

१. तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ —रघु०, ७।२८

२. तौ संधिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्त्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम् ॥ —कुमार०, ७।९१

३. ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ —रघु०, १७।९

४. तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ —रघु०, १७।१०

५. नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः ॥ —रघु०, १७।११

६. दूर्वायवांकुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ —रघु०, १७।१२
मल्लिनाथ पुटोत्तर को, मधूक के पुष्प कहते हैं, सीताराम चतुर्वेदी इसे दोना कहते हैं।

७. परोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ —रघु०, १७।१३

८. स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारंगैरभिनन्दितः ॥ —रघु०, १७।१५

९. स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु।
यावत्तेषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ —रघु०, १७।१७

को आशीष देते थे[१]। राज्याभिषेक की प्रसन्नता में राजा बन्दियों को जेल से मुक्त कर देता था। मृत्युदण्ड माफ हो जाता था, बोझा ढोने वाले पशुओं के कन्धे पर से जुए उतार दिए जाते थे। गाय का दूध बछड़ों के लिए छोड़ दिया जाता था[२]। पिंजड़ों से क्रीड़ा-पक्षी छोड़ दिए जाते थे[३]। इसके पश्चात् राजा का राजसी श्रृंगार होता था। हाथीदाँत के सिंहासन पर, जिस पर उत्तरच्छद बिछा रहता था,[४] राजा को बिठा कर, प्रसाधक हाथों को अच्छी तरह धोकर, सुगन्धित द्रव्यों के धूम्र से केशान्त सुखाते थे[५]। फूल और मोतियों की माला केश-संस्कार कर, सिर पर पद्मरागमणि बाँध देते थे[६]। विवाह में जिस प्रकार वर को सजाया जाता था, उसी प्रकार राजा का भी श्रृंगार होता था। कस्तूरी और चन्दन का अंगराग लगाकर गोरोचन से राजा के मुख पर पत्र-रचना की जाती थी[७]। हंसासित दुकूल पहन कर और इस प्रकार फूलों और आभूषणों से अलंकृत होकर राजा वर की तरह ही सुन्दर लगता था[८]। वर की तरह यह मणि-दर्पण में अपना प्रतिविम्ब देखता था[९]। परिचारिकाएँ जय-जयकार

---

१. ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन्।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः॥ —रघु०, १७।१८

२. बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम्।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद् गवाम्॥—रघु०, १७।१९

३. क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन्॥ —रघु०, १७।२०

४. ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचिः।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः॥ —रघु०, १७।२१

५. तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः॥ —रघु०, १७।२२

६. तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम्।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना॥ —रघु०, १७।२३

७. चन्दनेनांगरागं च मृगनाभिसुगन्धिना।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम्॥ —रघु०, १७।२४

८. आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान्।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः॥ —रघु०, १७।२५

९. नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव॥ —रघु०, १७।२६

करती हुई चँवर ढुलाती हुई राजा को सभा-मण्डप में लाती थीं[१]। सभा में वितान तना रहता था[२]। इसके बीच में सिंहासन रखा रहता था, इसे मंगलायतन[३] भी कहा जाता था। पैर के पास भद्रपीठ रखा जाता था, इस पर अन्य राजा सिर रख कर प्रणाम करते थे[४]। राजा हाथी पर बैठ कर घूमने निकलता था[५]। स्त्रियाँ झरोखे पर बैठ कर राजा को देखती थीं[६]।

राजा के बाहर से आने के बाद उत्सव—अपने देश से गया हुआ राजा जब बहुत दिन बाद लौटता था तब प्रजा आदर और स्वागत के लिए झंडे ऊँचे कर देती थी[७]। जिस पर राज्य का उत्तरदायित्व राजा की अनुपस्थिति में रहता था वह सेना लेकर आगे स्वागत करने आता था[८]। नगर के बाहर किसी उपवन को अलंकृत कर उसमें वह विश्रामार्थ ठहराया जाता था[९]। यहीं सब जाति-बन्धु उससे भेंट करने आते थे[१०]। तत्पश्चात् वह सबके साथ नगर में प्रवेश करता था। नगर को पहले ही बन्दनवार आदि से भलीभाँति सजा दिया जाता था[११]। राजा के नगर में प्रवेश करते समय उस पर श्वेत भवनों के झरोखों से

---

१. स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
यथावुदीरितालोकः सुधर्मा नवमां सभाम् ॥ —रघु०, १७।२७

२ वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्धृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ —रघु०, १७।२८

३. शशुभे तेन चाक्रान्तं मंगलायतनं महत्........—रघु०, १७।२९

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —रघु०, १७।२७

५. स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ —रघु०, १७।३२

६. तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥ —रघु०, १७।३५

७. पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससंज ॥ —रघु०, २।७४

८. शंके हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः । —रघु०, १३।६४

९. क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ —रघु०, १३।७९

१०. भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥ —रघु०, १४।१

११. समौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ —रघु०, १४।१०

खीलें[1] बरसाई जाती थीं। झरोखों पर स्त्रियाँ बैठी रहती थीं, वे राजमहिषी को प्रणाम करती थीं[2]। चारों ओर मंगल-वाद्य बजते रहते थे[3]। राजा के सिर पर छत्र लगा रहता था और आस-पास चँवर ढुलते जाते थे[4]। इस प्रकार प्रजाजनों के द्वारा सत्कृत होता हुआ राजा अपने महल में प्रवेश करता था।

गृह-प्रवेश-उत्सव—नए मकान के बनने पर पहले विधिपूर्वक उसका पूजन होता था। पशूपहार[5] अर्थात् जानवरों को बलि दी जाती थी।

पानभूमि-रचना[6]—यह भी एक प्रकार का उत्सव था। इसमें सब एक साथ मिल-जुल कर शराब पीते थे। आजकल भी इसका प्रचलन है, इसे 'कौक-टेल पार्टी' कहते हैं।

धार्मिक उत्सव—(अ) पुरूहूत[7]—यह उत्सव इन्द्र के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट करने के लिए मनाया जाता था। श्रीभगवतशरण के कथनानुसार यह भादों के शुक्लपक्ष में अष्टमी से द्वादशी तक अर्थात् पाँच दिन मनाया जाता था[8]। राजा वृष्टि के लिए इन्द्र की पूजा करता था। मल्लिनाथ इसके

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ को पादटिप्पणी, नं० ११
—मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ —रघु०, २।१०

२. श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेशां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबंधे साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥ रघु०, १४।१३

३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ११ —रघु०, १४।१०

४. सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः॥ —रघु०, १४।११

५. ततः सपर्या सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमा गृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः॥ —रघु०, १६।३६

६. ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥ —रघु०, ४।४२
—शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः॥
—रघु०, ७।४६
—घ्राणकान्तमधुगंधकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः। —रघु०, १६।११

७. पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः॥ —रघु०, ४।३

८. India in Kalidas : By—Sri B. S. Upadhyaya, Page 328

विषय में कहते हैं--'एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर। पर्जन्यः कामवर्षी स्यात्तस्य राज्ये न संशयः'[१]। काणे का कहना है कि—इसमें एक खम्भा गाड़ दिया जाता था, इसके ऊपर झण्डा लगाया जाता था। इसके आकार के विषय में वे अपना मत देते हैं—'गजाकारं चतुस्स्तंभं पुरद्वारे प्रतिष्ठितम्। पौराः कुर्वन्ति शरदि पुरुहूतमहोत्सवम्'[२]। मल्लिनाथ का कहना है— 'चतुरस्रं ध्वजाकारं राजद्वारे प्रतिष्ठितम्। आहुः शक्रध्वजं नाम पौरलोकसुखावहम्'[३]।

(ब) प्रवासी-पति की कुशलता के लिए पत्नी पति के लौटने की तिथि तक दिन गिनकर उतने ही फूल ले लेती थी और प्रतिदिन एक-एक कर उन्हें अलग रख देती थी। इससे गणना कर लेती थी कि कितने दिन व्यतीत हो चुके और कितने शेष रहे[४]। श्री भगवतशरण के मतानुसार यह काकबलि उत्सव था।

(स) तिथि-विशेष पर गंगा-यमुना के संगम पर स्नान होता था[५]। अमंगल-निवारण के निमित्त सोमतीर्थ[६] आदि स्थानों पर जाया जाता था। यहाँ स्नान करने से पुण्य की प्राप्ति, पापों का क्षय हो जाता है, ऐसा विश्वास था। तीर्थ-स्थानों में जाना धार्मिक कृत्य था। वहाँ स्नान करने से समस्त पाप धुल जाते हैं, ऐसी धारणा प्रचलित थी। अतः तीर्थ नदी के किनारे ही बनाए जाते थे। शाकुन्तल का शचीतीर्थ (नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमंगुलीयकम्—पृ० ९०), कण्व का शकुन्तला के ग्रह की शान्ति के लिए सोमतीर्थ जाना (अभि०, पृ० ९), ऐसे ही स्थल थे।

---

१. मल्लिनाथी टीका —रघु०, ४।३
२. India in Kalidas By Bhagwat Sharan —Page 328
३. मल्लिनाथ की टीका —रघु०, ४।३
४. आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा........—उत्तरमेघ, २५
—शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा,
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।
मत्संगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः॥ —उत्तरमेघ, २७
५. अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योर्गङ्गायमुनयोः संगमे देवीभिः सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्यां प्रविष्टः।
—विक्रम०, अंक ५, पृ० २३९
६. इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। —अभि०, अंक १, पृ० ९

विनोद

जलक्रीड़ा—ग्रीष्मऋतु में गृहदीर्घिका[१], दीर्घिका[२], अथवा नदी[3] में प्रायः जलक्रीड़ा से मनोरंजन किया जाता था। रानियों के स्नान करने से उनके शरीर पर लगा अंगराग नदी के जल में धुल जाता था। नदी की धारा रंग-बिरंगी होकर वैसी ही सुन्दर लगती थी, जैसे बादलों से भरी सन्ध्या[४]। रानियों के स्तनों पर लगा चन्दन यमुना की जल-क्रीड़ा से जल में मिल कर बहने लगता था, अतः यमुना का रंग ऐसा प्रतीत होता था मानो वहीं पर उनका गंगाजी की लहरों से संगम हो गया हो[५]। जलविहार से युवतियों के सुगन्धित शरीर का स्पर्श पाकर जल भी महँकने लगता था[६]। जल की उठती हुई लहरें सुन्दरियों की आँखों के अंजन को धोकर मदपान के समय की लाली उनकी आँखों में भर देती थीं[७]। कानों से सिरस के कर्णफूल खिसक कर नदी में तैरने लगते थे, जिनको देखकर मछलियों की सेवार का भ्रम हो जाता था[८]। वे मृदंग

---

१. शुशुभिरे स्मित चारुतरानना स्त्रिय इव श्लथशिंजितमेखलाः।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥—रघु०, ९।३७

२. यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यागाहत विगाढमन्मथः ॥ —रघु०, १९।९
—आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदंगधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदंभः श्रृंगाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥
—रघु०, १६।१३

३. अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥—रघु०, १६।५४

४. पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलितांगरागैः।
संध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥—रघु०, १६।५८

५. यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गंगोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ —रघु०, ६।४८

६. धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः। —पूर्वमेघ, ३७

७. विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदंजनं नौलुलिताभिरद्भिः।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ —रघु०, १६।५९

८. अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम्।
परिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान् ॥
—रघु०, १६।६१

बजाने के समान थपकी दे-देकर जल को ताड़ित करती थीं[१] अथवा जल-ताड़ना से मृदंग के समान ध्वनि निकलती थी। कभी एक-दूसरे के मुख पर पानी डालती थीं[२] और सोने की पिचकारियों से रंग छोड़ा करती थीं[३]। जल-क्रीड़ा का एक रूप गूढ़ मोहन-गृहों में सुरतोत्सव भी था[४]।

मदिरा-पान--यह भी विनोद के साधनों में एक था। उत्सवादि के अवसर पर मदिरा-पान किया जाता था[५]।

मृगया--यह विनोद भी था और व्यसन भी। कवि ने इसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि इससे चर्बी घट जाती है, तोंद छँट जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है, पशुओं के मुख पर दीखते हुए क्रोध और भय का ज्ञान हो जाता है। चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाने में हाथ सध जाते हैं। इसको मिथ्या ही व्यसन कहते हैं, इसकी तुलना का विनोद और कहाँ मिल सकता है[६]? यही नहीं, दुष्यन्त के विषय में सोचता हुआ सेनापति अपने मन में कहता है, कि मनुष्य मृगया को बुरा बताते हैं; परन्तु स्वामी को तो इससे बड़ा लाभ हुआ है; क्योंकि पहाड़ों में घूमने वाले हाथी के समान इनके बलवान् शरीर के आगे का भाग निरन्तर धनुष की डोरी को खींचने से ऐसा कड़ा हो गया है कि उस पर न तो धूप का ही प्रभाव पड़ता है और न पसीना ही छूटता है। बहुत दौड़-धूप से

---

१. तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम्।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम् ॥—रघु०, १६।६४
—आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदंगधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृंगाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥
—रघु०, १६।१३

२. एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥—रघु०, १६।६६

३. वर्णोदकैः कांचनशृंगमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिंचन्।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥ —रघु०, १६।७०

४. यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ —रघु०, १९।९

५. देखिए, अध्याय 'खान-पान'।

६. मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥ --अभि०, २।५

यद्यपि ये दुबले हो गए हैं; पर पुट्ठों के पक्के होने के कारण इनका दुवलापन नहीं दिखाई पड़ता हैं[1]। अतः मृगया से शरीर पुष्ट होता था।

मृगया के समय का वेश पहले ही बताया जा चुका है[2]। हाथ में धनुष लिए और गले में जंगली फूलों की माला पहने यवनी सेविकाएँ[3] राजा के साथ रहती थीं। इसके अतिरिक्त श्वगणि[4], वागुरिक[5] और वनग्राही[6] मृगया करते समय राजा की सहायता करते थे। शिकारी कुत्ते शिकार ढूँढ़ते थे, वागुरिक जाल आदि डालकर शिकार फँसाते थे और वनग्राही वन के मार्गों, पशुओं आदि से परिचित थे, वे शिकार ढूँढ़कर राजा को सूचना दिया करते थे। शिकार करने योग्य पशु हरिण, पक्षी, सूअर, जंगली भैंसा, बारहसिंहा, सिंह आदि थे[7]।

मृगया के समय क्लेश-ही-क्लेश मनुष्य को प्राप्त होता था। सड़े हुए पत्तों से युक्त नदियों का कसैला और कड़वा पानी पीना पड़ता था। अबेर-सबेर लोहे की सीखों पर भुना मांस खाने को मिलता था। दौड़ते-दौड़ते शरीर के जोड़ ढीले पड़ जाते थे[8]।

द्यूतक्रीड़ा[9]—विनोद के साधनों में से द्यूतक्रीड़ा भी एक थी; परन्तु इसका विस्तृत उल्लेख, किस प्रकार यह खेला जाता था, कवि के ग्रन्थों में नहीं मिलता।

---

१. अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥
—अभि०, २।४

२. देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा'।

३. एष वाणासन हस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत्त इत एवागच्छति प्रियवयस्यः। —अभि०, अंक २, पृ० २७

४.५. श्वगणि वागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।
स्थिरतुरंगमभूमिनिपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम्॥ —रघु०, ९।५३

६. तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः। —अभि०, अंक २, पृ० ३१

७. देखिए, अध्याय 'खान-पान'।

८. पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदी जलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांस भूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसंघे रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति। —अभि०, अंक २, पृ० २७

९. कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलांछनेन।
रत्नांगुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान्॥ —रघु०, ६।१८
—न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदियाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥—रघु०, ९।७

लोक-नृत्य और संगीत—संगीत, नृत्य आदि सदा से ही विनोद का अधिष्ठान माना जाता रहा है। संगीत में चित्त को रमाने की शक्ति सदा से ही मानी जाती रही है[1]। रसिक व्यक्तियों की गोद में बाला या वीणा सदा पड़ी ही रहती थी[2]। विरहिणी स्त्रियाँ संगीत से ही दिल बहलाया करती थीं[3]। स्त्री और पुरुष दोनों ही संगीत के मर्म को समझाने वाले थे। अग्निमित्र स्वयं तबला और मृदंग आदि बजाने में प्रवीण था। नर्तकियों के नृत्य करते समय वह तबले से साथ देता था। ऐसा करते समय उसके गले की माला हिलती रहती थी[4]। संगीतशाला[5] और प्रेक्षागृह[6] इस बात को प्रमाणित करते हैं कि संगीत, नाटक उस समय के विनोद-साधन थे। नृत्य-समारोह भी विनोद का अच्छा साधन था। कवि की यह उक्ति—'देखो समुद्रों के स्वामी का कैसा सुन्दर नृत्य हो रहा है। जल में पड़ी मेघों की परछाईं ही उनका शरीर है। पुरवैया पवन से उठती लहरें नृत्य के लिए उठे हुए उनके हाथ हैं। शंख और हंस आदि पक्षी उनके पैर के घुँघरू और आभूषण हैं। हाथी और मगरों के झुण्ड उनके नीले वस्त्र हैं, नीले-कमल उनकी मालाएँ हैं। तीर से टकराती लहरें ताल दे रही हैं यह सब 'लोकनृत्य' की ही अभिव्यंजना करता है[7]।' मालविका और इरावती का नृत्य एक व्यक्ति का नृत्य है, अतः अकेले और सामूहिक दोनों प्रकार के नृत्य थे।

---

१. अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।—अभि०, अंक १, पृ ५

२. अंकमंकपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥ —रघु०, १९।१३

३. उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तंत्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥ —उत्तरमेघ, २६

४. स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्॥—रघु०, १९।१४

५. भो वयस्य संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। —अभि०, अंक ५, पृ० ७९

६. तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्।
—माल०, अंक १, पृ० २७८

७. पूर्वादिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुः मेघांगैर्नृत्यति सललितजलनिधिनाथः हंसविहंगमकुंकुमशंखकृताभरणः करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणः वेला सलिलोद्वेलितदत्तहस्ततालोऽवस्तृणाति दशदिशो रुद्ध्वा नवमेघकालः।
—विक्रम०, ४।५४

चित्रकला--विनोद-साधनों में संगीत और नृत्य की तरह चित्रकला का भी प्रचार था। स्त्री और पुरुष दोनों ही इस कला में निपुण थे। विरही पुरुष और विरहिणी स्त्रियाँ विनोद के लिए चित्र खींचा करती थीं[1]। चित्रशाला[2] शब्द से स्पष्ट होता है कि शौक से भी चित्रकार चित्र खींचा करते थे।

कथा-आख्यायिका--कथाओं द्वारा प्राचीन काल से ही विनोद किया जाता था। ग्राम के वृद्धजन कथाएँ सुनाया करते थे और अतिथियों का मन बहलाया करते थे[3]। राजघराने में अस्वस्थ व्यक्ति के मन-बहलाव के लिए भी कथाएँ सुनाने की प्रथा थी। धारिणी का मनोरञ्जन परिव्राजिका कथा सुना कर किया करती थी[4]।

क्रीड़ापक्षी,[5] क्रीड़ा-शैल और उद्यान--शुक, सारिका, मयूर आदि

---

१. मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती --उत्तरमेघ, २५
--एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यमग्रतो मे वर्त्तत इति।
--अभि०, अंक ६, पृ० ११४
--अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयँस्तिष्ठतु।
--विक्रम०, अंक २, पृ० १७८

२. चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्तीतिष्ठति।
--माल०, अंक १, पृ० २६४

३. प्राप्यावंतीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।--पूर्वमेघ, ३२
--प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्रबन्धूनभिज्ञः॥ --पूर्वमेघ, ३५
(कुछ लोग इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं)।

४. प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति। --माल०, अंक ४, पृ० ३१७

५. क्रीडापक्षी--क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः।--रघु०, १७।२०

कबूतर और मोर--
--पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्,
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दुक्षेपातिपिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम्
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥--माल०, २।१२

तोता--
--अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः।--रघु०, ५।७४

क्रीड़ापक्षियों से पूछ कर 'क्या तुम अपने जिस पति की प्यारी हो, उसे भी कभी स्मरण करती हो'[1] या हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर मोर आदि को नचाकर[2] विरहिणी स्त्रियाँ अपना मनोरञ्जन किया करती थीं। क्रीड़ा-शैल,[3] प्रमदवन[4] और उद्यान विनोद के प्रमुख केन्द्र थे। प्रमदवन में दुष्यन्त,[5] पुरूरवा[6] और अग्निमित्र[7] विरहोद्दीप्त मन को बहलाने का प्रयत्न किया करते हैं। उद्यान-यात्राएँ भी हुआ करती थीं। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी उद्यान-यात्रा का वर्णन है।

कन्याओं की क्रीड़ा

(अ) कन्दुक-क्रीड़ा—बालिकाओं की कन्दुक-क्रीड़ा का कवि ने बार-बार उल्लेख किया है[8]—

---

१. पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति। —उत्तरमेघ, २५

२. तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः। —उत्तरमेघ, १६

३. तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।—उत्तरमेघ, १७;
—उत्तरमेघ, २१; विक्रम०, पृ० १८८

४. जयतु जयतु देवः। महाराज प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः। —अभि०, अंक ६, पृ० १०७
—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति। तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु॥
—विक्रम०, अंक २, पृ० १७२
राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व न खलु यापयामि।
विदूषक-तत्प्रमदवनमेव गच्छावः। —माल०, अंक ३, पृ० २९३

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ —अभि०, अंक ६, पृ० १०७

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ —विक्रम०, अंक २, पृ० १७३

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ —माल०, अंक ३, पृ० २९३

८. कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम्॥ —रघु०, १६।८३
—मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये॥—कुमार०,१।२९
—विसृष्टरागादधरान्निवर्तितस्तनांगरागारुणिताच्च कन्दुकात्।
कुशांकुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः॥—कुमार०,५।११
—क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
—कुमार०, ५।१९

पार्वती,[१] कुमारी वसु लक्ष्मी,[२] कुमुद्वती[३] सभी गेंद खेलकर अपना मनोरञ्जन किया करती थीं। कभी कन्दुक को हाथ से मार-मार कर खेलतीं,[४] कभी कन्दुक के पीछे दौड़ती थीं[५]। वात्स्यायन के कामसूत्र से ज्ञात होता है कि गेंदें कई प्रकार की थीं और इन पर अनेक प्रकार की चित्रकारी की हुई रहती थी[६]।

(ब) पुत्तलिका—इसकी परम्परा आज तक अविच्छिन्न है। पार्वती कृत्रिम पुत्रकों से खेलती थीं[७]। प्राचीन काल में गुड़िया सूत, लकड़ी, शृंग, हाथीदाँत, सिक्थ (मोम) और मिट्टी की बनती थी[८]।

(स) मणियों को बालू में छिपाने का खेल—इस खेल को पर्याप्त सयानी कन्याएँ भी खेला करती थीं, इतनी सयानी जिनसे 'प्रार्थना' की जा सके[९]।

(ह) सिकता पर्वतकेलि—नदी के किनारे टीले बना कर खेलना कन्याएँ पसन्द करती थीं।[१०] इस खेल को युवती कन्याएँ भी खेला करती थीं।

—कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिंगलवानरेण बलवत्त्रासितांक-निषण्णा देव्या प्रवातकिसलयमिव वेपमाना न किञ्चित्प्रकृतिं प्रतिपद्यते।
—माल०, अंक ४, पृ० ३३५

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ८ –कुमार०, १।२९, ५।११, ५।१९

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ८ –माल०, अंक ४, पृ० ३३५

३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ८ –रघु०, १६।८३

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २

६. कन्दुकमनेकभक्तिचित्रमल्पकालान्तरितम्।—वात्स्यायन कामसूत्र, ३।३, १३

७. देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी, नं० ८ —कुमार०, १।२९

८. सूत्रदारुगवलगजदंतमयी दुहितृका मधूच्छिष्टपिष्टमृण्मयीश्च।
—वास्यायन कामसूत्र, ३।३।१३

९. मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमानामरुद्भि-
मन्दाराणामनुतटरुहां छाययावारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥ —उत्तरमेघ, ६

१०. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ८
—कुमार०, १।२९; रघु०, १३।६२

—तत्र खलु मंदाकिन्याः पुलिनेषु गता सिकतापर्वतकेलिभिः क्रीडन्ती विद्याधर-दारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निध्यातेति कुपिता उर्वशी।
—विक्रम०, अंक ४, पृ० २१३

उदयवती यही खेल खेल रही थी, जब पुरूरवा की आँखें क्षण भर के लिए उसके यौवन पर रीझ गई थीं[1]।

युवती स्त्रियों की क्रीड़ाएँ—काशिकावृत्ति ६।२।७४ में उद्दालकपुष्पभञ्जिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका आदि क्रीड़ाओं का उल्लेख है। ये स्त्रियों की क्रीड़ाएँ थीं और प्रायः पूर्व के देशों में खेली जाती थीं। वात्स्यायन के कामसूत्र में सहकारभंजिका का भी उल्लेख है। कालिदास के ग्रन्थों में स्पष्ट तो नहीं पर संकेत रूप में इस तरह की क्रीड़ाओं की व्यंजना है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दो चेटियाँ सहकार की मञ्जरी तोड़ती हुई और उनसे कामदेव की पूजा करती हुई दिखाई गई हैं[2]। सहकार-भञ्जिका क्रीड़ा भी ऐसे ही कार्यों से सम्बन्ध रखती है। कालिदास की यह पंक्ति 'पहले उद्यान की जिन लताओं को धीरे से झुकाकर सुन्दर स्त्रियाँ फूल उतारा करती थीं'[3] में उपर्युक्त क्रीड़ाओं का संकेत जान पड़ता है। शालभञ्जिका का अर्थ अवश्य कालिदास के समय में बदल चुका था। मूल में शालभञ्जिका एक स्त्रीक्रीड़ा थी। परन्तु बाद में तोरणों पर अङ्कित स्त्रीमूर्त्तियों के लिए यह शब्द रूढ़ हो गया। कहा जाता है कि बुद्ध की माता मायादेवी लुम्बिनी उद्यान में शालभञ्जिका मुद्रा में खड़ी थीं, तब बुद्ध का जन्म हुआ था। वही मुद्रा स्थापत्य कला में ले ली गई और यह शब्द बरेंडी और स्तम्भ के बीच में तिरछे खड़ी स्त्रीमूर्त्तियों के लिए चल पड़ा। कालिदास ने भी स्तम्भ की योषित्-प्रतिमाओं का उल्लेख किया है[4]।

युवती स्त्रियाँ रात्रि में किए गए रसविलास को अपनी सखियों से कह-कह कर किस प्रकार विनोद किया करती थीं—इसका निर्देश भी कवि ने किया है[5]।

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १० —विक्रम०, अंक ४, पृ० २१३

२. सखि ! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि। —अभि०, अंक ६, पृ० १०२

३. आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदोयाः॥
—रघु०, १६।१९

४. स्तंभेषु योषित्प्रतिमायतानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥
—रघु०, १६।१७

५. सुरतरसविलासः सत्सखीभिः समेताः, असमशरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम्।
अनुपममुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं, शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान्॥
—ऋतु०, ३।२४

फूल तोड़ना,[१] माला बनाना,[२] पुष्पशय्या रचना,[३] फूलों से अपने को अलंकृत करना,[४] स्त्रियों के विनोद के ही साधन नहीं, उनकी परिष्कृत रुचि के भी परिचायक थे। शकुन्तला की सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा[५] और इरावती की दासी[६] सभी फूल चुनने की शौकीन थीं। ऋतुसंहार में इस बात का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन है कि किस प्रकार स्त्रियाँ प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु में फूलने वाले पुष्पों से अपना शृंगार किया करती थीं।

रघुवंश में एक शब्द 'लीलागार'[७] मिलता है। अवश्य ही यह एक ऐसा स्थान होगा, जहाँ तरह-तरह के खेल खेलने का प्रबन्ध रहता होगा।

पेड़ों का विवाह—युवती स्त्रियों की यह भी एक क्रीड़ा थी। किसी वृक्ष का किसी लता से विवाह कर वे अति प्रसन्न हुआ करती थीं। इन्दुमती ने आम और प्रियंगुलता का विवाह ठीक किया था; पर सम्पादित करने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई थी[८]। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी वनज्योत्स्ना और सहकार के विवाह का प्रसंग है[९]।

---

१. ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाट्यन्त्यौ सख्यौ। —अभि०, अंक ४, पृ० ५७
—एषा कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते
परिचारिका चन्द्रिका संनिकृष्टमागच्छति।
—माल०, अंक ४, पृ० ३२४

२. तव निश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्घचितां समं मया।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकंठि सुप्यते॥ —रघु०, ८।६४

३. क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः। —रघु०, १६।२३
—एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते॥ —अभि०, अंक ३, पृ० ४३

४. देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —अभि०, अंक ४, पृ० ५७

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —माल०, अंक ४, पृ० ३२४

७. पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु।
—रघु०, ८।९५

८. मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम्॥ —रघु०, ८।६१

९. हला शकुन्तले इयं स्वयंवरवधूः बालसहकारस्य त्वया कृतानामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि? —अभि०, अंक १, पृ० १४

आर्थिक जीवन

कालिदास के ग्रन्थों में ऐश-आराम, विलास समृद्धि आदि का वर्णन मनुष्य के सुखी जीवन की ओर इंगित करता है। पूर्वमेघ में बड़े-बड़े महल, बाजार रत्न, फल, फूल आदि का प्रचुर वर्णन है। अट्टालिकाओं एवं रत्नजड़ित आभूषणों का प्रचार देश के समृद्धिशाली होने का द्योतक है। इन्दुमती के स्वयंवर के पश्चात् जब अज नगरी के बीच में से होकर निकले तब बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं से स्त्रियाँ झाँक रही थीं, जो विभिन्न प्रकार के आभूषणों से अपना शृंगार किए हुए थीं। हिमालय की नगरी की समृद्धि भी इसी प्रकार की थी। कुमारसम्भव, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञानशाकुन्तल सब में ही मदिरा, विलास और आनन्दमय जीवन की गन्ध है। अतः धन का अभाव अथवा दरिद्रता का अस्तित्व कहीं दृष्टिगत नहीं होता।

व्यावसायिक कर्म—मनुष्यों की प्रधान जीविका खेती-बारी थी[1]। राजा कृषि की रक्षा में कुशल था[2]। गाय इनकी सम्पत्ति थी। अतः दूध, दही आदि की कमी नहीं थी। अतिथि को मक्खनादि भेंट करना सामान्य बात थी[3]। धान, यव, कलम, नीवार, गन्ना, केसर आदि मुख्य उपज थी[4]। गाय, बैल, भैंस पालना भी जीविका का साधन था।

नाना प्रकार के आभूषणों से व्यक्त होता है कि सोना, चाँदी आदि के सुन्दर-सुन्दर आभूषण बनाने वाले सुनार होंगे। मणि खरादने वाले कुशल कलाकार होंगे[5]। मालविकाग्निमित्र में नागमुद्रांकित अंगूठी सुनार के यहाँ से ही तत्काल बनकर आई थी[6]। अन्य धातुओं के बर्तन आदि बनते थे, अतः इस प्रकार के भी कारीगर होंगे। मिट्टी के बर्तनों से कुम्हार का अस्तित्व भी

---

१. सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण। —पूर्वमेघ, १६

२. ते सेतुवार्तागजबंधमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः। —रघु०, १६।२

३. हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ —रघु०, १।४५

४. देखिए, अध्याय 'खान-पान'।

५. चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते। —अभि०, ६।६

६. सखि देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमंगुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि। —माल०, अंक १, पृ० २६३

व्यक्त होता है। साँस से जो उड़ जाएँ, इस प्रकार के महीन वस्त्रों का पहनना बताता है कि सूत और सिल्क के बहुत बारीक कपड़े बुनने वाले कारीगर थे[१]। क्षौम, पत्रोर्ण, कौशेय[२] आदि अनेक प्रकार के वस्त्रों का चलन इस जीविका का साक्षात् संकेत है।

शस्त्रादि के प्रयोग से आभास होता है कि लुहार भी थे, जो तरह-तरह के शस्त्र और अन्य भी लोहे का सामान बनाते थे। कवि ने एक स्थान पर उपमा द्वारा, कि जिस प्रकार घन की चोट से तपाया हुआ लोहा फट जाता है, उसी प्रकार अपनी पत्नी के कलंक को वार्ता सुनकर राम का हृदय फट गया[३], इसका संकेत किया है।

समुद्र में मोती, रत्न, घोंघे, सीप, मूँगे आदि होते हैं। इन सब वस्तुओं का प्रयोग कवि के ग्रन्थों में प्रचुरता के साथ है[४]। समुद्र रत्नों का सागर है, ऐसा अनेक स्थानों में कहा गया है[५]। ताम्रपर्णी नदी मोतियों की खान थी, ऐसा भी प्रसंग आया है[६]। अतः समुद्र से इन वस्तुओं को निकालना भी जीविका का एक साधन था।

वन की बहुत-सी वस्तुओं का जीवन में प्रयोग होता था। रुरु मृगचर्म, कस्तूरी, लाक्षाराग, चँवर[७] और इलायची, लौंग, कालीमिर्च, पान[८] जो मलाया के जंगलों में अधिक मात्रा में होते हैं, वन की ही वस्तु है। चन्दन की लकड़ी भी वन से ही प्राप्त की जाती है। हाथी पकड़वाना राजा का सबसे बड़ा धन था[९]।

---

१. अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम्।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम्॥—रघु०, १६।४३

२. देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा'।

३. कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्त्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे॥—रघु०, १४।३३

४. देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा'।

५. गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः॥—रघु०, १०।८५

६. ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥—रघु०, ४।५०

७. देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा'   ८. देखिए, अध्याय 'खान-पान'

९. ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिता कर्मभिरप्यवन्ध्यैः।—रघु०, १६।२

अतः जानवरों की खालें, हड्डियाँ, दाँत, सींग, पूँछ[1] वन से लाने वाले व्यापारी थे। कौटिल्य वनों को कई भागों में बाँट देता है : (१) वे वन जो राजा के आखेट के लिए नियुक्त थे। इसमें जंगली जानवर दाँत और पञ्जे तोड़ कर रखे जाते थे, (२) सामान्य वन, (३) ऐसे प्रदेश जहाँ लकड़ी, रस्सी बनाने के लिए मूँज, लिखने के लिए भोजपत्र, रँगने के लिए किंशुक, कुसुम्भ, कुंकुम, ओषधि के लिए जड़ी-बूटियाँ प्राप्त होती हों[2]। कालिदास के ग्रन्थों में भोजपत्र[3] और किंशुक, कुसुम्भ, कुंकुम आदि से वस्त्रों का रँगा जाना[4] वर्णित है। सिन्दूर,[5] मनःशिला,[6] गैरिक,[7] शैलेय[8] आदि ओषधियों के लिए उपयोगी

---

१. खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान् ।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ --रघु०, १७।६६
पूँछ के चँवर बनते थे—
लांगूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥ —कुमार०, १।१३

२. Age of Imperial Unity of India, Page 598
(Radha Kumud Mukerjee, Economic Conditions)

३. देखिए, अध्याय 'शिक्षा' ४. देखिए, अध्याय 'शिक्षा'

५. विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम् ।
--ऋतु०, १।२४

६. गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥ —कुमार०, १।५५
—अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं मांगल्यमादाय मनःशिलां च ।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय्य ॥—कुमार०, ७।२३
—कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृंगीव टंकच्छिन्नमनःशिलः ॥ --रघु०, १२।८०

७. ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः ।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ —रघु०, ४।७१
--येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ।
—रघु०, ५।७१
—धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः ।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥ --कुमार०, ६।५१

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६ –कुमार०, १।५५
—अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥—रघु०, ६।५१

धातुओं का भी प्रसंग है। अतः वन और पर्वतीय भागों से इन वस्तुओं को लाना, बेचना भी मनुष्य का पेशा था।

वन का सबसे बड़ा धन गज था। श्री वासुदेवशरण जी ने हाथियों को किस प्रकार पाली-पोसी गई हथनियों के द्वारा, जो गणिका कहलाती थी, पकड़वाया जाता था। इसका उल्लेख 'हर्षचरित : एक अध्ययन' में किया है। अटवीपाल या आटविक राजा स्वयं नए-नए हाथियों को पकड़ कर सम्राट् की सेवा में भेजते रहते थे। हाथियों के लिए विशेषरूप से सुरक्षित वन थे, जो नागवन कहलाते थे। इसका अधिकारी हस्त्यध्यक्ष (नागवनाध्यक्ष) कहलाता था। राजा के मृगयार्थ इसमें जंगली हाथी रखाए जाते थे। नागवन को सुविधा के लिए कई वीथियों में बाँट दिया जाता था। प्रत्येक वीथी पर एक अधिकारी होता था, जो नागवन-वीथिपाल कहलाता था। नागवन में किसी नए झुण्ड के देखे जाने की सूचना तुरन्त दर्बार में यह अधिकारी भेजा करता था[1]। कालिदास के ग्रन्थों में राजा किस प्रकार हाथियों को इकट्ठा किया करता था, इसका उल्लेख है। सम्भवतः यही व्यवस्था उस समय भी होगी। अतः यह सब अधिकारी भी उस समय नियुक्त होंगे।

वणिज,[2] सार्थ,[3] सार्थवाह,[4] श्रेष्ठी[5] आदि शब्दों के व्यवहृत होने से अनुमान किया जाता है कि व्यापार करना भी व्यवसाय था। पूर्वमेघ में हाट का वर्णन किया गया है। अवश्य ही वस्तुओं के बेचने के लिए दुकानदार भी होंगे। श्री राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि साहित्य में श्रेणी शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो चाहे एक जाति के हों अथवा नहीं; पर एक व्यवसाय के अवश्य हों। प्रत्येक कारवार अथवा कौशल का एक संगठन हो जाता था। श्रेणी

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित, एक अध्ययन, पृ० १२८

२. यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति। —माल०, १।१७

३. वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु। —रघु०, १७।६४
—स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्धमपवाह्य भवत्सम्बन्धापेक्षया पथिक-
सार्थं विदिशागामिनमनुप्रविष्टः। —माल०, अंक ५, पृ० ३४८

४. समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः।
—अभि०, अंक ६, पृ० १२१

५. देव इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते।
—अभि०, अंक ६, पृ० १२१

में एक ही पेशे के व्यक्तियों का संगठन होता था; पर कई प्रकार के व्यापारियों का संगठन श्रेष्ठी कहलाता था।[1] इस श्रेष्ठी का मुखिया सार्थवाह कहलाता था जो उनका प्रत्येक प्रकार से मार्ग-निर्देशन किया करता था।[2]

बौद्धिक व्यवसायों में शिक्षक, पुरोहित, ज्योतिषी, वैद्य, मुहूर्त्त निकालने वाले, आदि वर्ग के व्यक्ति आते हैं। मालविकाग्निमित्र में गणदास और हरिदास वेतन लेकर इरावती और मालविका को नृत्यकला की शिक्षा दिया करते थे। राजा की सेवा और सहायतार्थ सरकारी नौकरियाँ भी होती थीं। पुरोहित ज्योतिषी और मौहूर्त्तिक राजा की सहायतार्थ ही थे। सेनापति, दुर्गरक्षक, नगर-रक्षक, आदि सब वेतनभोगी ही थे।

कला जीविका का साधन हो चली थी। मालविकाग्निमित्र में दो स्त्रियाँ राजदरबार में लाई जाती हैं। राजा पूछता है—'तुम लोग किस कला में दक्ष हो ?' वे उत्तर देती हैं—'संगीत में'[3]। अतः स्पष्ट ही संगीत जीविका का साधन हो चला था। वेश्या, नर्तकी आदि का प्रसंग प्रमाणित करता है कि गणिकावृत्ति और वेश्यावृत्ति भी एक तरह से अजीविका थीं। प्रसाधन-कला,[4] पंखा झलने की कला और संवाहन (पैर दबाने की कला) भी पेशे के रूप में समाज में प्रचलित थीं। संवाहन-कला बहुत अच्छी मानी जाती थी। दुष्यन्त ने शकुन्तला की दोनों से सेवा करनी चाही थी[5]।

---

१. Age of Imperial Unity of India, Page 601-602.

२. "Different merchants with their carts loaded with their goods and their men made up a company under a comm n captain called 'Sarthvaha', who gave them directions as to haults, watering, routes etc. etc."

—Age of Imperial Unity of India, Page 602.

३. 'कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ ?' भर्त्तः संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः।

—माल०, अंक ५, पृ० ३४६

४. आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः —रघु०, १७।२२

—सखि आत्मनश्चरण इति लज्जे एनं प्रशंसितुं केन प्रसाधनकलायामभि-नीतासि ? —माल०, पृ० ३०३

५. अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।

—अभि०, ३।१९

उच्च शिल्प, तथा मकान, अट्टालिकाएँ, हाट आदि के बनाने वालों[1] अथवा सुनार, खान से मणि निकालने वालों के अतिरिक्त हीनशिल्प के भी समुदाय थे। इनमें लुब्ध,[2] धीवर,[3] शराब बेचने वाले,[4] मांस बेचने वाले,[5] मछली पकड़ने वाले,[6] नाव चलाने वाले[7] आदि व्यवसाय आते हैं। उद्यान में बेल और पौधों की रक्षा के लिए मालिनें रहती थीं[8]। यह लोग माला आदि भी गूँथती होंगी।

व्यापार-मार्ग—अभिज्ञानशाकुन्तल में समुद्रव्यापारी धनमित्र का नाम आया है, अतः व्यापार नदी और समुद्रों द्वारा भी होता था तथा स्थल-मार्ग द्वारा भी। स्थल-मार्ग समुद्र की अपेक्षा अधिक उत्तम था। रघु ने दिग्विजय में पारसी राजाओं को जीतने के लिए, यद्यपि वह समुद्र-मार्ग से भी जा सकता था, यही स्थल-मार्ग श्रेष्ठ समझा[9]। रघु की दिग्विजय से स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष स्थल-मार्गों से भरा था। यही नहीं अरब, फारस आदि देश भी स्थल-मार्ग द्वारा भारत से संयुक्त थे। मेघदूत में मेघ की यात्रा भी इसी बात की पुष्टि करती है। श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने कई मार्गों का विवरण दिया है। प्रथम श्रावस्ती से राजगृह तक का था। बीच में १२ रुकने के स्थान (Haults) थे। वैशाली भी एक विश्रामालय था। पटना में गंगा को पार करना पड़ता था। दूसरा मार्ग श्रावस्ती से दक्षिण-पश्चिम को ओर जाता था। तीसरा श्रावस्तो से सिंध की ओर जाता था। राजपूताना के रेगिस्तान को पार करता था। पाँचवा ग्राण्ड ट्रंक रोड था, जो राजगृह से बनारस, साकेत, श्रावस्ती होता हुआ तक्षशिला और सीमाप्रान्त तक जाता था। यह मध्य और पश्चिमो एशिया को भारत से मिलाता था। मेगस्थनोज़ ने भी राजपथ (Royal road) का वर्णन किया है, जो उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त से पाटलिपुत्र तक था। इसके अतिरिक्त उसके मतानुसार सारा देश सड़कों के जाल से पुरा हुआ था। जगह-जगह मील के पत्थर (Mile

---

१. तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम्॥ —रघु०, १६।३८

२. ३. ४. ५. ६. देखिए, अध्याय 'वर्ण-व्यवस्था'।

७. रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहस्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य।
गंगं निषादाहृतनौविशेषस्तार संधामिव सत्यसंधः॥ —रघु०, १४।५२

८. विश्रान्तः सन्व्रजवननदीतीरजातानि सिंच-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गंडस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥ —पूर्वमेघ, २८

९. पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। —रघु०, ४।६०

stones) भी थे, जिनसे फासला पता चलता था[१]। कालिदास के ग्रन्थों में महापथ,[२] राजपथ,[३] नाम मिलते हैं। बाजार की सड़क आपणमार्ग[४] कहलाती थी। सम्भवत: ऊपर वर्णित भागों में से यह महापथ, राजपथ आदि हों।

आयात-निर्यात की वस्तुएँ—पश्चिम के घोड़े रघु के दिग्विजय में वर्णित हैं[५]। कवि ने वनायु घोड़ों का नाम लिया है[६] कंबोज के भी घोड़े प्रसिद्ध होंगे। रघु को राजा ने भेंट में घोड़े ही दिए थे[७]। अत: आयात वस्तुओं में घोड़े, रेशमी वस्त्र, इत्र, मूंग आदि का नाम भगवतशरण ने दिया है[८]। राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इन्हीं वस्तुओं के (सिवाय घोड़े के) नाम दिए हैं। निर्यात वस्तुओं में जड़ी-बूटियाँ, मोती, हीरा, नीलम, चन्दन, जानवरों की खाल, नील, सीप, सूती कपड़ा, सोना, चाँदी आदि राधामुकुद मुकर्जी के मतानुसार हैं[९]।

मुद्राएँ, तौल और पैमाने (Coins, Weights and measures)—व्यापार की इस समृद्धि से निस्सन्देह किसी सिक्के का, जिसके द्वारा क्रय-विक्रय होता था, होना स्पष्ट है। अभिज्ञानशाकुन्तल में मन्त्री का कथन कि 'धन की गणना में ही सारा दिन व्यतीत हो गया'[१०] भी प्रमाणित करता है कि सिक्के अथवा मुद्रा का प्रचार हो चुका था। कौत्स ऋषि के द्वारा गुरुदक्षिणा के लिए हठ

---

१. Age of Imperial Unity of India, Page 606.

२. संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्कांचनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवावभासे ॥ —कुमार०, ७।३

३. ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमाना सरयूं च नौभिः।
—रघु०, १४।३०

४. प्रवेशयन्मंदिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्। —कुमार०, ७।५५

५. संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ —रघु०, ४।६२

६. दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमंडपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
—रघु०, ५।७३

७. तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुंगा द्रविणराशयः।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ॥ —रघु०, ४।७०

८. India in Kalidasa, by B. S. Upadhayaya, Page 264.

९. Age of Imperial Unity of India, Page 604

१०. अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षी-करोत्विति। —अभि०, पृ० १२०

करने पर; गुरु ने क्रोधित होकर १४ विद्याओं के लिए १४ करोड़ माँगा था[१]। किसी मुद्रा के अभाव में १४ करोड़ माँगना कोई अर्थ नहीं रखता। अतः कोई-न-कोई सिक्का उस समय था। कालिदास ने निष्क का नाम दिया है। यह शब्द दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। प्रथम कुमारसम्भव में, जहाँ इस कथन से 'विष्णु के जिस चक्र पर हम (देवतागण) आस लगाए बैठे थे, वह तारकासुर के गले से जब टकराता है तब उसमें से निकली चिनगारियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानों उस राक्षस के गले में निष्क की माला पहना दी गई हो'[२]। अनुमान होता है कि निष्क सोने का गोल सिक्का था। मालविकाग्निमित्र में 'निष्कशत-सुवर्णपरिमाणं'[३] दान में दिया जाता था। श्री राधामुकुद मुकर्जी के कथनानुसार 'सुवर्ण' सोने का सिक्का था, जिसकी तौल ८० रत्ती थी[४]। यदि इसकी सत्यता पर विश्वास किया जाय तो १०० सुवर्ण के बराबर एक निष्क था। कवि ने तुला[५] और मानदण्ड[६] दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। अतः क्रय-विक्रय में बाट, तराजू आदि का प्रयोग होता था और लेन-देन के लिए सुवर्ण, निष्क आदि सिक्के भी थे।

---

१. निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु०, ५।२१

२. जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम्॥ —कुमार०, २।४९

३. माल०, अंक ५, पृ० ३३९

४. Age of Imperial Unity of India, Page 607

५ प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत्॥ —रघु०, ८।१५
—तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपंकजतुलाधिरोहणम्॥ —रघु०, १९।८
—तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिरायर्यौ कामयानसमवस्थया तुलाम्॥—रघु०, १९।५०
—अपि त्वदावर्जितवारिसंभृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम्।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा॥
—कुमार०, ५।३४

६. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥
—कुमार०, १।१

धन का एकत्रीकरण—धन को अनेक प्रकार से एकत्र किया जाता था। जमीन में या नदी के किनारे ताँबे के बर्त्तन में गाड़ दिया जाता था[१]। मित्र के पास न्यास रूप में भी रख दिया जाता था[२]।

सामाजिक रीति-रिवाज, आचार तथा व्यवहार

(Social customs, manners & decorum)

प्रणाम करने की विधि—गुरुजनों को प्रणाम करने का सदा से ही चलन है। स्त्री और पुरुष दोनों के प्रणाम करने का एक ही ढंग आभासित होता है। माँ, पिता, गुरु अथवा आचार्य के चरण छूकर अथवा चरणों पर सिर रख कर प्रणाम किया जाता था। राजा दिलीप और सुदक्षिणा ने गुरु वशिष्ठ को चरण छूकर प्रणाम किया था[३]। रघु के वन जाते समय अज ने उनके चरणों में अपना सिर रख दिया था[४]। राम का परशुराम को प्रणाम[५], वन से लौटकर माताओं को प्रणाम[६] करने की वही चरण छूकर ही विधि थी, अथवा सिर झुकाकर ही प्रणाम कर लिया जाता था।

पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी प्रणाम करती थीं। कभी-कभी अपना नाम लेकर भी प्रणाम किया जाता था। वन से लौटकर सीता ने 'मैं ही पति को कष्ट देने वाली कुलक्षणा सीता हूँ' कहकर सासों को प्रणाम किया था[७]। उर्वशी के पुत्र आयुस ने भी "उर्वशी का पुत्र आयुस आपको प्रणाम करता है" कह कर

---

१. Age of Imperial Unity of India, Page 600

२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥
—अभि०, ४।२२

—पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम्॥
—कुमार०, ५।१३

३. तजोर्जगृहतुः पादान्राजा राज्ञी च मागधी।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः॥ —रघु०, १।५७

४. तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः॥ —रघु०, ८।१२

५. राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत्। —रघु०, ११।८९

६. उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ। —रघु०, १४।२

७. क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे॥ —रघु०, १४।५

नारद को प्रणाम किया था[१]। स्त्रियाँ कुमारी होने पर भी चरण छूकर प्रणाम करती थीं[२]।

वन्दे,[३] प्रणाम,[४] अभिवादये[५] आदि शब्द प्रणाम करने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। तपस्वी, विद्वानों आदि को राजा दुष्यन्त[६] और अग्निमित्र[७] का प्रणाम करना उनके शिष्टाचार और नम्रता की अभिव्यंजना करता है।

कुमार आयुस का राजा के पास जाकर चरण छूकर प्रणाम करना[८] इस बात का द्योतक है कि शैशवावस्था से ही शिष्टाचार की यह सामान्य रीतियाँ सिखाई जाती थीं।

पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी तपस्विजन,[९] देवी-देवताओं[१०] और पिता[११] को प्रणाम करती थीं। कभी 'वन्दे'[१२] कह कर और कभी 'पादवन्दनं करोमि'[१३] कह कर वे अपने शील का परिचय दे दिया करती थीं।

---

१. भगवन् और्वशेय आयुः प्रणमति। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २५३

२. तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्॥ —कुमार०, ७।२७

३. इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे।
—रघु०, १३।७२
—रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमयीं भरतो ववन्दे।
—रघु०, १३।७७
देखिए, पिछले पृष्ठ पर पादटिप्पणी, नं० ७ - रघु०, १४।५

४. प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः। —रघु०, १४।१३
—उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम्।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय॥—कुमार०, ३।६२

५. भगवति अभिवादये। —माल०, अंक १, पृ० २७३
—अभिवादये भवन्तौ। —अभि०, अंक २, पृ० ३७
—सर्वानभिवादये। —अभि०, अंक ५, पृ० ८६

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५ —अभि०, अंक २, पृ० ३७, अंक ५, पृ० ८६

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५ —माल० अंक १, पृ० २७३

८. कुमारो राजानमुपगम्य ग्रहणं करोति। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २४७

९. अम्ब पादवन्दनं करोमि। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २४८-२४९

१०. गौतमी—जाते ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः।
प्रणत भगवतीः। —अभि०, अंक ४, पृ० ७०

११. तात वन्दे। —अभि०, अंक ४, पृ० ६८

१२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ११ १३. देखिए, पादटिप्पणी नं० ९

परिचारिका अपने स्वामी को 'जयतु जयतु भर्ता'[१] 'जयतु देवो भर्ता'[२] 'विजयतां विजयतां देवः'[3] कह कर प्रणाम करती थीं। स्वामिनी के लिए 'जयतु भट्टिनी'[४] 'जयतु जयतु भर्तृदारिके'[५] शब्द प्रयोग किए जाते थे।

स्त्रियाँ पति को 'जयतु जयतु आर्यपुत्रः'[६] कह कर प्रणाम करती थीं।

आशीर्वाद देने की प्रणाली--अवस्था और पद के अनुसार आशीर्वाद का ढंग भी बदल जाता था। राजा के तपस्वी को प्रणाम करने पर वे राजा को आशीर्वाद देते थे 'चक्रवर्त्तिनं पुत्रं आप्नुहि'[७]। राजा 'प्रतिगृहीतम्'[८] कह कर नम्रता सूचित करता था। स्त्रियों को 'पति के अखण्ड प्रेम को प्राप्त करो, पति की प्यारी बनो, वीर पुत्र की माता बनो' आदि आशीर्वाद दिए जाते थे।[९] बच्चों को 'जिरञ्जीवी हो'[१०] ऐसा आशीष दिया जाता था। 'तुम्हारा कल्याण हो, तुम फूलो फलो'[११] भी बच्चों के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। माँ बच्चे को आशीर्वाद देती थी कि 'पिता की सेवा करने वाले बनो।'[१२]

बिदा लेते समय 'तुम्हारा मार्ग कल्याणकारी हो'[१३] ऐसा कहा जाता था।

---

१. माल०, अंक ४, पृ० २२०, ३२५, ३२७, ३४२, ३५७ (पञ्चमोऽकः)
अभि०, अंक ६, पृ० ११९

२. माल०, अंक ४, पृ० ३२१ ३. माल०, अंक ५, पृष्ठ ३४०, ३४४, ३५२

४. माल०, अंक ५, पृ० ३५७, ३४६ ५. माल०, अंक ५, पृ० ३४६

६. माल०, अंक ५, पृ० ३४४; अंक ४ पृ० ३१८; अभि०, अंक ७, पृ० १४१

७. सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि। —अभि०, अंक १, पृ० ९
—जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्त्तिनमाप्नुहि॥ —अभि०, १।१२

८. अभि०, अंक १, पृ० ९ ९. देखिए, अध्याय 'गृहस्थ जीवन'

१०. सीता तमुत्थाय जगाद वाक्यं प्रीतास्मिते सौम्य चिराय जीव।—रघु०, १४।५९

११. स्वग्ति भवतो। वर्धतां भवान्। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २४७
—आयुष्मानेधि। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २५४
—स्वस्ति भवते। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २५५

१२. वत्स पितरमाराधयिता भव। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २४८

१३. अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परिभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्॥ —अभि०, ४।१०
—रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥
—अभि०, ४।११

बराबर वालों से और बड़ों से भी गले मिल कर विदा ली जाती थी[1]। मिलने पर प्रसन्नता से कण्ठ में लगा कर दृढ़ आलिंगन कर लिया जाता था[2]।

अतिथि-पूजा—अतिथि देवता के समान सबके लिए पूज्य होता था। उसके आराम और सुविधाओं का बहुत ध्यान रखा जाता था। रघु की कौत्स-पूजा इसका आदर्श है। अतिथि को कभी-कभी कन्या भी समर्पित कर देते थे। दुष्यन्त के आगमन पर प्रियंवदा कहती है—यदि तात आज आश्रम में होते, तो इस अतिथि को अपनी विशेष प्रिय वस्तु (शकुन्तला) दे देते[3]। पार्वती का वटुक वेश में आए शिव का सत्कार-इति सामाजिक आचार की पूर्णता है। तपस्विगण के द्वार पर पधारने पर हिमालय ने गृहस्थ-धर्म के सच्चे फल को प्राप्त किया—ऐसी उक्ति ही न कही, वरन् आतिथ्य-सत्कार के लिए अपनी कन्या और स्त्री दोनों को समर्पित किया[4]।

अतिथि के स्वागत करने की विधि—जिसके यहाँ अतिथि आता था उसे आतिथेय[5] कहते थे। कभी-कभी अतिथि द्वार पर आकर अपने आने की घोषणा 'मैं आया हूँ' कहकर करते थे[6]। अतिथि के आने का आभास पाने पर; अर्घ्य[7] आदि उसको समर्पित किया जाता था। चरण धोने के लिए जल, जो

---

१. वत्से परिष्वजस्व मां सखीजनञ्च। —अभि०, पृ० ७५

२. सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिंग।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन॥
—रघु०, १३।७३

३. सख्यौ—हला शकुन्तले! यद्यत्राद्य तातः संनिहितो भवेत्।
शकुन्तला—ततः किं भवेत्?
सख्यौ—इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।
—अभि०, अंक १, पृ० १९

४. एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥ —कुमार०, ६।६३

५. स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशः सहसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः॥ —रघु०, ५।२

६. अयमहं भो। —अभि०, अंक ४, पृ० ५८

७. अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः॥ —रघु०, ११।६९; रघु०, १३।६६; कुमार०, ६।५०

'पदोदकम्'[१] कहलाया था, बैठने को आसन,[२] तथा फल[३] आदि भेंट किया जाता था। सम्माननीय अतिथियों को मधुपर्क भेंट किया जाता था। दामाद का सम्मान, देवता अथवा सम्माननीय अतिथि के तुल्य ही होता था[४]। मधुपर्क में शहद, दूर्वा, चावल आदि रहते था।

अतिथि का विशेष सम्मान प्रीति-वचनों से किया जाता था। उसका और उससे सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों का कुशल पूछना, उसके आने का आशय जानना तथा उसके आशय की पूर्त्ति के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न करना आतिथेय का काम था। सामाजिक आचार का सबसे बड़ा अंग सौम्य, मधुर वचनों से सत्कार करना था। राजा दुष्यन्त का परिचय और आने का उद्देश्य अनसूया बड़ी चतुराई और सभ्यता, शिष्टता और उच्च संस्कृतिपूर्ण सुष्ठु रीति से जानने का प्रयत्न करती हैं[५]। रघु ने कौत्स का सत्कार भी वहुत आदरपूर्ण वचनों से किया तथा उनके गुरु आदि की कुशल पूछते हुए उनके आने का अभिप्राय वहुत नम्रता से पूछा। राजा हिमालय ने भी सप्तर्षियों का सत्कार करते हुए नम्रता से अपनी समस्त सेवाओं को अर्पित कर आने का अभिप्राय जानने का प्रयत्न किया[६]।

अन्य रीति-रिवाज—विवाह सम्बन्धी सभी रीति-रिवाज, बड़े भाई का पहले विवाह होना, नगर की सजावट, उत्सव, कुछ पड़ावों तक पहुँचाने जाना आदि यथास्थान वर्णन किया जा चुका है। मृत्यु के समय के भी सभी आचारों पर दृष्टि डाली जा चुकी है। राज्याभिषेक, जन्मोत्सव आदि पर वन्दियों को मुक्त करना आजकल की नई वस्तु नहीं, अपितु तव भी प्रचलित थी।

---

१. हला शकुन्तले गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति॥
—अभि०, पृ० १७

२. तत्रवेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः,
इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्रांजलिर्भूधरेश्वरः॥ —कुमार०, ६।५३

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

४. देखिए, अध्याय 'विवाह'

५. आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेवंशोऽलंक्रियते कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः।—अभि०, अंक १, पृ० १८

६. देखिए, अध्याय 'आश्रम'

किसी से भेंट खाली हाथ नहीं की जातो थी[१]। फल[२] या फूल[३] लेकर भी भेंट की जाती थी। भेंट में स्त्रियाँ भी अर्पित की जाती थीं[४]। अतः दास-प्रथा उस समय थी। पत्र के साथ भी कुछ भेंट में भेजा जाता था[५]।

युद्ध करते समय सैनिकों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी रहती थीं[६]। सैनिक युद्ध करते समय नाम लेकर युद्ध करते थे[७]। युद्ध में हाथी को मारना वर्जित था[८]।

दूषित वस्तुओं की शुद्धि अग्नि में डालकर कर ली जाती थी[९]।

नैतिकता

भारतवर्ष में नैतिकता सदा उच्च-से-उच्च और नीच-से-नीच रूप में रही है। सम्पूर्ण कालिदास की कृतियों में भी यही बात चरितार्थ है। एक ओर आदर्श प्रेम का चित्र है तो दूसरी ओर घोर विलास का नग्न स्वरूप। श्री राम

---

१. सखि भगवत्याज्ञापयति अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्र भवतो देवी द्रष्टव्या। तद्वीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति॥ —माल०, अंक ३, पृ० २९०

२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

३. विदूषक—देवीं द्रक्ष्यामीत्याचारपुष्पग्रहणकारणात्प्रमदवनं गतोऽस्मि।
—माल०, अंक ४, पृ० ३१८

४. कंचुकी—विजयतां देवः। देव आमात्यो विज्ञापयति—विदर्भविषयोपायने द्वे शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमादलघु शरीरे इति पूर्वं न प्रवेशिते। सम्प्रति देवोपस्थानयोग्ये संवृते। तदाज्ञां देवो दातुमर्हतीति।
—माल०, अंक ५, पृ० ३४५

५. अयं देवस्य सेनापतेः पुष्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयप्राभृतको लेखः प्राप्तः।
—माल०, अंक ५, पृ० ३५२

६. सच्छिन्नबंधद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार॥ —रघु०, ५।४९

७. नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः॥ —रघु०, ७।३८
—स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः। —रघु०, ७।४१

८. तमापतन्तं नृपतेरवध्या वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः। —रघु०, ५।५०

९. कंचुकी—अद्भिः प्रक्षालितोऽयं मणिः कस्मै प्रदीयताम्।
राजा—वैधक गच्छ अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटकं प्रवेशय।
—विक्रम०, अंक ५, पृ० २४२

के चरित्र के बिलकुल प्रतिकूल अग्निवर्ण हैं। एक ने एक पत्नीव्रत के आदर्श का निर्वाह किया, दूसरे ने अनेक प्रेमिकाओं, यहाँ तक कि दासियों को भी अपनी कामुकता की प्यास के कारण न छोड़ा। जीवन में पर्याप्त विच्छृङ्खलता आ चुकी थी। आदर्श सिद्धान्त में अवश्य थे परन्तु वास्तविक जगत् में इनका कोई मूल्य नहीं था।

दुष्यन्त, राम, दिलीप, रघु आदि सब आदर्श और उच्च नैतिकता के प्रतीक थे। दूसरे की स्त्री को बुरी दृष्टि से न देखना, बड़े भाई के पास गई हुई स्त्री को पूज्य समझना,[१] बड़े भाई के विवाह से पहले विवाह न करना,[२] प्रजा के लिए अपना सर्वस्व त्याग (राम का सीता-त्याग), अपराध हो जाने पर अपना अपराध स्वीकार करते हुए सत्य-सत्य वृत्तान्त सुनाना,[३] नैतिकता की उच्च सीमा थी। परिहास के व्याज से कभी-कभी सत्य छिपाया जाता था। दुष्यन्त ने विदूषक से कहा था कि उस तापस-कन्या की बात केवल परिहास है, यथार्थ नहीं,[४] परन्तु आदर्श यही था कि परिहास में भो झूठ न बोला जाय[५]।

सत्यवादिता की तरह आत्मसंयम उच्च आदर्श था। रघुवंशी राजा इस बात के साक्षी हैं जो सदा परस्त्री-विमुख रहे[६]। कुश ने अयोध्या को लक्ष्मी की ओर आँख उठाकर भी न देखा। दुष्यन्त ने भी इसी आदर्श का निर्वाह किया[७]।

---

१. ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता।
सामुद्रामाश्रयाभूयो नदीवोभयकूलभाक्॥ —रघु०, १२।३५

२. स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे,
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः। —रघु०, १२।१६

३. तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस॥—रघु०, ९।७७

४. परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः। —अभि०, २।१८

५. न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता। —रघु०, ९।८

६. का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥ —रघु०, १६।८

७. अनिवर्णनीयं परकलत्रम् —अभि०, अंक ५, पृ० ८५
—कुमुदान्येव शशांकः सविता बोधयति पंकजान्येव,
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपरांमुखी वृत्तिः। —अभि०, ५।२९
—परस्त्रीस्पर्शपांसुलः। —अभि०, अंक ५, २९

बिना स्वामी से पूछे उसकी वस्तु का भोग करना पाप समझा जाता था। दिलीप ने वसिष्ठ से बिना पूछे उनकी गाय का दूध भी नहीं पिया[1]।

राम-सीता का प्रेम, दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम, शिव-पार्वती का प्रेम आदर्श रूप में ही व्यक्त किया गया है। यह वह प्रेम था जो नित्यप्रति जीवन को ऊँचा उठाता था और उठा सकता था। कवि ने राम को समस्त आदर्शों की उच्च भूमि समझा है। सच्चा मनुष्य जीवन के कार्य को उत्साह से करता है। वह जीवन को त्यागभूमि मानता है। मानवता की परिभाषा—यौवन में उच्च संस्कृति को प्राप्त करना, युवावस्था में जीवन के सुखों के साथ उच्च आदर्श और कर्त्तव्यों की पूर्त्ति, वृद्धावस्था में त्याग और तपस्या तथा योग से शरीर त्याग करना है[2]।

व्यक्तियों का धर्माचरण करना[3], आश्रम और वर्णानुसार जीवन-यापन करना, राजा का प्रजा के वर्णाश्रम-रक्षण में सहयोग देना[4], प्रतिकूल चलने वाले को दंड देना[5] आदि नैतिकता की पराकाष्ठा व्यक्त करते हैं।

---

१. वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥ –रघु० २।६६

२. "Truest manhood is that which is consecrated to the highest culture in youth and devoted to the loftiest duties and delights of life in manhood and is full of the spirit of meditations and renunciation in old age and is capable of giving of his body by Yoga". –Kalidas, by Rama Swami Shastri, P. 212, Pt. II
––शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्........... —रघु०, १।८

३. रेखामात्रमपि क्षुण्णादात्मनोवर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियंतुर्नेमिवृत्तयः॥ —रघु०, १।१७

४. ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेश विवर्जिताय।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे॥ —रघु०, ५।१९
देखिए, विस्तृत वर्णन के लिए, अध्याय 'वर्ण-व्यवस्था' और 'आश्रम'।
—नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः....—रघु०, १४।६७
––असावत्रभवान्वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति।
—अभि०, अंक ५, पृ० ८४

५. तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम्।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे॥ —रघु०, १५।५१

शिष्टाचार और आचार-विचार में उस समय के व्यक्ति दक्ष थे। मनुष्य वही चतुर था जो अवसर पर अपने मालिक से प्रार्थना कर काम निकाल लेता था[1]। दरबारी आचार की झलक कवि के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर पाई जाती है। शिवजी के विवाह के लिए प्रस्थान करने पर झट सूर्य ने विश्वकर्मा के हाथ का बनाया हुआ नया छत्र शिव जी के सिर पर लगा दिया। ब्रह्मा और विष्णु ने आकर जय-जयकार की। इन्द्र आदि लोकपालों ने दर्शन की इच्छा से नन्दी को संकेत किया, और नन्दी के द्वारा ले जाए जाने पर उन्होंने शिवजी को प्रणाम किया। शिव ने भी ब्रह्मा की ओर सिर हिलाकर, विष्णु जी से कुशल-मंगल पूछकर, इन्द्र की ओर मुस्कराकर और अन्य देवताओं को केवल देखकर, आदर प्रदर्शित किया[2]। वाणी में भी इसी प्रकार की मधुर शिष्टता पाई जाती थी। स्वर्ग लौटने की इच्छुक उर्वशी सखी के द्वारा विनय करती है—'महाराज की आज्ञा हो तो आपकी कीर्त्ति को अपनी प्रिय सखी के समान स्वर्ग ले जाऊँ[3]।' इसी प्रकार अनसूया की दुष्यन्त के प्रति उक्ति में "महाराज के मधुर भाषण से मुझे धैर्य हुआ है, इसलिए मैं आपसे पूछने का साहस करती हूँ कि आपने किस राजर्षि का वंश अलंकृत किया है? किन देशवासियों को आपने अपनी विरहव्यथा से पीड़ित किया है तथा किसलिए आपने अपने अत्यन्त कोमल शरीर को तपोवन का क्लेश पहुँचाया है[4]।"

---

१. तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम्।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥ —कुमार०, ७।९३

२. उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् —कुमार०, ७।४१
—तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात्।
जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्तौ हविषेव वह्निम् ॥
—कुमार०, ७।४३
—तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः।
दृष्टिप्रदाने कृतनंदिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्रांजलयः प्रणेमुः ॥—कुमार०, ७।४५
—कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन।
आलोकमात्रेण सुरानशेषान्संभावयामास यथाप्रधानम् ॥—कुमार०, ७।४६

३. महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं सुरलोकं नेतुम्।
—विक्रम०, अंक १, पृ० १६४

४. आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मंत्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलंक्रियते कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतोदेशः किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मापदमुपनीतः। —अभि०, अंक १, पृ० १८

दाक्षिण्य अर्थात् एक ही समय कई स्त्रियों के साथ प्रेम निबाहना कवि के नायकों का कुलव्रत था[१]। ऐसे भी व्यक्ति थे जिनपर स्त्रियों के कपट-जाल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था[२]। परन्तु इस प्रकार के त्यागी, तपस्वी कम ही थे। राजे-महाराजे प्रायः अपनी रानियों से सन्तोष करते थे; परन्तु कुछ ऐसे भी थे जो अवसर पड़ने पर दूती, नौकरानी किसी को भी न छोड़ते थे[३]। अग्निवर्ण और अग्निमित्र दोनों ही ऐसे रसिक थे। नौकरानियाँ रानियों के डर से मिलन के अवसर पर भी काँपती रहती थीं[४]। एक के पश्चात् दूसरी, दूसरी के पश्चात् तीसरी शादी करते जाना कामुकता का ही लक्षण था। अग्निमित्र का बेटा युद्ध में विजयी हुआ था, अतः वह अवश्य ही काफी अवस्था का होगा। मालविका उसके सम्मुख बहुत छोटी थी। दुष्यन्त और शकुन्तला में भी यही भेद था। अतः काम और विलास ही पुरुषों के गुण थे। पत्नी और प्रेमिकाओं के पैर में महावर लगाना[५], रानियों या पत्नियों को धोखा देना[६], चोरी पकड़े जाने पर तरह-तरह के बहाने बनाना[७] उनके लिए साधारण बात थी। पुत्र उत्पन्न हो जाने पर स्त्रियों को वृद्ध समझ कर पुरुष उपेक्षा करने लगते थे ('मा वृद्धा मां राजा परिहरिष्यतीति'–विक्रम०, पृ० २४४)। कालिदास ने काम-भावनाओं को अपने ग्रन्थों में खूब अच्छी तरह

---

१. दाक्षिण्यं नाम विम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबंधनाः॥ —माल०, ४।१४

२. पुरा स दर्भांकुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पंचाप्सरो यौवनकूटवन्धम्॥ —रघु०, १३।३९

३. क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः।
अन्वभूत्परिजनांगनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम्॥ —रघु०, १९।२३
—मंदा वा उपचारः यत्परिजने सक्रान्तं वल्लभत्वं न ज्ञायते।
—माल०, पृ० ३१५

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३

५. स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितंबिभिः॥ —रघु०, १९।२६

६. मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः।
विद्महे शठ पलायनच्छलान्यंजसेति रुरुधुः कुचग्रहैः॥ —रघु०, १९।३१

७. अविश्वसनीयाः पुरुषाः। सुन्दरि, न मे मालविकया कश्चिदर्थः।
मया त्वं चिरयसीति यथाकथंचिदात्मा विनोदितः।
—माल०, अंक ३, पृ० ३१०

दिखाया है[1]। यह समस्त कृतियाँ साक्षी हैं कि सचाई, ईमानदारी, त्याग आदि पहलू महान् पुरुषों में ही था। आम जनता का जीवन इन सबसे रहित था। साधारण जनता की दृष्टि में नैतिकता क्या वस्तु थी ? यह उन मुहावरों के द्वारा व्यक्त होते हैं जो कवि के ग्रन्थों में सर्वत्र बिखरे हुए हैं—'आपकी आँखों की मधु तो आ गई; पर मधुमक्खी भी पास बैठी है, इसलिए सावधानी से कार्य कीजिएगा'।[2] विदूषक की अग्निमित्र से यह उक्ति उसके (राजा) चरित्र की चंचलता व्यक्त करती है—'हाथी जब कमलिनी को देख लेता है तब उसे जल में छिपे हुए घड़ियाल नहीं सूझते हैं',[3] अग्निमित्र का इरावती के आ जाने का भय दिखाने पर भी कहना, उसकी धृष्टता का परिचायक है। इरावती की सखी का 'हम चलीं थीं आम की कोंपल ढूँढने और काट लिया चींटियों ने'[4] रानी से कहना अग्निमित्र के पकड़े जाने का साक्षी है। परन्तु पकड़े जाने पर भी विदूषक का सुझाना कि 'कुछ तो बात बनाइए, चोरी करते हुए पकड़ा जाता चोर भी यह कह देता है कि मैं चोरी करने के लिए सेंध थोड़े ही लगा रहा था, मैं देखना चाहता था कि मुझे भीत तोड़ने की विद्या भली प्रकार आई कि नहीं ?'[5] इसी प्रकार 'कहीं भला पृथ्वी पर पानी बरसाने के लिए दैव मेंढकों की टर्र-टर्र की बाट थोड़े ही जोहते हैं'[6] आदि प्रमाणित करते हैं कि आम जनता का यही हाल था। नैतिकता का स्तर बहुत गिर चुका था। व्यभिचार बुरी तरह था, इसकी अभिव्यञ्जना इससे होती है ('स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना कावेरीं सरितां पत्युः शंकनीयामिवाकरोत्' —रघु०, ४।४५)। इस प्रकार का एक उदाहरण यह भी है—जब मछली मछुए के हाथ से निकल कर पानी में भाग जाती

---

१. देखिए, अध्याय 'गृहस्थ जीवन' और 'परिशिष्ट २' कालिदास के समय में काम-भावना।

२. उपस्थितं नयनमधु सन्निहितमाक्षिकं च। तदप्रमत्तं इदानीं पश्य।
—माल०, अंक २, पृ० २८२

३. न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतंगजः।—माल०, अंक ३, पृ० २९८

४. अवलोकयतु भट्टिनी चूतांकुरं विचिन्वत्योः पिपीलिकाभिर्दष्टम्।
—माल०, अंक ३, पृ० ३०२

५. भो प्रतिपद्यस्व किमप्युत्तरम्। कर्मगृहीतेनापि कुम्भीलकेन संधिच्छेदे शिक्षिताऽस्मीति वक्तव्यं भवति। —माल०, अंक ३, पृ० ३१०

६. दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितुं विरमति।
—माल०, अंक ४, पृ० ३३४

है तब वह भी निराश होकर यही कहता है—'जा मुझे पुण्य ही होगा'।[१]

राजा के अफसर आदि एक ओर कर्तव्य-पालन का भी दृष्टान्त रखते हैं और दूसरी ओर सिपाही आदि किस प्रकार घूस लेते हैं, घूस लिए पैसों की शराब पी डालते हैं, इसका भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं[२]। उस समय लूट, मार, चोरी आदि खूब होती थी[3]। चोरी के अपराध में फाँसी की सजा भी दे दी जाती थी या गिद्धों से नुचवा दिया जाता था (अभि०, अंक ६)।

पुरुषों की तरह स्त्रियों के भी दोनों पक्ष दिखाए गए हैं। एक ओर पतिव्रता और सती नारियों के दृष्टान्त हैं, दूसरी ओर स्त्रियों की कामुकता भी चित्रित की गई है। अभिसारिका,[४]

---

१. भिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति, गच्छ धर्मो मे भविष्यतीति। --विक्रम०, अंक ३, पृ० २०६

२. भट्टारक--इताऽर्धं युष्माकं सुमनो मूल्यं भवतु।
जानुक–एतावद्युज्यते। श्यालः –धीवर, महत्तरस्त्वं प्रियवयस्कः इदानीं मे संवृत्तः। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौडिकापणमेव गच्छामः। —अभि०, अंक ६, पृ० १०१

३. अभि०, अंक ६, 'कुंभीरक' शब्द का प्रयोग पृ० ९७; माल०, अंक ३, पृ० ३१०; कुंभीलकेन सन्धिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति। —विक्रम०, पृ० १८९
—तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तरालमापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापधारि।
कोदण्डपाणिविनदत्प्रतिरोधकानामापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम्॥
—माल०, ५।१०

४. अपि रोचते तेऽयं ममाल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः।
—अभि०, अंक ३, पृ० १९८
—तडित्प्रभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिका स्त्रियः।
—ऋतु०, २।१०
—यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसञ्चराः।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः॥ --कुमार०, ६।५३
—निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
--रघु०, १६।१२
—कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनी।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी॥ --रघु०, १७।६९

वेश्या,[1] वारांगना,[2] नर्तकी[3] आदि का खुला वर्णन, स्त्रियों की वृत्तियों का परिचय देता है। राजा का झूठा आसव पीना, रात्रि में आधी रति करना कि सन्तुष्ट हो जाने पर उन्हें छोड़ न दे,[4] पति के धोखे का आभास पाकर उसे करधनी से बाँध देना,[5] पहाड़ की गुफाओं में पण्य स्त्रियों के साथ यौवन का उपभोग,[6] लुक-छिप कर घनी अँधेरी रात में प्रेमी से मिलने जाना[7] आदि स्त्रियों की विलास-प्रियता की अभिव्यक्ति हैं। परकीया का भी प्रसंग इसी अनैतिकता का द्योतक है[8]।

---

१. यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा–
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ ––पूर्वमेघ, २७
—वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्यवर्षाग्रविन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ ––पूर्वमेघ, ३९

२. प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणांकुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वरांगनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः॥ ––ऋतु०, २।५
—सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सहवारयोषिताम्।
––रघु०, ३।१९
—यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥
––रघु०, ६।७५

३. स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ ––रघु०, १९।१४
—लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः।
वर्तते स्म स कथञ्चिदालिखन्नंगुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥––रघु०, १९।१९

४. तस्य सावरणदृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु संगिनः।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे साभिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ ––रघु०, १९।१६

५. अंगुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभंगकुटिलं च वीक्षितम्।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वंचयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ ––रघु० १९।१७

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ ––पूर्वमेघ, २७

७. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४ ––ऋतु०, २।१०

८. निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥
—रघु०, ५।६७

प्रेमी प्रेमिकाओं के मिलन के संकेत-गृह[1] होते थे। दूतियाँ दोनों का मिलन करवाने में सहायक होती थीं[2]। मालविका और अग्निमित्र का मिलन वकुलावलिका ने कराया था। रानी धारिणी अशोक के फूलने के उत्सव पर स्वयं महाराज से कहती है कि लीजिए, आर्यपुत्र अशोक का ऐसा संकेत-गृह आपके लिए बना दिया है जहाँ आप युवतियों से मिल सकते हैं[3]। दूतियाँ ही प्रेम का संदेश एक-दूसरे के पास ले जाती थीं[4]। वे ही चित्र ले जाकर विवाह ठीक करवाती थीं[5]। वे ही सहायिका थीं[6] और वे ही भंडा फोड़ने वाली थीं[7]।

प्रेम के सम्बन्ध में न केवल कवि ने प्रेम-पत्रों का परिचय दिया, अपितु इस व्यापार की छोटी-छोटी बात बताना भी न भूला। अभिसारिका नीलांशुक परिधान पहनती थी[8]। प्रेमी और प्रेमिका दोनों ही मिलने के लिए अधीर रहते थे। मिलने में विघ्न पड़ने पर सौगुना चाव बढ़ जाता था[9]। प्रेमिका के नूपुर की

---

१. देखिए, अध्याय 'विवाह'; परिशिष्ट २, कालिदास के समय में काम-भावना।

२. तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलंभपरिशंकिनो वचः ॥ —रघु०, १९।१८

३. आर्यपुत्र ! एष तेऽस्माभिस्तरुणोजनसहायस्याशोकः संकेतगृहं कल्पितः।
—माल०, अंक ५, पृष्ठ ३४४

४. तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां श्रृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ —रघु०, ६।१२

५. प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपा शुद्धसंतानकामैः।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवो राजकन्याः ॥
—रघु०, १८।५३

६. भावज्ञानान्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याख्याने दत्तयुक्तोरेण।
वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ॥
—माल०, ३।१४

७. संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः।
वंचयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमंगनाः ॥ —रघु०, १९।३३

८. हला चित्रलेखे अपि रोचते तेऽयं ममाल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः। —विक्रम०, अंक ३, पृष्ठ १९८

९. नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ॥ —विक्रम०, ३।८

आवाज भी प्रेमी को सुखद लगती थी[1]। यदि प्रेमी दुबला होता जाय फिर भी सुन्दर लगे तो प्रेयसी से समागम शीघ्र ही होगा,[2] ऐसी उन दिनों की मान्यता थी। बाहु का फड़कना भी प्रेयसी के समागम का लक्षण था[3]। हृदय-चोर[4] शब्द विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाने लगा था। अन्य संसर्ग करने वाली स्त्री पुरोभागिनी कहलाती थी[5]। अतः पुरुषों के व्यभिचार में अवश्य स्त्रियों का भी गहरा हाथ था।

यह सब होते हुए भी जो कन्या को दूषित करता था, उसके साथ प्रायः उसकी शादी कर दी जाती थी[6]। इस प्रकार स्त्रियों की कुलटा वृत्ति की निन्दा की जाती थी। कुलटा स्त्री की उपमा वर्षाकालीन नदी से देकर[7] कवि ने अपनी सम्मति की ही अभिव्यंजना नहीं की, अपितु तत्कालीन समाज की मनोवृत्ति का भी परिचय दिया।

पति के प्रवासी होने पर समस्त शृंगार छोड़ देना, उसकी याद में ही दिन व्यतीत करना, अगले जन्म में भी उसी पति को पति रूप में प्राप्त करने की

---

१. गूढा नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत्।
पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने ॥ —विक्रम०, ३।१५

२. भोः यथा परिहीयमाणैरंगैरधिकं शोभसे तथाऽदूरे प्रियासमागमं ते प्रेक्षे।
—विक्रम०, अंक ३, पृष्ठ १९८

३. वचोभिराशाजननैर्भवानिव........गुरुव्यथम्।
अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥ —विक्रम०, ३।९

—शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ —अभि०, १।१६

४. तेन हि प्रभावाज्जानीहि तावत्क्व स मम हृदयचोरः किं वानुतिष्ठतीति।
—विक्रम०, अंक ३, पृ० १९८

५. अस्य प्रणयवतीव शरीरसम्पर्कं गतास्मि। मा खलु मां पुरोभागिनीं समर्थयस्व।
—विक्रम०, अंक ३, पृ० २०८

—किं पुरो भागे ? स्वातंत्र्यमवलम्बसे। —अभि०, अंक ५, पृ० ९४

६. कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ॥ —अभि०, ५।२०

७. निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः।
स्त्रियः सुदुष्टा इव जातविभ्रमाः प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥
—ऋतु०, २।७

चाह करना, पति के सुख के लिए सर्वस्व त्याग को प्रस्तुत होना, पति की मृत्यु के बाद सती होने की आकांक्षा रखना, स्त्रियों के उज्ज्वल चरित्र के साक्षी हैं[१]। पति की सेवा कर स्त्री अपने पति को वश में कर लेती थी। स्त्रियों की सहनशीलता पृथ्वी के समान थी[२]।

---

१. देखिए, अध्याय 'गृहस्थ जीवन'। इसकी विशद विवेचना की जा चुकी है।

२. महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः ।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्त्ता शरच्छतम् ॥ —माल०, १।१५

दसवाँ अध्याय

ललितकला

भारत के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों ने अपनी सात्विक, सुकुमार और उत्प्रेरक भावनाओं को कागज, धातु, प्रस्तर आदि के माध्यम से साकार कर न केवल अपनी कला एवं प्रतिभा का हो परिचय दिया, अपितु यह भी प्रमाणित कर दिया कि अन्तर्भावनाओं के विकास एवं स्थैर्य के लिए अमुक प्रकार का ही अलंकरण उपयुक्त हो, ऐसा सर्वथा सत्य नहीं।

कला की उत्कट भावना एवं आन्तरिक उदात्त प्रेरणा किसी भी उपकरण द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है। पार्थिव द्रव्यों में कला ही सौन्दर्य एवं सजीवता की सृष्टि करती है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य-सृष्टि अथवा भावनाओं की सजीव साकार और मौलिक अभिव्यक्ति ही कला है।

अतः कला अखण्ड है। लालित्य-प्रधान होने के कारण ही ललित इसकी संज्ञा हुई। स्वयं कालिदास ने सभी प्रकार की कलाओं को ललितकला कहा है[1]। अवश्य ही कवि का आशय इस शब्द से काव्य, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि कलाओं से होगा। मालविका के नृत्य के सम्बन्ध में भी ललित शब्द का उपयोग किया गया है[2]। ललित की तरह शिल्प शब्द भी इसी आशय के लिए कवि ने प्रयोग किया है[3]।

विद्वानों की सर्वसम्मति के अनुसार काव्य, संगीत, चित्रकला, अभिनय, मूर्त्तिकला, वास्तुकला, आदि ललित कलाओं के भेद हैं। परन्तु यह सब माध्यम की विभिन्नता के कारण ही हैं। वस्तुतः कला अखण्ड तथा अभेद्य है।

---

१. गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। --रघु०, ८।६७

२. अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः॥ —माल०, २।१३

३. भो वयस्य न केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका।
—माल०, अंक २, पृ० २८८

ललित कलाएँ पाँच मानी जाती हैं—काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्त्तिकला और वास्तुकला। इनमें काव्यकला सर्वोत्तम समझी जाती है और वास्तुकला सबसे निकृष्ट। इनका इसी क्रम में आगे वर्णन किया जायगा।

काव्यकला—किसी गुण या कौशल के कारण जब किसी वस्तु में विशेष उपयोगिता और सौन्दर्य आ जाता है, तब वह वस्तु कलात्मक हो जाती है। ललितकला लालित्य के कारण ही उपयोगी कला से श्रेष्ठ मानी जाती है और ललित कलाओं में काव्यकला सर्वोच्च।

मेघदूत-सा सुन्दर काव्य, शकुन्तला-सा ललित-लावण्यपूर्ण नाटक इसका स्पष्ट प्रमाण है कि जिस समय कालिदास ने अपने काव्य एवं नाटकों की रचना की, उस समय की जनता में इनके प्रति यथेष्ट परिष्कृत रुचि होगी। रुचि को विकसित करने के लिए ही कवि ने इन शब्दों का प्रयोग किया है कि नए-पुरानेपन के भेद भाव को छोड़कर वास्तविक महत्त्व और गुण की ओर ध्यान देकर प्रत्येक के गुण को ग्रहण करना चाहिए[1]।

कवि के समस्त काव्य एवं नाटक काव्यकला के चरम आदर्श हैं। शकुन्तला का छन्द में प्रणयावस्था का संकेत देना, मालविका का एक छन्द में ही अपने प्रणय को व्यक्त करना, वैतालिकों का छन्दबद्ध राजा की स्तुति करना, इस बात के परिचायक हैं कि जनता की प्रवृत्ति काव्योन्मुख थी।

नाट्यकला—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' और 'नाटकान्तं कवित्वम्' विज्ञ जनसमुदाय से छिपा नहीं है। कवि द्वारा रचित नाटक नाट्यकला की चरम विकसित अवस्था को ही व्यक्त नहीं करते, अपितु तत्कालीन समाज नाटक देखने का कितना शौकीन था, इसकी भी अभिव्यक्ति करते हैं।

विवाह-संस्कार की समाप्ति पर आनन्द एवं उल्लास को प्रकट करने के लिए नाटक खेला जाता था। अथवा नाटक के ही सदृश हावभाव और नृत्यादि के द्वारा कुछ अभिनय किया जाता था। इसमें राग, रस, वृत्ति आदि का सुन्दर सामञ्जस्य रहता था[2]। इसी प्रकार वसन्तोत्सव पर भी नाटक

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥ —माल०, १।२

२. तौ संधिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्त्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम्॥ —कुमार०, ७।९१

खेला जाता था। मालविकाग्निमित्र वसन्तोत्सव पर ही खेला गया था[1]।

इसी प्रकार भरतमुनि-प्रणीत नाटक में उर्वशी, मेनका आदि का अभिनय करना प्रमाण है कि समय-समय पर नाटक खेले जाते थे। नाटक जनता में केवल मनोरंजन की वस्तु न था। तत्त्व और गुणों की दृष्टि से इसका उत्तम होना, विद्वानों की प्रशंसा प्राप्त करना[2] इसकी साहित्यिक उपादेयता को व्यक्त करता है।

नाट्यकला सर्वश्रेष्ठ कला मानी जाती थी। आचार्य गणदास का कथन 'यों तो सभी अपनी-अपनी विद्या पर अभिमान करते हैं; पर हमारा नाट्यकला पर अभिमान मिथ्या नहीं है', स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य पृथक्-पृथक् विद्या एवं कला में सिद्धहस्त होते थे; पर नाट्यकला का विशेष आदर था। 'नाटक मुनियों के नेत्रों को सुन्दर लगने वाला यज्ञ है। यही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सब मनुष्यों को, चाहे वे किसी भी रुचि के हों, आनन्द प्राप्त होता है'[3]। आदि वाक्यावलियाँ नाट्यकला की महत्ता को प्रकाशित करती हैं।

योग्य गुरु से विद्या सीखना, सिखाना, राजा-रानी का सम्मान प्राप्त करना नाट्यकला के प्रति विशेष आदरभाव व्यक्त करता है। आचार्य गणदास और हरदत्त दोनों का राजा को प्राश्निक बनाने को प्रस्तुत होना, राजा का इस कला में निष्णात होना बताता है। राज्य द्वारा ललितकलाओं, विशेषकर नाट्यकला, को कितना संरक्षण प्राप्त था यह गणदास के कथन 'मैंने नाट्यकला की शिक्षा बड़े योग्य गुरु से ली है, मैंने निरूपणकला के व्यावहारिक पाठ भी दिए और फलतः मैं देव और देवी का कृपापात्र भी रहा', से परिपुष्ट हो जाता है[4]।

स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से इस कला के मर्मज्ञ थे। आचार्य प्रथम राजा से ही निर्णय करने के लिए कहते हैं। फलतः अवश्य ही राजा उस

---

१. अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। —माल०, अंक १, पृ० २६१

२. आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥ —अभि०, १।२

३. देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥ —माल०, १।४

४. मया सुतीर्थादभिनयविद्या सुशिक्षिता। दत्तप्रयोगश्चास्मि। देवेन देव्या च परिगृहीतः। —माल०, अंक १, पृ० २७१

कला के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों से परिचित होगा[1]। ललित-कलाओं को सीखने में स्त्रियों का विशेष हाथ था। उर्वशी, मेनका, मालविका, कौशिकी इस कला की पूर्ण ज्ञाता थीं। आर्या कौशिकी अवश्य ही नाट्यकला के सूक्ष्म तत्त्वों से पूर्णतः परिचित प्रतिभासित होती है। उसने साफ-साफ कहा था कि नाट्यशास्त्र की जाँच तो दिखाने से होती है[2]। सच्चा गुणी और श्रेष्ठ वही है जो अपने शिष्यों को भी वैसा ही बना दे[3]। नाट्यकला की महत्ता पुस्तकीय ज्ञान नहीं, अपितु अभिव्यक्ति है[4]। अतः हाव-भाव, अंग-संचालन आदि मुख्य था। भावों की अभिव्यक्ति जितनी अच्छी तरह होती थी, उतनी ही वह कला उत्तम मानी जाती थी।

नाटक की सफलता और समाज के साथ सम्बन्ध—जनता के मनोरञ्जन के साथ जो विद्वन्मण्डली द्वारा प्रशंसा का पात्र हो, वही नाटक सफल समझा जाता था[5]। सिद्धान्त से अधिक इसका व्यावहारिक रूप प्रधान माना जाता था। कालिदास के समय में नाट्यकला का इतना विकास हो गया था कि इसके व्यावहारिक रूप को महत्ता दी जाती थी। कवि ने बार-बार 'प्रयोग'

---

१. अत्र भवतः किल मम च समुद्रपल्लवयोरिवान्तरमिति तत्रभवानिमं माम् च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु। देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः।

—माल०, अंक १, पृ० २७१

२. देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। —माल०, अंक १, पृ० २७४

३. श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

—माल०, १।१६

४. देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। किमत्र वाग्व्यवहारेण॥

—माल०, अंक १, पृ० २७४

५. आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥ —अभि०, १।२

—अद्य नर्तयितास्मि। कुतः —
उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु॥ —माल०, २।९

शब्द प्रयुक्त किया है[१] और एक स्थान पर 'प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्'[२] कहकर अपनी सम्मति पूर्णतः व्यक्त कर दी है। इससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि नाटक का स्वरूप और उसकी सफलता का आधार 'प्रयोग' ही था।

नाटक का स्वरूप में सत्व, रज, तम तीनों गुण तथा अनेक प्रकार के चरित्र होने के कारण तत्कालीन समाज के साथ इसका गाढ़ सम्बन्ध रहता था। समाज में भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति के मनुष्य रहते हैं, अतः नाटक की इसी विविधता के कारण प्रत्येक की रुचि एवं प्रवृत्ति इसमें परितोष प्राप्त करती थी[३]।

नाट्यकला का विकास—नाटक के सभी अंग तथा इसके अनेक पारिभाषिक शब्दों का कवि ने प्रयोग किया है। इस दृष्टि से नाटक में पाँचों सन्धियों; कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्ति; श्रृंगार आदि रस; ललित, वसन्तादि राग तथा मधुराग विक्षेप और संस्कृत, प्राकृत भाषाओं, सबका कितना महत्त्व था, स्वयं कालिदास इन सबको कितना श्रेय देते थे, यह कुमारसम्भव में उनके द्वारा भलीभाँति व्यक्त कर दिया गया है[४]।

भरत मुनि-प्रणीत नाटक अष्ट रसों से परिपूर्ण था। इन्द्रादि देवता-गण और लोकपाल इसके ललित अभिनय को देखने के इच्छुक थे[५]। अतः नाटक केवल

---

१. देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी, नं० ४, ५
—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः। —माल०, अंक २, पृ० २८५
—देव मदीयमिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः।
—माल०, अंक २, पृ० २८७
—तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः।—अभि०, अंक १, पृ० ५
—नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं
नामापूर्वनाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति। —अभि०, अंक १, पृ० ५

२. देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी, नं० २

३. त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्। —माल०, १।४

४. द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन॥
—तौ संधिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्त्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम्॥
—कुमार०, ७।९०, ९१

५. मुनिना यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्यभर्त्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥ —विक्रम०, २।१७

सैद्धान्तिक नहीं, अपितु व्यावहारिक भी था। कवि का यह कथन 'इस सभा ने पुराने कवियों के बहुत से नाटक देखे हैं, आज मैं इनको श्री कालिदास-रचित, विक्रमोर्वशीय नामक एक नया त्रोटक दिखलाना चाहता हूँ, अतः समस्त अभिनेताओं को जाकर समझा दो कि अपना अभिनय बड़ी सावधानी से करें',[१] भी इसी बात की पुष्टि करता है कि नाटक खेले जाते थे।

सैद्धान्तिक पक्ष में सन्धियाँ, रस, वृत्ति, राग तथा संस्कारयुक्त भाषा का विशेष स्थान है। भाषा कितनी महत्त्वशील है, यह बहुधा कवि उपमा के द्वारा ही व्यक्त करता है। शुद्ध संस्कारवती भाषा को कवि श्रेय देता है[२]।

रंग—नाटक में सम्पूर्ण नाट्यग्रह के लिए कवि ने 'रंग' शब्द का प्रयोग किया है[३]। इसमें रंगमंच, अभिनेता, दर्शकगण सभी आ जाते हैं।

प्रेक्षागृह—वह स्थान जहाँ नाटक खेला जाता था और संगीतादि का प्रदर्शन होता था, प्रेक्षागृह कहलाता था[४]।

नेपथ्य—वह स्थान जहाँ पात्रों को सजाकर अभिनय के लिए प्रस्तुत किया जाता था, नेपथ्य कहलाता था। आजकल इसके लिए 'ग्रोन रूम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में सूत्रधार का कथन—"आर्ये यदि शृंगार हो चुका हो तो यहाँ चली आओ", इसका स्पष्ट प्रमाण है[५]। इसी प्रकार जब तक नृत्य प्रारम्भ नहीं हुआ, मालविका तिरस्करिणी के पीछे नेपथ्यगता

---

१. परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन त्रोटकेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्ववहितैर्भवितव्यमिति।
—विक्रम०, अंक १, पृ० १५३

२. स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः॥ —रघु०, १५।७६
—प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥
—कुमार०, १।२८

३. अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।—अभि०, अंक १, पृ० ५

४. तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्।
—माल०, अंक १, पृ० २७८

५. सूत्रधारः (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)—आर्ये यदि नेपथ्यविधानमवसितम् इतस्तावदागम्यताम्। —अभि०, अंक १, पृ० ३

थी और राजा उसे देखने को इतना अधीर था, कि चाहता था, पर्दा हटा दूँ[१]। नेपथ्य का ग्रीन रूम में प्रयोग परिव्राजिका कथन से भी पुष्ट होता है[२]।

तिरस्करिणी--परदे के लिए कवि ने तिरस्करिणी शब्द का प्रयोग किया है,[3] अतः परदे का व्यवहार होता अवश्य था। श्री भगवतशरण उपाध्याय 'नेपथ्य परिगता' से रंगमंच संकेत मानते हैं। 'संहर्तुं' से उनका अनुमान है कि परदा लपेटा जाता था। और एक से अधिक परदों का चलन था[४]। वैसे भी कवि के ग्रन्थों के वाक्यांशों से इसकी पुष्टि होती है। 'ततः प्रविशति आसनस्थो राजा'[५] का शब्दार्थ यही हुआ कि आसन पर बैठा हुआ राजा प्रवेश करता है। इसमें विरोधाभास है। आसन पर आसीन राजा प्रवेश नहीं कर सकता। अतः सिंहासन पर राजा को बैठाकर परदा हटा दिया जाता होगा। श्री काणे का भी ऐसा ही अनुमान है,[६] अतः पर्दों का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।

एक प्रश्न और है—परदे अनेक थे, अथवा एक। इसके सम्बन्ध में श्री काणे और श्री भगवतशरण उपाध्याय का मत है कि अनेक थे[७]। परन्तु अनेक थे, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। कालिदास के कुछ नाटक इतने लम्बे हैं कि एक रात में समस्त नाटक नहीं दिखाया जा सकता। हाँ, सभी नाटक इतने लम्बे नहीं हैं कि जिनको एक रात में न दिखाया जा सके। मालविकाग्निमित्र तो बहुत ही छोटा है। गत वर्ष दिल्ली में अभिज्ञानशाकुन्तल का भी अभिनय एक बार में (एक रात से भी कम में) किया जा चुका है। फिर भी राजा के प्रत्येक कार्य करने का समय निश्चित था, ऐसा स्पष्ट किया जा चुका है। अतः सम्पूर्ण नाटक के स्थान पर एक अंक हो प्रतिदिन दिखाया जाता होगा, ऐसी ही सम्भावना है। कालिदास के सम्पूर्ण नाटकों में बीच में कहीं पटाक्षेप (ड्राप सीन) नहीं है।

---

१. नेपथ्य परिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्त्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्॥ --माल०, २।१

२ सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्योः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु।
—माल०, अंक १, पृ० २७९

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

४. देखिए, 'इण्डिया इन कालिदास' पृ० २२४

५. माल०, अंक २, पृ० २८१

६. भगवतशरण उपाध्याय : 'इण्डिया इन कालिदास', पृ० २२४

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६

इसके अतिरिक्त एक अंग में आजकल की तरह कई दृश्य भी नहीं हैं। एक अंक अखण्ड है और प्रत्येक अंक के पश्चात् 'इति निष्क्रान्ताः सर्वे' सरीखे वाक्यों का प्रयोग है। अतः एक परदे से भी काम चल सकता है।

रंगमञ्चीय परिधान (Stage Dresses)—भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए भिन्न-भिन्न परिधान थे। कौशिकी का कथन : 'मैं निर्णायक के अधिकार से कहती हूँ, कि दोनों शिष्य सूक्ष्म परिधान में प्रवेश करें, जिनसे उनका सर्वांग सौष्ठव भलीभाँति प्रकाशित हो सके',[१] प्रमाणित करता है, कि यह विशिष्ट परिधान नृत्य का प्रदर्शन करने वाले को दिया जाता होगा। इसी प्रकार कवि ने एक स्थान पर अभिसारिका-परिधान को स्पष्ट किया है कि वह नीलांशुक धारण करती है और शरीर पर एक-दो आभूषण होते हैं[२]। जिनसे किसी प्रकार का शब्द उत्पन्न हो अथवा चमक पैदा हो, वह उन आभूषणों का परित्याग कर देती है। आने-जाने वाले पहचानने न पावें, इसके लिए उसे काला वेश धारण करना होता है। इसी प्रकार आखेटक वेश[3] का संकेत भी मिलता है। यवनी, अंगरक्षक, मानिनी, विरहिणी, तपस्विनी, व्रतनिरता आदि सभी की विभिन्न वेशभूषा पर प्रकाश डाला जा चुका है[४]। कंचुकी अपने वेत्र से पहचाना जाता था और मुनि वल्कल से। इस प्रकार सबका पृथक्-पृथक् परिधान था।

रंगमंच की तैयारी (Stage Preparation)—इसमें वास्तविक रूप से वस्तुओं का आयोजन नहीं किया जाता था। केवल अभिनय ही करके मुद्राओं आदि के द्वारा भाव की प्रतीति करा दी जाती थी। पात्रों के विभिन्न प्रकार के कार्य-व्यापार आंगिक चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शित किए जाते थे। यथार्थ व्यापार के स्थान पर कवि ने रूपयति और नाटयति[५] शब्दों का प्रयोग किया है, जो इस कथन का पोषक है।

---

१. निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वांगसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु। —माल०, अंक १, पृ० २७९

२. हला चित्रलेखे अपि रोचते तेऽयं ममाल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः। —विक्रम०, अंक ३, पृ० १९८

३. अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेशम्। —अभि०, अंक २, पृ० ३२

४. देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'। सबकी वेशभूषा पर सविस्तर प्रकाश डाला जा चुका है।

५. इति शरसंधानं नाटयति। —अभि०, अंक १, पृ० ७
—इति भूयो रथवेगं निरूपयति। —अभि०, अंक १, पृ० ९

भूमिका—लक्ष्मी की भूमिका में उर्वशी का आना और वारुणी की भूमिका में मेनका का आना 'भूमिका' शब्द की अभिव्यक्ति कर देता है[१]। जो जिसका अभिनय करता था, उसके लिए वह उसकी भूमिका में आया, ऐसा कहा जाता था। अतः भूमिका पारिभाषिक शब्द है।

अभिनय—इसमें भावों को बहुत महत्ता दी जाती थी। मालविकाग्निमित्र 'भावाविव शरीरिणौ'[२] भावों की साकारता की प्रतीति करवाते हैं। मालविका की प्रशंसा करते समय परिव्राजिका भी यही कहती है—'अंगरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः'[३]।

आंगिक, सात्विक एवं वाचिक तीनों प्रकार के अभिनय थे[४], अथवा तीनों अभिनय के अंग थे। नृत्य के साथ ही कवि अभिनय को लेता है। इस पर नृत्यकला का वर्णन करते समय प्रकाश डाला जाएगा।

संगीत—नाटक में स्थान-स्थान पर संगीत का भी आयोजन किया जाता था। एक स्थान पर 'पंचांगाभिनय'[५] का कवि ने निर्देश किया है। कदाचित् इससे गीत, वाद्य, सात्विक, वाचिक, आंगिक, पाँच वस्तुओं से कवि का आशय है। मालविका का शर्मिष्ठा-कृत चतुष्पदी का छलिक इसकी पुष्टि करता है[६]। गीत से

—इति वृक्षसेचनं रूपयति। —अभि०, अंक १, पृ० १२

—सर्वाः सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति। –विक्रम०, अंक १, पृ० १६४

१. लक्ष्मीभूमिकायां वर्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्ठा।
—विक्रम०, अंक ३, पृ० १९२

२. उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ ॥ —माल०, १।१०

३. माल०, २।८

४. अंगसत्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ ॥ —रघु०, १९।३६

५. इदानीमेव पंचांगादिकमभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातसेवमाना तिष्ठति। —माल०, अंक १, पृ० २६६

६. अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबंधः स एव ॥—माल०, २।८

सारा वातावरण शान्त एवं निस्तब्ध हो जाता था और सम्पूर्ण रंग चित्रलिखित हो जाता था[1]।

हास्य—नाटक नीरस न लगे, इसलिए संगीत के साथ-साथ हास्य का भी आयोजन किया जाता था। विदूषक का यही महत्त्व था। इसके अतिरिक्त भी 'प्रमथमुखविकारैः हासयामास गूढम्'[2] पार्वती को हँसाने के लिए गणों ने तरह-तरह के मुँह बनाए थे। अतः मुखमुद्रा के द्वारा हँसाना, हास्य का संचार करना नाटक का आवश्यक अंग था।

रिहर्सल—नाटकाभिनय के पूर्व उसका अभ्यास (रिहर्सल) होता था। इस दिन मांगलिक उद्‌घाटनार्थ ब्राह्मण-भोज किया जाता था,[3] ऐसा मालविकाग्निमित्र के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

रंगशाला के प्रथम उद्‌घाटन के अवसर पर ब्राह्मण-भोज एक निश्चित सामाजिक प्रथा का संकेत करता है। विदूषक की उक्ति 'जब पहले-पहल अपनी सिखाई हुई विद्या लोगों के आगे दिखाई जाती है तो सबसे पहले ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए' और इसका दूसरा वाक्यांश 'महाब्राह्मण यह प्रथम नेपथ्य-दर्शन नहीं है अन्यथा तुम्हारे जैसे दक्षिणा पर जीने वाले ब्राह्मण की हम अच्छी तरह पूजा करते', उसमें सामाजिक प्रथा के होने का प्रतीक है[4]।

कवि के समय में अनेक प्रकार के नाटकों का चलन था। स्वयं कवि ने दो नाटक और एक त्रोटक लिखा है। इसी प्रकार कवि ने 'छलिक'[5] शब्द का प्रयोग किया है। अनुमान है कि यह कोई प्राकृत नाटक होगा। छलिक का प्रयोग कठिन माना जाता था—छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति[6]।

---

१. अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
—अभि०, अंक १, पृ० ५

२. कुमार०, ७।९५

३. प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या।
—माल०, अंक २, पृ०, २८५

४. महाब्राह्मण ! न खलु प्रथमं नेपथ्यदर्शनमिदम्। अन्यथा कथं त्वां दाक्षिणीयं नार्चयिष्यामः। —माल०, अंक २, पृ० २८६

५. देव शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदास्ति।
तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमनाः श्रोतुमर्हति देवः ।।—माल०,अंक २, पृ० २८१

६. माल०, अंक १, पृ० २७८

संगीत-कला

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों का कहना है कि भाषा एवं संगीत एक ही विद्या के दो अंग हैं। संगीत एवं व्याकरण के तत्त्वसूत्र माहेश्वर सूत्र हैं। पाँच स्थानों से उच्चरित व्याकरण के पाँच शुद्ध स्वर अ, इ, उ, ऋ, लृ हैं। इनमें दो मिश्रित रूप हैं ए और ओ। दो अमिश्रित जोड़े हुए रूप हैं ऐ और औ। प्रथम तीन स्वरों (अ, इ, उ) के दीर्घ रूप भी हैं। इस प्रकार स्वर बारह हो जाते हैं।

संगीत के सात स्वरों में भी पाँच स्वर प्रधान और दो गौण हैं। प्रधान स्वरों के नाम मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज एवं धेवत हैं। गौण स्वर पंचम एवं निषाद हैं। कोई-कोई धैवत और निषाद को गौण मानते हैं। शेष पाँच प्रधान हैं। इन सात स्वरों के अतिरिक्त दो और मिश्रित स्वर हैं, उनके नाम 'काकली' और 'अन्तरस्वर' हैं। संगीत में उन मिश्रित स्वरों का नाम साधारण अर्थात् बीच का स्वर है। तीन अन्य स्वरों के एक-एक विकृत रूप हैं। इस तरह यहाँ भी स्वरों की संख्या बारह हो जाती है।

कालिदास ने नाटचकला के समान ही संगीतकला को महत्त्व दिया है। ललितकला में जो स्थान संगीतकला को मिला, वह मूर्तिकला, वस्तुकला को नहीं। कवि ने ललित शब्द का उपयोग इस कला की अभिव्यक्ति के लिए अधिक किया है। इन्दुमती ललितकलाओं में अज की शिष्या थी[1]। अतः यहाँ संगीत और चित्रकला से ही कवि का आशय है। इसी प्रकार का संगीत के प्रति अभिव्यक्ति का एक उदाहरण मालविकाग्निमित्र में भी मिलता है[2]।

संगीतशास्त्र का नाट्यशास्त्र से कितना सम्बन्ध है, यह कभी दिखाया जा चुका है। वास्तव में नाट्य विना संगीत के अधूरा ही है। संगीत के तीन भेद हैं—गीत, वाद्य और नृत्य।

गीत—आजकल की तरह गीत के शास्त्रीय गीत और हलके-फुलके गाने, दो भेद नहीं थे। कुछ पारिभाषिक शब्द लय, ताल, स्वर, उपगान, मूर्च्छना आदि से ऐसा आभासित होता है कि रागबद्ध शास्त्रीय गीत तथा उत्सवों आदि पर गाए जाने वाले लोकगीत (जो बहुधा प्राकृत में होते थे) दो प्रकार के गीत

---

१. गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु०, ८।६७

२. अव्याजसुन्दरीं तां विधानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः॥ —माल०, २।१३

थे। कवि ने अनेक स्थानों पर 'गीत'[1] शब्द का प्रयोग किया है, जिससे ऐसा आभासित होता है कि प्रत्येक प्रकार के गीत, गीत कहलाते थे। कवि के ग्रन्थों में गीत जितने भी आए हैं, वे अधिकांश में प्राकृत गीत हैं[2]। गीत की तरह कवि ने संगीत[3] शब्द का प्रयोग किया है; परन्तु गीत और संगीत में अन्तर है।

---

१. आर्ये, किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रमाणंहेतोर्गीतात्करणीयमस्ति।
—अभि०, पृ० ४
—तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः। —अभि०, पृ० ५
—हला चिन्तितं मया गीतवस्तु। —अभि०, अंक ३, पृ० ४९
—कलविशुद्धायाः गीते स्वरसंयोगः श्रूयते।
अहो रागपरिवाहिनी गीतिः। —अभि०, अंक ५, पृ० ७९
—आकाशे सुरगणसेविते समन्तात्किं नार्यः कलमधुराक्षरं प्रणीताः।
—विक्रम०, १।३
—व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन।
—ऋतु०, १।२८
—सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम्। —रघु०, ६।४५

२. ईसीसिचुंबिआइं भमरेहिं सुउमारदरकेसरसिहाइं।
ओदंसअंति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं॥ —अभि०, १।४
—तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि।
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइं अंगाइं॥—अभि०, ३।१४
—दुल्लहो पिओ मे तस्सि भव हिअअ णिरासं
अम्हो अपंगवो मे परिप्फुरइ किं विवामओ।
ऐसो सो चिरदिट्ठो कहं उण उवणइदव्वो
णाह मं पराहीणं तुई परिगणअ सतिण्हम्॥ —माल०, २।४
—सामिअ संभाविआ जह अहं तुए अणुमिआ
तह अणुरत्तस्य जइ णाम तुह उवरि।
किं मे ललिअ पारिजाअसणिज्जयम्मि होन्ति
णंदणवणवादा वि अच्चुराहआ सरीरए॥ —विक्रम०, २।१२

३ तदारभ्यतां संगीतम्। —माल०, अंक १, पृ० २६१
—प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो
इतं प्रेषयत गर्भतः संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः। —माल०, पृ० २७८
—मालविके, इतः पश्य। कतरा ते संगीतसहकारिणी रोचते।
—माल०, अंक ५, पृ० ३४६

गीत में केवल कण्ठ-संगीत है; परन्तु संगीत में गीत के साथ वाद्यादि के रहने का अनुमान है, (पूर्वमेघ, ६०)। यह कवि के प्राकृतगीतों से स्पष्ट हो जाता है। मालविका के गीत में नृत्य का भी योग था[१]। यक्ष की पत्नी वीणा बजा-बजाकर पति के गुणों के गीत गाती थी[२]। आज भी दक्षिण-भारत में मद्रास की तरफ वीणा बजाकर गीत गाने का रिवाज है.। वैसे भी कण्ठ-संगीत में पीछे-पीछे सारंगी और तानपूरा आजकल भी बजाया जाता है। उस समय भी गीत के साथ कोई-न-कोई वाद्य बजाया जाता था। लोकगीत के वाद्यों में वंशी अपरिहार्य जान पड़ती है, क्योंकि कवि ने अरण्य प्रदेशों के गीतों के साथ वंशवाद्य का वर्णन किया है[३]। वस्तुतः वंशी आज भी पहाड़ी देशों में अधिक प्रचलित है। प्राचीन काल में उन प्रदेशों का यह मुख्य वाद्य था, यह कालिदास के उद्धरण से स्पष्ट है। दूसरी बात और भी महत्त्वपूर्ण है। वे वंशी वाद्य को 'तान' के रूप में प्रयोग करते थे और यह माना जाता था कि 'तान' का सच्चा रूप वंश वाद्य में ही साध्य है[४]। इसीलिए भरत ने तान को वंशी की ध्वनि में तानना

---

१. अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥ ——माल०, २।८

२. उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा। —उत्तरमेघ, २६

३. सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुंजेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ —रघु०, २।१२
—शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ —पूर्वमेघ, ६०
—यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥
—कुमार०, १।८

४. तानो नाम स्वरान्तरप्रवर्त्तको रागस्थितिप्रवृत्त्यादिहेतुरंशापरनामा वंशवाद्यसाध्यः प्रधानभूतः स्वरविशेषः। टीका मल्लिनाथ—रघु०, १।८

लिखा है[१]। मल्लिनाथ ने स्पष्ट रूप में तान को 'अंशापरनामा वंशवाद्यसाध्य' माना है[२]।

संगीत के पारिभाषिक शब्द

नाद[३]—संगीत की परिभाषा के अनुसार नाद का अर्थ ध्वनि है। यह दो प्रकार का होता है, कोलाहल तथा संगीतोपयोगी नाद। नाद से इसी संगीतोपयोगी नाद का आशय लिया जाता है।

स्वर[४]—इन स्वरों में उन्होंने षड्ज[५] और मध्यम[६] दोनों का नाम लिया है।

ग्राम— ग्राम तीन कहे जाते हैं। षड्ज, मध्यम और गान्धार। मध्यम स्वर का जहाँ कवि ने नाम लिया है "मध्यमस्वरोत्था मायूरीं" से आशय मध्यम ग्राम ही से है।

सात स्वरों को २२ श्रुतियों पर स्थित करने के लिए 'ग्राम' शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् श्रुतियों पर शुद्ध स्वरों की स्थापना के तीन भेद होने के कारण तीन ग्राम बने हैं, जिनके नाम षड्ज ग्राम, गान्धार ग्राम और मध्यम ग्राम हैं। ग्राम शब्द का अर्थ है, स्वर बदलकर गायन या वादन करना।

मूर्च्छना—सातों शुद्ध स्वरों के क्रमानुसार आरोहावरोह को (सा रे ग म प ध नि स) इस प्रकार कहने को मूर्च्छना कहते हैं[७]। इसी प्रकार यदि 'रे' से प्रारम्भ कर दूसरे सप्तक के 'रे' तक समाप्त किया जाय तो दूसरी मूर्च्छना हुई, इसी प्रकार 'ग' से 'ग' तक तीसरी मूर्च्छना हुई। इस प्रकार प्रत्येक सप्तक में ७ मूर्च्छनाएँ होती हैं[८] और तीनों सप्तकों में २१ मूर्च्छनाएँ होती

---

१. "गाता यं यं स्वरं गच्छेत् तं तं वंशेन तानयेत्" इति भारतः।
टीका मल्लिनाथ--रघु०, १।८

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४

३. उत्कूजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गीतनादैः।
—ऋतु०, ६।३४

४. कलविशुद्धाया गीतैः स्वरसंयोगः श्रूयते।

५. षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नः शिखंडिभिः (रघु०, १।३९)
--"निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पंचमश्चेत्यमी सप्त तंत्री कण्ठोत्थिताः स्वराः" इत्यमरः। तदुक्तं मातंगेन--'षड्जं मयूरो वदति'।
टीका मल्लिनाथ—रघु०, १।३९

६. निर्ह्रादिन्युपाहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मंनासि।
—माल०, १।२१

७.८. मूर्च्छना स्वरारोहावरोहक्रमं, "स्वराणां स्थापनाः सान्ता मूर्च्छनाः सप्तसप्तहि" इति संगीतरत्नाकरे। —टीका मल्लिनाथ–उत्तरमेघ, २६

हैं। कवि ने मूर्च्छना शब्द का प्रयोग दो स्थानों पर किया है। कुमारसम्भव[१] तथा मेघदूत[२] में।

ताल--गाने बजाने में लगते हुए स्वरों के और बोलों के समय की गिनती को ताल कहते हैं। ताल ताली बजा के बताया जाता है, इसी कारण इसको ताल की संज्ञा दी गई है। मेघदूत में यक्ष की पत्नी घुँघरूदार कड़े वाले हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर मोर को नचाया करती थी[3]। इसमें ताल शब्द का प्रयोग कवि ने किया है और मल्लिनाथ ने 'तालैः' का अर्थ 'करतलवादनैः' लिया है, जिसमें ताल के वास्तविक अर्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है।

लय--एक मात्रा से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी मात्रा तक कहने में जो बराबर-बराबर समय लगता है, उसी को लय कहते हैं। लय तीन हैं। पहली लय की गति मन्द रहती है। दूसरी लय की गति पहली से दूनी रहती है, तीसरी की दूसरी से दूनी रहती है। मालविकाग्निमित्र में मालविका के नृत्य करते समय 'लय' का उपयोग कवि ने किया है[४]।

तान[५]—तान शब्द का अर्थ तानना या विस्तार करना है। तान स्वरों के उस समूह को कहते हैं जिनसे राग का विस्तार किया जाता है। स्वयं कवि तान का यही अर्थ लेता है। प्राचीन काल में वंशी के वाद्य को तान के रूप में प्रयुक्त करते थे, यह पीछे कहा जा चुका है।

उपगान[६]--गीत गाने के पूर्व स्वरालाप द्वारा राग का आवाहन करके राग का रूप स्पष्ट करते हैं। यही उपगान कहलाता है। इसमें ताल की आवश्यकता नहीं रहती, पर स्वर ज्ञान अवश्य अच्छा होना चाहिए।

---

१. स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुंभकमलाकरैः समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमंगलः।।—कुमार०, ८।८५

२. तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः स्वयमपिकृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती।। —उत्तरमेघ, २६

३. तालैः शिंजावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकंठः सुहृद्वः। --उत्तरमेघ, १९

४. अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः।
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।। --माल०, २।८

५. यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किंनराणाम् तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्।। —कुमार०, १।८

६. मालविका उपमानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति।—माल०, अंक २, पृ० २८२

वर्णपरिचय[1]—वर्ण संगीत का पारिभाषिक शब्द है। गाने-बजाने में स्वरों की जो चाल मिलती है, उसे वर्ण कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है, स्थायी वर्ण—इसमें एक ही स्वर वार-वार गाया जाता है, जैसे स स स स, रे रे रे रे; आरोही वर्ण—इसमें स्वरों को नीचे से ऊपर ले जाया जाता है, जैसे स रे ग म, रे ग म प; अवरोही वर्ण—इसमें स्वरों को ऊपर से नीचे ले जाया जाता है, जैसे स नी ध प, नी ध प म; संचारी वर्ण—इसमें उपरोक्त तीनों प्रकारों का मिश्रण हो जाता है।

परिचय का अर्थ अभ्यास है, जिसे आजकल 'रियाज' कहते हैं। अतः वर्ण-परिचय का अर्थ स्वरों का अभ्यास है। कवि ने अभ्यास के ही अर्थ में सदा परिचय का उपयोग किया है[2]।

मायूरी और मार्जना[3]—मृदंग के विशेष-विशेष प्रकार के बजाने के लिए मायूरी और मार्जना शब्दों का प्रयोग होता है। श्री० जी० एन० मजूमदार भी इनको विशेष-विशेष प्रकार के बजाने की रीति के लिए कवि ने प्रयुक्त किया, ऐसा मानते हैं।

पादन्यास[4]—नृत्य करते समय विशेष प्रकार के पग धरने को पादन्यास कहा जाता है।

द्विपदिका[5]—एक विशेष प्रकार की मुद्रा है, ऐसा श्री मजूमदार जी का कहना है, साथ में यह एक छन्द का भी नाम है।

---

१. कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्ण-परिचयं करोतीति। –अभि०, अंक ५, पृ० ७६

२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

—अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकंपितपल्लवा।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥–रघु०, ६।३३

३. जीमूतस्तनितविशंकिभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥
—माल०, १।२१

४. अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु। —माल०, २।८

५. अनन्तरे द्विपदिकया दिशो अवलोक्य—विक्रम०, अंक ४, पृ० २२२

नोट : पादटिप्पणी २, ३, ४ के लिए देखिए लेख–Kalidas and Music, by G. N. Majumdar—Annals of Bhandarkar Research Institute Vol. VIII.

शाखा[1]—नृत्य करते समय बाहुओं की एक विशेष मुद्रा का नाम है। बाहुओं को लहराकर भावनाओं को अभिव्यक्त किया जाता है।

सत्व[2]—स्वयं मल्लीनाथ के सत्व को वीणा खूँटी कहा है। अतः पारिभाषिक रूप में ही कवि ने इसको लिया है।

राग—राग शब्द का कवि ने अनेक स्थानों में प्रयोग किया है[3]। अनुमान अवश्य किया जाता है कि चूँकि उसने अन्य पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है और उनसे उनका संगीत-सम्बन्धि-ज्ञान व्यक्त होता है, अतः अवश्य ही राग का आशय संगीत वाले राग से ही होगा।

भरत मुनि के अनुसार भैरव, कैशिक, हिंडोल, दीपक, सुराग और मेघ—६ विशेष राग हैं। कवि ने इनमें से कैशिक का विशेष रूप से निर्देश किया है[4]।

कैशिक—कैशिक राग बहुत सुन्दर राग माना जाता है। इसका उल्लेख रामायण में भी है, जहाँ 'कैशिक राग में निष्णात' के लिए कैशिकाचार्य शब्द का व्यवहार किया गया है। मंगल कैशिक सम्भवतः अत्यन्त प्राचीन कैशिक रागों में गिना जाता था; परन्तु श्री के० वी० रामचन्द्रन के अनुसार वह कैशिक राग, जिसका व्यवहार शिव को जगाने के लिए किया गया था, 'बौली' ढंग का था[5]।

सारंग—सारंग का अर्थ है हिरन और इसमें सारंग राग की भी प्रतिध्वनि होती है। अभिज्ञानशाकुन्तल के नटी के गाने के पश्चात् सूत्रधार कहता है :

---

१. शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ।
   भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥ —माल०, २।८

नोट : देखिए लेख—Kalidas and Music, by G N. Majumdar—Annals of Bhandarkar Research Institute. Vol. VIII

२. प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्वविप्लवात्।
   स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्यो चितमंकमंगनाम् ॥ —रघु०, ८।४१
   —वल्लकीपक्षे तु सत्वं तंत्रीणाभवष्टम्भकः शलाकाविशेषः ॥—टीका मल्लिनाथ

३. अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
   —अभि०, अंक १, पृ० ५
   —तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः। —अभि०, अंक १, पृ० ५
   —तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्। —कुमार०, ७।९१

४. स व्यबुधस्तवोचितः शातकुंभकमलाकरैः समम्।
   मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः क्रिन्नरैरुषसि गीतमंगलः ॥ —कुमार०, ८।८५

५. Kalidas & Music, by K V. Ram Chandran, Coimbatore Journal of the U. P. Historical Society, Volume XXII, Pts. I, II 1949

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः' । (कर्णं दत्वा) 'एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरहंसा' ।। इस श्लोक में हिरन के साथ-साथ सारंग राग का नाम भी ठीक बैठ जाता है । श्री के० वी० रामचन्द्रन इस सारंग से मतलब गौड़ सारंग से ही लेते हैं[1] ।

ललित[2]—ललित श्रृंगारी राग है और शकुन्तला का गीत 'तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्मि' आर्या छन्द है, जो गाया जाता था । अतः विरह के भावों की अभिव्यक्ति, विरह के भावों की दूतिका—इस पद का उपयुक्त अर्थ है । इसकी पुष्टि कुमारसम्भव के श्लोक से भी होती है,[3] जहाँ 'प्रतिबद्धरागम्' को मल्लिनाथ ने 'प्रतिनियमेन प्रवर्तितो वसन्तललितादिरागो यस्मिंरतम्' कहकर स्पष्ट किया है । इसमें ललित के साथ वसन्त राग भी अभिव्यक्ति हो जाती है ।

विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में बहुसंख्यक प्राकृत उद्धरण प्रक्षिप्त हैं; क्योंकि श्री पण्डित द्वारा संग्रहीत आठ पाण्डुलिपियों में से ६ में वे नहीं हैं । फिर भी इनमें कई सांगीतिक रागों का निर्देश मिलता है । आक्षिप्तिका एक प्रकार का गीत है जिसको नृत्य द्वारा हाथ द्वारा तालों के साथ गाया जाता है । इसी प्रकार द्विपदी भी एक गान-प्रकार है । जन्मालिका अन्य प्रकार का गीत है । खण्डधारा संगीत का एक राग है । चर्चरी भी एक राग है जिसको प्रेम के प्रभाव में पात्र या पात्री गाती हैं । इसी प्रकार 'भिन्नक' राग-विशेष का नाम है । वलन्तिका भी एक प्रकार का राग है जो विशेष आंगिक भावव्यञ्जना के साथ गाया जाता है । ककुभ भी एक राग था ।

शास्त्रीय गीतों के अतिरिक्त लोकगीत भी थे, जो विजय, विवाहादि उत्सवों पर गाए जाते थे । खेतादि में ईख की छाया में बैठकर गाने की प्रथा भी थी[4] । इसी प्रकार जलक्रीड़ा के समय भी वे मनोरञ्जन के लिए गीत गाती थीं[5] । एक

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ५

२. तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम् ।
—अभि०, अंक ३, पृ० ४८

३. तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्त्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम् ।। —कुमार०, ७।९१

४. इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ।।—रघु०, ४।२०

५. तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्य मानम् ।
श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम् ।। —रघु०, १६।६४

बात विशेष रूप से दर्शनीय है—जहाँ कहीं भी गीत गाने का प्रसंग है वहाँ स्त्रियाँ ही गाती हुई दिखाई गई हैं यद्यपि संगीताचार्य पुरुष ही होते थे।

वाद्य-संगीत—प्राचीन वाद्यविद् लोगों ने वाद्ययन्त्रों को चार भागों में विभक्त किया है : (१) तन्त्रीगत, (२) आनद्ध तथा अवनद्ध, (३) सुषिर अर्थात् रन्ध्रयुक्त और (४) घन अर्थात् धातुनिर्मित। तन्त्रीगत में समस्त तारों के वाद्य आते हैं, उदाहरणार्थ वीणा। अवनद्ध में मुरज, पटह, पुष्कर आदि का नाम है। रन्ध्रयुक्त वाद्य वंशी आदि को सुषिर कहा जाता है। करताल आदि धातुमय वाद्यों को घनवाद्य कहते हैं।

अथवा लक्ष्य के अनुसार वाद्ययन्त्रों के चार भेद किए जा सकते हैं : शुष्क, गीतानुग, नृतानुग और द्वयानुग[1]। इनमें से कवि ने 'गीतानुग' शब्द का प्रयोग किया है और इसका इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है[2]।

तन्त्रीगत वाद्य—तन्त्रीगत वाद्ययन्त्र का साधारण नाम वीणा है। 'संगीत दामोदर' में उन्तीस प्रकार की वीणाओं का उल्लेख है। "अलावणी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, लघुकिन्नरी, विपञ्ची, वल्लको, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवती, जया, हस्तिका, कुनजिका, कूर्मी, सारंगी, परिवादिनी, त्रिशवी, शतचन्द्री, नकुलौष्ठी, ढंसवी, औदुम्बरी, पिनाकी, निःशंक, शुष्कल, गदावारणहस्त, रुद्र, मधुस्यन्दी, कलियास, स्वरमणमल और घोण।"

कवि ने साधारणतः वीणा शब्द प्रयुक्त किया है;[3] परन्तु 'संगीत दामोदर'

---

१. पुनश्चतुर्विधं वाद्यं वक्ष्ये लक्ष्यानुसारतः।
शुष्कं गीतानुगं नृत्यानुगमन्यद् द्वयानुगम्॥
चतुर्थेतिमतं वाद्यं तत्र शुष्कं यदुच्यते।
यद्विना गीतनृत्याभ्यां तद्गोष्ठीत्युच्यते जनैः॥ —संगीतरत्नाकर

२. श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्। —रघु०, १६।६४

३. अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः॥ —रघु०, ८।३३
—आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लंघिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः। —पूर्वमेघ, ४९
—उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्। —पूर्वमेघ, २६
—वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदांकितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्॥ —रघु०, १९।३५

के वीणा के प्रकारों के अनुसार उसने वल्लकी[१] और परिवादिनी[२] का भी उल्लेख किया है। एक स्थान पर 'तंत्री'[३] का भी प्रयोग मिलता है।

इनमें अवश्य ही थोड़ा-बहुत भेद रहता होगा। कवि ने जहाँ परिवादिनी और वल्लकी कहा है, वहाँ वे इसी विशेष प्रकार को वीणा का संकेत करती हैं। मल्लिनाथ परिवादिनी को वीणा ही कहते हैं। इसमें सात तार होते हैं। परिवादिनी वीणा। वीणा तु वल्लकी। विपंची सा तु तंत्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी।

एओलियन हार्प (Aeolian Harp)--श्री के० वी० रामचन्द्रन के मतानुसार प्राचीन भारत, चीन और ग्रीस में एक विशेष प्रकार की वीणा प्रयोग की जाती थी, जिसे वे 'एओलियन हार्प' कहते हैं। इस वीणा के तार पृथक्-पृथक् मोटाई के होते थे और वे जवारियों पर पृथक्-पृथक् स्वर में मिलाए जाते थे। वायु के चलने से उसके प्रवाह के अनुसार इनमें पृथक्-पृथक् स्वर उत्पन्न होते थे और इनके मिश्रण से दिव्य संगीत की उत्पत्ति होती थी। इसका उदाहरण आप माघ के निम्नलिखित श्लोक से देते हैं—

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमंडलैः स्वरैः।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणां महतीं मुहुर्मुहुः॥

कवि कालिदास ने भी इसी 'एओलियन हार्प' का रघुवंश में नारद के वर्णन में संकेत किया है। वायु के चलने से तारों के कम्पन द्वारा उत्पन्न उस दिव्य संगीत को सुनकर इन्दुमती ने सदा के लिए आँखें बन्द कर ली थीं। प्राचीन संगीत-शास्त्र के अनुसार राग तीन ग्रामों में गाए जाते थे। षड्ज, गांधार और मध्यम। गांधार ग्राम केवल देवताओं द्वारा ही प्रयुक्त होता था अथवा किन्नर गन्धर्व द्वारा। इनके मतानुसार 'एओलियन हार्प' इसी ग्राम में मिली रहती थी, जो मनुष्यों द्वारा न बजाई जाकर, वायु के चलने से आप ही बजती थी[४]।

---

१. प्रतियोजितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्वविप्लवात्।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमंकमंगनाम्॥ --रघु०, ८।४१
--सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः।-ऋतु०, १।८

२. भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती वाष्पमिवांजनाविलम्॥ --रघु०, ८।३५

३. सुतंत्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः। --ऋतु०, १।३

४. Kalidas and Music, by K. V. Ram Chandran :
Journal of U. P. Historical Society, Vol. XXII Pts. 1-2 (1949)

वीणा सदा गोद में रखकर बजाई जाती थी, ऐसा कई स्थानों पर संकेत मिलता है[1]। स्वयं कवि वीणा बजाना जानता होगा, अन्यथा 'इन्दुमती के मृत शरीर को अज ने उसी प्रकार अपनी गोद में रख लिया जैसे वीणा, मिलाने के लिए गोद में रख ली जाती हैं', यह उपमा उसे कभी न सूझती। इसी प्रकार वीणा के तारों के भींग जाने से उसकी ध्वनि में दोष उत्पन्न हो जाता है, यह वह जानता होगा, इसीलिए "यक्ष-पत्नी अपने आँसुओं से भींगे वीणा के तारों को पोंछ लेती थी" ऐसा उसने कहा है[2]।

सुषिर अर्थात् रन्ध्रयुक्त वाद्य--इन वाद्यों में शंख, शृंग तथा वंशी के समस्त प्रकार आते हैं। कवि ने सुषिरवाद्यों में वेणु[3], कीचक[4], शंख[5],

---

१. उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्। --उत्तरमेघ, २६

--वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदांकितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्॥--रघु०, १९।३५

देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी, नं० १ --रघु०, ८।४१

--अंकमंकपरिवर्त्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥--रघु०, १९।१३

२. तंत्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्-
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छना विस्मरन्ती। --उत्तरमेघ, २६

३. वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदांकितो रवः। --रघु०, १९।३५

४. सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुंजेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ --रघु०, २।१२

--यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥
--कुमार०, १।८

--शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः............--पूर्वमेघ, ६०

५. पुरोपकंठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशंखे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे॥ --रघु०, ६।९

--ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः --रघु०, ७।६३

--शंखस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।
निमीलितानामिव पंकजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशांकम्॥
--रघु०, ७।६४

--प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शंखस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि।
शरीरिणां स्थावरजंगमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव॥ --कुमार०, १।२३

तूर्य[1] को लिया है। इनका संकेत ही उसके ग्रन्थ में मिलता है। कीचक के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया जायगा।

शंख मांगलिक वाद्य है। विवाहादि मांगलिक अवसरों पर तथा रण में इसका उपयोग किया जाता था। तूर्य भी मांगलिक वाद्य है। श्री भगवद्शरण इसे युद्धवाद्यों में मानते हैं,[2] पर कवि के ग्रन्थों में इसका संकेत नहीं है कि युद्ध के समय इसका प्रयोग किया जाता था।

एओलियन फ्लूट (Aeolian Flute)--एओलियन हार्प की तरह ही श्री के० वी० रामचन्द्रन् एओलियन फ्लूट की कल्पना करते हैं। यह वंशी भी पवन के प्रवाह से आप ही बजने लगती हैं, ऐसा उनका विश्वास है।

यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छिति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥
—कुमार०, १।८

टीकाकार के मतानुसार इसके दो अर्थ हो सकते हैं, या तो कीचकों में अंशस्वर अथवा तान का गुण संचित था अथवा किन्नरों के गीत के वे अनुगामी थे। श्री रामचन्द्रन दूसरा अर्थ लेते हुए कहते हैं कि यह कीचक किन्नरों के गीत के अनुसार इधर-उधर तानादि लेते थे और यह वायु के चलने से आप ही उत्पन्न होता था। इसकी पुष्टि वे दूसरे श्लोक से करते हैं—

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
सुश्राव कुंजेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ —रघु०, २।१२

---

१ सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृंभन्त दिवौकसामपि ॥–रघु०, ३।१९
देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी, नं० ५ ––रघु०, ६।९
—यमात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥ –रघु०, ६।५६
—पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ —रघु०, १०।७६
––दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्ता-
न्गंधोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ––रघु०, १६।८७
––गन्धोन्मादितमधुकरगीतैः, वाद्यमानैः परभृततूर्यैः प्रसृतपवनोद्वेलितपल्लव-
निकरः सुललित विविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरुः ॥ ––विक्रम०, ४।१२
२. 'इण्डिया इन कालिदास', पृ० २२७

जब दिलीप वन में प्रविष्ट हुए तब उन्होंने वनदेवताओं को उच्च स्वर से अपना यश गाते हुए तथा एओलियन फ्लूट (कीचक) को उनके संगीत का अनुकरण करते हुए सुना।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उद्गीयमान या उद्गास्यमान का अर्थ वही गान्धार ग्राम में गाना है, जिसका देवतागण ही प्रयोग करते थे अथवा जिसका देवयोनि के किन्नर, गंधर्व उपयोग करते थे।

> शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः,
> संरक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
> निर्ह्रादिस्ते मुरज इव चेत्कंदरेषु ध्वनिः स्यात्,
> संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥—पूर्वमेघ, ६०

इन सभी श्लोकों में कीचक, वंशी की तरह ही, दिव्य ध्वनि करते हैं, यह कवि द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अन्तर यही है, वंशी मनुष्य द्वारा बजाई जाती है और कीचक वायु द्वारा स्वतः ध्वनि उत्पन्न करते हैं। अपेक्षा इसके कि यह कहा जाय कि वायु बाँसों में प्रविष्ट होकर सुन्दर ध्वनि उत्पन्न करती है, यह अधिक अच्छा है कि इसको एओलियन फ्लूट की संज्ञा दी जाय। डाक्टर कन्स्ट के मतानुसार यह एक विशेष प्रकार की लम्बाई का बाँस है, जिसे एक ऊँचे पेड़ पर रख दिया जाता है। इसकी गाँठों पर छेद कर दिए जाते हैं। हवा के चलने पर इनसे ऐसी सुन्दर और तेज ध्वनि उत्पन्न होती है कि वह बहुत दूर से भी सुनी जा सकती है। ग्यारहवीं शताब्दी की कविता 'अर्जुन-विवाह' में इसका प्रसंग है। जावा में आज भी यह एओलियन फ्लूट है और इसका नाम 'सुन्दरी' है।

महाराज उदयन की घोषवती जब खो जाने के पश्चात् बाँसों के झुरमुट में पड़ी थी, तब उस एओलियन हार्प और बाँसों ने मिलकर ऐसा सुन्दर संगीत उत्पन्न किया था कि उसे सुनकर तत्काल ही राजा ने उसे प्राप्त कर लिया। उनकी यह वीणा आप ही बज रही थी और बाँसों से ध्वनि आप ही निकल रही थी। कारण केवल वायु का चलना था[1]।

अवनद्ध वाद्य—इसमें चर्मबद्ध वाद्य आते हैं। कवि ने इस वर्ग के

---

१. यह सम्पूर्ण मत श्री रामचन्द्रन का है—
Kalidas and Music, by Sri K. V. Ram Chandran; Journal of U. P. Historical Society, Volume XXII. Pts. 1-2, 1949 (Pages 94 to 101)

अन्तर्गत मुरज,[१] पुष्कर,[२] मृदंग,[३] दुन्दुभि,[४] पटह,[५] मर्दल[६] वाद्यों को लिया है।

---

१. शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किंनरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कंदरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥ —पूर्वमेघ, ६०
—धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम्।
अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्वमनोरथस्येव॥ —माल०, १।२२
—शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम्।
अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः॥ —कुमार०, ६।४०
—विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध गम्भीरघोषम्। —उत्तरमेघ, १
—यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।

२. आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं।
त्वद्गंभीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु॥ —उत्तरमेघ, ५
—स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्॥ —रघु०, १९।१४
—जीमूतस्तनितविशंकिभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि॥
—माल०, १।२१

३. नेपथ्ये मृदंगध्वनिः—माल०, अंक १, पृ० २७९
—तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदंगघोषः। —रघु०, १३।४०
—आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदंगधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदंभः श्रृंगाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥
—रघु०, १६।१३
—श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्। —रघु०, १६।६४
—कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदंगनादिषु। —रघु०, १९।५

४. पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि॥ —रघु०, १०।७६

५. उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः। —रघु०, ९।७१

६. ससीकरांभोधरमत्तकुंजरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः। —ऋतु०, २।१
—बलाहकाश्चाशनि शब्दमर्दलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम्। —ऋतु०, २।४

मुरज, पुष्कर एवं मृदंग में क्या भेद है, इसका संकेत कवि के ग्रन्थों में नहीं है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में 'नेपथ्ये मृदंगध्वनिः' इसके बाद है-- "पुष्करस्य मायूरी मदयति मार्जना मनांसि" (श्लोक २१); इस पर राजा कहता है, "धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम्"। अतः स्पष्ट ही या तो कवि के समय तक आते-आते भेद लुप्त हो गया था या भेद इतना सूक्ष्म था कि कवि उससे अवगत न था।

पुष्कर का अर्थ वायु, जल, मेघ और वाद्य विशेष है। प्रारम्भिक पुष्कर सब भांड (Pot Drums) होते थे। कवि ने 'मार्जना' शब्द का प्रयोग (मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक, श्लोक २१ में) किया है, जिससे उसे पृथक्-पृथक् ग्राम में मिलाने का आशय है। एक टीकाकार के अनुसार 'मायूरी', जो मयूरों को बादल की ध्वनि के सदृश लगी थी, का दायाँ भाग 'स' से, बायाँ 'ग' से और ऊपर का 'म' से मिला था। मुख्य स्वर 'म' था, जो मालविका के प्रेम-प्रसंग के बिलकुल अनुकूल था। इसीलिए 'मध्यमस्वरोत्या मायूरी' शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है। तीन स्वरों से यह मिलाया जाता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इसके तीन मुख होते थे। इन पर वायु, जल और मेघ का प्रभाव पड़ता था। कवि को इसकी आवाज मेघ से बहुत मिलती हुई लगती थी[1]।

संगीत में 'जल' का भी विशेष महत्त्व है। जलतरंग में जल की क्या महत्ता है, यह संगीतकोविदों से छिपा नहीं है। कालिदास ने जिस प्रकार पुष्कर पर जल और मेघ का प्रभाव दिखाया है, उसी प्रकार रघुवंश के १६ वें सर्ग में प्रमदाओं का जल-क्रीड़ा करते समय हाथों के थपेड़ों से मृदंग की-सी ध्वनि करना दिखाया है।

तीरस्थलीवर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनंद्यमानम्।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्॥ —रघु०, १६।६४

इसके विषय में डाक्टर कुन्ट्स का कहना है कि जल में अथवा जल के ऊपर हाथों को खड़े अथवा पड़े ढंग से विभिन्न प्रकार द्वारा लययुक्त प्रहार करना 'चिबलन' कहलाता है। मृदंगवाद्य के बजाने का एक विशेष ढंग भी चिवलन कहलाया। इस प्रकार बाद को मृदंग का एक प्रकार ही 'चिवलन' कहलाने लगा[2]।

---

१. देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी, नं० २ —माल०, १।२१; उत्तरमेघ, ५
२. Chiblcn is the rhythmic beating with the hand in different ways either with the crooked or flat of hand on and in the water pr ducing ir this way a surprisingl/ good ensemble effect.

पुष्कर शब्द का अर्थ एक विशेष पक्षी भी है, जिसकी ध्वनि नूपुर या किंकणी के ध्वनि के सदृश होती है। किंकिणी की ध्वनि को घनवाद्य के अन्तर्गत गृहीत किया गया है। पथिक प्रायः हंसों को ध्वनि को अपनी प्रेमिका की करधनी की, किंकिणी की आवाज समझ बैठते थे। हंसों की ध्वनि से नूपुरों की ध्वनि के साम्य होने के कारण शीतकाल में हंसों की ध्वनि को स्त्रियों के नूपुरों में वास माना जाता था। शातकर्णी मुनि की दन्तकथा में भी, जिसका उल्लेख वाल्मीकि के आधार पर कालिदास ने भी किया है, कई ध्वनियों का एकत्र उल्लेख मिलता है, जिसमें एओलियन हार्प, एओलियन फ्लूट और पक्षियों की ध्वनि मुख्य हैं। कालिदास ने पंचाप्सर नामक क्रीड़ासर में इन विभिन्न वाद्यों का समावेश व्यक्त किया है, जो सदा मृदंग घोष के साथ दिशाओं को मुखरित करते थे, परन्तु जिनके उद्‌गम का प्रत्यक्षीकरण न हो पाता था। वे मानो जलान्तर्गतसौध से प्रवाहित होते थे[1]।

घनवाद्य—इसके अन्तर्गत केवल घण्टा का नाम कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है[2]।

नृत्य, संगीत अथवा नृत्यकला

नृत्यकला में नृत्य के तीन भेद कहे जाते हैं–नृत्त (ताण्डव), नृत्य (लास्य) और नाट्य। नृत्त में भाव नहीं होते, नृत्य में भाव होते हैं। नृत्त में पुरुषत्व है,

---

The chiblon has also given its name to a certain way of drum playing; thus the chiblon afterwards became the name of one of the drum form themselves.

—Kalidas & Music, by K. V. Ram Chandran, Journal of U. P. Historical Society, Vol. XXII, Pts. I, II (1949)

१. एतन्मुनेर्मानिनी शातकर्णेः पंचाप्सरो नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम्॥ —रघु०, १३।३८
—पुरा स दर्भांकुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतने किलोपनीतः पंचाप्सरो यौवनकूटबन्धम्॥ —रघु०, १३।३९
—तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदंगघोषः।
वियद्‌गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति॥
—रघु०, १३।४०

२. रथो रथांगध्वनिना विजज्ञे विलोलघंटाक्वणितेन नागः।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्‌बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः॥ —रघु०, ७।४१

ओज है, कठोरता है; नृत्य में सुकुमारता और स्त्रीत्व। नाट्य में भाव, रस और अभिनय का समन्वय है।

स्वयं कवि ने नृत्त और नृत्य दोनों का उपयोग किया है और दोनों को स्पष्ट भी किया है कि महादेव जी ने किस प्रकार उमा से विवाह कर अपने शरीर में नाट्य के ताण्डव और लास्य दो भाग कर दिए हैं[1]। अतः वे नृत्य के दो भेद ताण्डव और लास्य स्वीकार अवश्य करते हैं।

यद्यपि नृत्त और नृत्य दोनों का कवि ने उपयोग किया; परन्तु ऐसा आभासित होता है कि वस्तुतः उन्होंने नृत्त और नृत्य का भेद नहीं माना है। मयूर के नृत्य के लिए नृत्त और नृत्य दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है[2]। इसी प्रकार मालविका के नृत्य में भाव के साथ-साथ रस का भी उल्लेख है; पर आपने उसे 'नृत्त' कहा है[3]।

यदि एक ओर वे श्री महादेव जी के ताण्डव नृत्त का वर्णन करते हैं[4] तो दूसरी ओर वे वारयोषितों के नृत्य का विशद उल्लेख करते हैं[5]। यह नर्तकियाँ

---

१. देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥ —माल०, १।४

२. पुरोपकंठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशंखे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे॥ —रघु०, ६।९

—उद्गलितदर्भकवला मृगयः परित्यक्तनर्तना मयूराः। —अभि०, ४।१२

३. वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥ —माल०, २।६

४. नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या। —पूर्वमेघ, ४०

५. पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्रलीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः। —पूर्वमेघ, ३९

पुत्रजन्मोत्सव पर भी नृत्य किया करती थीं[1] और वैसे राजा के आमोद-प्रमोद के लिए भी[2]।

नृत्य के प्रकार—ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के समय में चामर-नृत्य का बड़ा चलन था। स्त्रियाँ हाथ में चामर लेकर तरह-तरह की भाव-भंगिमा द्वारा नृत्य करती थीं[3]। इसी प्रकार बाहुओं को शाखाओं की तरह हिला-हिला कर नृत्य करना भी नृत्य का विशेष प्रकार है, इसमें हाव-भाव का आधिक्य रहता था[4]। नृत्य का एक प्रकार 'छलिक' भी है, जिसे मालविका ने किया था।

नृत्य के साथ संगीत का भी आयोजन रहता था। मालविका के नृत्य में हाव-भाव, गीत, रस सब ही थे[5]। इसी प्रकार रघुवंश में उन्होंने नृत्य के साथ

---

१. सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्............

—रघु०, ३।१९

२. स स्वयं प्रहतपुष्करः कृतलोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्॥
—रघु०, १९।१४

—चारुनृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात्।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरो॥—रघु०, १९।१५

—अंगसत्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ॥—रघु०, १९।३६

३. पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्रलीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्यवर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्॥—पूर्वमेघ, ३९

४. श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥—रघु०, ९।३५

—सुललितविविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरुः।—विक्रम०, ४।१२

—पूर्वदिक्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुः मेघांगैर्नृत्यति सललितजलनिधिनाथः।
—विक्रम०, ४।५४

—अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥—माल०, २।८

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ —माल०, २।८

गीत प्रदर्शित किया है[१]। नृत्य सिखाने वाले नाटचाचार्य कहलाते थे[२]। 'लासक' शब्द का प्रयोग भी कवि ने नृत्य-शिक्षक के लिए किया है[३]।

नृत्य और अभिनय—जैसा पहले कहा जा चुका है कि नृत्य का तीसरा प्रकार नाटच है, जिसमें नृत्त और नृत्य दोनों का समन्वय है, या दूसरे शब्दों में भाव, रस और अभिनय तीनों का समन्वय नाटच था। अभिनय के द्वारा चित्त-वृत्ति का साधारणीकरण मालविका के नृत्य की विशेषता थी[४]। मालविका ने अभिनय के द्वारा अपने हृदय के अनुराग को व्यक्त किया था। अभिनय के भेदों को कवि नृत्य के साथ ही लेता है। आंगिक, वाचिक आदि अभिनय का नृत्य से क्या सम्बन्ध है, यह रघुवंश में कवि ने भली प्रकार व्यक्त किया है[५]। मालविका के—

'जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये, वचनमभिनयन्त्याः स्वांगनिर्देशपूर्वं।
प्रणयमतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः॥'

श्लोक में 'वचनमभिनयन्त्या' में वाचिक अभिनय, स्वांगनिर्देश में आंगिक तथा व्यक्त प्रेम सात्विक अभिनय में आता है। मल्लिनाथ 'सत्वं अन्तःकरणं' कहकर स्पष्ट करते हैं[६]। मालविका के पंचांगाभिनय से गीत, वाद्य और नृत्य, ये ही तीन आंगिक, सात्विक तथा वाचिक अभिनय से कवि का आशय होगा। मालविका का छलिक नृत्य भी इसी की पुष्टि करता है।

निस्सन्देह कवि संगीतज्ञ था। संगीत-सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों को प्रदर्शित करना इसकी पुष्टि करता है। बेसुरे स्वर को ताड़न समान कहना,[७] राग के पूर्व

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४ —रघु०, ६।३५
२. सम्पूर्ण मालविकाग्निमित्र में नृत्य-शिक्षक के लिए नाटचाचार्य शब्द आया है।
३. नवजलकणसंगाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम्।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्प्रोषितानां मनांसि॥
—ऋतु०, २।२७
४. जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्याः स्वांगनिर्देशपूर्वम्।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः॥
—माल०, २।५
५. अंगसत्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसन्निधौ॥—रघु०, १९।३६
६. रघु०, १९।३६
७. स्वरेण तस्याममृतस्रवेण प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितंत्रीरिव ताडचमाना॥—कुमार०, १।४५

वर्ण परिचय,[१] स्वरालाप[२] तत्पश्चात् गीत गाना[३] संगीत के क्रम को बताता है। साथ ही ताल के लिए मुरज, पुष्कर अथवा मृदंग का होना, किसी तंत्रीवाद्य पोछे-पीछे अनुकरण करना[४] उसके संगीत-सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है। आजकल भी तानपूरा या सारंगी गाने के साथ-साथ बजती रहती है तथा तबला या पखावज ताल के लिए प्रयुक्त होता है।

कवि ने सर्वत्र संगीत को कामसुख के रूप में लिया है[५]। कर्तव्यच्युत अग्निवर्ण रात-दिन संगीत में डूबा रहता था। वह कामी राजा कामिनियों के साथ उन भवनों में दिन-रात पड़ा रहता था, जिनमें बराबर मृदंग बजते रहते थे और प्रतिदिन ऐसे एक-से-एक बढ़कर उत्सव होते थे कि उनके आगे पिछले दिन का उत्सव फीका पड़ जाता था[६]। इन्दुमती ने अज से ही ललितकलाओं की शिक्षा ली थी[७]। अतः राजभवन में संगीत प्रतिदिन होता था। मालविकाग्निमित्र में राजा संगीत में इतनी रुचि रखने लगा था कि वह रानी की आलोचना का कारण हो गया था[८]। अ ग्नमित्र को निर्णायक बनाना[९] इसकी पुष्टि करता है कि वह

---

१. जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति। –अभि०, अंक ५, पृ ७९

२.३. उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति। ––माल०, अंक २, पृ० २८२

४. पोछे बताया जा चुका है। देखिए, वाद्य यंत्र—मृदंग, कोचक, वेणु।

५. सुतंत्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः। ––ऋतु०, १।३

––स वल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः।

––ऋतु०, १।८

––अंकमंकपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।

वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥ –रघु०, १९।१३

––वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदांकितोरवः।

शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्॥

—रघु०, १९।३५

६. कामीनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदंगनादिषु।

ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः॥ ––रघु०, १९।५

७. गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। –रघु०, १९।५

८. यदि राजकार्येष्वीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्।

—माल०, अंक १, पृ० २७९

९. अत्रभवतः किल मम च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरमिति अत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु। देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः॥

—माल०, अंक १, पृ० २७१

संगीतज्ञ था। अग्निवर्ण भी नृत्य का आचार्य था और वह नर्तकियों की संगीत-सम्बन्धी अशुद्धियों को ठीक कर देता था, जिनसे उनके शिक्षक लज्जित हो जाते हैं[1]।

संगीत और नृत्य का इतना अधिक प्रचार था कि संगीतध्वनि से नगर सदा प्रतिध्वनि रहते थे। अलकापुरी मृदंग के सदृश वाद्य-यंत्रों से सदा गूँजती रहती थी[2]। नृत्यकला की शिक्षा वारयोषिताओं के अतिरिक्त कुलीन कन्याएँ भी लेती थीं। मालविका और रानी इरावती दोनों नृत्यकला में दक्ष थीं। 'संगीत-शाला'[3] संगीत के प्रति लोगों की आस्था का प्रमाण है। संगीतशाला की तरह नाट्यशाला भी थी, जहाँ नृत्य आदि किया जाता था। मालविका का नृत्य ऐसी ही नाट्यशाला में हुआ था।

चित्रकला

चित्रकला का आधार कपड़ा, कागज, लकड़ी आदि कोई भी वस्तु हो सकती है, जिसपर चित्रकार तूलिका अथवा लेखनी से भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं और जीवधारियों की आकृति अंकित कर सके। अपनी तूलिका अथवा शलाका द्वारा समतल धरातल पर स्थूलता, न्यूनता, दूरी, निकटता प्रदर्शित करना ही उसकी प्रतिभा एवं कलानैपुण्य है। चित्रकार अपनी चित्रकला के द्वारा मानसिक सृष्टि का सृजन करता है। किसी घटना, दृश्य अथवा व्यक्ति को चित्रित करने के लिए उसके वाह्य अंगों के साथ सजीवता लाना भी उसके लिए वांछनीय है। अतः मानसिक भावों की सजीव सृष्टि ही उसकी सफलता का मानदण्ड है।

काव्यकला की तरह चित्रकला भी आन्तरिक अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम है। कालिदास को जितने काव्य, नाट्य, संगीत प्रिय हैं, उतनी ही चित्रकला। उस समय के समाज में भी इस कला के प्रति कितनी रुचि और सम्मान भाव

---

१. स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोल्यमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्॥ —रघु०, १९।१४

२. विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तेस्तैर्विशेषैः॥ —उत्तरमेघ, १

३. भो वयस्य संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि तत्तावत्संगीतशालां गच्छामि।
—माल०, अंक १, पृष्ठ २६२

था, यह कवि के ग्रन्थों से स्वतः सिद्ध हो जाता है। चित्रशाला[१] तथा चित्रवत्सद्म[२] दोनों शब्द जनता की अभिरुचि तथा चित्रप्रियता की ओर संकेत करते हैं। इसी चित्रशाला की तरह भवभूति ने उत्तररामचरित (अंक १) में वीथिका शब्द का प्रयोग किया है, जहाँ दीवारों पर चित्र चित्रित किए गए थे।

कवि ने चित्र[3] तथा प्रतिकृति[४] दो शब्दों का चित्रकला के लिए प्रयोग किया है। जिस पर रखकर चित्र खींचा जाता था, वह चित्रफलक[५] कहलाता था। यह एक लकड़ी का चौकोर तख्ता था।

'चित्रलेखा'[६] और 'वर्णराग'[७] शब्दों से व्यक्त होता है कि पहले साधारण रूपरेखा खींचकर रंग भरे जाते थे। रंगों के लिए गीले रंगों का प्रयोग होता था (Water Colour); क्योंकि जब राजा चित्रशाला में प्रविष्ट हुआ था तब चित्र प्रत्यग्रवर्णयुक्त गीले थे। ये चित्र सूखने के लिए लटका दिए जाते थे। अतः या तो ये वस्त्र पर बनाए जाते होंगे या कागज पर।

---

१. चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति। --माल०, पृ० २६४

२. तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु। --रघु०, १४।२५

३. साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः।
--अभि०, ६।१६

--इयं चित्रगता भट्टिनी। --अभि०, पृ० ११३

--स जनो देव्याः पार्श्वगतश्चित्रे दृष्टः। --माल०, अंक १, पृ० २६३

--नन्वेष चित्रगतो भर्त्ता। --माल०, अंक ४, पृ० ३२५

४. शंके मे प्रतिकृतिं निर्दिशति। --माल०, अंक ४, पृ० ३२४

--तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिमानयेति। --अभि०, पृ० १०८

--अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु॥
--विक्रम०, पृ० १७८

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ —अभि०, पृ० १०८

—तत्र मे चित्रफलकगतां चित्रफलकमादायोत्थाय च। —अभि०, पृ० १२०

—आर्य माढव्य, अवलम्बस्व चित्रफलकम्। —अभि०, पृ० ११५

देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ —विक्रम०, पृ० १७८ : अथवा तत्रभवत्या....

६.७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —माल०, पृ० २६४ : चित्रशालां गता.......

तिलक मंजरी (पृ० ७१, १७६) में सबसे प्रथम भित्तिचित्र शब्द आया हैं। कवि कालिदास ने भी भित्तिचित्रों का प्रसंग दिया है। घर की दीवारों को तरह-तरह के चित्रों से अंकित दिखाया है। 'सद्मसु चित्रवत्सु',[1] 'सचित्राः प्रासादाः'[2] में जहाँ सुन्दर चित्रों की पेण्टिङ्ग से युक्त सौन्दर्य के प्रतीक प्रासाद नेत्रों के सम्मुख घूम जाते हैं, वहाँ द्वार पर लिखित शंख, पद्म आदि के चित्र[3] कलाप्रियता और सौन्दर्य दोनों की अभिव्यक्ति करते हैं।

एक प्रसंग मेघदूत में भी चित्रों का आया है, कि मेघ वायु के झोंकों के साथ वहाँ के भवनों के ऊपरी खण्डों में घुसकर चित्रों को अपने जल-कणों से भिगों कर नम कर देते हैं[4]। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ये भित्तिचित्र थे या भूचित्र। व्यक्ति इतने कलाप्रिय थे कि घर के तोरण पर इन्द्रधनुष, कमल, शंख आदि के चित्र बनाते थे[5]। ऐसे भित्तिचित्र भी थे जिनमें केलितड़ागों के चित्रण थे, जिनमें हाथी कमल के ताल में उतरते दिखाए गए थे और हथिनियाँ उन्हें सूँड से कमल की डंठल तोड़कर दे रही थीं[6]। अजन्ता के चित्रों की तरह

---

१. तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि मुखान्यभूवन्॥
—रघु०, १४।२५

२. विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः। —उत्तरमेघ, १

३. एभिः सद्यो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा। —उत्तरमेघ, २०

४. नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्ग-
धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ —उत्तरमेघ, ८

५. तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
—उत्तरमेघ, १५

देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३ —उत्तरमेघ, २०

६. चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः। —रघु०, १६।१६

कालिदास ने भी शिला पर गैरिक आदि धातुओं से यक्षपत्नी का यक्ष द्वारा चित्र बनाना कहा है[1]।

चित्रकला के उपकरण—चूँकि गीले एवं सूखे दोनों प्रकार के चित्रों का वर्णन है, इसलिए तूलिका[2] तथा वर्त्तिका[3] (B·ush & Colour Pencils) दोनों शब्द कवि ने कदाचित् इसी विभिन्नता को दिखाने के लिए प्रयुक्त किए हैं। शलाका[4] भी इसी प्रकार की वर्त्तिका का कोई प्रकार प्रतीत होती है, जिससे चित्र की रूपरेखा बनाई जाती थी। कूर्च तूलिका की तरह ही ब्रश था। श्री भगवतशरण तूलिका को भोथरी नोक वाली कलम कहते हैं और कूर्च को ब्रश। लम्बकूर्च[5] से दो बातें प्रतीत होती हैं, प्रथम यह कि क्रूर्च के दो प्रकार थे, लम्बे और छोटे; दूसरे कूर्च आजकल के ब्रश की तरह बालों की कोई वस्तु थी, जिसमें रंग भरा जाता था। जिस बक्स में चित्रकला के लिए आवश्यक वस्तुएँ संगृहीत रहती थीं वह 'वर्तिकाकरण्ड'[6] कहलाता था।

चित्र की रूपरेखा बनाने के लिए काली पेन्सिल प्रयुक्त होती थी[7]। धातुराग भी चित्र की रूपरेखा के लिए प्रयुक्त किए जाते थे[8]। मल्लिनाथ के अनुसार धातुराग में गैरिक तथा अन्य धातुएँ हैं[9]। चित्रकार पहले चित्र की

---

१. त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥ —उत्तरमेघ, ४७

२. उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥—कुमार०, १।३२

३. गच्छ वर्तिकां तावदानय। —अभि०, अंक ६, पृ० ११५

४. तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव॥ —कुमार०, १।२४
—तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनंगः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच॥—कुमार०, १।४७

५. यथाऽहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः।
—अभि०, पृ० ११६

६. वर्तिकाकरण्डं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि। —अभि०, पृ० ११६

७. देखिए, पादटिप्पणी नं० ४ —तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव............

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —त्वामालिख्य प्रणयकुपितां...........

९. 'धातुर्वातादि शब्दादि गैरिकादि त्वगादिषु' इति यादवः। —उत्तरमेघ, ४२

स्थूल रेखाएँ खींचते थे, जो रेखा[१] कहलाती थी। यह रूपरेखा कवि की सम्मति में लाल चाक से, जिसे 'गैरिक' कहते थे, खींची जाती थी। काली पेन्सिल भी रेखा के लिए प्रयुक्त की जाती थी।

वर्ण—चित्र में रंग की बड़ी उपयोगिता थी। लाल, पीला, भूरा आदि रंगों का सम्मिश्रण चित्र को अनुपम सौन्दर्य प्रदान करता था[२]। रंगों का ठीक-भरा जाना ही सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक था[३]।

चित्र के प्रकार

(१) सामूहिक चित्र—मालविकाग्निमित्र प्रथम अंक में रानी के साथ दासियों में मालविका का चित्र था[४]। इसी प्रकार शकुन्तला के चित्र में उसके साथ उसकी दोनों सखियाँ भी थीं[५]।

(२) व्यक्तिगत चित्र—यक्ष का पत्नी का चित्र बनाना,[६] पत्नी का पती का चित्र बनाना,[७] पुरूरवा को उर्वशी का चित्र बनाने के लिए विदूषक का कहना,[८] पार्वतीजी का शंकरजी का चित्र बनाना,[९] पूजा-गृह में दशरथ का चित्र

---

१. दयितामुखस्य सुखयति रेखाऽपि प्रथमं दृष्टेयम्। --नागानन्द, २।८
—तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चदन्वितम्। --अभि०, ६।१४

२. रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशिमान्त्यम्।
द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिता ॥–कुमार०, ८।५४

३. उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
वभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥--कुमार०, १।३२

४. उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्याः परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्ठा। --माल०, पृ० २६४

५. भो इदानीं तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला।--अभि०, पृ० ११४

६. त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्। --उत्तरमेघ, ४७

७. मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती। --उत्तरमेघ, २५

८. अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।
--विक्रम०, पृष्ठ १७८

९. यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम्।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥
--कुमार०, ५।५८

होना प्रदर्शित करता है[1] कि अकेले व्यक्ति का चित्र भी बनाया जाता होगा।

(३) **वस्तुचित्र**—उत्तरमेघ में द्वार पर शंख, पद्म का चित्र होना, इसी प्रकार एक स्थान पर दासी का विदूषक के लिए 'आलेख्य वानर इव'[2] कह कर प्रमाणित करना कि इन सबके चित्र भी बनाए जाते होंगे, मुद्रा में नाग-चित्र का जड़ा होना,[3] आदि वस्तुचित्र के सजीव उदाहरण हैं।

चित्र की सजीवता के लिए पृष्ठभूमि को महत्ता दी जाती थी। दुष्यन्त शकुन्तला के चित्र में मालिनी नदी, हंसों के जोड़े, मयूर, हरिण आदि सभी वस्तुएँ बनाता है। यहाँ तक कि पेड़ों पर वल्कल टाँगना भी नहीं भूलता। शकुन्तला के स्तनों के बीच तन्तुमाला और कानों में सिरस के डण्ठल तक बनाता है[4]।

स्मरणशक्ति से चित्र खींचना (Memory Drawing)— किसी चित्र को देखकर चित्र बनाने को कवि ने स्थान न देकर स्मरणशक्ति से चित्र बनाने को महत्ता दी है। व्यक्ति अपनी भावनाओं के अनुसार कल्पना कर उसके चित्र में उचित परिवर्तन भो उपस्थित कर सकता था। 'विरहतनु भावगम्यं लिखन्ती'[5] इसका प्रमाण है कि विरह के कारण स्वामी इतने क्षीण हो गए होंगे, सोचकर वह (यक्षपत्नी) यक्ष का विरह से दुर्बल शरीर चित्रित करती है। दुष्यन्त भी स्मृति के द्वारा शकुन्तला का चित्र बनाता है। यक्ष का पत्नी का प्रणयकुपित

---

१. वाष्पायमाणो वलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश। —रघु०, १४।१५

२. अहो आलेख्यवानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति।
—विक्रम०, पृ० १७८.

३. सखि देव्या इदं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालंभे पतितास्मि। —माल०, अंक १, पृ० २६३

४. कार्यासैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥—अभि०, ६।१८
—कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥
—अभि०, ६।१८

५. मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती। —उत्तरमेघ, २५

चित्र बनाना, पार्वती का शंकर का चित्र बनाना, पुरूरवा का उर्वशी का चित्रांकन करना, इसके प्रमाण हैं।

सफलता—कवि ने चित्र के लिए प्रतिकृति शब्द का प्रयोग बहुत किया है। अतः चित्र वही अद्वितीय सुन्दर था जो बिलकुल ऐसा लगे कि वही व्यक्ति हो। मालविकाग्निमित्र में राजा अग्निमित्र का चित्र इतना सजीव था कि मालविका राजा को प्रेमपूर्वक इरावती की ओर देखते हुए देखकर डाह से मुँह फेर लेती है[1]। तत्पश्चात् स्वयं अपने मन की इस अवस्था पर दुःखी होती है[2]। शकुन्तला के चित्र की भी यही विशेषता थी। सानुमती का कथन 'एषा राजर्षेर्निपुणता जाने सख्यग्रगा मे वर्तत इति' विश्वास दिलाता है कि उसे अवश्य ही ऐसा लगा होगा कि शकुन्तला साक्षात् होकर सम्मुख खड़ी है[3]। भवभूति ने भी 'वीथिका' में सम्पूर्ण रामायण के चित्र इतने सुन्दर दिखाए हैं कि सीता देखते-देखते इतनी तन्मय हो गईं कि उन्हें बताना पड़ा, याद दिलाना पड़ा कि यह चित्र है, सत्य नहीं (अयि चित्रमेतत्)।

चित्र की सफलता के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—

(१) वर्ण (Colour), (२) भाव (Expression), (३) आलेखन (Drawing)। कवि ने इन तीनों की उपयुक्तता और समन्वय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। प्रत्यग्रवर्णराग मालविका के चित्र पर दृष्टि जाते ही राजा ने जिज्ञासा की कि यह कौन है। शकुन्तला के मुख का भाव इतना सजीव एवं स्वाभाविक था कि स्वयं विदूषक को बहुत आश्चर्य हुआ था कि वह कह उठा, 'इसके अंग-अंग आपने इतने सुन्दर बना दिए हैं कि इसके मन के भाव ठीक-ठीक उतर आए हैं'[4]। चित्र बन चुकने के पश्चात् आलेख्यगत अथवा चित्रार्पित[5] कहलाता था। संस्कृत-साहित्य में 'खिल' धातु का बहुस्थानों में प्रयोग किया है।

---

१. बकुला०—(आत्मगतं) चित्रगतभर्त्तारं परमार्थतः संकल्प्यासूयति।
—माल०, पृ० ३२६

२. मालविका—(आत्मगतं) कथं चित्रगतो भर्त्ता मयासूयितः।
—माल०, पृ० ३२७

३. अभि०, अंक ६, पृ० ११४

४. साधु वयस्य। मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रेशः स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु। —अभि०, अंक ६, पृ० ११४

५. साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः।
—अभि०, ६।१६

हर्ष ने भी नागानन्द में 'लिख'[1] धातु का इसी अर्थ में उपयोग किया है (एवं नाम रूपं लिख्यते)।

चित्र बनाने वाले विशेष निपुण व्यक्ति चित्राचार्य[2] कहलाते थे। परन्तु साधारणतः यह कला सामान्य रूप से सर्वत्र प्रचलित थी। पार्वती, यक्षपत्नी, यक्ष पुरूरवा, दुष्यन्त सब इस कला में सिद्धहस्त थे। अपने हाथ से बनाए चित्रों की अधिक महत्ता थी। कवि ने इसके लिए 'स्वहस्तोल्लिखितः'[3] शब्द प्रयुक्त किया है। इस कला का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि अरण्यवासिनी मुनि-कन्याएँ भी इससे पूर्ण परिचित थीं। शकुन्तला की सखियों ने शकुन्तला का आभूषणों से शृंगार चित्रकला के अनुभव पर ही किया था[4]।

चित्रांकन विनोदार्थ होता था। विरह की दीर्घ अवधि काटने के लिए अथवा मन बहलाने के लिए इस कला का अभ्यास किया जाता था; परन्तु कवि इसको योगाभ्यास की समता देता है। शुक्रनीति, अध्याय चार, खण्ड चार में शिल्पी के लिए यह आवश्यक कहा गया है कि मूर्त्ति-निर्माण के पूर्व उसे प्रतिपाद्य मूर्त्ति के ध्यान में लीन होकर बैठना चाहिए और जब वह मूर्त्ति

---

१. अपूर्वेयं दारिका देव्या आसन्ना आलिखिता किं नागधेयेति।
—माल०, अंक १, पृ० २६४

—भो अपरं किमत्र लिखितव्यम्? —अभि०, पृ० ११६

—यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालिखितुकामो भवेत्।
—अभि०, पृ० ११६

—तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रकृतिमानयेति। अभि०, पृ० १०८

—इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः।
—कुमार०, ५।५८

—मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती। —उत्तरमेघ, २५

—त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्। —उत्तरमेघ, ४७

—अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।
—विक्रम०, पृ० १७८

२. चित्रशालां गता देवी यदा प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति —माल०, पृ० २६४

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —तत्र मे चित्रफलकगतां........
—अभि०, पृ० १०८ इति स्वहस्तोल्लिखित—कुमार०, ५।५८

४. चित्रकर्मपरिचयेनांगेषु ते आभरणविनियोग कुर्वः। —अभि०, अंक ४, पृष्ठ ६७

ध्यानावस्थित हो जाय तभी उसे बनाना प्रारम्भ करना चाहिए। मूर्त्ति का कोई दोष कलाकार की शिथिल समाधिवश होता है। कवि ने भी मालविकाग्निमित्र में 'शिथिल समाधि'[१] शब्द का प्रयोग किया है। मालविका के चित्र को देखने के पश्चात् जब राजा ने वास्तविक रूप से मालविका को देखा तब चित्र उसके सम्मुख फीका लगा, तब उसे लगा कि चित्रकार की समाधि में शिथिलता थी, जिसके कारण उसके शरीर का लावण्य पूर्ण व्यक्त नहीं हो पाया।

मूर्त्तिकला

मूर्त्तिकला के साक्षात् संकेत कवि के ग्रन्थों में बहुत कम हैं; परन्तु आज के संग्रहालय में तत्कालीन मूर्त्तियों से उस समय की मूर्त्तिकला का बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है।

एक स्थान पर कवि का कथन "दोपहर की उत्कट उष्णता के कारण नींद में अलसाए मोर अपने अड्डे पर बैठे हुए पत्थर में खुदे हुए-से मालूम पड़ते हैं',[२] स्पष्ट करता है कि उस समय पत्थर पर खोद कर मूर्त्तियाँ बनाई जाती होंगी। इसी प्रकार का एक संकेत और भी प्राप्त होता है। अयोध्या में भी खम्भों पर स्त्रियों की मूर्त्तियाँ बनी हुई थीं; परन्तु जब नगरी उजाड़ हो गई तब साँप इन मूर्त्तियों को, जिनका रंग उतर गया था, चन्दन का वृक्ष समझ कर लिपटे रहते थे। उनकी छोड़ी केंचुल ही उन स्त्रियों के स्तनों का आवरण बन गई थी[३]। मथुरा म्यूजियम में इन दोनों प्रकारों के उदाहरण हैं। रेलिंग स्तम्भों पर उत्कीर्ण 'कुषाण पक्षियों' की मूर्त्तियाँ संग्रहालय के एक पूरे विभाग में भरी हुई हैं। अवश्य ही कवि ने मथुरा के रेलिंग स्तम्भों की इन पक्षियों की मूर्त्तियों को देखकर कल्पना की होगी। इसी प्रकार रघुवंश की उत्कीर्ण नारी-मूर्त्तियाँ सम्भवतः राजमहल के रेलिंग स्तम्भ थे। कवि ने गंगा तथा यमुना की चामरवाहिनी मूर्त्तियों का उल्लेख किया है[४]। देवताओं की चामरवाहिनी के रूप में

---

१. चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्। सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता। --माल०, २।२

२. उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशा निद्रालसा वर्हिणो।--विक्रम०, ३।२

३. स्तम्भेषु योषित्प्रतिमातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥
--रघु०, १६।१७

४. मूर्त्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।
समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे॥ --कुमार०, ७।४२

इन दोनों नदी-देवियों की मूर्त्तियों का आरम्भ कुषाण-काल के उत्तरार्द्ध तथा गुप्तकाल के प्रारम्भ में हुआ था। मथुरा म्यूजियम में ऐसी मूर्त्तियाँ पाई गई हैं।

कवि के ग्रन्थों में देव-प्रतिमाओं का अभाव नहीं है[1]। इन देवताओं में ब्रह्मा का उल्लेख रघुवंश और कुमारसम्भव में है[2]। विष्णु का एक स्थान पर वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे शेष-शय्या पर लेटे हैं। शेष की मणियों से उनका शरीर और चमक उठा है। उनके पास कमल पर लक्ष्मी बैठी हुई हैं, जिनकी कमर में रेशमी वस्त्र पड़ा है और जो विष्णु जी के पैरों को अपनी गोद में लेकर सहला रही हैं[3]। जब तक कवि ने इस प्रकार का कोई चित्र या मूर्त्ति न देखी हो, वह इतना सजीव वर्णन नहीं कर सकता। कवि ने वर्णन करते समय स्वयं 'विग्रह' शब्द प्रयोग किया है, जिसका अर्थ मूर्त्ति है। इसी सर्ग में उन्होंने एक स्थान पर उनका चिह्न शंख, चक्र, गदा और तलवार वर्णन किया है, पद्म नहीं[4]। गरुड़ उनका वाहन है[5]। एक और स्थान पर वे वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि धारण किए हुए हैं और लक्ष्मी जो हाथ में कमल का पंखा लिए हुए हैं, ऐसा उल्लेख करते हैं[6]। भारतीय-

---

१. ततः सपर्या सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः। —रघु०, १६।३९
—अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः।
अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यैः प्रतिमागतैः॥ —रघु०, १७।३६
—प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम्।
मूर्त्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः॥ —रघु०, १७।३१

२. तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव॥ —रघु०, १०।७३
—अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥ —कुमार०, २।३

३. भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः।
तत्फणामंडलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम्॥ —रघु०, १०।७
—श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले।
अंके निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे॥ —रघु०, १०।८

४. गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलांछितमूर्त्तिभिः॥ —रघु०, १०।६०

५. हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा॥—रघु०, १०।६१

६. बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम्।
पर्युपास्यन्तं लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया॥ —रघु०, १०।६२

संग्रहालयों में शेष-शय्या वाली तथा दूसरी खड़ी दोनों मूर्त्तियाँ मिलती हैं। 'त्रिमूर्त्ति'[१] जिसे कवि ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहता है, म्यूजियम की सामान्य वस्तु है। एक और भास्कर्य कृति का संकेत एक स्थान पर हमको प्राप्त होता है। 'सोते हुए शत्रुओं के बीच में अज ऐसे लगते थे मानो कमलों के बीच में चन्द्रमा की प्रतिमा हो'[२]।

मृण्मूर्त्तियों का संकेत भी 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में मिलता है। भरत का मिट्टी के मोर से खेलना[3] बताता है कि उस समय मिट्टी के खिलौने बनाये जाते और रँगे जाते थे। मथुरा-संग्रहालय में एक मृण्मय मयूर प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार 'जालग्रथितांगुलि'[४] जो भरत के चक्रवर्ती होने का प्रमाण है, गुप्त काल की विशेष वस्तु है। लखनऊ म्यूजियम में बुद्ध की मूर्त्ति में यही विशेषता अंकित है।

असाक्षात्संकेत—भास्कर्य कला से सम्बद्ध ऐसे अप्रत्यक्ष प्रमाण भी हैं, जिनसे तत्कालीन कलानैपुण्य का सम्यक् परिचय मिलता है। जहाँ कवि प्रत्यक्ष रूप से किसी विशेष प्रतिमा का संकेत नहीं करते, वह अप्रत्यक्ष रीति से उसका पूर्ण चित्रण कर स्पष्टतया प्रकट अवश्य कर देते हैं। ऐसे असंख्य संकेत उनके ग्रन्थों में हैं, जिनकी अनुकृति अथवा प्रतिकृति भारतीय-संग्रहालयों में देखी जा सकती है।

(१) प्रभा मण्डल—कालिदास ने प्रभा मण्डल,[५] छाया मण्डल[६] तथा

---

१. नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टे केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ —कुमार०, २।४

२. शंखस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।
निमीलितानामिव पंकजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशांकम् ॥—रघु०, ७।६४

३. (प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता) सर्वदमन। शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व।
—अभि०, पृ० १३८

४. प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथितांगुलिः करः।—अभि०, ७।१६

५. एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः।
शातहृदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ —रघु०, १५।८२
—तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः।
मुखैः प्रभामंडलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरिक्षम् ॥ —कुमार०, ७।३८

६. छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ —रघु०, ४।५

स्फुरत-प्रभामण्डल[1] का उल्लेख किया है। उत्तरी-भारत में प्रभामण्डल का वास्तविक प्रदर्शन मूर्त्तिकला में, ऐतिहासिक दृष्टिकोण के द्वारा यदि देखा जाय तो कुषाण काल से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक गुप्त काल में यह सर्वसम्मत रूप धारण कर सामान्य वस्तु हो जाता है। पहले मूर्त्तियों के पोछे छत्र दिखाया जाता था, वही गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमा का प्रभामण्डल वन गया। मथुरा और सारनाथ दोनों संग्रहालयों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

(२) मयूरासीन कार्त्तिकेय[2]—कवि के ग्रन्थों में स्पष्ट है और मथुरा के संग्रहालय में मयूरारूढ़ कार्त्तिकेय का बिलकुल ऐसा ही नमूना है। श्री भगवत्शरण जी की सम्मति अनुसार यह नमूना उस समय के कलाकारों को इतना प्रिय था कि वोधिसत्व की भुजाओं पर पहनाए गए केयूर नाचते हुए मयूर के बिलकुल अनुकरण पर बनाए गए हैं और यह कुषाण युग के मूर्त्तिघड़ पर विशेषतया पड़ते हैं[3]।

(३) केयूर आभूषण[4]—इस आभूषण का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। कवि को यह आभूषण अति प्रिय है। इसका प्रदर्शन संग्रहालयों में किया गया है।

(४ , शंख और पद्म—कालिदास ने घर के द्वार पर शंख तथा पद्म के चित्रों का प्रसंग दिया है। यक्ष मेघ को अपने घर की पहचान ही यह बतलाता है। गुप्त कला की यह विशेष वस्तु है जो देवगढ़ के मन्दिर में प्रदर्शित की गई

---

१. स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरतप्रभामंडलमस्त्रमाददे ॥–रघु०, ३।६०
—स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्त्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥–रघु०, ५।५१
—स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमंगरागम्।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥–रघु०, १४।१४

२. परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ —रघु०, ६।४

३. Inbia in Kalidas, Page 239

४. इसके असंख्य उदाहरण हैं—रघु०, ६।१४,५४,६८,७३; रघु०, ७।५०; १६।५६,६०,७३, ऋतुसंहार, विक्रम०, मेघदूत आदि सब में हैं।

हैं। बाहर की तीन दीवारों के द्वारों पर (रथिका बिम्ब) जहाँ गजेन्द्रमोक्ष, शेषशायी विष्णु और नर-नारायण दिखाए गए हैं, वहाँ शंख और पद्म का भी उत्कीर्ण रूप में सम्यक् प्रदर्शन है[१]। तत्कालीन मथुरा के अनेक स्तंभों में पत्रलता-युक्त शंख, पद्म देखने को मिलते हैं। कुषाण काल की कला में यह सामान्य रूप से प्रचारित नहीं था, यद्यपि कहीं-कहीं शंख, पद्म हैं, पर द्वारोपान्त पर नहीं हैं तथा पत्रलता का भी चिह्न कहीं प्राप्त नहीं है। अवश्य ही कवि ने तत्कालीन अति प्रचलित चित्रों को ही देखकर ही अपने काव्य में उनको स्थान दिया है।

(५) कपालाभरणा काली[२] का उल्लेख कवि के युग की सामान्य आकृति हैं। इसी प्रकार सप्तमातृका,[३] कैलास को उठाए रावण,[४] सब गुप्त कला के उदाहरण हैं। एलोरा में काली की विशेष आकर्षक आकृति देखी जा सकती है और मथुरा संग्रहालय में दूसरे दृश्य (कैलास को उठाए रावण का) सुन्दर नमूना है[५]।

(६) इसी प्रकार खिले कमल पर खड़ी[६] कमलदंड हाथ में धारण किए हुए[७]

---

१. V. S. Agarwala Gupta Art (1947) Pl. XII & XIII.

२. तासां तु पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे।
—कुमार०, ७।३९

—ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निविडा वलाकिनी।
—रघु०, ११।१५

३. तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम्।
प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥—कुमार०, ७।३०
—तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः।—कुमार०, ७।३८

४. गत्वा चौर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः,
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।—पूर्वमेघ, ६२

५. Mathura Art Musuem, No. 2577, V. S. Agarwala, Brahmanical Images in Mathura J. I. S. O. A. 1937 p. 127 pl. xv (fig.—1)

६. लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पंकजलक्षणा ॥ —रघु०, ४।१४
—श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले।
अंके निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥—रघु०, १०।८

७. मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया।
विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव ॥ —माल०, ५।६

या कमल-नाल के साथ क्रीड़ा करती[1] लक्ष्मी, जो कवि के ग्रन्थों में वर्णित हैं, मथुरा[2] और अन्य स्थानों के संग्रहालयों में देखी जा सकती हैं। लीलारविन्द[3] के अन्य संकेत भी मिलते हैं। कवि द्वारा शिव-पार्वती का वर्णन कुषाण काल की बहुत-सी मूर्त्तियों में मूर्त्त है। चोटी खोलने और गूँथने के दृश्य[4] भी मथुरा के संग्रहालय में देखे जा सकते हैं[5]। मथुरा के एक रेलिंग स्तंभ पर श्रृंगार-पेटिका[6] लिए प्रसाधिका की सुन्दर मूर्त्ति खुदी हुई है[7]। इसी प्रकार कवि के ग्रन्थों में पाए पूर्णकुंभ[8], हाथ से गेंद मारना-उछालना[9], मुरली वादक[10], हाथ में दंड लिए[11], दौवारिक[12]

---

१. सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं विम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥ —कुमार०, ३।५६
——लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती। —कुमार०, ६।८४

२. Exhibit No. 2345

३. रजोभिरन्तःपरिवेषवंधि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ —रघु०, ६।१३

४. भूयो भूयः कठिनविषमां सादयन्ती कपोला-
दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण। —उत्तरमेघ, ३०
—रुद्धापांगप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यम्
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतं भ्रूविलासम् ॥ —उत्तरमेघ, ३७
—यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि। —उत्तरमेघ, ४१

५. Exhibit No. 186

६. प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।—रघु०, ७।१७

७. Exhibit No. (J) 369. M. Museum

८. तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्।
—रघु०, ५।६३
Exhibit No. 62 M. Museum

९. कराभिघातोत्थितकंदुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन। —रघु०, १६।८३
Exhibit No. J61 M. Museum.

१०. वेणुनादशनपीडिताधरा वीणया नखपदांकितो रवः। —रघु०; १९।३५
Exhibit No. 62. M. Museum

११. लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः। —कुमार०, ३।४१
Exhibit No. G. I. Page. 14, 68 M. Museum

१२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ११

आदि की समानता मथुरा संग्रहालय की वस्तुओं में प्राप्त है। यहाँ तक कि कवि के किन्नर[1] और अश्वमुखी[2] तक के प्रतिरूप मथुरा में सुरक्षित आकृतियों में हैं[3]। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में कालिदास द्वारा वर्णित कुबेर, वरुण, इन्द्र का भी बहुत सादृश्य है। रघुवंश के तपोवन के हरिणों से भरे द्वार वाले उटज[4] भी मथुरा की एक मूर्त्तिमेखला में उत्कीर्ण हैं, जहाँ एक मुनि का उटज, हरिण, एक वेदी, एक कमण्डल और तपोवन के अन्य पदार्थों का पूर्ण चित्रण है[5]।

(७) कामदेव और यक्ष—कवि ने पुष्प, धनुष और पंच बाण लिए कामदेव का जैसा वर्णन किया है[6] बिल्कुल ऐसी ही मृण्मयी मूर्त्ति मथुरा संग्रहालय में है[7]। मौर्य, शुङ्ग, कुशाण और प्रारम्भिक गुप्त कला में यक्ष की बहुत-सी मूर्तियाँ हैं, यहाँ तक कि विशेष कला का द्योतक यक्ष-सम्प्रदाय तक चल पड़ा था। कालिदास भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके और उन्होंने प्रणय-प्रतीक यक्ष को अपने मेघदूत का नायक बनाया। यक्ष का वर्णन अन्यत्र भी उनके ग्रन्थ में उपलब्ध है[8]। मथुरा संग्रहालय में यक्ष की अनगिनत मूर्त्तियाँ हैं[9]।

(८) शिव और बुद्ध—कुमारसम्भव तीसरे सर्ग में समाधिस्थित शिव का वर्णन पढ़कर ऐसा विश्वास हो जाता है कि उन्होंने बुद्ध और बोधिसत्व की

---

१. उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्।—कुमार०, १।१८
२. न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्त्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः।—कुमार०, १।११
३. Exhibit No. F. I. M. Museum
४. वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः॥ —रघु०, १।४९
—आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः॥ —रघु०, १।५०
५. Exhibit No. 1. 4 M. Museum
६. इसके असंख्य प्रसंग हैं। देखिए, कुमार०, १।४१; २।६४; ७।९२;
—रघु०, ६।३९; ११।४५
७. Exhibit No. 1448
८. गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या। —पूर्वमेघ, ७
—यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि। —उत्तरमेघ, ५
—जितसिंहभया नागा यत्राश्वा बिलयोनयः।
यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः॥ —कुमार०, ६।३९
९ Exhibit No. 5, 10, 14 E. 8, 24, C. 18

प्रतिमाओं का सम्यक् अवलोकन किया है। इतना अधिक सादृश्य किसी और कारणवश आ ही नहीं सकता। शिव का वीरासन मुद्रा में समाधिस्थ बैठना, दोनों कन्धों का कुछ आगे को झुका रहना, दोनों हथेलियों को पूर्णविकसित कमल की तरह अपने अंक में रखना, सिर के बालों का एक गाँठ द्वारा बँधा होना, आँखों का कुछ खुला और झुका होना, नितान्त स्थिर दीपशिखा की तरह प्रतिभासित होना, सम्पूर्ण चित्र गौतम की बुद्धावस्था का चित्रण है। भारतीय संग्रहालयों में विशेषकर मथुरा में ऐसी बुद्ध और बोधिसत्व की प्रतिमाएँ हैं[१]। यह पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि कवि ने इन प्रतिमाओं के आधार पर ही शिव की समाधि का चित्र गढ़ा है।

(९) चतुस्स्तम्भ—ऐसा आभासित होता है कि चार स्तम्भों पर आश्रित छोटा-सा मण्डप जिस पर छत्र भी लगा रहे गुप्त कला की विशेष वस्तु है। कवि ने इसको 'चतुस्स्तम्भ प्रतिष्ठित वितान'[२] कहा है। इसी वस्तु को बाणभट्ट ने और स्पष्ट कहा है 'नातिमहतः' कहकर इसका परिमाण स्पष्ट कर 'मणिदन्तिका चतुष्टय' वाक्यावलि से आकार की अभिव्यक्ति कर दी। यही नहीं, 'छत पर मोतियों की लड़ियाँ लटक रही थीं' कहकर उसके सौन्दर्य का भी परिचय दे दिया[३]। अजन्ता की गुफाओं में इसकी प्रतिकृति देखी जा सकती है[४]। ऐसा वितान 'राजकीय आसन' की तरह प्रयुक्त किया जाता था।

(१०) दोहद—कवि ने जिस प्रकार का दोहद अंकित किया है वह कुषाण और गुप्तमूर्तिकला दोनों में प्राप्त होता है[५]। अशोक वृक्ष में फूल लाने के लिए उस पर पदाघात करने को तत्पर या पदाघात करती हुई यक्षी अर्द्धनग्न दिखाई गई है, उसकी आकृति की सुन्दरता, गोलाई, स्निग्धता, लचीलापन सब कवि के वर्णनों से समानता रखता है। श्री भगवत्शरण जी ने इसको विभिन्न उदाहरणों से भली-भाँति स्पष्ट किया है[६]।

---

१. M. Museum, Nos. A 27, 45, I. B. 1 (Jaina), 57 (Jaina)

२. ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तंभप्रतिष्ठितम्॥ —रघु०, १७।९

३. कादम्बरी : पी० एल० वैद्य, पृ० ९; चतुःस्तंभमंडपिका,
—कादम्बरी, पृ० १२७

४. V. S. Agarwala, Gupta Art (1947) p. 24. fig 26

५. Exhibit, Nos. J. 55 F 27. E

६. India in Kalidas, Page 240

केश-विन्यास—कवि के ग्रन्थों में न मालूम कितने केशविन्यास के ढंग अंकित हैं। अमरकोष के अनुसार 'अलक' का आशय चूर्णकुन्तल है। अर्थात् बालों को घुँघराली आकृति में करना है। कालिदास ने इन्दुमती के बालों को अलक कह स्वयं अलक की व्याख्या 'वलीभृत' शब्द के द्वारा कर दी है[१]। इसके लिए प्रसाधिकाएँ बालों में तरह-तरह के अवलेप प्रयोग किया करती थीं, जिससे छल्ले सरलता से बालों को मरोड़-मरोड़ कर बनाए जा सकें। पति के विरह में यक्षिणी के केशों के लिए कवि ने 'लम्बालक' कहा है, अर्थात् पति के विरह में शृंगारादि परित्यक्त करने से और शुद्ध स्नान करने के कारण तेलादि का प्रयोग न करने से, उसके केश लम्बे होकर बार-बार कपोलों पर आ जाते थे[२]। यह अलक विशेष प्रकार का केश-विन्यास, गुप्त काल की मृण्मयी नारी-मूर्त्तियों में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार एक और केशविन्यास-प्रणाली 'बर्हभार केश'[3] था। दंडी और कालिदास दोनों ने इसको विशेष प्रकार का केशविन्यास कहा है। बीच में माँग निकाल कर दोनों ओर इस प्रकार के फूले-फूले बाल बनाए जाते थे कि मोर के पूँछ की आकृति के हो जाते थे। यह प्रणाली भी कुछ मूर्त्तियाँ में मिलती है[४]। इसी प्रकार 'मुक्ताजालग्रथित अलकम्'[५] स्पष्ट करता है कि बालों में मोतियों की लड़ियाँ गूँथी जाती थीं। यह गुप्त काल में प्रचुरता के साथ देखने को मिलता है। अवश्य ही कवि ने इसको देखकर ही अपने काव्य में प्रयुक्त किया होगा।

---

१. कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान्।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्त्तनशंकि मे मनः॥ —रघु०, ८।५३

२. हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति। —उत्तरमेघ, २४
—निश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागंडलम्बम्। —उत्तरमेघ, ३३
M. Museum, Exhibit 10 124.

३. श्यामास्वङ्गं चकितहरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातम्
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्॥ —उत्तरमेघ, ४६

४. V. S. Agarwala, Rajghat Terracotas J. U. P. R. S. XIV, Pt. I (July 1941) Fig. 1.4

५. या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥ —पूर्वमेघ, ६७

कालिदास ने नारी-सौन्दर्य में अंग-सौष्ठव पर बहुत ध्यान दिया है। इसमें सबसे बड़ी विशेषता है पयोधरों का पीन होकर परस्पर इतना सट जाना कि उनके बीच में इतना स्थान भी न रहना कि कमलनाल का एक सूत्र भी समा सके[1]। गुप्तकला में इसका आभास देखा जाता है, कुशाणकला में इसका चिह्न भी नहीं है।

खुदाई से बहुत-सी ऐसी मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनकी लटें लटक रही हैं, स्तन पीन हैं, कटि क्षीण हैं, चौड़ी मेखला और नितम्बों की गुरुता है। आवर्त्त शोभा अर्थात् गहरी नाभि जो आवर्त्ताकार है, यह सब एक ओर कवि के वर्णनों से समानता रखती है, दूसरी ओर गुप्तकला की विशेषता है! मथुरा के रेलिंग स्तंभों पर यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ इसके उदाहरण हैं[2]।

कवि के ग्रन्थों में असंख्य स्थानों पर मेखला के उदाहरण देखे जा सकते हैं और यह कुषाण काल के उतरार्द्ध और गुप्त काल के पूर्वार्द्ध में उत्कीर्ण देवियों की मूर्त्तियों में बहुलता के साथ है[3]।

इन सब संकेतों से विश्वास करना पड़ता है कि कवि गुप्त काल के होंगे तथा उनके ग्रन्थों में तत्कालीन कला की पूर्ण छाया है। यह असाक्षात्संकेत उस काल की मूर्त्ति-कला पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं।

वास्तुकला

मूर्तिकला से अधिक वास्तुकला के संकेत कवि के ग्रन्थों प्राप्य हैं। वास्तु विद्या के निष्णात व्यक्तियों की उपस्थिति[4] तथा कुशल शिल्पी-संघ द्वारा राजधानी का कायापलट हो जाना[5] वास्तुकला के विकास का परिचायक है।

नगर—नगर का कवि ने सूक्ष्म वर्णन किया। साथ ही उसका वर्णन बहुत सुयोजित भी है। नगर की मुख्य सड़क 'राजमार्ग' या राजपथ थी[6]। नगर के

---

१. अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥—कुमार, १।४०

२. प्रदर्शन, 10. J. 7.

३. प्रदर्शन, १०. F १४, १९६२, १०, ११.

४. उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निवर्त्तयामास रघुप्रवीरः।—रघु०, १६।३९

५. तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम्॥—रघु०, १६।३८

६. नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः।—रघु०, १६।१२
—ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः।—रघु०, १४।३०
—नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।—रघु०, ६।६७

मध्य बाजार (विपणि) था, जिसमें बहुत भीड़ रहती थी। प्रत्येक प्रकार की वस्तुएँ यहाँ क्रय की जा सकती थीं[१]। बाज़ार के राजपथ दोनों ओर बड़े-बड़े मकान निर्मित थे[२]। यह मार्ग आपण मार्ग कहलाता था[३]। नगर में अट्टालिकाएँ, आकाश को छूने वाले धवल प्रासाद और उन्नत महल थे। इनके अतिरिक्त सार्वजनिक उपवन, सोपानों से युक्त स्नानागार, यज्ञस्तंभ, तोरण, क्रीड़ाशैल, प्राकार, सिंहद्वार, परिखा आदि का भी कवि ने सम्यक् एवं प्रचुर वर्णन किया है। इन सबको हम अब सविस्तर और एक-एक कर लेंगे।

राजपथ—नगर का मुख्य मार्ग राजपथ था। श्री भगवत्शरण चौड़ी सड़क, बड़ी सड़क और उच्च पथ को राजपथ[४] कहते हैं[५]। कवि ने राजपथ के लिए राजवीथी[६] शब्द भी कहा है। श्री पी० के० आचार्य ने राजपथ का पृथक् उल्लेख इस प्रकार किया है : 'सार्वजनिक सड़क, राजपथ, नगर या ग्राम के चतुर्दिक् घूमनेवाली सड़क, मंगलवीथी या रथवीथी भी कहलाने वाला'[७]। कवि ने राजपथ और राजवीथी दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। संभवतः राजपथ राजकीय राजमार्ग था, जो नगर के मध्य से जाता हुआ अन्य नगरों तक पहुँचता था और राजवीथी

---

१. सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तंभगतैश्च नागैः।
पुरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी॥ —रघु०, १६।४१
—हारांस्तारांस्तरलगुटकान्कोटिशः शंखशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥ —पूर्वमेघ, ३४

२. तस्मिन्मुहूर्त्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम्।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥—कुमार०, ७।५६
—तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृंगाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि॥—कुमार०, ७।६३

३. स प्रतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य।
प्रावेशयन्मंदिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्॥ —कुमार०, ७।५५

४. पूर्व उल्लेख : राजपथ, रघु०, १६।१२

५. India in Kalidasa, by B. S. Upadhyaya, Page 246

६. तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।—रघु०, १८।३९

७. Dictionary of Hindu Architecture, Page 245

राजपथ का एक अंश थी, अर्थात् राजपथ का जो मार्ग नगर में चलता था राजवीथी कहलाता था। पथ के दोनों किनारों पर श्वेत[1] प्रासाद थे, जहाँ देखने को वातायान और गवाक्ष बने रहते थे[2]। इसी राजपथ के पार्श्व पर बाजार लगता था, जहाँ सम्पन्न और ऊँची दुकानें[3] बनी हुई थीं।

राजप्रासाद—राजाप्रासाद कई मंजिलों वाली ऊँची आकाश को छूने वाली[4] एक विशाल इमारत थी। इनमें अनेक कक्ष[5] रहते थे। ऊपर से नीचे आने-जाने के लिए सीढ़ियाँ[6] होती थीं। यह विशाल प्रासाद दो भागों में विभक्त होता था।

---

१. प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि।—कुमार०, ७।५६

२. आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥—कुमार०, ७।५७
—प्रसाधिका लम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकांका पदवी तताम॥ —कुमार०, ७।५८
—विलोचनं दक्षिणमंजनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥ —कुमार०, ७।५९
—जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः।—कुमार०, ७।६०
—अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमंगुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥ —कुमार०, ७।६१

इसके पश्चात् भी ३ श्लोक इसी प्रसंग के हैं। रघुवंश, सप्तम सर्ग, ६ से १२ श्लोक तक भी ये ही पंक्तियाँ पुनरावृत्त हुई हैं।

३. सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्चनागैः।
पुरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गिनद्धाभरणेव नारी॥ —रघु०, १६।४१
—प्रावेशयन्मंदिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्॥—कुमार०, ७।५५

४. आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह॥—रघु०, १४।२९
—अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।—उत्तरमेघ, १

५. क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश।—कुमार०, ७।७०
—ध्यानसम्भृतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः।—कुमार०, ८।१८
—अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु।—रघु०, १९।४२

६. सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति।—विक्रम०, पृ० १९६

अन्तर्भाग[१] में अन्तःपुर या राजकीय हर्म्य रहता था और बहिर्भाग में आँगत मुनियों से भेंट करने योग्य अग्न्यागार[२], सभागृह[३], कारागृह[४], चित्रशाला[५], संगीतशाला[६], यज्ञशाला[७] आदि रहते थे। महलों पर खुली छत होती थी, जहाँ से चन्द्र-शोभा भली-भाँति देखी जा सकती थी[८]। संभवतः राजा ग्रीष्म ऋतु में खुली छत पर शयन किया करता था[९]।

महलों से लगा हुआ प्रमदवन[१०] होता था। जहाँ राजा इच्छानुसार अपना मनोरंजन किया करता था। प्रमदवन का मार्ग महल से ही लगा रहता था और कोई पृथक् गुप्त मार्ग भी सम्भवतः था जिससे राजा सबकी आँख बचाकर जा सकता था[११]। इस वन में नाना प्रकार के पुष्प, फल, लताकुंज[१२] बैठने के

---

१. पी० के० आचार्य; इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ५८

२. अग्निशरणमार्यमादेशय—अभि०, पृ० ८२;
—स त्वं प्रशस्तै महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।—रघु० ५।२५

३. स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मा नवमां सभाम्॥—रघु०, १७।२७
—नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत॥—रघु०, ३।६७

४. सा खलु तपस्विनी तथा पिंगलाक्ष्या सारभांडभूगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता।
—माल०, पृ० ३१५

५-६. देखिए, पूर्व उल्लेख : संगीत और चित्रकला

७. एष अभिनवसम्मार्जनसश्रीकः सन्निहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः।
आरोहतु देवः।—अभि०, पृ० ८३

८. देखिए, पूरा पृष्ठ, विक्रम० पृ० १९६, १९७

९. कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः।
व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन॥
—ऋतु०, १।२८

१०. महाराज, प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः।—अभि०, पृ० १०७
—तद्भवान् प्रमदवनमार्गमादेशतु।—विक्रम०, पृ० १७२

११. मां गूढेन पथा प्रमदवनं प्रापय।—माल०, पृ० ३२२

१२. एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमंडप उपचाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनैव नौ प्रतीच्छति।—अभि०, पृ० १०९

लिए शिलापट्टक[1] और अनेक पक्षी[2], सरोवर, फव्वारे[3] आदि थे। इसका वर्णन स्वतन्त्र किया जाएगा।

प्रासाद के प्रकार--कवि के ग्रन्थों में विमानप्रतिच्छन्द[4], मणिहर्म्य[5], मेघप्रतिच्छन्द[6], देवछन्दक[7] आदि नाम आए हैं। इन सब में विभिन्नता थी। श्री भगवत्शरण जी ने पुराण के मत के अनुसार 'विमानपरिच्छन्द' को आठ मंजिलों वाला बहुसंख्यक कंगूरों से युक्त और जिसकी चौड़ाई ३४ हाथ थी, विशाल प्रासाद कहा है[8]। पी० के० आचार्य मणिहर्म्य को एक ऊपरी मंजिल, एक स्फटिक महल और रत्नजटित प्रासाद कहते हैं[9]। कालिदास के 'गंगा तरंग-

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १२

२. उष्णालुः शिशिरे निषोदति तरोर्मूलालवाले शिखी,
निर्भिद्योपरिकर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते,
क्रीडावेश्मनि चैष पंजरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥ —विक्रम०, २।२२

—पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्
विन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम्।—माल०, २।१२

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २ माल०, २।१२

—निशाः शशांकक्षतनीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम्।
—ऋतु०, १।२

—यंत्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः॥
—रघु०, १६।४९

४. उत्तरमेघ, ६ (निर्णयसागर प्रेस, संस्करण)

५. एतेन गंगातरंगसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोहतु भवान्प्रदोषावसररमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठम्। —विक्रम०, पृ० १९६

६. अदृष्टरूपेण केनापि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः।
—अभि०, पृ० १२४

७. तद्यावत्स राजा धर्मासनगत इत आयाति तावदेतस्मिन्विरलजनसम्पाते देवछन्दक प्रासादः आरुह्य स्थास्ये। —विक्रम०, पृ० १६७

८. India in Kalidas, Page 247

९. A Dictionary of Hindu Architecture, Page 467

शिशिरेण स्फटिकमणिशिलासोपानेन'[१] से आचार्य के 'स्फटिक महल' की पुष्टि होती है। हो सकता है कि यह संगमरमर का बना हो और निर्माण के कुछ उपकरण मणिमय पदार्थों से बने हों। मेघप्रतिच्छन्द की समानता मानसार के मेघकान्त से है, जिसके अनुसार यह दस मंजिलों वाले वर्ग में आता है[२]। देवछन्द भी इसो प्रकार की एक इमारत है। एक और प्रकार के प्रासाद का नाम समुद्रगृह[3] मिलता है। यह प्रमदवन के पास ही रहता था। ग्रीष्म ऋतु में विश्राम करने के लिए यह एक शीतल स्थान था। यह आवास एक प्रकार का विहार-भवन था, जहाँ राजा विहार का आनन्द लिया करता था। मालविकाग्निमित्र में राजा ने मालविका के साथ विहार समुद्रगृह में ही किया था। मत्स्यपुराण के अनुसार यह १६ भुजाओं का दुमंजिला महल है[४]।

सौध तथा हर्म्य—कवि के ग्रन्थों में सौध तथा हर्म्य के अनेक संकेत हैं। प्रोफेसर आचार्य सौध को 'एक पलस्तर किया हुआ चूने की सफेदी वाला मकान, एक बड़ा महल, एक अट्टालिका, एक प्रासाद कहते हैं[५]। मानसार ने हर्म्य को ७ मञ्जिल की इमारत कहा है[६]। अतः सौध और हर्म्य ऊँची छत वाली इमारतें हुईं। 'मेघदूत में उज्जयिनी की इन्हीं वर्ग की इमारतों का कवि ने वर्णन किया है[७]। इन महलों में कपोत निवास करते कहे गये हैं[८] और कपोत ऊँचे मकानों में ही अपना निवास स्थान बनाते हैं। कुबेर की राजधानी अलका

---

१. देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी, नं० ७

२. XXVIII 19-17; Acharya : A Dictionary of Hindu Architecture, Page 512

३. त्वरतां भवान् समुद्रगृहे सखीसहितां मालविकां स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्युद्गतोऽस्मि। —माल०, पृ० ३२४

४. अध्याय, २६९, ३८, ५३

५. A Dictionary of Hindu Architecture, Page 642

६. २५; २९

७. तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥ —पूर्वमेघ, ४२

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ७

के भवन के शिखर बादलों को छूते हुए बताए गये हैं[१]। ऊँचाई के कारण ही यह 'अभ्रंलिह'[२] कहलाते थे। जिनमें ऊपर खुली छत होती थी वे अट्ट हर्म्य[३] या सौध[४] कहलाते थे। यह ईंटों के बने होते थे और ऊपर चूने का पलस्तर रहता था। सौध शब्द से ऐसी ही अभिव्यक्ति होती है। धौतहर्म्य[५] भी इसी का संकेत करता है। 'मणिशिलागृह'[६] शब्द से ऐसा आभासित होता है कि धनवान् अपने गृह का निर्माण संगमरमर से करते होंगे। ऊपर की छत ढालू बनाई जाती थी और इस ढाल को वलभी[७] की संज्ञा दी गई है। प्रोफेसर आचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है : 'छत, छप्पर, गृह का सबसे ऊँचा भाग, कोठे वाले मकानों का एक वर्ग, प्रकोष्ठ, झरोखा, इत्यादि'[८]।

भवन[९] आयताकार आंगन से युक्त एक गृह था। कालिदास के मतानुसार

---

१. विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम्।
अंतस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥ —उत्तरमेघ, १

२. पूर्वोल्लेख

३. व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन।
—ऋतु०, १।२८

——मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः। ——विक्रम०, पृ० १९५

४. मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः। —उत्तरमेघ, २८
—ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु। —रघु०, ७।५

५. गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या। —पूर्वमेघ, ७

६. ध्यानसम्भूतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः। —कुमार०, ८।८१

७. तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः। —पूर्वमेघ, ४२

८. A Dictionary of Hindu Architecture, Page 537

९. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ७

इसके भीतरी कमरों में शयनागार[१], अग्न्यागार[२], गर्भवेश्म[३], क्रीड़ावेश्म[४], सारभाण्डगृह[५] आदि थे।

गृह के वातायन[६] सड़क की ओर[७] खुलते थे। छत पर अलिंद[८] (झरोखे) होते थे। गृह का अग्रभाग 'मुख'[९] कहलाता था, जिसको दूसरे शब्दों में द्वार कहा जा सकता है। द्वार के ऊपर तोरण रहता था, जो मत्स्य या मकर की आकृति का होता था। मथुरा के म्यूजियम में मकरतोरण का उदाहरण है[१०]। तोरण के नीचे देहली भी रहती थी[११]। शिखर मंजिल पर तल्प[१२] भी होते थे। इनका अब पृथक् विवेचन किया जायगा।

---

१. वेत्रवती पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।—अभि०, पृ० ९६
—अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।—रघु०, १६।४

२. पूर्वोल्लेख।

३. अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु।—रघु०, १९।४२

४. क्रीडावेश्मनि चैष पंजरशुकः क्लान्तो जलं याचते।—विक्रम०, २।२२

५. सा खलु तपस्विनी तया पिंगलाक्ष्या सारभाण्डगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता।
—माल०, पृ० ३१५

६. प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुरांगनानाम्।—रघु०, ६।२४
—प्रासादवातायनदृश्यवीचीः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्। —रघु०, ६।५६
रघु०, ७।५–१२ पूर्व उल्लेख। इसी प्रकार कुमारसंभव सप्तम सर्ग पूर्व उल्लेख। वातायन के अनगिनत प्रसंग हैं। अतः उल्लेख करना अति विस्तृत हो जायगा। पूर्वमेघ, उत्तरमेघ, विक्रमोर्वशोय, मालविकाग्निमित्र सब में इसका प्रसंग है।

७. सड़क की ओर खुलते थे, इसका प्रमाण सबसे बड़ा यह है कि अज और महादेव की वारात ऊपर से ही स्त्रियों के द्वारा देखी गई थी—रघु०, ७।५–१२; कुमार०, ७।७५–६३ पूर्व उल्लेख।

८. एष अभिनवसम्मार्जनसश्रीकः सन्निहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः।
आरोहतु देवः। —अभि०, पृ० ८३

९. माल०, पृ० १०६, Edited by S. P. Sane & Shri G. M. Godbole या पृ० ७२, निर्णयसागर प्रेस।

१०. Exhibit, No. M. 2.

११. शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः। —उत्तरमेघ, २७

१२. इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार।
—रघु०, ५।७५

तोरण[१]—यह मकान या महल का सबसे पहला फाटक होता था। यह कभी-कभी अस्थायी भी रहता था। अर्थात् यहीं पर आए हुए अतिथियों को अगवानी की जाती थी[२]। किसी महापुरुष अथवा सम्मानित अतिथि के स्वागतार्थ भी यह निर्मित किया जाता था। श्री भगवत्शरण इसको अलिंद या झरोखा का महराब या प्रासाद अथवा नगर का बहिर्द्वार कहते हैं[3]। आचार्य जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"एक महराब, चापाकृति में ठोस पदार्थों की यांत्रिक व्यवस्था जो पारस्परिक दबाव के कारण एक-दूसरे से सटे हों"[४]। इन तोरणों पर देवों, मुनियों, मकरों, मत्स्यों के चित्र और पुष्प-लतादि की उत्कीर्ण आकृतियाँ रहती थीं[५]। इन्द्रधनुष की आकृति के तोरण का भी उल्लेख है[६]।

अलिन्द[७]—यह एक प्रकार का झरोखा था। आचार्य जी के ग्रन्थ में इसकी व्याख्या इस प्रकार मिलती है—"अलिन्द शब्द से दालान की दीवार के बाद छाये

—सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः। —रघु० १६।६

—विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे।—रघु०, १६।११

—तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः। —रघु०, १९।२

१. श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम्।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ —रघु०, १।४१

—तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणांकम्।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम्॥—रघु०, ७।४

—तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमंदारवृक्षः॥ —उत्तरमेघ, १५

—तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥
—कुमार०, ७।६३

२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १
३. India in Kalidas, Page 249
४. Acharya : A Dictionary of Hindu Architecture, Page 247
५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४, पृ० २४८
६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ उत्तरमेघ, १५
७. पूर्व उल्लेख

रास्ते का बोध होता है जो आँगन के सामने हो''[१]। पर यह कालिदास के द्वारा वर्णित अलिन्द से समानता नहीं रखता। इसका झरोखे का आशय ही उपयुक्त लगता है। सभी बड़े मकानों की छतों पर झरोखे होते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल का अग्न्यागार के ऊपर का अलिन्द और मालविकाग्निमित्र (निर्णयसागर प्रेस, संस्करण) के समुद्रगृह का अलिन्द इसके प्रमाण हैं।

अट्ट और तल्प—भवनों को सजाने के लिए उन पर अट्ट[२] और तल्प[३] बनाया जाता था। अयोध्या के उजड़ जाने पर उसके भग्न अट्ट और तल्प का कवि ने वर्णन किया है[४]। आचार्य जी अट्ट को प्रकोष्ठ कहते हैं[५]। श्री भगवत्शरण गृह के शिखर प्रदेश में अवस्थित कमरे को तल्प कहते हैं[६]।

वातायन--राजपथ की ओर खुलते हुए वातायनों का प्रसंग दिया जा चुका है। खिड़की की सामान्य संज्ञा 'वातायन' थी। इसके कई भेद थे--आलोकमार्ग[७], गवाक्ष[८], जालमार्ग[९]। आलोकमार्ग के नाम से व्यक्त होता है कि यह ऐसी खिड़की

---

१. A Dictionary of Hindu Architecture, Page 54

२. नरेन्द्रमार्गादृ इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः। —रघु०, ६।६७

—विशीर्णतल्पाट्टरतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।।

—रघु०, १६।११

३. पूर्व उल्लेख।

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २ —रघु० १६।११ विशीर्णतल्पाट्ट........

५. A Dictionary of Hindu Architecture, Page 15

६. India in Kalidas, Page 250

७. आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिद्रुद्वेष्टनवान्तमाल्यः। --रघु०, ७।६

८ विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्। —रघु०, ७।११

—गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकांक्षितं ददौ।

तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम्।। —रघु०, १९।७

—विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे।

वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ।। --उत्तरमेघ, ४०

—इदानीमेव पंचांगादिकमभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।—माल०, पृ० २६६

९. प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः। --रघु० ६।४३

—जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्। —रघु०, ७।९

थी जिससे होकर प्रकाश गृह में प्रविष्ट होता था। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार गवाक्ष गाय की आँख से सादृश्य रखते थे। मानसार में भी इसको यही व्याख्या है[१]। मालविकाग्निमित्र में ऐसी खिड़की का प्रसंग आया है जिससे उद्यान तड़ाग को देखने के साथ-साथ अन्तः प्रविष्ट होती हुई पवन के झोंकों का भी आनन्द लिया जा सके[२]। जालमार्ग में लकड़ी, प्रस्तर, प्लास्टर आदि की जाली लगी होती थी। कालिदास ने सोने की जाली लगी खिड़की का वर्णन किया है[३]। वातायन खुले और बड़े होते थे। चाँदनी उनसे प्रवेश कर कमरे में भर जाती थी[४]। यहाँ तक कि इनसे बादलों के टुकड़े प्रविष्ट हो भित्तिचित्रों को भी मलिन कर देते थे[५]।

आँगन—चारों ओर दीवारों से घिरा हुआ घर में एक आँगन रहता था। इनमें से कोई-कोई स्फटिकजटित थे[६], जो दिन में सूर्य के प्रकाश से जगमगाते थे और रात में आकाश के ज्योतिपिंड की प्रतिच्छाया से प्रतिबिम्बित होते थे[७]।

जालनिर्माण--महलों के वातायनादि पर जाली लगी रहती थी, इसका वर्णन किया जा चुका है। संध्या के समय धूम्र इनसे बाहर निकला करता था[८]।

--जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः। --पूर्वमेघ, ३६
--पादानिन्दोरमृतशिशिरां जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं सन्निवृत्तं तथैव। --उत्तरमेघ, ३२

१. मानसार, ३३. ५६८–५९७
२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ८ का अन्तिम वाक्य, 'इदानीमेव....'
३. ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु। —रघु०, ७।५
४. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ९ का अंतिम श्लोक, 'पादानिन्दो....'
५. नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ --उत्तरमेघ, ८
६. विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे। —कुमार०, ७।१०
७. यत्रस्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु।
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम्॥ —कुमार०, ६।४२
८. उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः॥ —विक्रम०, ३।२

स्नानागार--यंत्रधारागृह[1] तथा धारागृह[2] का कवि के ग्रन्थों में प्रसंग है। ये स्नानागार के ही बोधक हैं। यहाँ पानी के नल भी लगे रहते थे, जो स्नान और शीतलता की आवश्यकता के लिए सदा जल प्रवाहित करते रहते थे[3]।

अश्वशाला--प्रासाद के बहिर्भाग में घुड़साल[4] तथा हाथीशाला[5] होती थी। हाथियों को बाँधने के लिए वहाँ स्तंभ लगे रहते थे[6]।

सोपान--राजमहल[7], सरोवर[8] आदि सबके प्रसंग में सोपान का नाम आया है। विक्रमोर्वशीय में, सोपान स्फटिक के होते थे, इसका संकेत है। वहाँ गंगा की तरंगों को शोभा स्फटिक सोपान के समान कही गई है[9]। उत्तरमेघ में तड़ाग के जल तक पहुँचने के लिए मरकत के सोपान कहे गए हैं[10]।

वासयष्टि और स्तम्भ--गृहपक्षियों के बैठने के लिए गृहों में वासयष्टियाँ थीं[11]। रघुवंश में ऐसे स्तम्भों का वर्णन है, जिन पर स्त्रियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण

---

१. तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यंत्रधारागृहत्वम्। ---पूर्वमेघ, ६५

२. यंत्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतां रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः॥ --रघु०, १६।४९

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २

४. सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तंभगतैश्च नागैः।
पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वांगनद्धाभरणेव नारी॥ --रघु०, १६।४१

५.६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ रघु०, १६।४१

७. वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मंचम्। --रघु०, ६।३
--सोपानमार्गमादेशय--अभि०, पृ० १२५
---एतेन गंगातरंगसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेन आरोहतु भवान्प्रदोषावसर-रमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठम्। ---विक्रम०, पृ० १९६

८. सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान्। ---रघु०, १६।१५
---सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः। --रघु०, १६।५६
---वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा। ---उत्तरमेघ, १६

९. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ७

१०. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ८ का अंतिम श्लोक।

११. तन्मध्ये च स्फटिकशिला काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढ़वंशप्रकाशैः। ---उत्तरमेघ, १९
---वृक्षेशया यष्टिनिवासभंगान्मृदंगशब्दापगमादलास्याः। ---रघु०, १६।१४

थीं[1] । मालविकाग्निमित्र में भी स्तंभ[2] का नाम आया है; पर इन पर खुदाई का काम बिलकुल न था ।

अन्य इमारत--उपरोक्त इमारतों में अतिरिक्त विवाहमंडप, चतुष्क[3], सदोगृह[4]; चतुःशाला[5] आदि भी थे । विवाह-मंडप, चतुष्क अस्थायी थीं; पर अभिषेकगृह स्थायी । इसी प्रकार यज्ञशाला[6] भी थी जो यज्ञ की मंडलाकार भूमि ही थी । यहाँ यज्ञ हुआ करते थे । देवताओं के वलि-प्रदान को उपासना के लिए प्रतिमागृह[7] थे । स्वयंवर[8] के लिए राजप्रासाद के वाहर मंचों की पंक्तियाँ[9] बनाई जाती थीं । इनके बीच में मार्ग रहता था[10] ।

उपवन और उद्यान—नगर के उद्यानों की परम्परा थी[11] । उपवंन के दो प्रकार हमको प्राप्त होते हैं : प्रमदवन[12] और नागरिकों के उद्यान[13] । प्रमदवन

---

१. स्तम्भेषु योषित्प्रतिमातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ता ।।–रघु०, १६।१७

२. स्तम्भान्तरिता राजानं सहसोपेत्य । --माल०, पृ० ३३३
—अहमपि तावदस्य प्रमुखाल्लोकादपसृत्य स्तम्भान्तरिता भवामि ।
—माल०, पृ० ३४१

३. चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते। —कुमार०, ५।६८
--वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः । —कुमार०, ७।९
--वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः । —रघु०, ७।१७

४. पूर्व उल्लेख

५. माल०, पृष्ठ ८७ (निर्णयसागर प्रेस, संस्करण)

६. माल०, पृ० १०२ (निर्णयसागर प्रेस, ससंकरण)

७. ततः सपर्या सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः । —रघु०, १६।३९
—अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।
अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यैः प्रतिमागतैः ।। --रघु०, १७।३६

८. रघु०, सर्ग ६

९. स तत्र मंचेषु मनोज्ञवेषान्सिहासनस्थानुपचारवत्सु । —रघु०, ६।१

१०. विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिवरा क्लृप्तविवाहवेषा । —रघु०, ६।१०

११. सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु । —रघु०, ६।३५

१२. पूर्व उल्लेख

१३. विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकंठोपवनानि रेमे । —रघु०, १४।३०

राजा और उसके विशेष सम्बन्धियों के लिए होता था, अतः राजमहल के पास होता था। दूसरे प्रकार के उद्यान सामान्यतः नगर के बाहर होते थे। दोनों उद्यान ही अति दीर्घाकार होते थे। इनमें अनेक प्रकार के फल ओर फूल रहते थे, स्फटिक की शिलाएँ[1] पड़ी रहती थीं। विलासपूर्ण तड़ाग (दीर्घिका)[2], वापी[3] और कूप[4] रहते थे। पक्षियों के बैठने के लिए वासयष्टि[5], फव्वारे[6] यहाँ तक कि श्री भगवत्शरण जी के शब्दों में चिड़ियाखाना तक रहता था[7]।

दीर्घिका, वापी और कूप--इनमें अवश्य अन्तर था। दीर्घिका[8] कदाचित् लम्बा तड़ाग थी और सम्भवतः उद्यान के निर्झर से इसमें पानी आता था। प्रो० आचार्य वापी की व्याख्या 'एक तालाब, एक कुँआ, एक पानी का गड्ढा' करते हैं[9]। कालिदास वापी को रमणीय तड़ाग के अर्थ में प्रयोग करते हैं। हो सकता है कि दीर्घिका और वापी में आकार का ही अन्तर हो, एक लम्बा हो,

---

१. पूर्व उल्लेख, अभि०, पृ० १०९

२. विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः। --रघु०, ९।३७

--वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्।
--रघु०, १६।१३

--पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्।
दीर्घिकाकमलोन्मेषे यावन्मात्रेण साध्यते॥ --कुमार०, २।३३

--पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्। --माल०, २।१२

--दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।
--माल०, अंक १, पृ० २६६

३. वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः। --उत्तरमेघ, १६

--वापीजलानां मणिमेखलानां शशांकभासां प्रमदाजनानाम्।
--ऋतु०, ६।४

४. भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छन् शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात्।
--ऋतु०, १।२३

५. पूर्व उल्लेख। ६. पूर्व उल्लेख।

७. कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिंगलवानरेण बलवत्त्रासिता।
--माल०, पृ० ३३५

८. पूर्व उल्लेख देखिए, पादटिप्पणी नं०, २

९. A Dictionary of Hindu Architecture, Page 543

दूसरा चौकोर। गृहदीर्घिका[१] और दीर्घिका में भेद था। दीर्घिका सर्वसाधारण के लिए थी; पर गृहदीर्घिका नहीं। इसमें नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती थीं। कवि ने मरकत मणि के सोपान का उल्लेख किया है[२]। दीर्घिका के पास ही विलासगृह भी आमोद-प्रमोद के लिए बने रहते थे, यह 'गूढमोहन गृह' कहलाते थे[3]। टीकाकार के अनुसार यह 'सुरत' और कामभोग के ही लिए थे[४]। कूप का आशय कुँआ है।

क्रीड़ाशैल--कवि ने अनेक स्थानों पर कृत्रिमशैल[५] का उल्लेख किया है, यही क्रीड़ाशैल कहलाते थे। उत्तरमेघ में वर्णित क्रीड़ाशैल की चोटी नीलमणि की बनी थी[६]। कुमारसम्भव का आक्रीडपर्वता[७] इसी क्रीड़ाशैल का दूसरा रूप है। यह उद्यानों में विद्यमान रहता था,[८] अतः विहार ही इसको सबसे बड़ी उपयोगिता थी।

जल-निर्झर--स्नानागार में स्थित यन्त्रधारा-गृह और धारागृह का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त एक शब्द वारियन्त्र[९] मिलता है। मालविकाग्निमित्र में इसके विषय में लिखा है--चलते हुए वारियन्त्र से उछलते हुए जल-बिन्दुओं को पीने के लिए मोर उसके चारों ओर उड़ रहा है[१०]। महाशय एस० पी० पंडित[११] तथा श्री सीताराम चतुर्वेदी के संरक्षण में किए अनुवाद में 'रहट' कहा गया है। पर श्री भगवत्शरण ने 'रहट' को निर्मूल कहा है, क्योंकि

---

१. पूर्व उल्लेख देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० २
२. वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा। --उत्तरमेघ, १६
३. यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः॥ --रघु०, १९।९
४. देखिए, इसी की टीका 'मोहनगृहाणि सुरतभवनानि'।
५. भो वयस्य ! किमेतत्पवनवशगामि प्रमदवनसमीपगतक्रीड़ापर्वतपर्यन्ते दृश्यते।
--विक्रम०, पृ० १८८
६. तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः। --उत्तरमेघ, १७
७. उत्पाट्य मेरुशृंगाणि क्षुण्णानि हरितां खुरैः।
आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेश्मसु॥ --कुमार०, २।४३
८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५
९. बिन्दुक्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम्।
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥--माल०, २।१२
१०. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ९
११. विक्रमोर्वशीय टिप्पणी

इसमें छिटकती हुई बूँदें कही गई हैं और 'रहट' के डोल से बूँदें छिटकतीं नहीं, अपितु जल नीचे टपकता है। इसके अतिरिक्त भ्रान्तिमत् शब्द का प्रयोग इसके लिए नहीं हो सकता[1]। अतः कवि का स्पष्ट ही 'अपनी गति से आवर्त्तन-शील निर्झर' से आशय है। इसके ऊपर का शीर्ष घूमता रहता था, अतः मयूर को जल पीने के लिए चारों ओर चक्कर लगाना पड़ता था।

देवालय और यूप--महाकाल,[2] स्कन्द,[3] विश्वेश्वर,[4] आदि अनेक देवताओं के मन्दिर का कवि के ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है। नगर में वध-स्तम्भ[5] भी थे और यूप भी। यूप बलिपशु को बाँधने का स्तम्भ था[6]। मथुरा संग्रहालय में इसके नमूने प्रदर्शित हैं।

नगर के प्राकार के विशाल द्वार अर्गला की सहायता से बंद हुआ करते थे[7]। मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित यूप में नीचे की ओर अर्गला की आकृति भी अंकित है।

---

१. India in Kalidas, Page 254

२. भर्तुः कंठच्छविरितिगणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धामिचंडीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गंधवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥
—अप्यन्यस्मिं जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ —पूर्वमेघ, ३७, ३८

३. तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ —पूर्वमेघ, ४७

४. आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥ —रघु०, १८।२४

५. इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः।
वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥—रघु०, १६।३५

६. पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ —रघु०, १८।४

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६

गुफाएँ--कवि ने ऐसी गुफाओं का वर्णन किया है जहाँ मनुष्य आकर विहार किया करते थे। ये दरीगृह[1] कहलाती थीं। शिलावेश्म[2] भी दरीगृह के ही समान गुफाएँ थीं।

उटज--तपस्वी अपने रहने के लिए जिन झोपड़ियों का निर्माण करते थे, वे पर्णशाला[3] अथवा उटज[4] कहलाती थीं। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

---

१. वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥ --कुमार०, १।१०

--यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषांगनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥
--कुमार०, १।१४

--ज्वलति पवनवृद्धः पर्वतानां दरीषु।
स्फुटति पटुनिनादः शुष्कवंशस्थलीषु॥ --ऋतु०, १।२५

२. यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेष्मभिर्यौवनानि॥ --पूर्वमेघ, २७

३. पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासि प्रविश्य सः।
वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत्॥ --रघु०, १२।४०

४. आकीर्ण ऋषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः॥ --रघु०, १।५०

--आतपात्ययसंक्षिप्त नीवारासु निषादिभिः।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु॥ --रघु०, १।५२

--अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममंडलानि॥ --रघु०, १३।२२

--ता इंगुदस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः॥ --रघु० १४।८१

--सौधवासमुटजेन विस्मृतः सञ्चिकाय फलनिःस्पृहस्तपः। --रघु०, १९।२

--नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम्। --कुमार०, ५।१७

--आविशद्भिरुटजांगणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः।
आश्रमाः प्रविशदग्रधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः॥ --कुमार०, ८।३८

--हला शकुन्तले गच्छोटजं फलमिश्रमर्घमुपहर। --अभि०, पृ० १७

वास्तुकला के नियम के अनुसार किसी निर्माण कार्य के समाप्त हो जाने पर स्थापत्य के अधिष्ठाता देवता की पूजा की जाती थी, इसमें पशुओं की बलि भी दी जाती थी[1]। पूजन के पश्चात् ही उस भवनादि का प्रयोग किया जाता था।

---

१. ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥ --रघु०, १६।३९

ग्यारहवाँ अध्याय

शिक्षा

शिक्षा-केन्द्र

(१) आश्रम--शहर के कोलाहल तथा अशान्त वातावरण के वाहर स्थित ऋषियों के आश्रम, जहाँ शान्ति और निस्तब्धता की प्रचुर मात्रा थी, शिक्षा के सर्वोत्कृष्ट केन्द्र थे। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसकी महत्ता वतलाते हुए कहते हैं कि भारतवर्ष में सबसे आश्चर्यजनक वात ध्यान देने की यह है कि यहाँ शहर नहीं. जंगल सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के जन्मदाता हुए। इन जंगलों में यद्यपि मनुष्य ही रहते थे; परन्तु संघर्ष और कलह का लेशमात्र भी चिह्न न था। यह सवसे अधिक महत्वपूर्ण वात है कि इस एकाकी जीवन और एकान्तता ने मनुष्य को अकर्मण्य न बनाकर ज्ञान का विस्तार ही किया[१]। वाल्मीकि, कण्व, वसिष्ट. मारीच, च्यवन ऐसे ही ऋषि थे जो उदासीन होते हुए भी शिक्षा प्रदान करने में सर्वश्रेष्ठ हुए। लव, कुश, आयुस, भरत सब इन्हीं ऋषियों द्वारा आश्रम में शिक्षित हुए। स्वयं राम ने वाल्मीकि-आश्रम में राक्षसों को मारते समय वहुत-से अस्त्रों का चलाना सीखा था।

कण्व-आश्रम का विशद उल्लेख राधाकुमुद मुकर्जी ने किया है। "इस आश्रम में वहुत-से छोटे-छोटे आश्रम थे, जहाँ असंख्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में निपुण व्यक्ति रहा करते थे, चारों वेदों में निपुण, यज्ञ संबंधी-साहित्य के विद्वान्, पद और कर्मपाठ के अनुसार संहिता का पाठ करने में विशेषज्ञ, छन्द, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त में प्रवीण, आत्म-विज्ञान, ब्रह्मोपासना,

---

१. "A most wonderful thing we notice in India is that here the forest not the town is foundation head of all its civilization."

—Page 63 & 64

—Glimpses of education in Ancient India, by Radha Kumud Mukerjee, published in Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. XXV.

मोक्षधर्म, न्याय, कला आदि के चरम ज्ञाता इस आश्रम में रहा करते थे। यज्ञ की वेदी पृथक्-पृथक् आयत और आकार के बनाए जाने के भी अनेक स्थानों में संकेत है, अतः (Solid Geometry) के पारंगत (Zoologist) बन्दर, चिड़ियों आदि के ज्ञानी आदि का भी वहाँ निवास था। अतः यह एक विश्वविद्यालय था। विश्वामित्र और वसिष्ठ आश्रम की भी यही विशेषता थी[1]।

(२) राजाओं के प्रासाद--कालिदास के ग्रन्थों में कण्व, वसिष्ठ आदि के आश्रमों का उल्लेख है; परन्तु गुरु राजपुत्रों को महल में भी जाकर विद्या पढ़ाया करते थे। रघु की शिक्षा किसी गुरुकुल या आश्रम में नहीं हुई थी। उन्होंने चारों विद्याएँ विद्वानों से सीखी थीं और मंत्रयुक्त अस्त्रों की शिक्षा पिता से ली थी[2]। मालविकाग्निमित्र में भी आचार्य गणदास और हरदास मालविका और रानी इरावती को महल में ही शिक्षा दिया करते थे। इन्दुमती अज की ललितकलाओं में शिष्या थी[3]।

उपर्युक्त वृत्तान्त से दो निष्कर्ष निकलते हैं, प्रथम यह कि आश्रमों में ही बालक शिक्षा ग्रहण करे, यह अनिवार्य नहीं था, दूसरी बात यह कि ऋषि अथवा आचार्यों के अतिरिक्त पिता अथवा पति भी शिक्षक हो सकता था।

यद्यपि राजमहल में ही शिक्षा प्राप्त करने का प्रबन्ध कर दिया जाता था, परन्तु उस स्थान को राजभवन के पास रखते हुए भी कुछ हटा कर निर्वाचित कर दिया जाता था[4]।

(३) विहार--कालिदास ने कहीं विहार का संकेत नहीं किया; परन्तु उस समय बौद्ध धर्म का प्रभाव यथेष्ट था। मालविकाग्निमित्र में परिव्राजिका के प्रसंग से इस बात की पुष्टि होती है। बौद्धों के विहार शिक्षा के केन्द्र थे। इनके यहाँ भी आचार्य और उपाध्याय होते थे। आश्रम और विहार के वातावरण में

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १ पृ० ७९-८०

२. धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥ --रघु०, ३।३०
--त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षितास्त्रं पितुरेव मंत्रवत्।
--रघु०, ३।३१

३. गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। --रघु०, ८।६७

४. दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।
--माल०, अंक १, पृ० २६६

बहुत विभिन्नता थी । आश्रमों में वैयक्तिक महत्त्व था । गुरु और अध्यापक का शिक्षार्थी के साथ सीधा सम्पर्क रहता था । रुचि और योग्यतानुसार छात्र को शिक्षा दी जातो थी । विहार में सामूहिक जीवन, सामूहिक शिक्षा और बन्धुत्व का जोश । सामान्य अनुशासन, सामान्य शिक्षा, सामान्य धर्म, इनकी विशेषताएँ थीं । विहार एक प्रकार से पृथक् नगरी (Separate Colony) ही थी, जहाँ खेती आदि के द्वारा अन्न उपजाया जाता था। इसके विपरीत गुरुकुल का वातावरण घर का-सा रहता था । अतः घर की-सी देख-रेख, घर का-सा स्नेह और अपनापन था । विहार में यह भावना न थी । उसका वातावरण आधुनिक स्कूल-कालेजों का-सा था, यद्यपि सामूहिक जीवन के साथ-साथ ऐकान्तिक जोवन, जिसमें छात्र तपस्या और अध्ययन कर सके, गुरु के नियंत्रण और संरक्षण में इस प्रकार को उसे सुविधा प्राप्त हो जाती थी ।

अमीर घर के छात्र समस्त शिक्षा का शुल्क पहले हो दे देते थे । निर्धन दिन में गुरु की सेवा करते और इसके बदले रात में पढ़ते थे । यहाँ विद्यार्थी ऐसे भी थे जो वहीं रहते थे और पढ़ते थे और ऐसे भी जो केवल पढ़ने के लिए आते थे ।

ऐसे स्कूल भी थे जो सब प्रकार को जातियों के लिए (चांडाल के अतिरिक्त) खुले रहते थे (public Schools); परन्तु ऐसे भी थे जो केवल ब्राह्मणों के लिए या केवल क्षत्रियों के लिए (Community Schools[१]) थे ।

शिक्षा का उद्देश्य और आदर्श

कालिदास ने शिक्षा का ध्येय 'सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव'[२] उपमा के द्वारा प्रबोध अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति तथा विनय अर्थात् शोल-सम्पन्नता इन दोनों को ही बताया है । केवल ज्ञान से ही मनुष्य श्रेष्ठ नहीं होता, उसे शीलवान् भी होना चाहिए । कदाचित् उनका यही अभिप्राय था कि शील के न होने से मनुष्य के स्वभाव में लोभ, मात्सर्य, द्वेष इत्यादि विकास पा जाते हैं, अतः यदि इस प्रकार के मनोविकार जन्म लें तो ज्ञान से कोई लाभ नहीं ।

दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं, अपितु व्यक्ति का पूर्ण विकास था । शिक्षा का तात्पर्य मस्तिष्क को सूचनालय बनाना नहीं, अपितु उसकी शक्ति को विकसित करना था । संक्षेप में चरित्र निर्माण,

---

१. Taken from imperial Age of Unity of india--Education, by Radha kumud Mukerjee, page 591.

२. सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ —रघु०, १०।७१

व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन संस्कृति की रक्षा, धार्मिक और सामाजिक-क्षेत्र में उदीयमान संतति का परिस्थिति के अनुसार शैक्षण शिक्षा के प्रधान उद्देश्य थे[१]।

राम, दुष्यन्त आदि के चरित्र से स्पष्ट है कि सत्य बोलना, वचन से मुँह न मोड़ना, पराई स्त्रियों की ओर न देखना, आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास, संयम उच्च शिक्षा के आदर्श थे। सदाचार, पवित्रता और अनुशासन का जीवन के प्रत्येक अंग में स्थान था। उत्तरदायित्व समझना, कर्तव्यपालन और सामाजिक कर्तव्यों पर ध्यान देना लक्ष्य था।

विद्या का सच्चा उद्देश्य और आदर्श इसी बात में है कि वह जीवन का अलंकार और पवित्रकर्ता बने। हिमवान् पार्वती के जन्म से ही पवित्र हो गया था[२]। अतः सच्चा आदर्श यही नहीं कि वह जीवन क्षेत्र और सामाजिक क्षेत्र के लिए योग्य बनाए, वरन् उसके जीवन को पवित्रता की ओर ले जाय। 'असतो मा सद्गमय' उपनिषद् के वाक्य को सार्थक बनाना ही शिक्षा का चरम आदर्श था। थोड़े-से शब्दों में आदर्श जीवन ही आदर्श शिक्षा है। सच्चा मनुष्य वही नहीं जो युद्ध में शस्त्रों के बीच वीरता दिखाए, अपितु जीवन-संग्राम में भी वीर प्रमाणित हो। दिलीप इस प्रकार का आदर्श था जो आकार और बुद्धि दोनों में चरम पराकाष्ठा को प्राप्त कर गया था[3]। रघु और राम भी इसी आदर्श के प्रतीक थे। धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग की प्राप्ति जो विद्या कराए वही सच्ची विद्या है।

तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः।—रघु०, १८।५०

---

१. Formation of character, building up of personality, preserva-tion of ancient culture and training of the rising generation in the performance of the social and religious duties—were the main aims of education.

—Education in Ancient india, by Dr. A. S. Altekar

२. प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥
—कुमार०, १।२८

३. व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ —रघु०, १।१३
—आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः॥ —रघु०, १।१५

आदर्श शिक्षक--शिक्षा के आदर्श के सम्बन्ध में कालिदास शिक्षक के आदर्श पर दृष्टिपात करते हैं। आदर्श शिक्षक वही है जो ज्ञान-सम्पन्न भी हो; पर शिक्षा देना भी जानता हो[१]। जितनी शिक्षा दूसरों को दी जाती है उतनी ही अपने ज्ञान की वृद्धि होती है[२]। इसके अतिरिक्त केवल जीविका के लिए शिक्षा-दान करना निन्दनीय है। आदर्श उपकार का रहना चाहिए। पेट के लिए ज्ञान बेचने वाले शिक्षकों को कवि बनिया कहकर व्यंग्य कसता है[३]।

शिक्षक का कौशल इसी में है कि वह विद्यार्थियों के मन की लगन, बुद्धि-पात्रता को देख कर उसके अनुकूल शिक्षा दे। इस प्रकार की सावधानी से परिश्रम निष्फल नहीं हो पाता। शिक्षा के लिए अयोग्य विद्यार्थी को चुनने से शिक्षक का मन्द बुद्धित्व व्यक्त होता है[४]। सत्पात्र में विद्या फलती है[५]। यदि विद्यार्थी योग्य होता है, तो वह इतनी शीघ्रता से सब कुछ ग्रहण करता है कि आभासित होता है कि वह अध्यापक को सिखा रहा है[६]। ऐसे विद्यार्थी को पाकर शिक्षक भी अति प्रसन्न होता है। उसे इतनी प्रसन्नता होती है जैसे वर्षा का एक बिन्दु मुक्ताफल के मूल्य को प्राप्त कर गया हो[७]। विद्यार्थी को योग्य-से-योग्य बनाना शिक्षक का कर्तव्य था।

शिक्षक वही सफल था, जिसके छात्र की प्रशंसा अन्य मनुष्य करें[८]। प्रमाण निर्णायक की प्रशंसा थी।

---

१. श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥
--माल०, १।१६

२. सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशेन निष्णातो भवति।-माल०, अंक १, पृष्ठ २७७

३. लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।-माल०, १।१७

४. यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।—माल०, १।१७
--विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति।
--माल०, अंक १, पृष्ठ २७५

५. अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति।-रघु०, ३।२९

६. यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥ --माल०, १।५

७. पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥ —माल०, १।६

८. उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः कांचनमिवाग्निषु॥ —माल०, २।९

गुरु का उत्तरदायित्व—योग्य शिष्य को विद्यादान देना गुरु का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व था[1]। योग्य शिष्य का चुनाव और उसको योग्य बनाने में गुरु की सार्थकता थी। शिष्य को योग्यता गुरु को योग्यता थी। अपना सब कुछ सिखा देना गुरु का कर्तव्य था। संक्षेप में शिक्षक अपने आदर्शों का पालन करे, यही उसका दूसरे शब्दों में उत्तरदायित्व था।

यथार्थ में शिष्य अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण हो विद्या को देर से अथवा शीघ्र ग्रहण करता है[२]। यह उस समय का विश्वास था; परन्तु फिर भी शिष्य के मन्द बुद्धि होने पर भी उसे योग्य-से-योग्य बनाना शिक्षक का कर्तव्य और उत्तरदायित्व था।

शिक्षक का समाज में स्थान—जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से सोए हुए संसार को जगा देता है, वैसे ही अज्ञान का नाश कर मनुष्य को नवीन दृष्टि देने में शिक्षक समर्थ होता है। इस उपमा के द्वारा कालिदास ने शिक्षक-वर्ग को सूर्य कहकर उन्हें समाज में अति उच्च स्थान दिया है[3]। अपना सब कुछ सिखा देने वाला शिक्षक न केवल शिष्य के द्वारा अपितु राजा के द्वारा भी अपूर्व सम्मान प्राप्त करता था। गुरुओं का देवता के समान आदर होता था। समय-समय पर विद्या की समाप्ति के पश्चात् भी व्यक्ति परिस्थिति के अनुसार उनके पास जाते और उचित परामर्श लिया करते थे। सभी रघुवंशी राजा कुलगुरु वसिष्ठ से प्रत्येक बात निवेदित कर उनसे परामर्श लेते[४] और उनके अक्षरों को वेद-वाक्य मानकर अक्षरशः पालन किया करते थे[५]।

---

१. सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता —अभि०, अंक ४, पृ० ६३

२. तां हंसमालाः शरदीव गंगा महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ —कुमार०, १।३०

३. अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ —रघु०, ५।४

४. तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥ —रघु०, १।७२

५. तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ —रघु०, १।९२

शिक्षक-वर्ग— इस वर्ग के अन्तर्गत गुरु,[1] उपाध्याय,[2] आचार्य,[3] कुलपति[4] आदि कई प्रकार के शिक्षक आते हैं। वसिष्ठ जो रघुवंशी राजाओं के गुरु थे। वे कुलगुरु कहलाते थे। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के द्वारा नाटक में भूल हो जाने के कारण जिसके द्वारा शाप दे दिया गया था, उसको कालिदास ने उपाध्याय कहा है। मालविकाग्निमित्र में आचार्य हरदास और आचार्य गणदास नाम आए हैं। कण्व ऋषि कुलपति कहलाते थे। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि इनमें विभिन्नता थी। आचार्य कदाचित् वे कहलाते होंगे जो ललितकलाओं के ज्ञाता हों। मालविकाग्निमित्र के आचार्य हरदास और गणदास ललितकलाओं में ही दक्ष थे। अतः आचार्य एकांगी विद्वान् ही हुआ करते थे। कुलगुरु वसिष्ठ जी से रघुवंशी सभी राजाओं ने शिक्षा प्राप्त की थी, अतः वे अवश्य ही प्रत्येक प्रकार की विद्या जानने वाले होंगे। शास्त्र-वेद के साथ शस्त्र-शिक्षा, राजनीति आदि सभी विद्याएँ उन्होंने राजकुमारों को पढ़ाई होंगी। अतः गुरु एक से अधिक विषयों के ज्ञाता हुआ करते थे। आचार्य की अपेक्षा गुरु का स्थान बहुत उच्च है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल उपाध्याय को सांसारिक और विज्ञान-सम्बन्धी तत्त्वों का ज्ञाता कहते हैं[5]। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के द्वारा शब्दस्खलन हो जाने पर उस विद्या अर्थात् नाट्यशास्त्र के वेत्ता ने शाप दे दिया था। यही शाप देने वाले उपाध्याय के रूप में कवि के द्वारा विभूषित किए गए हैं। आश्रम में जो सब गुरुओं का गुरु अथवा ऋषियों का स्वामी होता था, कुलपति कहलाता था। सब उनकी आज्ञा उसी प्रकार शिरोधार्य करते थे, जैसे समस्त परिवार अपने

---

१. अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥——रघु०, १।३५

२. येन ममोपदेशस्त्वया लंघितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। ——विक्रम०, अंक ३, पृ० १९३

३. किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्याभ्यामत्रोपस्थानम्।
——माल०, अंक १, पृ० २७१

४. अपि संनिहितोऽत्र कुलपतिः ——अभि०, अंक १, पृ० ६

५. "The Adhyapaka seems to have been a teacher entrusted with the teaching of secular and scientific treatises whose later designation Upadhyaya is often mentioned in the Maha bhashya." ——India as known to Panini, Page 283

मुख्य ज्येष्ठ व्यक्ति का। वसिष्ठजी कुलगुरु के साथ कुलपति भी थे[१]। इसी प्रकार कण्व भी कुलपति कहलाते थे[२]।

यह गुरु प्रायः मुनि-स्वभाव के होते थे; परन्तु आज्ञा का उल्लंघन, किसी प्रकार का स्खलन[३] अथवा शिष्य की अविनयशीलता[४] इनको असह्य थी। वैसे ये अपने शिष्यों के प्रति अति सच्चे, सहानुभूति करने वाले और उदार थे। इनके लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे संन्यासी या ब्रह्मचारी अथवा गृही हों। कण्व संन्यासी और ब्रह्मचारी थे;[५] परन्तु वसिष्ठ सपत्नीक अरुन्धती के साथ ही रहते हुए अध्यापन किया करते थे[६]।

वेतन—कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि ठीक-ठीक विदित हो जाय कि अध्यापक या गुरु का वेतन कितना होता था। ऐसी सम्भावना हो सकती है कि शिक्षा की समाप्ति पर जो जितना देना चाहता था, दे देता था। उसके न दे सकने पर राजा का कर्तव्य था कि वह दे। न दे सकने पर विद्यार्थी का इतना अपमान नहीं था, जितना राजा का[७]। इसी गुरुदक्षिणा को वेतन कहा जा सकता है; परन्तु गुरु निर्धनता के कारण किसी का तिरस्कार करे और न पढ़ाए, ऐसा नहीं होता था। गुरु शिष्य की भक्ति से प्रसन्न होकर उसकी गुरु-भक्ति को ही गुरु-दक्षिणा समझ लेता था[८] और कुछ भी नहीं लेता था। कौत्स ऋषि के उदाहरण से इन सब बातों की पुष्टि होती है।

---

१. निर्दिष्टं कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्यप्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
—रघु०, १।९५

२. अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः—अभि०, अंक १, पृ० ९

३. न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः—विक्रम०, अंक ३, पृ० २९३

४. निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ —रघु०, ५।२१

५. भगवान् कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः।
—अभि०, अंक १, पृ० १९

६. विधेः सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ —रघु०, १।५६

७. गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः ॥ —रघु०, ५।२४

८. समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥ —रघु०, ५।२०

दक्षिणा गुरु माँगता था। अतः वह चाहे कुछ भी गुरुदक्षिणा में माँग सकता था। उसके द्वारा माँगे जाने पर शिष्य को कहीं-न-कहीं से लाकर गुरु को प्रार्थित वस्तु देनी होती थी। इसी को विद्यार्थियों की फीस या गुरु का वेतन कहा जा सकता है। यह दक्षिणा व्यक्ति और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती थी और चाहे तो गुरु नहीं भी लेता था। गुरु गुरुदक्षिणा के नाम से कभी-कभी क्रोधित भी बहुत होता था[1]। अतः निष्कर्ष निकलता है कि गुरु निस्स्वार्थ भाव से पढ़ाते थे और धन-प्राप्ति को बुरा समझते थे। मालविकाग्निमित्र में भी उस गुरु को बनिया कह कर ही तिरस्कृत दृष्टि से देखा गया है जो रुपये लेकर ज्ञान बेचता है। मालविकाग्निमित्र में आचार्य हरदास, आचार्य गणदास वेतन लेकर ही नृत्य की शिक्षा देते थे; परन्तु विदूषक के कहने के ढंग से कि 'देख ही क्यों न लिया जाय इन पेटुओं का करतब, नहीं तो इनको वेतन देकर पालने से लाभ ही क्या'[२] अवश्य ही वेतन लेकर पढ़ाना निन्दनीय समझा जाता था, ऐसी सम्भावना लगती है।

गुरुदक्षिणा में स्वर्ण-मुद्राओं[3] तथा गायों[४], दो का प्रसंग रघुवंश में आया है। यह उनकी अपनी ही सम्पत्ति हो जाती होगी, जिसे वे परिस्थिति के अनुसार अपने आश्रम में रहने वाले शिष्यों के ऊपर व्यय कर देते होंगे। निर्धन छात्रों को रखने के लिए अवश्य ही धन चाहिए। इसके अतिरिक्त आश्रमों में जीविका-उपार्जन के लिए खेती या अन्य कोई व्यवसाय न था। अतः जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए गाय से दूध, दही आदि की प्राप्ति और स्वर्ण-मुद्राओं से थोड़ा-बहुत अन्न और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती होगी।

विद्यार्थी

शिक्षा प्राप्ति की अवस्था--शैशव काल में विद्या का अभ्यास किया

---

१. निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ --रघु०, ५।२१

२. भवति पश्याम् उदरम्भरिसंवादम्। किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्।
--माल०, अंक १, पृ० २७४

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

४. अथैकधेनोरपनाधचंडाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः॥

जाता था[१]। चूल-संस्कार के पश्चात् विद्यारम्भ हो जाता था[२]। अतः सम्भावना यही है कि ५वें वर्ष में विद्या पढ़ानी प्रारम्भ कर दी जाती थी। थोड़ा-बहुत वर्णमाला का लिखना-पढ़ना इसी अवस्था में सीखते थे[३]। आरम्भ में तीन प्रकार की शिक्षा दी जाती थी—मौखिक और लिखित[४] तथा व्यावहारिक[५]। उपनयन-संस्कार के पश्चात् पूरी तौर से पढ़ाई प्रारम्भ हो जाती थी[६]।

विद्याध्ययन की अवधि—आश्रमों में उपनयन-संस्कार के पश्चात् बालक प्रविष्ट होते थे, इसके पूर्व बालक पिता से भी कुछ सीख सकता था। रघु ने बहुत-सी बातों की शिक्षा पिता से ही ली थी[७]। इसी प्रकार कुश ने भी विद्या अपने पुत्रों को पढ़ा दी थी[८]। आश्रमों में बालकों की शिक्षा युवावस्था तक होती थी। बाल्यावस्था व्यतीत करने के पश्चात् जब बालक युवावस्था में प्रवेश करता था तभी उसकी विद्याध्ययन की अवधि भी समाप्त हो जाती थी। इसी समाप्ति पर उसका विवाह होता था[९]। राजकुमार आयुस जब कवच धारण करने योग्य हो गया तब उसकी शिक्षा समाप्त हो गयी और वह पिता के पास पहुँचा दिया

---

१. शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्—रघु०, १।८

२. स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥ —रघु०, ३।२८

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २

४. न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिन्न तावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुंक्त स दंडनीतेः॥ —रघु०, १८।४६

५. व्यूह्य स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमनुद्धचूडोंऽचितसव्यजानुः।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः॥ —रघु०, १८।५१

६. अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवे गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥
—रघु०, ३।२९

७. त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्। —रघु०, ३।३१

८. तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदाम्वरः।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता॥ —रघु०, १७।३

९. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ८;
—महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः॥ —रघु०, ३।३२
—अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः। —रघु०, ३।३३

गया[1]। उसके आने पर उससे पिता ने कहा कि पुत्र अब तक तुम ब्रह्मचर्याश्रम में थे, अब तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो[2]। शकुन्तला और उसकी सखियाँ भी पूर्ण वयस्क थीं, जब वे आश्रम में रहती थीं और जब दुष्यन्त ने शकुन्तला के लिए पूछा था कि यह जन्म भर आश्रम में वैखानस का आचरण ही करेगी अथवा यह व्रत विवाह होने तक ही रहेगा[3]। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि युवावस्था तक शिक्षा चलती थी। सम्भवतः सात-आठ वर्ष से बाईस-तेईस वर्ष तक विद्याध्ययन की अवधि थी। परिस्थिति और व्यक्ति की विभिन्नता से अवधि में भी भिन्नता होगी। अतः कोई नियम नहीं लगता। मनु ने ब्राह्मणों का गोदान सोलहवें वर्ष में और क्षत्रियों का बाईसवें वर्ष में कहा है[4]। बालक जब कवच धारण करने योग्य हो जाता था तभी विद्याध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, कहकर कालिदास ने भी इसी बात की सम्भवतः पुष्टि की है।

छात्र का वेश, गुण और स्वभाव

छात्र-वेश—छात्र बहुत सादे वेश में रहते थे। ऋषि, मुनि की तरह वल्कल पहनना और कमर में मेखला बाँधना उनकी प्रधान वेश-भूषा थी[5]। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के कारण वे सिर पर जटाएँ और हाथ में पलाशदंड धारण करते थे[6]।

---

१. एष गृहीतविद्य आयुः सम्प्रति कवचहरः सम्वृतः। तदेतस्य ते भर्त्तुः समक्षं निर्यातितो हस्तनिक्षेपः।

—विक्रम०, अंक ५, पृ० २४८

२. आर्यवत्स उषितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्यासितुं तव समयः।

—विक्रम०, अंक, ५ पृ० २४९

३. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥

—अभि०, १।२५

४. केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबंधोर्द्वाविंशे वैश्यस्य त्वधिके ततः॥ टीका मल्लिनाथ,—रघु०, ३।३३

५. त्वचं च मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्। —रघु०, ३।३१

६. अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥ —कुमार०, ५।३०

छात्र के गुण और स्वभाव

पढ़ने में छात्र अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के होते थे[१]। ऐसे ही छात्र शीघ्रता से अपने ज्ञान की वृद्धि किया करते थे। अध्ययनशील और रात-दिन परिश्रम करने वाले विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हुआ करते थे। कौत्स ने अपनी सेवा और भक्ति से गुरु को इतना प्रसन्न कर लिया था कि उनके गुरु ने उन्हें १४ विद्याएँ पढ़ाई थीं[२]। श्रीराधाकुमुद मुकर्जी का कहना है कि विद्यार्थी $\frac{1}{4}$ भाग अपने गुरु से सीखता था, $\frac{1}{4}$ भाग अपनी कुशाग्र बुद्धि से, $\frac{1}{4}$ भाग अपने सहयोगियों से और शेष चौथाई समय और अनुभव उसे सिखा देता था[3]। वे अत्यन्त प्रगल्भवाक्[४] और विचक्षण[५] होते थे। अपवाद भी मिलता है, कोई-कोई अति उग्र स्वभाव वाले भी होते थे, जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शार्ङ्गरव।

शिष्य के विविध कर्म तथा कर्त्तव्य--शिष्य का काम गुरु को प्रसन्न रखना था, अतः हर प्रकार का छोटे-से-छोटा और तुच्छ-से-तुच्छ कार्य करने को वह प्रस्तुत रहता था। गुरु की भक्ति और सेवा ही गुरु की प्रसन्नता प्राप्ति का साधन था। शिष्य अपने गुरु की आज्ञा, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो, टालने का साहस नहीं करता था। कौत्स ऋषि ने अपने गुरु के आज्ञानुसार चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ कहीं-न-कहीं से लाकर दी ही थीं। गुरु के शब्द शिष्य के लिए प्रत्येक परिस्थिति में मान्य थे। रघुवंशी राजा वसिष्ठ की प्रत्येक आज्ञा का पालन

---

१. धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥ --रघु०, ३।३०
--अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते। --रघु०, ५।४

२. वित्तस्य विद्या परिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ --रघु०, ५।२१

३. A s udent learns a fourth form his acharya, a fourth from his own intelligence, a fourth from his fellow pupils and the remaining fourth in course of time by experience.
—Imperial age of Unity of India, Page 584

४. अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥ --कुमार०, ५।३०

५. वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे। --रघु, ५।१९

किया करते थे। ईन्धन जुटाना, समिधा लाना,[1] समय मालूम करना,[2] गुरु का आसन ढोना,[3] गुरु की अनुपस्थिति में अग्निहोत्र का काम करना[4] आदि शिष्यों के विविध कर्म थे। इनसे ही वे अपने गुरु को प्रसन्न रखा करते थे।

सुशिक्षित के लक्षण—ज्ञान और विनय दोनों का योग सुशिक्षित का लक्षण था। विद्या की तभी सार्थकता थी जब ज्ञान के साथ अहंकार का समावेश न करती हुई विनय को छात्र में बनाए रखे। शिक्षा आदि संस्कारों से नम्र रहना ही छात्र की विशेषता थी। रघु की यह विनयशीलता ही सबसे बड़ी विशेषता थी[5]।

विषय, शिक्षा-विभाग—सुविधा के लिए सम्पूर्ण विषयों का पृथक्-पृथक् समूहों में विभाजन हो सकता है।

शिक्षा—कालिदास ने सब अध्ययन के विषयों को 'विद्या'[6] ही कहा है।

---

१. वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्नि प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः॥ —रघु०, १।४९

२. वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन कण्वेन। प्रकाशं निर्गतस्तात्रदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति।
—अभि०, अंक ४, पृ० ६१

३. महेन्द्रभवनं गच्छता भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहितः।
—विक्रम०, अंक ३, पृ० १९२

४. अग्निशरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम्। —विक्रम०, अंक, ३ पृ० १९२
—सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव। —रघु०, १०।७१

५. वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत। —रघु०, ३।३४
— निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराज शब्दभाक्। —रघु०, ३।३५

६. शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां —रघु०, १।८
—अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः। —रघु०, १।२३
—वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्।
विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हसि॥ —रघु०, १।८८
—समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै। —रघु०, ५।२०
—वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु०, ५।२१
—सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव —रघु०, १०।७१
—तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः।
—रघु०, १८।५०

इस विद्या को कहीं वे तीन प्रकार की,[१] कहीं चार प्रकार की[२] और कहीं वे चौदह प्रकार की[३] कहते हैं। त्रयी विद्या में वेद, वार्ता और दंडनीति कहे जाते हैं[४]। वेद के अन्तर्गत चारों वेद, वेदांग—छन्द, मन्त्र, निरुक्त, ज्योतिष, व्याकरण, शिक्षा, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक; उपवेद में धनुर्वेद, आयुर्वेद, स्मृतिशास्त्र, इतिहास, काव्य, पुराण सब लिए जाते हैं। वार्ता के अन्तर्गत कृषि तथा व्यापार और दंडनीति में राजनीति। दंडनीति में सम्भवतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक का नीतिशास्त्र और उशनस् के सूत्र हों। कालिदास ने उशनस् का कुमारसम्भव में संकेत किया है[५]।

चार प्रकार की विद्या के अन्तर्गत अन्वीक्षिकी, वार्ता, त्रयी और दंडनीति आते हैं, मल्लिनाथ का ऐसा ही उद्धरण है[६]। अन्वीक्षिकी में दर्शन, तर्क; त्रयी में वेद-वेदांग; वार्ता में व्यापार और दंडनीति में राजनीति आते हैं। वार्ता[७] और दंडनीति[८] दोनों का प्रसंग कालिदास में हैं। कौटिल्य के मतानुसार अन्वीक्षिकी में सांख्य योग और लोकायत हैं[९]। कहना असंगत न होगा कि हिन्दू दर्शनशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का कवि ने संकेत किया है। मीमांसक का 'नित्यः शब्दार्थसम्बधः' का संकेत 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' में मिलता है[१०]। इसी प्रकार कुमारसंभव में शिव

---

१. स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः॥

२. धियः समग्रै स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ....।—रघु०, ३।३०

३. निर्बन्धसञ्जातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ --रघु०, ५।२१

४. तस्याधिगमस्य प्राप्तेर्मूलं तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्तादंडनीतिः ....।
—मल्लिनाथ टीका, रघु०, १८।५०

५. अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते।—कुमार०, ३।६

६. आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
एता विद्याश्चतस्रस्तुलोकसंस्थितिहेतवः॥ —टीका, रघु०, ३।३०

७. ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः। --रघु०, १६।२

८. न्यस्तक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुंक्त स दण्डनीतिः। --रघु०, १८।४६

९. अर्थशास्त्र, शास्त्री अनुवाद, पृ० ६।

१०. रघु०, १।१

की समाधि में पतञ्जलि के योगसूत्र का आभास[१], रघुवंश में रघु की समाधि[२] और कुमारसम्भव में शिव की समाधि में[3] योगशास्त्र का संकेत है। रघुवंश में राजा ब्रह्मिष्ठ, जो इसी रघुवंश के राजा थे, का प्रसंग है। इन्होंने जेमिनि ऋषि के शिष्य बनकर उनसे योग सीखा था और संसार के आवागमन से मुक्त हो गए थे। अतः जैमिनि के योग का भी साक्षात् प्रसंग कवि ने दिया ही है[४]।

जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है कि कवि चौदह प्रकार की भी विद्याओं का उल्लेख करता है। याज्ञवल्क्य और मनु चौदह प्रकार की विद्याओं में चार वेद,

---

१. किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥ —कुमार०, ३।४७
—अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥
—कुमार०, ३।४८
—कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ॥
—कुमार०, ३।४९
—मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ —कुमार०, ३।५०

२. अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥ —रघु०, ८।१७
—न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥ —रघु०, ८।२२
—अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ —रघु०, ८।२४

३. प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ —कुमार०, १।५९
—श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥
—कुमार०, ३।४०

४. महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मने कल्पत जन्मभीरुः ॥ —रघु०, १८।३३

छह वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र लेते हैं। सम्भवतः कवि का यही तात्पर्य रहा हो[1]।

संक्षेप में इन विद्याओं में सभी विषय आ गए, विभाजन चाहे किसी भी प्रकार किया गया हो।

वेद--ऋग्वेद तथा उसके उदात्तादि स्वरों का उल्लेख कवि ने कुमारसम्भव[2] और रघुवंश[3] में किया है। यजुर्वेद के अश्वमेध यज्ञ का प्रसंग मालविकाग्निमित्र[4] में है। अतिथि के राज्याभिषेक में अथर्ववेद[5] का नाम कवि ने लिया है। सामवेद[6] को भी कवि नहीं भूला। चारों वेदों को समष्टि रूप में उसने वेदविदां[7] शब्द से स्पष्ट किया है। श्रुति[8] शब्द भी रघुवंश में अनेक स्थानों में प्रयुक्त हुआ है।

ब्राह्मण ग्रन्थ—श्री मिराशी जी के मतानुसार कालिदास को अपने विक्रमो-

---

१. अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येता चतुर्दश ॥
(मल्लिनाथ द्वारा, रघु०, ५।२१ की टीका में उद्धृत)
—पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥--याज्ञवल्क्य स्मृति, १।३

२. उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्मयज्ञः फलं स्वर्गस्तासां स्वं प्रभवो गिराम् ॥ —कुमार०, २।१२

३. स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥ —रघु०, १५।७६

४. यतः प्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः....
—माल०, अंक ५, पृ० ३३९

५. पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभि.।
उपचक्रमिरे पूर्वम.भषेक्तुं द्विजातयः ॥ —रघु०, १७।१३
—अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ —रघु०, १।५९
—स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः.... —रघु०, ८।४

६. सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयंगमस्वनैः .... --कुमार०, ८।४१

७. इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण.... --रघु०, ५।२३

८. मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्.... --रघु०, २।२
--श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः···· --रघु०, ५।२
—गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्.... —रघु०, ५।२४

वंशीय का संविधानक ऋग्वेद १० का ६५ और शतपथ ब्राह्मण (५, १–२) की कथा से सूझा होगा। कवि ने ब्राह्मण ग्रन्थ पढ़े अवश्य थे। कुछ उपमाएँ वहाँ से ली मालूम होती हैं। राजा दिलीप की पत्नो को उन्होंने यज्ञपत्नी दक्षिणा के समान कहा है[1]। सम्भव है यह उन्होंने—'यज्ञोगन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः' इस ब्राह्मण वाक्य से कल्पित किया हो (मिराशी : कालिदास, पृ० ६१)।

स्मृति—स्थान-स्थान पर स्मृतियों का उल्लेख किया गया है। एक स्थान पर उपमा में आपने कहा है कि स्मृति श्रुति का अनुसरण करती है[2]। कुमार-सम्भव में शिव-पार्वती का विवाह और रघुवंश में अज और इन्दुमती का विवाह गृह्यसूत्रों के आधार पर है[3]। विवाह के वाद पति-पत्नी को कम-से-कम तीन रात तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और भूमि पर शयन—इस गृह्यसूत्र के नियम[4] का पालन शंकर जी ने किया था[5]। मनुस्मृति[6] के अनुसार राजा प्रजा का पालन किया करता था।

उपनिषद्—"परमेश्वर ने जल में अपना वीर्य डाला, जिससे यह चराचर सृष्टि पैदा हुई, सृष्टि के निर्माण के लिए भगवान् ने स्त्री-पुरुष का रूप धारण किया"—यह वात उपनिषद् में मिलती है। मिराशी जी का कथन है कि इसकी झलक कुमारसम्भव में हैं। यही नहीं, कुमारसम्भव में ब्रह्मा और शिव की, रघुवंश में विष्णु की स्तुति उपनिषदों के अध्ययन से निश्चित हुए एकेश्वर मत का निदर्शक है। उपनिषदों के परमतत्व ब्रह्म का उल्लेख कुमारसम्भव में है[7]। तीनों वेदों की शोभा उपनिषद् की अध्यात्म-विद्या से होती है—मालविकाग्निमित्र

---

१. तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥ —रघु०, १।३१

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ८—रघु०, २।२

३. मिराशी : कालिदास, पृष्ठ ६३

४. मिराशी : कालिदास, ,,

५. मिराशी : कालिदास, ,,

६. रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीतुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥ —रघु०, १।१७

—नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः। —रघु०, १४।६७

७. अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः।
स च त्वेदकेषु निपातसाध्यो ब्रह्मांगभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा॥ —कुमार०, ३।१५

में ऐसा प्रसंग भी है[1]। कवि ने वेदांग[2] शब्द का भी प्रयोग किया है, जिससे छन्द, व्याकरण, शिक्षा, उपनिषद् आदि सभी की पुष्टि होती है।

भगवद्गीता—अक्षर, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ आदि संज्ञाएँ तथा समाधि में चित्त को लय करने वाला योगी वायुहीन स्थल में दीपक के समान रहता है, भगवद्गीता में वर्णित है। इसका संकेत कुमारसम्भव में है। शिव जी की तपस्या में इन अक्षरों की--अक्षर क्षेत्रविद् और क्षेत्र[3]--प्रयुक्ति हुई है। उनकी तपस्या भगवद्गीता की वायुहीन स्थल में दीपक के समान कही गई है[4]।

गीता के बहुत-से सिद्धान्तों की प्रतिच्छाया कालिदास के ग्रन्थों में मिलती है–

(१) अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। (गीता, १५।१८)
हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः। —(रघु०, ३।४९)

(२) ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा--(गीता, ४।३७)
इतरोदहने स्वकर्मणा ववृतिज्ञानमयेन वह्निना। (रघु०, ८।२०)

(३) समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकांचनः। (गीता, १४।२४)
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकांचनः। (रघु०, ८।२१)

(४) नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि। (गीता, ३।२२)

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥ (रघु०, १०।३१)

इसी प्रकार आत्मा की अमरता, भगवान् की महानता, अनुग्रह, अभिव्यक्ति, अवतार, कर्मयोग, भक्ति, ज्ञान सब में गीता की झलक दीखती है।

शास्त्र—यद्यपि शास्त्र के अन्तर्गत अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र,

---

१. त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया --माल०, १।१४

२. सांगं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवौ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम्॥ --रघु०, १५।३३

३. मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ —कुमार०, ३।५०
—योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः॥ --कुमार०, ६।७७

४. अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवात निष्कम्पमिव प्रदीपम्॥—कुमार०, ३।४८

ज्योतिषशास्त्र आदि सभी लिए जा सकते हैं; परन्तु कवि ने इस शब्द का प्रयोग राजनीति के ही अर्थ में किया है[1]।

नीतिशास्त्र : राजनीति—राज्य चलाने के लिए सरल और कुटिल दोनों प्रकार की विद्याओं[2] का जानना परमावश्यक था। राज्य चारों ओर शत्रुओं से घिरा रहता था[3]। शत्रुओं का दमन करने के लिए और राज्य को सुसंगठित बनाने के लिए साम, दाम, दंड, भेद का उचित प्रयोग जानना आवश्यक था[4]। खोट शत्रुओं को उखाड़ फेंकना[5], गद्दी पर बैठते ही उसको जड़ जमाने से पूर्व उखाड़ देना,[6] दूसरे का बन्दी छोड़ने से पूर्व अपना बन्दो शत्रु से छुड़वाना[7] राजनीति का ही अंग है। दण्डनीति[8] भी इसी के अन्तर्गत रखो जा सकती है। दूसरों के साथ छल कर और धोखा देकर अपना काम निकालना भी राजनीति है। कवि इस विद्या को परातिसंधान विद्या[9] कहता है।

---

१. शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता —रघु०, १।१९
   —शास्त्रदृष्टमाह—माल०, अंक १, पृ० २६८
२. नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्।
   पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः॥ —रघु०, ४।१०
३. वाहतक प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः।—माल०, अंक १, पृ० २६८
४. इति क्रमात्प्रयुंजानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
   आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे॥
   —कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि।
   भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी॥
   —प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः।
   रणौ गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः॥ —रघु०, १७।६८, ६९, ७०
५. वाहतक प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय।
   —माल०, अंक १, पृ० २६८
६. अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
   नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥ —माल०, १।८
७. मौर्यसचिवं विमुंचति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
   मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः॥ —माल०, १।७
८. सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुंक्त स दण्डनीतेः। —रघु०, १८।४६
९. आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
   परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः॥—अभि०, ५।२५

दर्शनशास्त्र—अन्वीक्षी की व्याख्या करते समय पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दू दर्शनशास्त्रों के सभी सिद्धान्तों का कवि ने संकेत किया है। जैमिनि ऋषि के सिद्धान्त, पतञ्जलि का योगसूत्र और मीमांसा के सिद्धान्त कालिदास के ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं। समस्त जगत् में एक ही तत्व भरा है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं, यह वेदान्त शास्त्र की कल्पना सर्वत्र है। कुमारसम्भव में ध्यानावस्थित शिव का जो रूप कवि के द्वारा वर्णित है, उससे योगशास्त्र का अच्छा परिचय मिलता है। पर्यङ्कबन्ध[१] और वीरासन[२] आदि भी कवि के द्वारा चित्रित हैं। यही नहीं, वैशेषिक दर्शन से भी उनका पूर्ण परिचय था। रघुवंश में 'शब्द आकाश का गुण है' इसकी स्पष्ट व्यञ्जना है[3]। यदि सांख्य-सिद्धान्त देखते हैं, तो कुमारसम्भव में देखिए, जहाँ वे कहते हैं कि आपको ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए मनुष्य को प्रेरित करने वाली मूल प्रकृति कहते हैं और आप हो उस प्रकृति का दर्शन करने वाले उदासीन पुरुष भी माने जाते हैं[४]।

अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र की बहुत-सी संज्ञाएँ--प्रकृति, प्रशमन, मूल आदि कवि के द्वारा प्रयुक्त की गई हैं, जिन्हें नीतिशास्त्र के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है। अर्थशास्त्रकारों ने दिन और रात के विभिन्न विभाग किए हैं इसी के अनुसार राजा की दिनचर्या नियत को है। रघुवंश में इसकी स्पष्ट अभिव्यञ्जना है[५]। अर्थशास्त्र के नियमानुसार अग्निमित्र, पुरूरवा, दुष्यन्त की आमात्य परिषद् थी, जिसकी सलाह से राजा काम किया करते थे।

खगोल-शास्त्र—जामित्र[६], उच्च संस्थ[७] आदि संज्ञाओं के प्रयोग देखकर

---

१. पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवांकमध्ये ॥ --कुमार०, ३।४५
२. वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥–रघु०, १३।५२
३. अथात्मना शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥--रघु०, १३।१
४. त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्त्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ --कुमार०, २।१३
५. रात्रिं दिवं विभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम्।
तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥ --रघु०, १७।४९
६. अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।--कुमार०, ७।१
७. उच्चसंश्रयै रुच्चसंस्थैस्तुंगस्थानगैरसूर्यगैरनस्तमितैः ....टीका मल्लिनाथ,
—रघु०, ३।१३

इस विद्या के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। इसी प्रकार उपमा के लिए भी कवि इस शास्त्र के शब्द और सिद्धान्त लेता है, जैसे तारकासुर धूमकेतु की तरह लोगों का नाश करने के लिए उत्पन्न हुआ[१], जिस प्रकार शत्रु पर चढ़ाई करने वाला राजा, शुक्रयुक्त दिशा को वर्ज्य करता है तथैव नन्दी की आँख बचाकर मदन ने शंकर के तपोवन में प्रवेश किया[२]। चन्द्रमा का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से जब योग होता है तब मैत्र मुहूर्त होता है, ऐसे ही समय में सुहागिन स्त्रियों ने पार्वती के केश गूँथे[३]। इसी प्रकार मंगल वक्रगति से पूर्वराशि पर आता है[४] आदि सिद्धान्त, रोहिणी नक्षत्र[५], चित्रा, विशाखा[६] आदि सभी इस शास्त्र की संज्ञाएँ कवि ने अपने भाव-प्रकाशन अथवा उपमा के लिए प्रयुक्त कीं। पुनर्वसु नक्षत्र के समान रामचन्द्र और लक्ष्मण की शोभा थी[७]। जैसे वर्षा के दस नक्षत्रों में ठहरता हुआ सूर्य दक्षिण को घूम जाता है वैसे ही अतिथि-सत्कार करने वाले ऋषियों के आश्रमों में टिकते हुए राम भी दक्षिण की ओर चले[८]। ये उपमाएँ उपरोक्त कथन की पुष्टि करती हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि निर्मल चन्द्रबिम्ब पर पड़ी पृथ्वी की छाया को ही सब चन्द्रमा

---

१. भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः।
उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः॥ —कुमार०, २।३२

२. दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश॥ —कुमार०, ३।४३

३. मैत्रे मुहूर्त्ते शशलांछनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः॥
—कुमार०, ७।६

४. यावदांगारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति।
—माल०, अंक ३, पृ० ३१२

५. एष रोहिणी संयोगेनाधिकं शोभते भगवान् मृगलाञ्छनः।
—माल०, अंक ३, पृ० २०२

६. चित्रलेखाद्वितीयां प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखासहित इव भगवान्सोमः समुपस्थितो राजर्षिः। —विक्रम०, अंक १, पृ० १६१

७. तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसुः —रघु०, ११।३६

८. प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः। —रघु०, १२।२५

का कलंक कहते हैं[1]। नक्षत्रों में उन्होंने बुध और बृहस्पति[2] को भी नहीं छोड़ा। 'उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्'--अभि०, ७।२२। चन्द्रपूर्णिमा के दिन सागर में ज्वार आता है—'चन्द्रप्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली....'(रघु०, ५।६१) 'चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः' --(कुमार०,३।६७) सूर्य की प्रभा ही संसार को जीवनदान करती है--'लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः' (रघु०, ५।४), सूर्य की किरणों से ही चन्द्रमा में ज्योति आती है--'करेण भानोर्बहुलावसाने सन्धुक्ष्यमाणेव शशांकरेखा'--(कुमार०, ७।८)। इसी बात को २००० वर्ष बाद अंग्रेजी कवि शैली ने लिखा--

"The moon had fed exhausted form at the sunset's fire"

नाट्यशास्त्र—विक्रमोर्वशीय में कवि ने भरतमुनि-प्रणीत नाटक का नाम लिया है[3]। मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में पंचांग अभिनय,[4] छलिक नृत्य[5], कुमारसम्भव में शिव-पार्वती के विवाह के पश्चात् श्रृंगार आदि रसों वाला और सन्धियों से युक्त अप्सराओं द्वारा खेला गया नाटक नाट्यशास्त्र के विस्तृत परिचय की पुष्टि करता है[6]। इसमें सन्धि, वृत्ति, रस, राग सभी संज्ञाओं के नाम आए हैं।

भौतिक-शास्त्र--भौतिक-शास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों का प्रतिपादन कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है, अतः यह विषय उस समय प्रचलित अवश्य होगा। एक स्थान पर कवि कहता है कि सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जल सोख लेता है और सहस्र गुना बरसा देता है[7]। लगभग इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति कुमारसम्भव में है—नदियाँ गरमी में सूर्य की किरणों को जल पिला कर छिछली हो

---

१. छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः।
—रघु०, १४।४०

२. दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम्।
—रघु०, १३।७६

३. तस्मिन्पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरे तन्मयी आसीत्। —विक्रम०, अंक, ३ पृ० १९२

४. देव शर्मिष्ठायाः कृतिं चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति।
—माल०, अंक, १ पृ०, २७८

५. इदानीमेव पंचागादिकमभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति। —माल०, अंक, १ पृ० २६६

६. तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्त्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम्॥ —कुमार०, ७।९१

७. सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः। —रघु०, ४।२८

जाती हैं, उन्हीं नदियों में वर्षा आने पर बाढ़ आ जाती है[1]। इसी का कुछ परिवर्त्तित रूप पुनः रघुवंश में दीखता है[2]। धुएँ, अग्नि, जल, वायु के मेल से ही बादल की सृष्टि होती है[3], पहली वर्षा को झड़ी बड़ी गरम होती है[4], जंगल की लकड़ी की आग चाहे पृथ्वी को जला दे; पर पृथ्वी को अति उपजाऊ बना देती है,[5] आदि बातों से उनके भौतिकशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान का सुष्ठु परिचय मिलता है।

फलित ज्योतिष-शास्त्र—मालविका के विषय में एक साधु ने भविष्य में होने वाली वार्त्ता व्यक्त की थी कि इसे एक वर्ष तक दासी होकर रहना पड़ेगा; पर इसके पश्चात् बड़े योग्य पति से इसका विवाह हो जायगा[6]। यह भविष्यवाणी पूरी हो गई थी, अतः इस शास्त्र के अस्तित्व की भी पुष्टि होती है।

काम-शास्त्र—कण्वमुनि का शकुन्तला को उपदेश वात्स्यायन के कामसूत्र से बहुत मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में सखियों की राजा से बातचीत शकुन्तला की लज्जा बहुत-कुछ कामसूत्र के 'कन्या संप्रयुक्तक' अधिकरण आधार पर है। इसमें यह बताया गया है कि लज्जा-परवश युवती को अपने प्रियतम से किस प्रकार बोलना चाहिए। 'उसको चाहिए कि अपनी सखियों द्वारा प्रियतम से सम्भाषण प्रारम्भ करे। वार्त्तालाप के मध्य में कभी-कभी सिर झुका कर स्मित हास्य करे। सखी के व्यंग्य करने पर क्रोधित हो और उसके कहने पर कि 'नायिका ने मुझसे ऐसा कहा है, अस्वीकार करे'। यही नहीं, आगे भी कहा गया है कि 'प्रियतम द्वारा उत्तर की याचना होने पर भी मुख से एक शब्द भी न निकाले और यदि कुछ निकाले भी तो वह अस्पष्ट रहे। प्रियतम को देख कर नेत्र-कटाक्ष फेंके और स्मित हास्य करे'। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में इसकी बहुत-कुछ छाया है। अज और इन्दुमती की अवस्था

---

१. रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदो। —कुमार०, ४।४४
२. गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि। —रघु०, १३।४
३. धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः —मेघदूत, पूर्वमेघ, ५
४. काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुंचतो वाष्पमुष्णम्। —पूर्वमेघ, १२
—तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुंचदूर्ध्वगम्।
—कुमार०, ५।२३
५. कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति।
—रघु०, ९।८०
६. माल०, अंक ५, पृ० ३५१।

का वर्णन कवि ने कामसूत्र के अनुसार ही किया है। अग्निमित्र के विदूषक को इरावती ने कामतन्त्र-सचिव कहा है[१]। 'विवाह' अध्याय के अन्तर्गत पहले ही कामशास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों की पुष्टि की जा चुकी है।

धर्मशास्त्र—धर्मशास्त्र के अनुसार निस्सन्तान मनुष्य का धन राजकोष में मिला लिया जाता है। इसका संकेत अभिज्ञानशाकुन्तलम् में है[२]। किस अपराध का क्या दण्ड मिलना चाहिए, रघुवंशी राजा यह बात भली-भाँति जानते थे[३]।

इतिहास—मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र का सेनापति की पदवी बनाए रखना और अश्वमेध यज्ञ करना आदि ऐतिहासिक बातें हैं। वाल्मीकि रामायण, पुराण आदि का भो ज्ञान कवि को है अतः इतिहास विषय अवश्य उस समय रहा होगा। शकुन्तला में इतिहास शब्द का प्रयोग आया है[४]।

भूगोल—भूगोल भी शिक्षा के विषयों में से एक था, कुमारसम्भव और समस्त मेघदूत इसके साक्षो हैं। हिमालय पर्वत का सांगोपांग वर्णन, सिन्धु के किनारे केसर की उत्पत्ति[५], बंगाल के शालि धान्य[६], दक्षिण में ताम्रपर्णी के तीर पर मोतियों के कारखाने[७], नगर वर्णन, अलकापुरी तक की यात्रा, पर्वत, नदी, पर्वत पर रात्रि के समय ओषधियों का चमकना[८] आदि इसके पुष्ट प्रमाण हैं। दक्षिण दिशा में समुद्र के किनारे सुपारी के पेड़[९], मलयाचल

---

१. इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः। --माल०, अंक ४, पृ० ३३५

२. राजगामो तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्।
--अभि०, अंक ६, पृ० १२१

३. यथापराधदण्डानाम् --रघु०, १।६

४. यादृशो इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशी ते पश्यामि।
—अभि०, अंक ३, पृ० ४४

५. विनीताध्वश्रमास्तस्य सिंधुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कंधांल्लग्नकुंकुमकेसरान्॥ —रघु०, ४।६७

६. आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्द्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥ —रघु०, ४।३७

७. ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥ —रघु०, ४।५०

८. सरलासक्तमातंगग्रैवेयस्फुरितत्विषः।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः॥ --रघु०, ४।७५

९. ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्यचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ॥ --रघु०, ४।४४

की तराई में काली मिर्च[1] आदि कवि के भौगोलिक ज्ञान की पुष्टि करते हैं। रघु की दिग्विजय और मेघदूत भूगोल के सर्वसुन्दर उदाहरण हैं।

व्याकरण—रघुवंश, प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' तथा 'क्षतात्किलत्रायत' (रघु०,२।५३) आदि से स्पष्ट होता है कि कवि के समय में शब्दों का इतिहास और उनका उत्पत्ति-सम्बन्धी ज्ञान उन्नत दशा में होंगे। एक स्थान पर वर-वधू का मिलन कवि प्रकृति और प्रत्यय का संयोग कहता है[2]। रघु,[3] अज[4] और प्रियंवदा[5] नामों की उत्पत्ति भी उसने स्पष्ट की है। शत्रुघ्न की वीरता की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है कि रामाज्ञा से उनके पीछे सेना चल पड़ी; किन्तु वह वैसे ही व्यर्थ थी, जैसे 'इ' धातु के पीछे 'अधि' उपसर्ग। अतः व्याकरण भी विकसित विषय होगा[6]।

शिक्षा—उदात्त, अनुदात्त स्वर,[7] उच्चारण[8] आदि के विषय में कुमारसम्भव और रघुवंश में प्रसंग हैं।

काव्य—कालिदास आदिकवि वाल्मीकि के ऋणी हैं। रामायण का प्रसंग दो स्थानों पर आया है[9]। कवि के सभी कथानक पुराण से लिए गए हैं, अतः

---

१. बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः॥ —रघु०, ४।४६

२. सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः। —रघु०, ११।५६

३. श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥ —रघु०,३।२९

४. ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार॥ —रघु०, ५।३६

५. अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम्। —अभि०, अंक, १ पृ० १३

६. रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्॥ —रघु०, १५।९

७. उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥ —कुमार०, २।१२

८. पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती॥ —रघु०, १०।३६

९. अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ —रघु०, १।४
—सांगं च वेदमध्याप्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवौ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम्॥ —रघु०, १५।३३

पुराण भी उस समय पढ़े और पढ़ाए जाते होंगे। राम और लक्ष्मण को साथ ले जाते हुए विश्वामित्र मार्ग में उन्हें अनेक कहानियाँ सुनाते चलते हैं[१]। ये पुराणों के ही कथानक होंगे। प्राचीन कवियों और उनके काव्यों का ज्ञान भी छात्रों को कराया जाता होगा। स्वयं कवि अपने पूर्ववर्ती भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि के नाम लेता है[२]।

टेक्निकल शिक्षा (Technical Education)

उपवेद : आयुर्वेद—मालविकाग्निमित्र की कौशिकी आयुर्वेद जानती थी। उसने साँप काटे का इलाज बताया है कि या तो उस अंग को काट देना चाहिए या जला देना चाहिए अथवा घाव में से लहू निकाल दिया जाय तो प्राणी के प्राण बच जाते हैं[३]। रघुवंश में कवि उपमा देता है कि रघु दुष्टों का उसी प्रकार परित्याग कर देता था, जैसे साँप से डसी उँगली काट दी जाती है[४]। मद्यपान से मतवाले मनुष्य को मिश्री और भी उन्मत्त कर देती है[५]।

धनुर्वेद—अंकुश,[६] अलान,[७] अलीढ़ आदि संज्ञाएँ और जंगली हाथी को नहीं मारना चाहिए,[८] हाथियों को एकत्र करना[९] राजा की कुशलता है, आदि धनुर्वेद के विषय हैं।

---

१. पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः। —रघु०, ११।१०

२. प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।
—माल०, अंक० १, पृ० २६१

३. छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥ —माल०, ४।४

४. त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदंगुलीवोरगक्षता। —रघु०, १।२८

५. वयस्य एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता।
—माल०, अंक०, १ पृ० २९६

६. सः प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत्।
अंकुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः॥ —रघु०, ४।३९
—नखांकुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहं प्रहृतं वहन्ति। —रघु०, १६।१६

७. गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः। —रघु०, ४।६९

८. तत्र स द्विरदबृंहितशंकी शब्दपातिनमिषुं विससर्ज। —रघु०, ९।७३
—नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलंघ्य यत्। —रघु०, ९।७४

९. ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः। —रघु०, १६।२

सैनिक-शिक्षा (Military Education)

धनुर्विद्या तथा अन्य शस्त्रों की शिक्षा—धनुर्विद्या तथा शस्त्र-संचालन क्षत्रियों की शिक्षा का मुख्य अंग है। क्षत्रियों का काम रक्षा करना था। उनके हाथ में सदा धनुष रहता था, जिसे वे किसी भी अवस्था में पृथक् नहीं कर सकते थे[१]। इसलिए धनुर्विद्या शिक्षा का मुख्य अंग था। रघुवंशी सभी राजा धनुष चलाने में निपुण थे। राजा दिलीप धनुष चलाने में अद्वितीय थे[२]। रघु की दिग्विजय उनके शस्त्र-संचालन की योग्यता की द्योतक है। अज भी स्वयंवर से लौटकर सब राजाओं से युद्ध करते हुए विजयी हुए। दशरथ का निशाना अचूक था[3]। श्रवणकुमार इसी कारण नहीं बच सका। राम का धनुष तोड़ना, राम-रावण युद्ध उनकी रण-दक्षता का साक्षी है। राजा सुदर्शन छोटे ही थे; पर बाल्यावस्था में ही धनुष चलाना सीख गए थे[४]। कालिदास का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं जहाँ इस विद्या का अस्तित्व न हो। पुरूरवा का उर्वशी-उद्धार, दुष्यन्त का माढव्यरक्षा के हित धनुष-बाण उठा लेना, मालविकाग्नि में वसुमित्र की विजय इसके जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। विक्रमोर्वशीय में आयुस ने इस विद्या का भलीभाँति अध्ययन किया था। 'गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः' इसका पुष्ट प्रमाण है[५]।

धनुष के अतिरिक्त अन्य शस्त्र भी थे। इनमें शूल[६], शक्ति[७], परशु[८], चक्र[९],

---

१. कुमारश्चापगर्भमंजलिं बद्ध्वा प्रणमति। —विक्रमो०, अंक ५, पृ० २४५
—मातृंक च धनुरूर्जितं दधत्। —रघु०, ११।६४

२. शास्त्रेष्वकुंठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता। —रघु०, १।१९

३. रघु०, सर्ग ९ सम्पूर्ण।

४. व्यूह्य स्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥—रघु०,१८।५१

५. विक्रम०, अंक ५, पृष्ठ २४६।

६. दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति। —रघु०, १५।५

७. ततो विभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम्।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ —रघु०, १२।७७

८. कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम। —रघु० ११।७८

९. आधोरणानां गजसन्निपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः।—रघु०, ७।४६

परिघ[1], मुद्गर[2], क्षुरप्र[3], भल्ल[4], गदा[5], शतघ्नी[6], खड्ग[7] और कूट शाल्मली[8] के नाम लिए जा सकते हैं। समय-समय पर पत्थर भी फेंके जाते थे[9]। मन्त्र पढ़ कर अस्त्र फेंकना भी सबको सिखाया जाता था। इनमें गन्धर्वास्त्र[10], मोहनास्त्र[11] और ब्रह्मास्त्र[12] के नाम लिए जा सकते हैं। चक्र और विषैले अस्त्रों[13] का भी प्रयोग हुआ करता था।

बाण कई प्रकार के थे, किसी में कंक का पर[14] और किसी में मोर का पर[15]

१.२. पादपाविद्ध परिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतंगजः ॥ —रघु०, १२।७३

३. प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमांगान्खड्गाश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः।
—रघु०, ६।६२
—यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्ज मायया।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ —रघु, ११।२९

४. भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्। —रघु०, ४।६३
—तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुङ्कारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः। —रघु०, ७।५८
—चमरान्परितः प्रवर्त्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी —रघु०, ९।६६

५. व्यश्वौ गदाव्यायतसम्प्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ —रघु०, ७।५२

६. अयः शंकुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ —रघु०, १२।९५

७. कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमांगः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य —रघु०, ७।५१

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६

९. नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् —रघु०, ४।७७

१०. गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः —रघु०, ७।६१

११. सम्मोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् —रघु०, ५।५७

१२. अमोघं सन्दधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ —रघु०, १२।९७

१३. पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ —अभि०, ६।९

१४. वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकंकपत्रे।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुंख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ —रघु०, २।३१

१५. जहार चान्येनमयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् —रघु०, ३।५६

लगा रहता था अथवा अन्य किसी भी पक्षी का पर। कोई साँप की तरह होता था,[१] कोई अर्द्धचन्द्र की तरह[२]। कोई-कोई प्रकाश निकालता हुआ चलता था[३]। किसी पर नाम खुदा रहता था[४]।

सेना के कई विभाग थे। पैदल[५], घुड़सवार,[६] रथ,[७] हाथी,[८]

---

१. तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः —रघु०, ३।५७
२. रघुः शशांकार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः —रघु०, ३।५९
३. महीध्रपक्षव्यरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे। —रघु०, ३।६०
४. वाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः। —रघु०, ७।३८
—नामांकरावणशरांकितकेतु........—रघु०, १२।१०३
—निवेशयामास मधुद्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य। —कुमार०, ३।२७
—भुजे शचीपत्रविशेषकांकिते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् —रघु०, ३।५५
—उर्वशीसम्भवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः।
कुमारस्यायुषो वाणः प्रहर्त्तुर्द्विषदायुषाम्॥ —विक्रम०, ५।७
५. पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरंगसादी तुरगाधिरूढम्।
यन्ता गजस्याभ्यपतद् गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि वभूव युद्धम्॥ —रघु०, ७।३७
६. संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत्॥ —रघु०, ४।६२
—ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः॥ —रघु०, ४।७१
७. रथ—देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५
—पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम्। —रघु०, ३।४२
—प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद्रथादीतिः चतुःस्कन्धेव सा चमूः॥ —रघु०, ४।३०
—न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम्।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम्॥ —रघु०, ४।८२
—इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्।
रजो विश्रामयन्राज्ञां क्षत्रशून्येषु मौलिषु॥ —रघु, ४।८६
८. हाथी—देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५
—रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्॥ —रघु०, ४।२९
—प्रतिजग्राह कालिंगस्तमस्त्रैर्गजसाधनः —रघु०, ४।४०
—यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः। —रघु०, ६।५४

नौसेना[1]। अतः प्रत्येक प्रकार की गतिविधि अर्थात् कैसे घुड़सवार को लड़ना चाहिए, कैसे हाथी पर बैठ कर, आदि-आदि भी अवश्य सिखाया जाता होगा।

कालिदास ने सेना का वर्णन करते हुए छह प्रकार की सेना का वर्णन किया है;[2] परन्तु ये प्रकार रथ, पैदल आदि की तरह नहीं हैं। सेना कितनी स्थायी थी, कितनी अस्थायी, सेना की वृद्धि किस प्रकार होती थी, आदि-आदि ही उनसे स्पष्ट होता था। जो भी हो, इससे इतना अवश्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सैनिक-शिक्षा का उस समय प्रचार था।

ललितकला

संगीत—संगीत के तीनों प्रकार : कंठ्य, वाद्य और नृत्य का उल्लेख कवि ने किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में गाया हुआ गीत इतना सुन्दर था कि सब प्रेक्षक उसमें तल्लीन हो गए थे। इसी प्रकार हंसपदिका का उलाहना भरा गीत, लव और कुश का रामायण-गान आदि इस कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पार्वती के मुख से त्रिपुर-विजय के गीत सुनकर किन्नरियाँ आँसू बहाती थीं। मूर्च्छना, ध्वनि, वर्णपरिचय, षड्ज, मध्यम आदि संज्ञाएँ भी यथास्थान प्रयुक्त हैं।

---

१. नौसेना--वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तंभान्गंगास्रोतोन्तरेषु सः॥ --रघु०, ४।३६

२. षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया --रघु०, ४।२६
—स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः —रघु०, १७।६७

मल्लिनाथ की टीका के अनुसार ६ प्रकार—मौलाः, भृत्याः, श्रेणयः, सुहृदः, द्विषदः, आटविकाः, थे।

मौलाः --उच्चकुल के व्यक्ति और जिनके यहाँ यह पेशा पुश्तैनी (मौरूसी) था।

भृत्याः —वेतनभोगी।

सुहृदः —मित्र के रूप में दूसरे राजाओं की सेना।

श्रेणयः —अस्थायी सेना, आवश्यकता पड़ने पर जिसको बुला लिया जाय, यह श्रेणी वर्ग के व्यक्ति थे।

द्विषदः —जिसके ऊपर आक्रमण किया जा रहा हो, उसके शत्रु हों और नाश करना चाहते हों।

आटविकाः —जंगल के रहने वाले।

नोट : 'ललितकला' अध्याय के अन्तर्गत इन सबके उदाहरण दिए जा चुके हैं।

वाद्य में मृदंग, वीणा, वंशी आदि की शिक्षा सर्वप्रिय होगी। इन्दुमती ललितकलाओं की शिक्षा अपने पति से लिया करती थी। यक्ष-पत्नी का वीणा-वादन यक्ष को विरह में याद आता है। प्रातःकाल स्वरों के आरोहावरोह का अनुसरण कर तारों पर हाथ फेरने वाले मंगल गीतों से शंकर जाग्रत हुए थे।

मालविका का छलित नृत्य, नृत्यकला की दृष्टि से उत्तम था। रानी इरावती भी नृत्यकला की शिक्षा लिया करती थी। उस समय वेश्याएँ भी थीं, जिनका नाचने-गाने का पेशा था। कौशिकी का निर्णय पुष्टि करता है कि वह इस कला में विशारद होगी। अग्निवर्ण वेश्याओं से जब भूल होती थी तब उसे सुधार देता था। अग्निमित्र के समय संगीतशाला भी थी।

काव्य-कला—उर्वशी का पत्र श्लोक रूप में था। शकुन्तला का प्रणय-निवेदन भी काव्यबद्ध था। यही नहीं, कालिदास की उत्कृष्ट काव्यकला इसका सर्वसम्मत प्रमाण है कि यह कला अपने चरम विकसित रूप में थी।

चित्रकला—दुष्यन्त, पुरूरवा, यक्ष, यक्षपत्नी, इन्दुमती सब इस कला में निपुण थे। मालविका का चित्र देखकर ही अग्निमित्र आकर्षित हुआ था। पुरूरवा से उसके मित्र ने कहा था कि उर्वशी से मिलने का उपाय ही यही है कि या तो आँख बन्द कर सो जाओ अथवा चित्र बनाकर देखो। दुष्यन्त का बना चित्र साक्षात् खड़ी शकुन्तला का प्रतीक था। सुन्दर चित्र के लिए दुष्यन्त पृष्ठभूमि की आवश्यकता भी समझता था।

मूर्तिकला—कमलों से भरे ताल में उतरते हाथी, सूँड़ से कमल की डंठल तोड़ती हथिनियाँ मूर्ति में ही इतनी सजीव थीं कि इनके मस्तकों को सिंहों के बच्चों ने सच्चा हाथी समझकर फाड़ डाला था। खंभों पर स्त्रियों की मूर्त्तियाँ भी बनाई जाती थीं। अतः मूर्तिकला भी उस समय जाग्रत थी।

वास्तुकला—देवी-देवताओं के मंदिर, राजपथ, महल, अटारी, झरोखे, सरोवर आदि का विशद् विवरण इस कला के परिपक्व स्वरूप का उदाहरण है। पुल बनाने का प्रसंग भी यत्र-तत्र मिलता है।

उपयोगी शिक्षा

औद्योगिक शिक्षा—इसके अन्तर्गत छोटी-छोटी असंख्य विद्याएँ आ जाती हैं। शस्त्र-संचालन से निष्कर्ष निकलता है कि शस्त्रों का निर्माण भी होता होगा। आभूषणों के विवरण से कहा जा सकता है कि सुनार भी होते होंगे जो

नोट : 'ललितकला' के अन्तर्गत इनके उद्धरण दिए जा चुके हैं।

मणि आदि को जड़ते और तराशते थे[१]। मिट्टी के खिलौने[२], प्रतिदिन के व्यवहार के बर्तन, घड़ों के निर्माण का भी कौशल था। वस्त्रादि का बुनना भी सिखाया जाता होगा। विवाहादि के अवसर पर सुगंधित तेल, इत्र, चूर्ण आदि का प्रयोग सिद्ध करता है कि इसकी कला जानने वाले भी थे। कवि सेंध लगाने की विद्या तक का प्रसंग देता है[3]। नाव आदि भी बनाई जाती होंगी। रघु के पास ऐसे साधन थे कि मरुभूमि में जल की धाराएँ वह सकती थीं। खुले जंगलों में खुला मार्ग बन जाता था और नदियों पर पुल। (रघु०, ४।३१)।

कृषि-विद्या—एक स्थान से पौदे उखाड़ कर दूसरी जगह वोने से खेती अच्छी होती है (रघु०, ४।३७)।

मंत्रादि की सिद्धि—अपराजिता,[४] जिसको शिखाबन्धिनी विद्या भी कहते हैं तथा तिरस्करिणी[५] जिसकी सिद्धि पर कोई उस व्यक्ति को देख नहीं पाता, के वर्णन से कहा जा सकता है कि मंत्रों की सिद्धि भी की जाती थी।

लेखनकला—पढ़ने के साथ-साथ लिखना भी सिखाया जाता था। उर्वशी द्वारा लिखा गया प्रणय-पत्र[६], शकुन्तला का पत्र-लेखन[७], इसके साक्षी हैं।

---

१. दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ —रघु०, ३।१८

२. मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति।
—अभि०, अंक ७, पृ० १३५

३. कर्मगृहीतेनापि कुंभीलकेन संधिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्य भवति।
—माल०, अंक ३, पृ० ३१०

४. भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबंधन विद्यामुपदिशता त्रिदश-प्रतिपक्षस्यालंघनीये कृते स्वः। —विक्रम०, अंक २, पृ० १३९
—एषाऽपराजिता नाम........—अभि०, अंक ७, पृ० १३६

५. तिरस्करिणी प्रतिच्छन्ना पार्श्वगतस्यभूत्वा श्रोष्यामि।
—विक्रम, अंक २, पृ०१७७
—उद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छलाच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।
—अभि०, अंक ६, पृ० १०२

६. स्वामि-संभाविता यथाहं त्वया अज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि....
यह संदेश "भूर्जपत्रगतमक्षरविन्यासः" ही था। --विक्रम०, २।१२

७. एतस्मिन्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैः निक्षिप्तवर्णं कुरु।
तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रिमपि.... ॥
--अभि०, अंक ३, पृ० ४६

मुण्डन-संस्कार के पश्चात् रघु ने वर्णमाला लिखना-पढ़ना सीखा था[1]। सुदर्शन के भी लिखना सीखने का संकेत है[2]। मालविकाग्निमित्र में राजनैतिक कार्यों की सूचना कि मगध को उखाड़ फेंको, लिखकर ही भेजी गई होगी। कुमार वसुमित्र ने किस प्रकार अश्वमेध यज्ञ में घोड़े की रक्षा की, इसकी सूचना पत्र से ही आती है[3]।

पत्र ही नहीं, जीवनचरित्र भी लिखे जाते थे। दुष्यन्त की कीर्ति कल्पवृक्षों के बने वस्त्र पर लिखी थी, ऐसा कवि कहता है[4]। इसी प्रकार अन्य जीवन-चरित्र भी लिखे जाते होंगे। लेखन-कला के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। शकुन्तला को दी गई अंगूठी पर लिखा दुष्यन्त का नाम[5], आयुस के बाण पर लिखा उसका परिचय[6] इसकी पुष्टि करते हैं।

अध्ययन के साधन—लिखने के लिए अक्षर-भूमिका[7], भूर्जपत्र[8] तथा पत्तों[9] का प्रसंग है। अक्षर-भूमिका तख्ती का प्राचीन रूप हो सकती है। कमलों पर शकुन्तला ने पत्र लिखा था। भूर्जपत्र पर उर्वशी ने हृदयगत भाव व्यक्त किए थे। भूर्जत्वचा भी लेखन-साधन थी[10]।

कवि का 'लेखसाधनम्'[11] शब्द इंगित करता है कि लेखन साधन भी थे;

---

१. लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् —रघु०, ३।२८
२. न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कात्स्न्र्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् —रघु०, १८।४६
३. उपविश्य लेखं सोपचारं गृहीत्वा वाचयति स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनोपति....
—माल०, अंक ५, पृ० ३५२
४. विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांऽशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति॥ —अभि०, ७।५
५. उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः —अभि०, अंक १, पृ० २२
६. उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः। कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्द्विषदायुषाम्॥
—विक्रम०, ५।७
७. न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कात्स्न्र्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
—रघु०, १८।४६
८. भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः। —विक्रम०, अंक २, पृ० १८०
९. एतस्मिंशुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु। —अभि०, पृ० ४९
१०. न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुंजरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनंगलेखक्रिययोपयोगम्॥ —कुमार०, १।७
११. न खलु संनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि। —अभि०, अंक ३, पृ० ४९

पर क्या, यह स्पष्ट नहीं होता। कुमारसंभव में धातुरस[१] शब्द आया है जिसकी व्याख्या मल्लिनाथ 'सिंदूरादि द्रवेण' करते हैं। अनुमान है सिन्दूर, मनःशिल (मैनसिल), गेरू आदि का प्रयोग लिखने के लिए किया जाता होगा। मेघदूत में आया 'धातुराग'[२] शब्द भी यथाकथित कथन की पुष्टि करता है। नख से भी लिख लिया जाता था[3]।

लेखनशैली—प्रारंभ में आशीर्वाद या स्वस्ति वचन अवश्य लिखे जाते थे[४]। पत्र गद्य तथा पद्य दोनों में लिख सकते थे। वसुमित्र का पत्र गद्य में था; परन्तु शकुन्तला और उर्वशी के पद्य में।

शिक्षण-पद्धति (Method of Teaching)

व्यक्तिगत शिक्षण (Individual Teaching)—शिष्य की योग्यता के अनुसार पढ़ाया जाता था। एक ही शिक्षा सबको न दी जाती थी। 'नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत्'[५] से ही समस्त शिक्षण-पद्धति स्पष्ट हो जाती है। आधुनिक काल में जिस वैधानिक पद्धति का आविष्कार हुआ है—(From part to whole) अंश से सम्पूर्ण, स्थूल से सूक्ष्म, वह यही पद्धति थी।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी आत्मनियंत्रण और अनुशासन को साधन मानते हैं[६]। चित्त की एकाग्रता को उस समय प्रधानता दी जाती थी। अहंभाव (Individuation) को तिरस्कृत किया जाता था; क्योंकि इस भावना से अज्ञान, बंधन और अपवित्रता आती थी। संक्षेप में शिक्षा चित्तवृत्तिनिरोध थी[७]।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन (अभ्यास) शिक्षण-पद्धति की सीढ़ियाँ थीं इनसे होकर ही छात्र ज्ञान की प्राप्ति करता था[८]। सुश्रूषा (जिज्ञासा), श्रवणम्,

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १०

२. त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्.... —उत्तरमेघ, ४७

३. क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः —अभि०, ३।२४

४. स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं....
—माल०, अंक ५, पृ० ३५२

५. लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् —रघु०, ३।२८

६. Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. XXV. Glimpses of Education in Ancient India by Radha Kumud Mukerjee, Page 67-68.

७. "Individuation sheets out omniscience. It is bondage, it links vision Iudividuation is death." —Same book, Page 68,

८. Same book, page 68-71.

ग्रहणम्, वारणम् (Ratention), उपोह (Discussion), विज्ञान (Full knowledg of the meaning conveyed by the teacher's words) तत्वाभिनिवेश आदि के द्वारा उच्चशिक्षा को छात्र प्राप्त करने में सक्षम था[1]।

श्री मुकर्जी का कहना है कि छात्र चौथाई अंश आचार्य से सीखता था, एक चौथाई अपनी बुद्धि से ग्रहण करता था, एक चौथाई सहयोगी और सहवासियों का सम्पर्क सिखा देता था और एक चौथाई समय और परिस्थितियों का अनुभव सिखा देता था[२]। इसका आशय यह हुआ कि आचार्य जितना आवश्यक था उतना ही बताते थे, शेष सब छात्र अपने आप अध्ययन करते और मालूम करते थे।

शिक्षा सैद्धान्तिक ही न थो, उसे व्यावहारिक भी बनाया जाता था। ललित-कला का अभ्यास कराया जाता था। मालविका, इरावती आदि नृत्यकला का अभ्यास किया करती थीं। अग्निमित्र की चित्रशाला में चित्र भी बनते रहते थे। इससे व्यावहारिकता की पुष्टि होती थी।

छात्र गुरु की सेवा करते थे। अतः ईंधन के लिए लकड़ी काटना, संग्रह करना, गायों को चराना आदि सभी काम सीख जाते थे। वे छोटे-छोटे कामों को स्वयं करते थे, अतः आत्मनिर्भरता वाल्यावस्था से ही उनका गुण हो जाती थी। संक्षेप में अशेष ज्ञान से सूर्य के समान अंधकार को दूर करना ही शिक्षण-पद्धति की सार्थकता थी[3]।

पाठ्यक्रम (Courses and Curriculum) इसका निश्चित रूप कहीं नहीं है। इतने सब विषय एक साथ और सबको नहीं पढ़ाए जाते थे। जो जिस शिक्षा के योग्य होता था, वही सब उसको वता दिया जाता था। क्षत्रियों के लिए सैनिक-शिक्षा आवश्यक थी, अतः थोड़ा-वहुत साहित्य, वेद आदि के अतिरिक्त यह शिक्षा अवश्य उसको दी जाती थी। धनुर्विद्या, दंडनीति, राजनीति राजपुत्रों के विषय थे। इसी प्रकार आभूषण वनाने की कला, वास्तुकला, आदि वैश्यों को सिखा दी जाती होगी। सब कुछ गुरु के ऊपर निर्भर था। जब वह देख लेता था

---

१. Imperial Age of unity of India; Fducation by —R. K. Mukerjee, Page 584

२. "A student learns a fourth from his acharya, a fourth by his own intelligence, a fourth from his fellow pupils and the remaining fourth in course of time by experience." Imperial age of unity of india—Education by R. K. Mukerjee, Page 548

३. ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः।—रघु०, ५।४

कि शिष्य को जितना आवश्यक है वह सीख चुका, तब वह उसे गृह लौटने की अनुमति दे देता था। इसी लिए रघु ने कौत्स से पूछा था कि क्या आपके गुरुजी ने प्रसन्न होकर आपको गृह लौटने की और गृहस्थ बनने की अनुमति दे दी है[1]? वैसे जो आजन्म विद्या पढ़ना चाहते थे, पढ़ सकते थे। दुष्यन्त ने शकुन्तला के लिए सखियों से पूछा था कि यह आजन्म पढ़ती रहेगी या इसका विवाह भी होना है[2]। एक और बात भी स्पष्ट नहीं होती, वास्तुकला, रत्नादि की काटछाँट, वस्त्र बुनना आदि भी क्या आश्रम में गुरुजी सिखाया करते थे ? सम्भवतः यह सब नगर में ही व्यक्ति सीख लेते होंगे। पूर्वजों की विद्या पुत्र पिता से ग्रहण कर लेता होगा। एक स्थान पर कवि ने स्वयं कहा है कि रघु ने शस्त्र-विद्या अपने पिता से सीखी थी[3]। कुश ने भी अपने पुत्रों को समस्त शिक्षा दे दी थी[4]।

फीस (शुल्क)—गुरु का कर्त्तव्य शिक्षा-दान था, अतः इसका प्रश्न ही नहीं उठता था। निर्धन छात्र निःशुल्क शिक्षा प्राप्त किया करते थे। वैसे जैसे बताया जा चुका है कि गुरु शिक्षा-समाप्ति पर दक्षिणा लिया करता था, इसका भी कोई नियम नहीं था। अपनी-अपनी सामर्थ्य से जो जो भेंट कर देता था, गुरु उसको ही ग्रहण कर लेता था। यही छात्र का शुल्क कहा जा सकता है।

परीक्षा—कोई निश्चित कक्षा और परीक्षा का नियम स्थायी रूप में नहीं था। गुरु जब देख लेता था कि शिष्य इस योग्य हो गया है कि आगे बढ़े, तब बढ़ जाता था। वैसे कालिदास ने विद्यार्थियों के प्रति कहा है कि बिना पूरी तैयारी हुए परीक्षा में नहीं बैठना चाहिए, इससे अपनी भी हानि और अध्यापक के प्रति अन्याय है[5]। विद्या अभ्यास से आती है[6]।

परीक्षक—परीक्षक के लिए सबसे मुख्य गुण 'पक्षपात का न होना' है। अग्निमित्र परिव्राजिका को इसी कारण परीक्षिका बनने पर विवश करता है कि

---

१. अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
काले ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥ ——रघु०, ५।१०

२. वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणांगनाभिः ॥
—अभि०, १२५

३. त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मंत्रवत्।—रघु०, ३।३१

४. तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः। —रघु०, १७।३

५. अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्य पुनरन्याय्यम्। ——माल०, अंक १, पृ० २७६

६. विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हसि। —रघु०, १।८८

४१५.

वह और रानी दोनों ही पक्षपाती हो सकते थे[1]। अतः विद्यार्थी के किसी सम्बन्धी को परीक्षक नहीं बनाना चाहिए।

एक ही परीक्षक के मत पर परीक्षा का परिणाम निर्धारित रखने से विद्यार्थी के प्रति अन्याय हो सकता है। अतः दो या उससे अधिक परीक्षक नियुक्त करना चाहिए[2]।

नृत्य, गीत आदि व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक विद्याओं का सैद्धान्तिक ज्ञान यथेष्ट नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रयोग देख कर ही विद्यार्थी की योग्यता के विषय में मत और निश्चय देना चाहिए[3]।

जनसाधारण की शिक्षा—आजकल प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखती हैं; परन्तु उस समय ऐसा कोई भेद नहीं था। छात्र जिस वर्ग, जिस वर्ण का होता था उसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर लेता था। थोड़ी-बहुत प्रारम्भिक शिक्षा-वर्णमाला, वाङ्मय आदि सबको ही समान रूप से मिल जाते थे। इसके पश्चात् जिज्ञासु छात्र आगे बढ़ जाता था। उच्च विद्या के लिए निर्धनता या वर्ण की रोक नहीं मालूम होती। साधारणतः थोड़ी-सी शिक्षा के बाद अपने पूर्वजों की विद्या सब ग्रहण कर लेते थे। ऐसी भी सम्भावना है कि पूर्वजों की विद्या ग्रहण कर लेते हों, वर्ण-माला का ज्ञान सब न करते हों।

स्त्री-शिक्षा

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त किया करती थीं। उनको सभी धार्मिक कार्यों में समान अधिकार थे। कुमारसम्भव, रघुवंश आदि में पत्नी के बिना कोई धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, इस पर जोर दिया गया है[4]। अतः वे भी वेदादि की शिक्षा प्राप्त करती होंगी। पण्डित कौशिकी, उर्वशी के पुत्र आयुस को शिक्षा देने वाली ऋषिपत्नी कम विदुषी न होंगी। वे भी पुरुषों के समान यदि चाहें तो आजीवन कुमारी रह कर उच्च शिक्षा प्राप्त

---

१. मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति। ––माल०, अंक १, पृ० २७४
२. सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय। ––माल०, अंक १, पृ० १७६
३. प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रं, किमत्र वाग्व्यवहारेण।
––माल०, अंक १, पृ० २७४
४. क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ––कुमार०, ६।१३
रघुवंश में, सीता की सोने की प्रतिमा अश्वमेध यज्ञ में रखी गई थी, ऐसा प्रसंग है।

कर सकती थीं, इसका संकेत शकुन्तला में है। सम्भव है, शूद्रादि निम्नवर्ग की स्त्रियों से विवाह करने के कारण भाषा उच्चारण आदि की अशुद्धि हो जाने पर उनके अधिकार और शिक्षा आदि की योग्यता छीन ली गई हो; क्योंकि अग्निमित्र की स्त्री धारिणी पढ़ना नहीं जानतो थी, अतः उसने पत्र स्वयं न पढ़ कर पढ़वाया था[१]।

परन्तु शकुन्तला, अनसूया, प्रियवदा, इन्दुमती, मालविका, उर्वशी सब उच्च शिक्षिता थीं। अनसूया, प्रियंवदा ने अंगूठी पर लिखा हुआ दुष्यन्त का नाम पढ़ लिया था। शकुन्तला और उर्वशी का प्रणय-निवेदन काव्यवद्ध था। अतः वे काव्य-रचना की पारंगता थीं। गाना, नाचना और चित्र-रचना, इन सबकी विशेषता थी। इन्दुमती अज से ललितकलाएँ सीखा करती थी[२]। वे आश्रम में भी पढ़ती थीं और घर पर भी। विवाह होने के पश्चात् भी उनकी शिक्षा चलती रहती थी। यह सब उनकी इच्छा पर था। इन्दुमती की शिक्षा पति द्वारा ही हुई थी।

ललितकलाओं के अतिरिक्त स्त्रियों के व्रत आदि करने धार्मिक अनुष्ठान में पति के सहयोग देने से स्पष्ट होता है कि धर्मशिक्षा उनकी शिक्षा का अंग थी।

स्त्रियाँ काम-शास्त्र भी पढ़ती थीं। अनसूया और प्रियंवदा ने शकुन्तला से कहा था कि कामीजनों की जो अवस्था हमने पढ़ी है, वह तुममें दिखाई दे रही है[3]। पार्वती ने भी काम-कला शंकर से सीखी थी[४]। इन्दुमती के स्वयंवर के समय सुनन्दा ने राजाओं का जैसा परिचय दिया था वह समस्त विवरण इसका साक्षी है कि कामशास्त्र सब पढ़ती थीं और इसकी बातें खुलेआम कर ली जाती थीं, इसकी चर्चा ही न हो, ऐसा यह विषय नहीं समझा जाता था।

राजपूत रमणियों के समान स्त्रियाँ युद्ध-सञ्चालन सीखती थीं, इसका कहीं संकेत नहीं है। उर्वशी अपनी रक्षा नहीं कर पाई थी। अवश्य ही वे अपनी रक्षा और युद्ध करना नहीं जानती थीं। इसके अतिरिक्त कालिदास की स्त्रियों की विशेषता ही भीरुता है। अतः इससे भी इसकी पुष्टि होती है।

---

१. माल०, पृ० ३५२, ३५३।

२. गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु०, ८।६७

३. यादृशी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं ते पश्यामि।
—अभि०, अंक ३, पृ० ४४

४. शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम्॥ —कुमार०, ८।१७

अपने अध्ययन के बल से सखियों ने शकुन्तला का शृंगार किया था,[1] अतः प्रसाधन-कला, घर सजाना, माला बनाना, अतिथि-सत्कार आदि उनकी शिक्षा के अंग थे। वैसे वे साहित्य और ललित कलाएँ पढ़ती थीं। स्त्रियों की शिक्षा और पटुत्व पर दुष्यन्त ने व्यंग्य किया है कि वे बिना सिखाए-पढ़ाए ही बड़ी चतुर हो जाती हैं, तब फिर इन समझदार शिक्षित स्त्रियों का पूछना ही क्या[2] ?

तैरने की विद्या भी स्त्रियाँ जानती थीं। जल-विहार में स्त्रियाँ तैरती और आनन्द लिया करती थीं[3]।

अंतः स्त्री और पुरुष की शिक्षा में मौलिक भेद था। उनकी कोमलता सुकुमारता और हृदय की सरस भावनाओं के अनुसार जो शिक्षा उचित समझी जाती थी, दी जाती थी।

स्त्रियों का क्षेत्र घर ही नहीं, बाहर भी था। अंतःपुर की सेविकाएँ किराती, यवनी और प्रतिहारी स्त्रियाँ ही थीं। उद्यान-पालिका का भी प्रसंग है। मालविकाग्निमित्र में जेल की रक्षिका माधविका थी।

---

१. चित्रकर्मपरिचयेनांगेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः।—अभि०, अंक ४, पृ० ६७

२. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
—अभि०, ५।२२

३. एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः।
गाढांगदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥—रघु०, १६।६०
सम्पूर्ण १६वें सर्ग में जलक्रीड़ा है।

बारहवाँ अध्याय

दर्शन तथा धर्म

'धर्मं चर', 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' आदि श्रुतिवाक्यों से सामान्यतः सभी परिचित हैं, परन्तु इस धर्म शब्द के क्या वास्तविक अर्थ हैं—इस पर सामान्यतः कोई गंभीरता से विचार नहीं करता। व्याकरण की दृष्टि से 'धृ' धातु में मन् प्रत्यय लगाने से 'धर्म' शब्द बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—'ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः', जिससे लोक धारण किया जाय वही धर्म है; 'धरति धारयति वा लोकं इति धर्मः', जो लोक को धारण करे वह धर्म है; 'ध्रियते यः स धर्मः', जो दूसरों से धारण किया जाय वह धर्म है। महाभारत में धर्म का लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।' अतः धर्म शब्द का धातुगत अर्थ धारण करना ही है।

जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व है, उष्णता न हो तो अग्नि की कोई सत्ता नहीं, इसी प्रकार धर्म के बिना समाज की भी कोई सत्ता नहीं। भारतीय-संस्कृति का आधार ही धर्म है। विश्व में विनाश को ओर जाने की प्रवृत्ति धर्मत्याग से ही आई है, 'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः'।

धर्म शब्द का अतः बड़ा व्यापक अर्थ है। कुल-धर्म, जाति-धर्म, देश-धर्म आदि सब इसकी ही सीमाएँ हैं। जीवन के नैतिक नियम भी इसी धर्म शब्द के अन्तर्गत हैं। मनु ने इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्य, संयम, अक्रोध, आदि गुणों को धर्म के दस लक्षणों में माना।

महात्मा बुद्ध ने प्रबुद्ध मन से जीवन का विश्लेषण करते हुए यही निश्चय किया कि धर्म की ही नींव पर सृष्टि और मानव-जीवन टिक सकता है। 'धम्मं सरणं गच्छामि' का जब प्रचार हुआ तब धर्म का यही उच्च अर्थ था। किसी छोटे मत या सम्प्रदाय के लिए धर्म शब्द का प्रयोग बुद्ध अथवा उनके शिष्यों को मान्य नहीं था।

धर्म नित्य है। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। वाल्मीकि ने धर्म को चरित्र का पर्यायवाची माना है। 'रामो विग्रहवान् धर्मः' उनकी

धारणा थी; परन्तु 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', एक ही तत्त्व की व्याख्या अनेक हैं, अतः नाना मार्ग इसी धर्म की व्याख्या के अन्तर्गत आए।

(१) ईश्वर के विषय में धारणा

परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप के विषय में वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह वाणी और मन से अगोचर है[1]। प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन से ही सामान्यतः ज्ञान होता है, पर ईश्वर इन सबके परे हैं।

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ --रघु०, १०।२८

उसमें अनेक विरोधी गुण दृष्टिगत होते हैं। इसी कारण यथार्थ स्वरूप किसी को अवगत नहीं होता। वह स्वयं 'अज' है, पर फिर भी अवतार लेता है। स्वतः आप्तकाम है, फिर भी शत्रुओं का संहार करता है[2]। उसकी स्वयं कोई इच्छा नहीं है, पर सबकी इच्छा वह पूर्ण करता है। उसको कोई जीत नहीं सकता; पर उसने सबको जीत लिया है। वह किसी को प्रत्यक्ष नहीं पर; उसने इस दृश्यमान जगत् को उत्पन्न किया है[3]। वह सबके हृदय में रहता है, तब भी दूर है, इच्छा-रहित है, फिर भी (नरनारायण के रूप में बदरिकाश्रम में) तपस्या करता है। दयालु है, फिर भी पुण्य कभी स्पर्श नहीं करता। सब उसे पुराण पुरुष कहते हैं; पर फिर भी वह कभी वृद्ध नहीं होता[4]। वह जितना द्रव है उतना ही घन, जितना स्थूल है उतना ही सूक्ष्म, जितना लघु है उतना ही गुरु[5]। वही चर-अचर सृष्टि की उत्पत्ति और लय का कारण है।

सांख्य मत—सांख्य दर्शनकार के मतानुसार पुरुष और प्रकृति दो स्वतन्त्र

---

१. स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम्।—रघु०, १०।१५

२. अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥--रघु०, १०।२४

३. अमेयोमितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ --रघु०, १०।१८

४. हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम्।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ --रघु०, १०।१९

५. द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ --कुमार०, २।११

रूप हैं। कुमारसम्भव में इस मत का सम्यक् आभास है[1]। उसे संसार की उत्पत्ति और प्रलय करने में किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। अपने आप ही अपने को वह उत्पन्न करता है, सृष्टि कर चुकने पर, कार्य की समाप्ति पर आप ही अपने को अपने में लीन कर लेता है[2]।

सभी प्रकार के कर्म, प्रवृत्तियां, अनुभूति आदि त्रैगुण्योद्भव हैं[3]। प्रकृति संसार की रचना का मूल कारण है, जगत् का विकास है, यह अव्यक्त है[4]। प्रकृति, इन्द्रियों का विषय है, परिवर्तन का सिद्धान्त है; परन्तु पुरुष का इस सृष्टि में कोई हाथ नहीं। वह निष्क्रिय है। प्रकृति पुरुष के लिए काम करती है। कालिदास सांख्य के इस मत से सहमत हैं[5]। वे भी प्रकृति को पुरुष की इच्छा के लिए ही मानते हैं[6]। प्रकृति के लिए 'पुरुषार्थ प्रवर्तिनी' की संज्ञा पुरुष को उदासीन और तद्दर्शी कहना सब सांख्यदर्शन के सिद्धान्त हैं।

जगत् की प्रकृति के सम्बन्ध में भी उन्होंने सांख्य विचारों को मान्यता दी है। सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों का उल्लेख वे बार-बार करते हैं[7]। इन तीनों का समन्वय ही प्रकृति है[8]। इसी प्रकार 'बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति'[9] कहकर उन्होंने फिर सांख्यमत की मान्यता स्थापित की है। यह भी बुद्धि को अव्यक्त से उत्पन्न कहते हैं और सांख्यकारिका भी। इसको श्री भगवत्शरण ने अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है[10]। सांख्यदर्शन का अनुसरण करते हुए उन्होंने

---

१. त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ —कुमार०, २।१३
२. आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे॥ —कुमार०, २।१०
३. गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे। —कुमार०, २।४
४. पूर्व उल्लेख
५. त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ —कुमार०, २।१३
६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५
७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३
—रघुरप्यजयद्गुणत्रयम् प्रकृतिस्थम्। —रघु०, ८।२१
—अंगिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ। —रघु०, १०।३८
८. सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। —सांख्य सूत्र, १. ६१
९. रघु०, १३।६०
१०. India in Kalidas, Page 342-343

तीनों प्रमाणों का (अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक् का) उल्लेख किया है[१]।

वेदान्त मत--उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इनके ग्रन्थों में मिलता है। वेदान्त का आभास भी इनकी कृतियों में है। वे प्रचलित वेदान्त और सर्वव्यापक ब्रह्म का ही उल्लेख करते हैं।

> वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
> यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
> अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते,
> स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥
>
> --विक्रम०, १।१

इस पद से उपनिषद् दर्शन अधिक अभिव्यक्त होता है। उपनिषद् ब्रह्म को जगत् का कारणस्वरूप मानता है[२]। साथ ही वेदान्त और योग के द्वारा प्रतिपाद्य और अन्वेष्य वस्तु भक्ति द्वारा सुलभ बताई गई है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समय में वैष्णवों द्वारा अनुमोदित भक्तिभाव का प्रचार पर्याप्त हो चला था।

विष्णु की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उनको स्रष्टा, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता कहा है[३]। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निराकार और निर्गुण है। इस सिद्धांत और उनके त्रिरूप सिद्धान्त में विशेष भेद नहीं है! जिस प्रकार वर्षा का जल झरना, नदी, सागर आदि जहाँ गिरता है उसी के आकार को धारण कर लेता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी सत्व, रजस् और तमस् गुणों से युक्त होकर स्रष्टा, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता बन जाता है। वे एक ही ब्रह्म को त्रिदेव के रूप में व्यक्त कर देते हैं[४]। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब एक ही ब्रह्म के रूप हैं। 'जगद्योनि'[५]

---

१. कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति --रघु०, १३।६०
—प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा॥ —रघु०, १०।२८

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।--तै० उ०, ३.१.

३. नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने॥ --रघु०, १०।१६

४. नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टे केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥ --कुमार०, २।४

५. जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः॥ --कुमार०, २।९

वाक्यांश में भी वेदान्तीय सिद्धान्त है। ईश्वर जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है, अतः जगत् में उसके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं। विष्णु के सम्बन्ध में इनके विचार गीता से प्रभावित लगते हैं। जैसे--"आप पितरों के भी पिता, देवताओं के भी देवता, स्रष्टाओं के भी स्रष्टा हैं[1]। आप ही हव्य हैं और आप ही होता; आप ही भोज्य हैं और आप ही भोक्ता; आप ही ज्ञान हैं और आप ही ज्ञाता; आप ही ध्याता हैं और आप ही ध्येय"[२]। विष्णु के गुण, जिनके द्वारा वह अपने आकार का विस्तार कर सकता है, हृदय में निवास करता हुआ भी दूर, निष्काम होने पर भी तपस्वी, दयालु होकर भी शोकरहित, पुरातन होते हुए भी क्षीणता-रहित[3], उपनिषदों के सदृश ही है[४]। इसी प्रकार वह सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञात है, सबकी उत्पत्ति का हेतु होते हुए भी स्वयं किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया गया है, सबका स्वामी है, पर स्वयं स्वामिरहित है, एक होते हुए भी अनेक रूप धारण करता है[५], दया करके पृथ्वी पर अवतार लेता है और मनुष्य की तरह आचरण करता है[६]। ये सब गीता के सिद्धान्तों से समानता रखते हैं[७]। गीता के श्लोकों में अवतार के सम्बन्ध में इसी प्रकार के उद्गार व्यक्त किए गए हैं। यही नहीं--'आप लोक-पालन में समर्थ हैं फिर भी उदासीन हैं' यह विचार भी गीता से लिया गया लगता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण कवि के ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं, जैसे--'गंगाजी की सभी धाराएँ समुद्र में आ गिरती हैं, उसी प्रकार परमानन्द के समस्त मार्ग जो भिन्न-भिन्न धर्मग्रन्थों में वर्णित हैं, उसी में जाकर मिल जाते हैं।' यह गीता के समकक्ष समानान्तर ही है। जिन पुरुषों को

---

१. त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता ।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥--कुमार०, २।१४

२. त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः ।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥ --कुमार०, २।१५

३. रघु०, १०।१९ पूर्व उल्लेख

४. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके ।--ईशा०, ४, ५

५. सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥--रघु०, १०।२०
--एकं रूपं बहुधा यः करोति ।--कठोपनिषद्, ५,१२

६. अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥--रघु०, १०।३१

७. गीता०, ४।६, १०

सांसारिक भोग-कामना पूर्णरूप से नष्ट हो गई है और जिन्होंने अपने हृदय को उसमें लीन कर लिया है और अपने कर्मों को आप पर अर्पित कर दिया है उनकी परमगति-प्राप्ति के लिए आप ही एकमात्र शरण हैं[1]। यह विचार गीता के इन श्लोकों में भी मिलता है--

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥—९।२७
>
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥--९।३४

भगवान् की भक्तियोग से प्राप्ति का भी एक सांकेतिक उदाहरण गीता के विचारों से समानता रखता है[2]।

योग—योग का अर्थ मोक्ष-प्राप्ति[3] और परमात्मा के साथ एकाकार होना है[4]। कवि ने 'योग' शब्द का इस अर्थ में तथा इस आत्मचिन्तन का अनेक स्थान पर उल्लेख किया है[5]। ध्यान, धारणा और समाधि के द्वारा योगाभ्यासी परमात्मा के साथ एकाकार होते हैं। कवि ने भी योग के इन अंगों का, अर्थात् ध्यान[6],

---

१. त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणां गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये।
—रघु०, १०।२७

२. अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते।--विक्रम०, १।१
--अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥--गीता, ८।१४

३. अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्त्यो योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥--रघु०, १०।२३
--महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥
--रघु०, १८।३३

४. न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्।--रघु०, ८।२२
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।--रघु०, ८।२४

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३, ४

६. वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥
--रघु०, १३।५२

धारणा[1] और समाधि[2] का वर्णन किया है। मन में परमात्मा में लीन आत्मा का अनुभव करना अथवा निराकार का चिन्तन के द्वारा ध्यान ही, योगविधि है--योग मार्ग के विद्वानों का मत अतः तत्कालीन जनता को सर्वतः मान्य है[3]। पतंजलि के योगसूत्र के आधार पर ही कवि ने अपने ये विचार व्यक्त किए हैं।

समाधि अन्तिम अवस्था है, जिसमें मन और इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाएं पूर्णतः बन्द हो जाती हैं। तत्पश्चात् यह 'स्थिर धी'[4] की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जो गीता के 'स्थितप्रज्ञ'[5] की ही अवस्था है। यह पूर्ण शान्ति की अवस्था है।

योगसाधन की प्रक्रिया, पर्यङ्कबन्ध[6] और वीरासन[7] दोनों, का कवि ने उल्लेख किया है। कुमारसंभव में शिवजी की तपस्या करते समय की मुद्रा, वीरासन, सब इसी योगसाधन के अनुसार ही है। उनका ऊपरी आधा शरीर सीधा और निश्चेष्ट होना, कमल के समान हथेलियों को जंघों पर ऊर्ध्वमुख रखना, कंधों का कुछ झुका होना[8], अर्धनिमीलित और स्थिर दृष्टि का नासिका के अग्र भाग

१. परिचेतुमुपांशुधारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्।--रघु०, ८।१८
२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ४, रघु० ८।२४; ६;
--प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥
--कुमार०, १।५९
--आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति॥
--कुमार०, ३।४०
३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ३, ४।
४. न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्।--रघु०, ८।२२
५. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥--गीता०, २।५५
६. पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम्।
उत्तानपाणि द्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवांकमध्ये॥--कुमार०, ३।४५
७. वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि॥
--रघु०, १३।५२
८. पूर्वोल्लेख देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६

पर लगा रहना[1], शरीर के अन्तर्गत वास करने वाले पाँचों पवनों का अवरोध[2], पवन-रहित स्थान में निष्कम्प प्रदीप के समान हो जाना[3], सब योगसूत्र के ही अनुकरण पर हैं। अतः जनता की उस समय योग पर बहुत आस्था प्रतीत होती है।

एक स्थान पर कवि ने 'शिरस्तः'[4] शब्द का प्रयोग किया है। योगसूत्र के अनुसार इसका संकेत ब्रह्मरन्ध्र से है, जो बुद्धि का चरम केन्द्र है और जिसका सम्बन्ध सुषुम्ना के साथ है।

इसी प्रकार विष्णु योगनिद्रा[5] में सोए माने जाते हैं। इसमें किसी प्रकार की वाह्य चेतना नहीं रहती, परन्तु आन्तरिक चेतना और स्मरणशक्ति रहती है। दूसरे शब्दों में यह योगी की निद्रा है, अभ्यासी की चरमगति है।

समाधि की अवस्था में वाह्य पदार्थों के साथ सम्पूर्ण सम्पर्क को रोक कर, मन को बिलकुल निगृहीत कर लिया जाता है, आत्मा की ज्योति को भीतर देखने का प्रयत्न किया जाता है[6]। अन्त में 'अक्षर ब्रह्म'[7] में ध्यान लगा कर योगी परम ज्योति[8] को प्राप्त कर लेता है। गीता में भी समाधि की यही अवस्था वर्णित है। अक्षर ब्रह्म की भी पूर्ण विवेचना है[9]।

इस प्रकार की समाधि के लिए एकान्त वांछनीय था। अतः तपोवन में वीरासन में समाधि लगाए तपस्वियों को वेदिकाओं के बीच में खड़े वृक्ष भी समाधिस्थ लगते थे[10]।

---

१. किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः।
नेत्रैरविस्पंदितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥ —कुमार०, ३।४७

२. अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कंपमिव प्रदीपम् ॥—कुमार०, ३।४८

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २

४. कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः। —कुमार०, ३।४९

५. अमुं योगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते। —रघु०, १३।६

६. मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ —कुमार०, ३।५०

७.८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६

९. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ —गीता०, ८।३

१०. पूर्वोल्लेख रघु०, १३।५२

अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिए कवि के समय में तीन साधन माने गए : योगाभ्यास, भक्तियोग[1] और कर्त्तव्यपालन[2]। ये सब उसके पास पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार इन मार्गों का उपयोग करना चाहिए। इसको इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

वहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥—रघु०, १०।२६

भगवद्गीता में भी ज्ञान, योग, भक्ति और निष्काम कर्मयोग परमेश्वर की प्राप्ति के साधन कहे गए हैं।

(२) जगत् के विषय में धारणा

सांख्य मत को कवि ने इस सम्वन्ध में मान्यता दी है, अर्थात् प्रकृति सृष्टि-रचना का मूल कारण है[3]। ब्रह्मा की उपासना करते हुए देवताओं ने जो कुछ कहा उससे जगत् के विषय में धारणा की पुष्टि हो जाती है। 'आपने सबसे पहले जल उत्पन्न करके उनमें ऐसा बीज वो दिया जो कभी व्यर्थ नहीं होता और जिसमें एक ओर यह पशु-पक्षी, मनुष्य आदि चलने वाले जीव और दूसरी ओर वृक्ष, पहाड़ आदि न चलने वाला जगत् उत्पन्न हुआ है'[4]। आप ही संसार की उत्पत्ति, पालन और नाश करने वाले हैं[5]। सब कुछ आप अपने से ही उत्पन्न करते हैं और सब कुछ अपने में ही लीन कर देते हैं[6]। कल्प ब्रह्मा के एक दिन के बराबर है, जिसमें वह सृष्टि करता है। इसके पश्चात् इतने ही समय की रात्रि आती है, जिसमें सर्वत्र प्रलय का साम्राज्य छा जाता है। इसमें विष्णु क्षीरसागर में शेष-शय्या पर सो जाते हैं[7]। प्रातः होने पर फिर सृष्टि की रचना प्रारम्भ हो जाती है।

---

१. पूर्वोल्लेख; विक्रम०, १।१
२. मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः। —रघु०, १२।६०
इसमें उपमा के द्वारा ध्वनि है।
३. पूर्वोल्लेख
४. यदमोघमपामन्तरुप्तं वीजमज त्वया।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥ —कुमार०, २।५
५. प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः। —कुमार०, २।६
६. पूर्व उल्लेख; कुमार०, २।९
७. स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिं दिवस्यते।
यौ तु स्वप्नाववोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ —कुमार०, २।८

कालिदास ने सृष्टि के सात लोकों[1] का उल्लेख किया है, पर इनके नाम कहीं नहीं दिए हैं। परम्परा के अनुसार यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, मुनि और सिद्धों के लोक, सूर्य के ऊपर या सूर्य अथवा ध्रुव के मध्य इन्द्र का स्वर्ग, ध्रुव के ऊर्ध्व प्रदेश तथा भृगु और अन्य दिव्य ऋषियों का लोक।

(३) मृत्यु का सिद्धान्त

जीवन सुख तथा दुःख दोनों का समन्वय है। चक्र की तरह प्रत्येक मनुष्य कभी उन्नत और कभी अवनत होता है[2]। देह धारण कर मृत्यु को प्राप्त होना स्वाभाविक है[3]। किसी मनुष्य की मृत्यु होने पर बहुधा मनुष्य ऐसे दुःखी होते हैं, मानो उनके हृदय में कील गड़ गई हो; परन्तु विद्वान् मनुष्य मृत्यु को स्वाभाविक मान कर दुःखी नहीं होते। उनका कथन है कि मृत्यु प्राप्त कर मनुष्य सांसारिक झंझट से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, अतः उन्हें ऐसा लगता है कि उनके हृदय से गड़ी कील निकल गई हो[4]। आत्मा के जीवन का मृत्यु अवसान नहीं, किन्तु उसकी दीर्घनिद्रा है[5]। ऐसा भी विश्वास था कि परलोकवासी आत्मा सम्बन्धियों के अविरल अश्रु-प्रवाह से अति दुःखी होती है[6]। कवि के समय में मृत्यु के विषय में यह धारणा प्रचलित थी। कालिदास ने तो मृत्यु को ही प्रकृति और जीवन को विकृति माना है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणांः विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ॥ —रघु०, ७।८७.

विष्णु और ब्रह्मा की एकता कवि ने दिग्दर्शित की है। आशय ब्रह्म से ही है, चाहे स्तुति ब्रह्मा की हो अथवा विष्णु की।

१. सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम्।
सप्तार्चिमुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥ —रघु०, १०।२१

२. कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ —उत्तरमेघ, ५२

३. मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः। —रघु०, ८।८७

४. अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ —रघु०, ८।८८

५. अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान्।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ —रघु०, १२।८१

६. स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते। —रघु०, ८।८६

(४) परलोक जीवन

लोकान्तर[1] एवं परलोक[2] के विषय में भी कवि ने उल्लेख किया है, जहाँ मृत्यु के पश्चात् आत्मा (प्रेत)[3] प्रवेश करती है। पुण्य कार्य करने से स्वर्ग[4] प्राप्त होता है, ऐसी सबकी धारणा थी। स्वर्ग में देवांगनाएँ एवं अप्सराएँ उनका अभिनन्दन करती थीं,[5] उनको देव-मंडली[6] में स्थान प्राप्त होता था। पुण्य कर्मों में नदियों के संगम पर स्नान[7] और युद्ध में वीरगति का प्राप्त होना भी था[8]। रघुवंश में अनेक राजाओं की मरणोत्तर गति का वर्णन आया है। राजा दिलीप ने निन्यानवे अश्वमेध करके मृत्यु के पश्चात् मानो स्वर्गारोहण की निन्यानवे सीढ़ियाँ बनाईं[9]। अज ने गंगा और सरयू के संगम पर तीर्थ में देह-त्याग कर,

---

१. लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ —रघु०, १।६९

२. परलोकमसन्निवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः । —रघु०, ८।४९
—परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् । —रघु०, ८:८५
—परलोकनवप्रवासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव । —कुमार०, ४।१०

३. तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया । —रघु०, ११।१६
—अलक्तकांकानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ।
—कुमार०, ५।६८

४. पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् । —रघु०, ११।८७
—या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥ —रघु०, १५।२९

५. अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरः प्रार्थितयोर्विवादः । —रघु०, ७।५३

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५ —रघु०, ७।५३
—कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमांगः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामांगसंसक्तसुरांगनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥ —रघु०, ७।५१

७. तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ —रघु०, ८।९५

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५, ६

९. इति क्षितिशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ —रघु०, ३।६९

स्वर्ग में इन्दुमती को प्राप्त कर, नन्दन वन के क्रीड़ा-भवन में रमण किया,[१] ऐसा वर्णन आया है। यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वर्ण का दूसरा नाम 'विष्णु-धाम'[२] था।

मीमांसा दर्शन—स्वर्गप्राप्ति के सम्बन्ध में मीमांसकों के मत का विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा। मीमांसकों की मान्यता है कि वेद स्वर्गप्राप्ति के साधनस्वरूप कर्म अर्थात् यज्ञ-याग कर्मकाण्ड करने का आदेश करते हैं। कवि का भी एक स्थान पर कदाचित् इसी से संकेत है। वह स्वर्गफल[३] प्राप्त करने के लिए वेदविहित कर्मकांडों को आश्रय देता है। कवि ने 'गिराम्' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका सम्बन्ध वेदों से है। अतः मीमांसकों की मान्यता इससे पुष्ट हो जाती है। मल्लिनाथ का कथन 'कर्मस्वर्गौ ब्रह्मापवर्गयोरप्युपलक्षणौ,[४] इसी की पुष्टि है।

मृत्युगत पूर्वज की ही संज्ञा पितृ[५] है। इनका लोक विशिष्ट है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। इनकी पिंडभाक् भी कहा गया है, (अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिंडभाजः।—अभि०, पृ० १२२)। पिता की मृत्यु अथवा निधन-दिवस पर पितृक्रिया[६] अथवा श्राद्ध होता था। मृतक की आत्मा को शान्ति पहुँचाने के लिए ये क्रियाएँ आवश्यक थीं। इनके लिए पुत्र ही एक मात्र अधिकारी होता था, अतः दुष्यन्त और दिलीप दोनों को ही अपनी पुत्रहीनता पर अत्यन्त दुःख था[७]। इन सबका 'संस्कार' अध्याय में सविस्तार उल्लेख किया जा चुका है।

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ७

२. गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा। —रघु०, ११।८५

३. उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥ —कुमार०, २।१२

४. देखिए, नं० ३ की ही टीका।

५. निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापांजलयः पितृणाम्। —रघु०, ५।८
—नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति।
—अभि०, ६। ६।२५

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः॥ —रघु०, ११।६१
र्व उल्लेख

(५) मोक्ष

कवि का ध्येय स्वर्ग और सुख की प्राप्ति न था। वह छान्दोग्य उपनिषद् (८. १. ६) में कथित स्वर्ग के सभी सुख नश्वर हैं, तथा गीता के 'ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'[1] पर विश्वास करके ही "पुण्य संचय की कमी होने पर स्वर्गीय जनों ने पृथ्वी पर आकर पुण्य से उज्जयिनी नगरी के रूप में स्वर्ग का एक सुन्दर भाग बसाया",[2] ऐसी उत्प्रेक्षा की है। मारीच के आश्रम में रहने वाले ऋषि प्रत्येक प्रकार के सुख का मोह छोड़कर उच्चतर पदप्राप्ति के लिए तपस्या करते कहे गए हैं[3]। भरत वाक्य में भी पुनर्जन्म से ही मुक्ति माँगी गई है[4] प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव (पशु) का शिव के (पशुपति के) स्वरूप का ज्ञान नहीं, अपितु परब्रह्म में स्थित होना ध्येय था[5]।

हिन्दू धर्म की दृष्टि से कालिदास के समय की जनता भी जीवन की सार्थकता एवं सिद्धि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष[6] मानती है। कवि ने मोक्ष को मुक्ति[7], अपवर्ग[8], अनपायिपद[9], अनावृत्ति अवस्था[10] आदि शब्दों से व्यक्त

---

१. गीता, ९।२१

२. प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गांगतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खंडमेकम्॥ —पूर्वमेघ, ३२

३. प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने,
तोये कांचनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो,
यत्कांक्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥—अभि०, ७।१२

४. ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभू।—अभि०, ७।३५

५. पूर्वउल्लेख

६. 'धर्मार्थकाममोक्षाणामवतारे'—रघु०, १०।८४

७. ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये। —रघु०, १०।२३

८. अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ। —रघु०, ८।१६

९. अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः। —रघु०, ८।१७

१०. अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः। —कुमार०, ६।७७

किया है। जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तब तक जीव कर्मानुसार संसार में अनेक जन्म धारण किया ही करता है। पुण्य कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है; पर पुण्यों की समाप्ति पर फिर इसी लोक में आना होता है[१]। सत्कर्म केवल सुख की प्राप्ति में सहायक हैं। अतः मीमांसक के 'कर्म' मोक्ष की प्राप्ति नहीं कराते। कवि के मतानुसार योग और समाधि से मोक्ष प्राप्त होता है अर्थात् जब ब्रह्म और जीव का भेद मिट जावे[२]।

बौद्ध दर्शन—बौद्ध दर्शन के अनुसार पूर्ण शान्ति अथवा आवागमन से मुक्ति 'निर्वाण' से प्राप्त होती है। इसका आशय 'अहंकार का पूर्ण त्याग और सर्वज्ञता में परम शान्ति' है। कवि ने निर्वाण[३] शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है, यद्यपि अर्थ वही है इसमें संदेह है। मालविकाग्निमित्र की परिव्राजिका 'शान्तं पापम्'[४] मंत्र का उच्चारण करती है, जो बौद्ध मंत्रोच्चार की तरह है। इसी प्रकार शिव की समाधि में भी बौद्ध प्रभाव बहुत अधिक है।[५] अतः कवि की मोक्ष-धारणा पर बौद्ध दर्शन का अति गहरा प्रभाव था। जैन धर्म का एक शब्द 'प्रायोपवेश'[६] (मरण पर्यन्त उपवास) मिलता है; परन्तु इस धर्म का कोई प्रभाव कवि की किसी कृति में उपलब्ध नहीं होता।

(६) कर्मवाद और पुनर्जन्म

उस समय कर्मवाद और पुनर्जन्म पर गहरी आस्था थी। कर्मों के कारण उर्वशी को मृत्युलोक में आना पड़ा था। 'आत्मा को कर्मानुसार ही मरणोत्तर गति प्राप्त होती है', तब यदि आप मर भी जायँ तब भी इन्दुमती आपको नहीं मिल सकती; क्योंकि सब प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार अलग-अलग पथ से जाते हैं[७]

---

१. स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गांगतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खंडमेकम्। —पूर्वमेघ, ३२

२. पूर्वोल्लेख

३. आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि।—रघु०, १२।१
—निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन। —कुमार०, ३।५२
—यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः॥ —विक्रम०, ३।२१

४. माल०, पृ० ३५० ५. पूर्वोल्लेख

६. रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव। —रघु०, ८।९४

७. रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्॥—रघु०, ८।८५

ऐसा वसिष्ठ ने अज को समझाया था। मनुष्य को कर्म का फल भोगना पड़ता है, सिर्फ ज्ञान से ही कर्म दग्ध होते हैं, यह भगवद्गीता का तत्व 'इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना'[१] में ध्वनित है। कवि के विश्वास का प्रतीक, कि उस समय कर्मवाद में आस्था थी, निम्नलिखित श्लोक से व्यक्त होता है—

'फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव' ––रघु०, १।२०

अतः पूर्वजन्म के संस्कार मनुष्य के साथ-साथ चलते हैं। 'मनो हि जन्मान्तर-संगतिज्ञम्'[२] इसकी पुष्टि कर देता है। पूर्वजन्म में स्थापित मित्रता और प्रेम आगामी जन्म में यद्यपि मनुष्य भूल जाता है; पर वह बिलकुल लुप्त नहीं होता। कवि का ऐसा भी कथन है कि प्रत्येक प्रकार के सुख के साधन उपस्थित रहने पर भी मनुष्य कभी-कभी उदास हो जाता है। उसे कोई भी वस्तु प्रसन्न नहीं कर पाती, यद्यपि वह अपनी उदासी के कारण को जान नहीं पाता। उसके मतानुसार मनुष्य गत जीवन के किसी प्रिय के प्रेम को भी नहीं भूल पाता[३]। यह प्रेम उसकी अचेतनावस्था में उस जन्म में भी उपस्थित रहता है।

सीता अपने जन्मान्तर के पातकों को ही इस जन्म के दुःख का कारण बताती हैं[४]। इसी प्रकार दुष्यन्त का कथन––'अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र'[५] यह भी पूर्वजन्म के किए कर्म के अनुसार सिद्धि प्राप्त होने का कवि का विश्वास है; परन्तु कठोर साधना के द्वारा अन्य जन्म में मनुष्य की अभिलाषा की पूर्त्ति का भी कवि ने वर्णन किया है—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः॥ –रघु०, १४।६६

(७) आत्मशुद्धि

कर्त्तव्यपरायणता और ईश की कृपा द्वारा ही जीवन सुखद हो सकता है। इसके लिए आत्मशुद्धि की परम आवश्यकता है। इसके लिए कवि वेदादि ग्रन्थों

---

१. रघु०, ८।२० २. रघु०, ७।१५

३. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जंतुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥
––अभि०, ५।२.

४. ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः। ––रघु०, १४।६२

५. अभि०, १।१६

का अध्ययन आवश्यक समझता है[१]। श्रुति, स्मृति और दर्शनशास्त्रों का महत्त्व स्वीकार करता है। सबसे अधिक महत्त्वशील है दैनिक जीवन की पवित्रता, आदर्श और नियमबद्धता[२]। इसी आत्मनियन्त्रण और अनुशासन से प्रजा पर, अथवा जिस समूह में मनुष्य रहता है, उस पर प्रभाव पड़ता है[३]। समाज का प्रत्येक व्यक्ति उसकी उन्नति और अवनति के लिए उत्तरदायी है। पूजनीय व्यक्तियों का आदर करने से कल्याण होता है[४]। मनुष्य को दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए। दूसरे के द्वारा निन्दा करते हुए शब्दों को सुनना भी पाप है[५]। अनुचित कार्य करने पर या अनजान में भूल होने पर, पश्चात्ताप भी करना चाहिए[६]।

आध्यात्मिक मार्ग अथवा धर्म का महत्त्व--आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले मनुष्य को प्रातःकाल बहुत जल्दी उठना चाहिए और यथाशक्ति ध्यान, भजन करना चाहिए; क्योंकि इस समय हृदय बहुत स्वच्छ और स्थिर रहता है। कुमारसम्भव में कवि ने सन्ध्या पर जोर दिया है[७]। शकुन्तला में मानसिक पवित्रता[८] की आवश्यकता समझाई है। एक स्थान पर वह अर्थ और काम से ऊपर धर्म को मान्यता देता है[९]। रघुवंश में यज्ञ की महत्ता बताई है[१०] और तप की अमूल्यता तो सर्वत्र है। कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग में शिवजी की

---

१. उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्। --कुमार०, २।१२
--श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। --रघु०, २।२

२. अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना॥ --रघु०, १।२३

३. रघुवंशी राजा ऐसे ही आदर्श-स्वरूप थे। यथा--दिलीप, रघु, राम।

४. प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः। --रघु०, १।७९

५. न केवलं यो महतोऽपभाषते श्रृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।
--कुमार०, ५।८३

६. अकामोपनतेनैव साधोर्हृदयमेनसा। --रघु०, १०।३९

७. निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्झिता।
सेयमस्तमुदयं च सेवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम्॥ --कुमार०, ८।५२

८. सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। --अभि०, १।२१

९. अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनी।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥--कुमार०, ५।३८

१०. दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्। --रघु०, १।२६

तपस्या, पञ्चम सर्ग में उमा की तपस्या, षष्ठ सर्ग में सप्तर्षियों और अरुन्धती का अपनी तपश्चर्या द्वारा स्वर्ग को शोभा प्रदान करना, सब इसी मत की महिमा है। साधना भी दूसरे शब्दों में तपस्या है। शकुन्तला के परित्याग के पश्चात् दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों आत्मशुद्धि और साधना से प्रेम की उज्ज्वलता को प्राप्त करते हैं। यक्ष और यक्षपत्नी का विरह भी यही साधना है। विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा का उर्वशी के लिए विलाप इसी साधना का एकांगी पक्ष है। अतः तपस्या की मान्यता सर्वत्र है।

यह तपस्या सार्थक तब है, जब भगवान् प्रसन्न हों। अतः ईश के प्रति सच्चा प्रेम और उसकी कृपा की प्राप्ति ही समस्त धर्म का मूल है। यही सृष्टि-कर्त्ता, पालनकर्त्ता और प्रलयकर्त्ता है; एक ही ईश की ये तीन शक्तियाँ हैं।

अपने समय में पूजित अन्य देवताओं की कहीं भी कवि ने उपेक्षा नहीं की, वरन् वैदिक और पौराणिक समस्त देवताओं का उसने अपनी कृतियों में उल्लेख किया है।

वैदिक तथा पौराणिक देवता--देवताओं के लिए कवि ने देव[1] और दिवौकस[2] शब्दों का प्रयोग किया है। इन देवताओं में इन्द्र[3], अग्नि[4],

---

—हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम्॥ --रघु०, १।६२

१. तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः।—कुमार०, ७।३८

२. तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः।—कुमार०, २।१

३. जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः।—रघु०, २।४२
—उमावृषांकौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।—रघु०, ३।२३
—अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः।—रघु०, ३।३८
—धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः।—रघु०, ३।३९
इसी सर्ग में देखिए ४२, ४३, ४४, ४६, ५३, ६२, ६४ श्लोक।
—पुरहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपंक्तयः।--रघु०, ४।३
—यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरंचितविक्रमम्।—रघु०, ९।२४
—प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम्।
वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुंठिता श्रीव लक्ष्यते॥—कुमार०, २।२०

४. पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम्।—रघु०, १०।५०
—स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।—रघु०, ५।२५

वरुण[1], सूर्य[2], यम[3], त्वष्ट्रा[4], द्यावापृथिवी[5] और रुद्र[6] मुख्य हैं। द्यावापृथिवी तथा अग्नि के अतिरिक्त सभी पुराण के देवता भी बन बैठे। प्रकृति की दिव्यशक्तियों का भाव समाप्त हो गया। विष्णु सूर्य की कला न रह कर पृथक् सर्वशक्तिमान् देवता बन गए, जिनके राम, कृष्णादि अवतार भी हुए। नवीन देवताओं की भी योजना हुई, जैसे ब्रह्मा[7],

---

१. समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥—रघु०, ९।६
देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ३ रघु०, ९।२४
—ईन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभू-
द्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम्।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दंडोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः॥—रघु०, १७।८१

२. सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयंगमस्वनैः।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः॥—कुमार०, ८।४१
इसके पश्चात् के ३ श्लोकों में भी इसी सूर्य की स्तुति का विवरण है।

३. ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः।—रघु०, २।६२
देखिए, पादटिप्पणी, नं० १
—यमोऽपि विलिखन्भूमिं दंडेनास्तमितत्विषा।—कुमार०, २।२३

४. उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।—कुमार०, ७।४१
—आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति।
—रघु०, ६।३२

५. द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम्। —रघु, १०।५४

६. इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम्। —रघु०, २।५४
—रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः।—कुमार०, २।२६

७. अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार।—रघु०, ५।३६
—अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥ —कुमार०, २।३
इस सर्ग में ४ से १५ श्लोक तक ब्रह्मा की स्तुति है।

विष्णु [1], शिव [2], इन तीनों का एक रूप त्रिमूर्ति [3], कुबेर [4],

---

१. हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।—रघु०, ३।४६

—पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् । —रघु०, ४।२७

—वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ।—रघु०, ६।४६

—पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् । —रघु०, ७।१३

—बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ।—रघु०, ७।३५

—प्रबुद्धपुंडरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।—रघु०, १०।९

रघुवंश, दशम सर्ग में ६ से ३५ श्लोक तक विष्णु की स्तुति है ।

—येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः । —पूर्वमेघ, १५

—त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे........। —पूर्वमेघ, ५०

२. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥—रघु०, १।१

—अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुंभोदरं नाम निकुंभमित्रम् । —रघु०, २।३५

—अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन । —रघु०, २।३६

—व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमंकागतसत्ववृत्ति । —रघु०, २।३८

देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ रघु०, ३।४९

—स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः । —रघु०, ११।१३

—आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।—रघु०, १८।२४

—तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्त्तिः । —कुमार०, १।५७

—अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः । —कुमार०, २।५७

—उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम् ।
सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयो मम ॥ —कुमार०, २६०

—गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम्।

—कुमार०, ३।१७

इसी में देखिए श्लोक ६५ से ७०; सम्पूर्ण कुमारसम्भव ही शिवजी विषयक श्लोकों से भरा हुआ है। इसके अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीय का पहला श्लोक शिवजी की स्तुति है ।

३. नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने । —कुमार०, २।४

४. गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् । —रघु०, ५।२६

—यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरंचितविक्रमम् । —रघु०, ९।२४

स्कन्द[1], शेष[2], जयन्त[3], लांगली[4], मदन[5] और लोकपाल[6] मुख्य हैं। ब्रह्मा के लिए कवि ने स्वयम्भू, चतुरानन, वागीश आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार विष्णु के लिए हरि, पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, पुंडरीकाक्ष, परमेष्ठिन्, अच्युत, चक्रधर, भगवान्, कृष्ण, नारायण आदि संज्ञाएँ प्रयुक्त हैं। शिव के लिए ईश, ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर, अष्टमूर्ति, वृषभध्वज, शूलपाणि,

---

—पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दंडोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः। —रघु०, १७।८१

—कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम्। —कुमार०, २।२२

—संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य। —पूर्वमेघ, ७

१. यो हेमकुंभस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः। —रघु०, २।३६
—तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः। —पूर्वमेघ, ४७

२. भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः। —रघु०, १०।७
—मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा। —रघु०, १०।१३

३. उमावृषांकौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ। —रघु०, ३।२
—असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः। —रघु०, ६।७८

४. हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनांकां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लांगली याः सिषेवे। —पूर्वमेघ, ५३

५. तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे। —कुमार०, ३।२२
—अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृंगं रतिवलयपदांके चापमासज्य कंठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूतांकुरास्त्रः शतमखमुपतस्थे प्रांजलिः पुष्पधन्वा॥
—कुमार०, २।६४

—अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति।
—कुमार०, ५।५३

—असह्य हुंकारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः॥
—कुमार०, ५।५४

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५ —रघु० १७।८१
—तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः। —कुमार०, ७।४५
—नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥
—रघु०, २।७५

स्थाणु, नीललोहित, विश्वेश्वर, शंभु, हर, गिरीश, शिव, पिनाकी आदि विशेषण आए हैं[१]।

देवियाँ—इनमें इन्द्र की पत्नी शची,[२] सरस्वती[३] और पृथिवी[४] का उल्लेख है। सरस्वती और भारती[५] दोनों से विद्या की[६] देवी का भाव प्रकट होता है। पौराणिक देवियों में लक्ष्मी,[७] पार्वती[८] और सप्त अंबिकाएँ[९] हैं। पार्वती के लिए उमा, अम्बिका, भवानी, गौरी आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनका वाहन सिंह है। सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी और लक्ष्मी विष्णु की पत्नी

---

१. पूर्वोल्लेख, उदाहरणों में देखिए। सम्पूर्ण उदाहरणों के श्लोक स्थानाभाव के कारण दिए नहीं जा सके।

२. असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्॥ —रघु०, ३।१३
—उमावृषांकौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ॥ —रघु०, ३।२३

३. स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती। —रघु०, ४।६
—निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च। —रघु०, ६।२९
— द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव। —कुमार०,७।९०

४. द्यावापृथिव्यौ प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम्। —रघु०, १०।५४

५. बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थेव भारती। —रघु, १०।३६

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३ और ५

७. पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्। —रघु०, ४।५
—श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले। —रघु०, १०।८

८. कुमार० ५।६–२९ ; उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।

—कुमार०, ६।८२

सप्तम, अष्टम सब सर्गों में पार्वती-विषयक असंख्य श्लोक हैं।
—जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। —रघु०, १।१
—ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति। —पूर्वमेघ, ४८

९. तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः।
मुखैः प्रभामंडलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरिक्षम्॥ —कुमार०, ७।३८
—तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे।
बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतह्रदेव॥

—कुमार०, ७।३९

कही जाती हैं। कवि ने इनको पद्म पर बैठी हुई और विष्णु के चरण पलोटती हुई कहा है। अमरकोष में सप्त माताओं के नाम ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, और चामुंडा दिए हैं।

भूचर देव और देवियाँ—इनमें गन्धर्व[१], यक्ष[२], किन्नर[३], किंपुरुष[४], पुण्यजन[५], विद्याधर[६] और सिद्ध[७] हैं। गन्धर्वों की स्त्रियां अप्सरसः[८] या सुरांगना[९] कही गई हैं।

देवी-देवताओं के वाहन—शिव का वाहन वृष[१०], विष्णु का गरुड़[११]

---

१. अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य। —रघु०, ५।५३

२. यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः। —कुमार०, ६।३९
—यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु। —पूर्वमेघ, १

३. असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकंठि सुप्यते। —रघु०, ८।६४
—उद्गास्यतामिच्छति किंनराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्।
—कुमार०, १।८
—अनेकशः किंनरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत्।
—कुमार०, ५।५६

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २ कुमार०, ६।३९
—यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषांगनानाम्।
—कुमार०, १।१४

५. अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा। —रघु०, ९।६

६. अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता। —रघु०, २।६०

७. उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृंगाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः। —कुमार०, १।५

८. यश्चाप्सरो विभ्रममंडनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति। —कुमार०, १।४
—अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरः प्रार्थितयोर्विवादः। —रघु० ७।५३
—वन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम्।
—विक्रम०, १।४

९. जगाद चैनामयमंगनाथो सुरांगनाप्रार्थितयौवनश्रीः। —रघु०, ६।२७

१०. कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्। —रघु०, २।३५
—अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन। —रघु०, २।३६
—स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम्। —कुमार०, ७।३७

११. मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा।
उपस्थितं प्रांजलिना विनीतेन गरुत्मता॥ —रघु०, १०।१३

और शेष शय्या[१], पार्वती का वाहन सिंह[२], इन्द्र का ऐरावत[३] आदि का उल्लेख है। देवत्व की विभूति नन्दिनी गाय को भी प्राप्त हुई है। गंगा, यमुना भी मनुष्य आकार में चामरधारिणी[४] का कार्य करती हैं। अतः नदियों को भी देवत्व प्राप्त हुआ है।

दैत्य-दानव—देवताओं के विरोधी दैत्य[५] और सुरद्विषः[६] कहलाते थे। रावण[७], कालिय[८], लवण[९] आदि असुरों का कवि ने उल्लेख किया है। राहु[१०] और केतु[११] दो क्रूर ग्रहों को भी दैत्य रूप में परिणत कर लिया गया। शिव के अनुचरगण[१२] प्रेतयोनि के थे। शाकुन्तल में एक अदृश्य प्रेत[१३] ने विदूषक को पीड़ित किया था[१४]।

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ११
—भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः। —रघु०, १०।७

२. रघु०, सर्ग २

३. असंपदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणांगुलि ॥—कुमार०, ५।८०

४. मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्। —कुमार०, ७।४२

५. दैत्यस्त्रीगंडलेखानां मदरागविलोपिभिः।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ —रघु०, १०।१२

६. प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषां।
अथैनं तुष्टवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥—रघु०, १०।१५

७. राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसां।
तेषां शूर्पणखैवेका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥ —रघु०, १२।५१
—स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम्।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥ —रघु०, १२।५५

८. त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्लेपयतीव कृष्णम् ॥—रघु०, ६।४९

९. अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः।
रुरोध संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥ —रघु०, १५।१७

१०.११. तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥—रघु०, २।३९

१२. आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं ददर्श। —कुमार०, ७।३६
—ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मंगलतूर्यघोषः। —कुमार०, ७।४०

१३.१४. अदृष्टरूपेण केनापि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिछन्दस्याग्रभूमिमारोपितः।
—अभि०, पृ० १२४

वन में रहने वाले 'वन देवता'[1] का भी संकेत है। पितृगण[2], सप्तर्षि[3], ब्रह्मर्षि[4] भी देवतुल्य माने गए। इसी प्रकार दिलीप, रघु, अज, राम आदि महापुरुष दिव्यशक्ति-सम्पन्न प्रतिभासित होते हैं।

इन्द्र—वैदिक देवताओं में यह एक शक्तिमान् देवता था। तत्पश्चात् यह अल्प महत्त्वशील देवताओं में गिना गया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रधान देवता रह गए, शेष सब गौण। कवि ने प्राचीन कथा प्रसंग[5] में इसका उल्लेख किया है। इन्द्र धनुष के प्रथम दर्शन[6] और यज्ञ के[7] अवसरों के अतिरिक्त इन्द्रदेव के पूजन की प्रथा का अन्त हो गया। इन्द्र को शतक्रतु कहते हैं। अतः जो अन्य १०० यज्ञ करना चाहता था, उसे यह बाधा पहुँचाया करता

---

१. यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः। —कुमार०, ६।३९
—जाते ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः।
—अभि०, पृ० ७०

२. पूर्वोल्लेख

३. सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः। —कुमार०, १।१६
—विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गांगैः सलिलैः दिवश्च्युतैः।
—कुमार०, ५।३७
कुमार० ६।३–१२ श्लोकों में सप्तर्षियों का उल्लेख है।

४. कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे॥ —रघु०, १०।६३

५. रघु०, सर्ग ३; अभि०, अंक ६
—तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः।
—कुमार०, ७।४५

६. पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपंक्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः॥ —रघु०, ४।३
—वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ।
प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ॥ —रघु०, ४।१६

७. नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः॥ —रघु०, ३।३८
—मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे।
अजस्य दीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे॥
—रघु०, ३।४४

था। इसके पुरुहूत[1], शतक्रतु[2], वज्रपाणि[3], पुरन्दर[4], हरि[5], शक्र[6], मघवा[7] वासव[8], गोत्रभिद[9] आदि नाम कवि के साहित्य में प्राप्त होते हैं। इसके पुत्र का नाम जयन्त[10] था।

अग्नि—वैदिक काल का यह मुख्य देवता था; पर अब केवल यज्ञ[11] और विवाह[12] में ही इसका उल्लेख मिलता है। राजा जब तपस्वी आदि जनों से भेंट करता था तो ऐसे अग्न्यागार[13] में जहाँ सदा अग्नि प्रज्ज्वलित रहती थी। इसका उल्लेख किया जा चुका है। आहुतियाँ लेने के कारण ही यह हविर्भुज[14] कहा गया है।

वरुण—इस समय वरुण जल का देवता[15] माना जाता था। यह अष्ट लोक-पालों में से है। अतः कालिदास का राजा कुमार्ग पर चलने वाले को न्याय के लिए इसी के पद से, उपस्थित करता है[16]। कुशान और गुप्त मूर्तियों में इसका उल्लेख है[17]। वह मगर पर बैठा हुआ दिखाया गया है और दंड के लिए हाथ में पाश लिए हुए है।

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ५ और ६
२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ७ —रघु०, ३।३८
३. वज्रपाणिः —रघु०, २।४२
४. यथाजयन्तेन शचीपुरन्दरौ। —रघु०, ३।२३
५. हरिः —रघु०, ३।४३
६. रघु०, ३।३९
७. रघु०, ३।४६
८. रघु०, ३।५८
९. रघु०, ३।५३
१०. पूर्वोल्लेख
११. अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम्॥ —रघु०, १०।५०
१२. तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार॥ —रघु०, ७।२०
—तौ दम्पती त्रिःपरिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ।
—कुमार०, ७।८०
१३. पूर्व उल्लेख
१४. मुमूर्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्। —रघु०, १०।७९
१५. रघु०, ६।२४, १७।८१; इसका उल्लेख उद्धरण सहित किया जा चुका है।
१६. नियमसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः। —अभि०, ६।८
१७. चन्द्रगुप्त का मथुरा शिलालेख २; समुद्रगुप्त के सभी लेख।

यम—कवि ने यम के लिए दण्ड[१] और वैवस्वत[२] शब्द के भी प्रयोग किए हैं। इसके आयुध का नाम कूट शाल्मली है। कवि ने इस आयुध का संकेत किया है[३]।

त्वष्ट्रा—यह देवताओं का शिल्पी है। तत्पश्चात् वह विश्वकर्मा का अग्रदूत हुआ।

रुद्र—कालिदास ने इसका शिव के साथ एकीकरण किया है[४]। कवि ने शिव के लिए त्र्यम्बक[५] शब्द का प्रयोग भी किया है। वैदिक पाठ[६] में यह रुद्र के लिए आया है।

लोकपाल—यह आठ देवताओं का वर्ग था। ये दिशाओं के रक्षक थे। इस वर्ग में इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर भी थे। ऐसी मान्यता थी कि राजवंश में सन्तान की उत्पत्ति के पूर्व वे रानी के गर्भ में प्रवेश करें[७]।

कुबेर—यह अलका का स्वामी[८] और उत्तर दिशा का देवता माना गया है। इसकी मूर्ति खजांची अथवा बनिया के रूप में मिलती है। इसके हाथ में थैली और मोटी तोंद इसकी विशेषता है। मथुरा म्यूज़िअम में इसकी प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। इसको पूजा अब यथेष्ट मात्रा में प्रचलित हो गई थी। कवि ने अक्सर इसका उल्लेख किया है[९]।

सूर्य—ऋग्वेद में वरुण की तरह सूर्य भी विश्वदेवों में था। इसके जो गुण 'सविता' में निहित थे, कालिदास ने वे ही गुण इसके लिए सविता शब्द प्रयुक्त कर निहित कर दिए हैं[१०]। सूर्य के लिए रवि[११], भानु[१२], सप्तसप्ति[१३],

---

१. पूर्वोल्लेख
२. हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत्। —रघु०, १२।९५
३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २
४. कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामूननां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम्॥ —रघु०, २।५४
—आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः।
रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः॥ —कुमार०, २।२६
५. रघु०, ३।४९
६. वाजसनेयी संहिता, ३. ८; शतपथ ब्राह्मण, २. ६, २. ९
७. रघु०, २।७५; पूर्वोल्लेख
८. पूर्वमेघ, १ ९. पूर्वोल्लेख १०. ऋतु०, १।१६
११. कुमार०, ८।४३ १२. अभि०, ५।४ १३. अभि०, ६।३०

हरिदश्वदोधिति[1] शब्द भी आए हैं। सूर्योपासना का 'वैदिक काल' में बहुत चलन था। कुशाण और शक साधारणतः सूर्य के बड़े उपासक थे। मथुरा संग्रहालय में सूर्यदेव को अनेक प्रतिमाएँ हैं। कालिदास ने इसके हरे रंग के सात घोड़ों का उल्लेख किया है, जो एक रथ में जुते हैं[2]। मथुरा संग्रहालय में भी इन प्रतिमाओं के घोड़े रथ में जुते हुए हैं, जो रथ को लेकर उड़ रहे हैं। इन पर विदेशी संस्कृति की छाप भी स्पष्ट है। लम्बे जूतों का जोड़ा इसका उदाहरण है। बनारस के भारत कला भवन में सूर्य देव का रथ है, जिसमें एक प्रतिमा बैठी है। उसका उरुहीन सारथी अरुण रथ हाँक रहा है।

ब्रह्मा—ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये कालिदास द्वारा वर्णित मुख्य देवता हैं। इन तीनों का समन्वय ही त्रिमूर्ति कहलाता है। ब्रह्मा स्वयम्भू[3], चतुरानन[4], वागीश[5] चराचर विश्व का उत्पत्तिदाता[6] कहा जाता है। यह प्रकृति के सर्ग स्थिति और प्रलय का कारण है। ऐसा कहा जाता है कि सृष्टि-रचना के लिए अपने शरीर के नर और नारी दो भाग किए। यह दिन में काम करता और रात में सोता है। यही सृष्टि और प्रलय है। यह अज है। स्वयं अनादि, जगत् का आदि, स्वयं प्रभुरहित, जगत् का प्रभु है। अपने आप से ही यह रचना करता है, अपने से ही इसे प्रेरणा मिलती है और अपने आप में ही यह विलीन हो जाता है। यह तरल भी है और ठोस भी। स्थूल भी है और सूक्ष्म भी। हलका भी है और भारी भी। यह हवि भी है और होता भी। भोज्य भी है और भोक्ता भी।। ज्ञान और ज्ञाता दोनों है। इसी प्रकार देय और दाता भी दोनों है[7]। कालिदास ने 'सर्वतोमुख'[8] शब्द का प्रयोग कर, इसके चार सिर हैं, इसकी पुष्टि कर दी है। भारतीय संग्रहालय में इसकी मूर्ति में चार सिर, चार हाथ जिनमें वेद, कमंडलु, रुद्राक्ष और स्रुवा हैं और दाढ़ी वाली आकृति है। कवि ने कहीं ब्रह्मा के मन्दिर का उल्लेख नहीं किया है।

---

१. रघु०, ३।२२
२. पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः। —रघु०, ३।२२
३. तुरासाहं पुरोधाय धाय स्वायंभुवं ययुः। —कुमार०, २।१
४. अथ सर्वस्य धातारं ते सर्व सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥ —कुमार०, २।३
५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४
६. अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे।
७. देखिए, कुमार०, २।४-१५
८. अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्। —कुमार०, २।३

प्रजापति--कवि ने ब्रह्मा से प्रजापति का एकीकरण कर दिया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र[१] भी दोनों को एक मानता है। शतपथ[२] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] के अनुसार यह सभो देवताओं का पिता है।

विष्णु--विष्णु के लिए, जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, हरि, पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, पुण्डरीकाक्ष, परमेष्ठिन्, अच्युत, वलनिषूदन, चक्रधर, भगवान्, कृष्ण[४] आदि नाम प्रयुक्त किए गए हैं। ऋग्वेद का विष्णु सूर्य है और इसका आयुध सूर्याकृति का गोल गतिशील चक्का[५] है, जो पीछे चक्र बन गया। ऋग्वेद में यह तीन डग लेकर भूस्थल[६] को पार करता है। यही बाद में पौराणिक वामनावतार का प्रतीक बन गया। कवि के ग्रन्थों के आधार पर वर्णन इस प्रकार है--'विष्णु शेष-शय्या पर लेटे हैं। पद्म पर बैठी लक्ष्मी अपनी गोद में उनके चरणों को रखे पलोट रही हैं। लक्ष्मी की कमर में रेशमी वस्त्र पड़ा है। विष्णुजी के चौड़े वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि चमक रहा है, जिसमें लक्ष्मी जी श्रृंगार के समय अपना मुख देखा करती हैं[७]। उनकी सेवा में निरत उनका स्वामिभक्त सेवक गरुड़ है'[८]। विष्णुजी तक न वाणी की पहुँच है, न मन की। पहले विश्व को बनाने वाले फिर उसका पालन करने वाले और अन्त में उसका संहार करने वाले, ये तीनों रूप वे धारण करते हैं। जिस प्रकार वृष्टि का जल मूलतः एकरस है पर विभिन्न भूमि के सम्पर्क से विभिन्न स्वादयुक्त हो जाता है, वैसे ही वे समस्त विकारों से दूर, सत्व, रज और तम के गुणों से मिल विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। स्वयं अमाप्य हैं; पर सारे लोकों को उन्होंने माप डाला है। स्वयं इच्छाहीन हैं; पर सबकी कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। स्वयं अजेय हैं; पर सम्पूर्ण संसार को जय कर लिया है। स्वयं अगोचर हैं; पर सारे दृश्य जगत् के कारण हैं। वह हृदय में निवास करते हुए भो दूर हैं, निष्काम होते हुए भी तपःशील हैं, पुराण होते हुए भी नाश से रहित हैं। सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञात हैं। सबके आदि स्रोत हैं, पर स्वयं स्वयंभू हैं। सामवेद के सातों प्रकार के गीतों में आपके ही गुणों के गीत हैं। आप ही सातों समुद्रों के जल में निवास करते हैं। सातों

---

१. ३, ४ २. ११, १, १६, १४; ३. ८, १, ३, ४

४. सबके उद्धरण, 'विष्णु' के जहाँ उद्धरण हैं, वहाँ देखिए। शेष सब रघु०, १० सर्ग में हैं, जहाँ विष्णु की स्तुति की गई है।

५. ५, ६३, ४ ६. ७, ९९ ७. रघु०, १०।७–१०

८. उपस्थितं प्राजंलिना विनीतेन गरुत्मता।–रघु०, १०।१३

प्रकार की अग्नि आपके ही मुख हैं। सातों लोकों के आप ही आश्रय हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष उनके ही चार मुखों से निकले हैं। सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग चार युग और चतुर्वर्ण सब उनका ही उत्पन्न किया हुआ है। योगी लोग प्राणायाम आदि के द्वारा ज्योति-स्वरूप आपकी ही खोज करते हैं। अजन्मा होते हुए भी वे जन्म लेते हैं। कर्मरहित होकर भी शत्रुओं का संहार करते हैं। योगनिद्रा में निद्रित भी जागरूक हैं। परमानन्द के सभी मार्ग यहीं जाकर मिल जाते हैं। जो योगी सदा उनका ध्यान करते हैं, जिन्होंने सब कर्म उनको समर्पित कर दिए हैं और जो राग-द्वेष के परे हैं, उनको वे जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा देते हैं। उनकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके स्मरण मात्र से ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। उनके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है। दया दर्शाने के लिए वे अवतार लेते हैं और मनुष्य के सदृश आचरण करते हैं[१]।

नारायण—विष्णु के लिए ही नारायण शब्द प्रयुक्त किया गया है। उर्वशी के विषय में विवेचना करते हुए कवि कहता है "नर के मित्र मुनि नारायण की जाँघ से उत्पन्न उर्वशी जब कैलासपति की परिचर्या समाप्त कर लौट रही थी, देवताओं के शत्रु राक्षसों द्वारा वह मार्ग में बन्दी बना ली गई'[२]। इस वर्णन के अनुसार नर और नारायण दो प्राचीन ऋषि हैं। बाद में नर का एकीकरण अर्जुन से और नारायण का वासुदेव कृष्ण से हो गया। ऊपर के प्रसंग की उर्वशी अपने पिता के मध्यलोक (पितुः[३]) आकाश में उड़ जाती हैं। वामन के दूसरे डग से आकाश की प्रतीति होती है। आकाश विष्णुलोक के लिए एक और स्थल पर भी प्रयुक्त हुआ है। कालिदास 'आत्मनः पदम्'[४] से विष्णुलोक का ही आशय लेते हैं। जैसा बताया जा चुका है, विष्णु पहले सूर्य ही था अतः सूर्यलोक 'आकाश लोक' हुआ।

अन्य अवतार—महावाराह[५], राम[६], वासुदेव, कृष्ण[७] सब विष्णु के ही

---

१. रघु०, १०।१५–३१

२. ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना।
वन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम्॥
——विक्रम०, १।८

३. पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती। —विक्रम०, १।२०

४. अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः। —रघु०, १३।१

५. निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः। —रघु०, ७।५६

६. रघु०, सर्ग १०।

७. बर्हेणेव स्फुतरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः। —पूर्वमेघ, १५

अवतार थे क्योंकि इनका एकीकरण विष्णु के साथ किया गया है। वाराह ने दानवों के हाथ से पृथ्वी का उद्धार किया, राम ने रावण का वध किया और कृष्ण ने क्रूर कंस का।

कुषाण काल में वासुदेव कृष्ण के सम्बन्ध की अधिकांश पौराणिक कहानियों की रूप-रेखा को विकास प्राप्त हुआ। कवि ने गोपाल कृष्ण[१] का उल्लेख करते हुए मोर पंख[२], बलराम[३] और उनकी पत्नी रेवती[४] आदि का भी प्रसङ्ग दिया है। कालिय[५] और कौस्तुभ[६] का भी संकेत है; परन्तु राधा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कवि के समय में वैष्णव धर्म प्रमुख सम्प्रदाय हो गया था। गुप्त काल के लेखों से गुप्त राजाओं का वासुदेव का उपासक होना भी सिद्ध होता है। मध्य-भारत की उदयगिरि गुफा में नारी के रूप में पृथ्वी का उद्धार करते हुए विशालकाय महावाराह (विष्णु का एक अवतार) की मूर्ति है। जोधपुर के पास मन्दौर के पाँचवीं शताब्दी के स्तम्भ में कृष्ण के शकट उलटने और गोवर्धन उठाने के चित्र हैं। एलौर के मन्दिर में शेषशायी विष्णु और उनके अवतारों की अनेक प्रतिमाएँ हैं। अतः कवि के पूर्व वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित हो चुका था। उनके समय में इसने और उन्नति की। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की एकता इस समय स्थापित हुई।

शिव—कालिदास को शिव सबसे अधिक प्रिय हैं, लगभग सभी ग्रन्थों का प्रारम्भ शिव की स्तुति से हुआ है। अतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि वे शिव के ही उपासक थे। परन्तु उनका धर्म किसी संकुचित सम्प्रदाय की संकुचित सीमा में जकड़ा नहीं था, जैसा विष्णु और ब्रह्मा की स्तुति से भी स्पष्ट होता है।

जो भी हो, शिव का महत्त्व बहुत अधिक था। इनके लिए ईश,[७] ईश्वर,[८]

---

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ७

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ७

३. हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनांकां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लांगली याः सिषेवे। —पूर्वमेघ, ५२

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३

५.६. त्रस्तेन ताक्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्॥—रघु०, ६।४९

७. माल०, १।१ ८. विक्रम०, १।१

महेश्वर,[1] परमेश्वर,[2] अष्टमूर्ति,[3] शूलभृत,[4] पशुपति,[5] त्र्यम्बक,[6] स्थाणु,[7] नीललोहित,[8] नीलकण्ठ,[9] वृषभध्वज,[10] विश्वेश्वर,[11] चण्डेश्वर,[12] महाकाल,[13] शम्भु,[14] हर,[15] गिरीश,[16] भूतेश्वर,[17] भूतनाथ,[18] शिव,[19] पिनाकी[20] आदि अनगिनत विशेषण आए हैं। उज्जयिनी के महाकाल,[21] बनारस के विश्वेश्वर[22] के मन्दिर का कवि ने उल्लेख किया है।

शिव की स्तुति द्वारा उनके निम्नलिखित गुणों की अभिव्यक्ति होती है। "वह मनुष्यों को आठ रूपों में दृष्टिगोचर होता है। जल के रूप में वह ब्रह्मा की सष्टि में सर्वप्रथम है। अग्नि के रूप में वह विधिपूर्वक हूत-सामग्री को ग्रहण करता है। होता के रूप में वह यज्ञ-कर्मों का सम्पादक है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह दिन और रात का नियामक है। आकाश के रूप में वह विश्व में व्याप्त और शब्द गुण वाला है। पृथ्वी के रूप में जो उत्पत्ति का स्थल है, वायु के रूप में सभी जीवधारियों का जीवनदाता है"[23]। शिव के आठ रूप अन्यत्र भी वर्णित हैं। मालविकाग्निमित्र के प्रथम श्लोक में शिव को सांसारिक भोग, धन,

---

१. रघु०, ३।४९ २. रघु०, १।१ ३. रघु०, २।३५
४. कुमार०, ६।९४ ५. कुमार०, ६।९५ ६. रघु०, ३।४६
७. कुमार०, ३।१७ ८. कुमार०, २।५७ ९. कुमार०, ७।५१
१०. रघु०, २।३६ ११. रघु०, १८।२४ १२. पूर्वमेघ, ३७
१३. पूर्वमेघ, ३८ १४ पूर्वमेघ, ६४ १५. कुमार०, ७।४४
१६. कुमार०, ५।३ १७. रघु०, २।४६ १८. रघु०, २।५८
१९. कुमार०, ५।७७ २०. कुमार०, ५।७७

२१. असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।

—रघु०, ६।३४; पूर्वमेघ, ३७–४०

२२. आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥—रघु०, १८।२४

नोट : शिव के विशेषणों के पूरे उद्धरण कुछ पहले शिव का जहाँ उल्लेख है, वहाँ दे दिए हैं। आगे शिव की उपासना, स्वरूप, मित्र, शैव सम्प्रदाय में भी बहुत से उद्धरण दिए जा रहे हैं।

२३. याः सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ —अभि०, १।१

स्त्री और अहंकार से सर्वथा उदासीन एवं मुक्त व्यक्त किया गया है[१]। दूसरे शब्दों में लोभ, काम और अहंकार को छोड़ने से ही भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। शिव सभी के स्रष्टा, पालक और संहारकर्त्ता हैं। अथवा इन सबके कारण हैं[२]। वास्तविक कार्य उनका संहार है। उनकी मूर्ति जल में व्याप्त[३] कही जाती है। यह इस बात का प्रतीक है कि प्रलय होने पर सम्पूर्ण पृथ्वी जलमग्न हो जाती है। शिव की उपाधि ईश्वर भी है और यह सार्थक है। वेदान्ती लोग इसे अकेला पुरुष बताते हैं। यह पृथ्वी और आकाश में रमा होने पर भी सबसे अलग है। मोक्षार्थी इसे अपने हृदय में खोजते हैं[४]। 'व्याप्य स्थितं रोदसी' से उसकी महत्ता लक्षित होती है। 'ममापि स क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्म भू''[५] से वे ही जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति दे सकते हैं, यह चरितार्थ होता है।

वे विश्व का रूप हैं[६]। वे अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त हैं[७]। वे विश्व को[८] धारण करने वाले हैं। विश्व में किए जाते प्रत्येक कर्म के वे साक्षी हैं[९]। सभी लोकपाल इन्द्र सहित उनके सम्मुख नतमस्तक होते हैं[१०]।

---

१. एकैश्वर्यस्थितेऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः,
कान्ता सम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुर्बिभ्रतो नाभिमानः,
सन्मार्गालोकनाथ व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥ —माल०, १।१

२. स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहार हेतुः। रघु०, २।४४

३. सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयो मम। —कुमार०, २।६०

४. वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी,
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते,
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥ —विक्रम०, १।१

५. अभि०, ७।३५

६. विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः॥ —कुमार०, ५।७८

७. अणिमादि गुणीपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम्। —कुमार०, ६।७५

८. येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि। कुमार०, ६।७६

९. साक्षी विश्वस्य कर्मणाम्।—कुमार०, ६।७८

१०. तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्रांजलयः प्रणेमुः॥ —कुमार०, ७।४५

शिव का स्वरूप—गुप्तकाल की शिव की अकेली और पार्वती के साथ अनेक प्रतिमाएँ मिलती हैं। कुमारसंभव में कवि ने शिव के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। सर्वांग में भस्म[1], ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा[2], शरीर पर गजाजिन[3] (अंग के आभूषण[4] सर्प के रूप में), उसकी विशेषता है। उसका वाहन वृषभ[5] है, जिसके गले में सोने की छोटी-छोटी घंटियां लटकती रहतो हैं। मीठी चाल से चलने वाला सींगों से बादलों को विदीर्ण करता हुआ आगे बढ़ता जाता है[6]। उस पर बाघाम्बर[7] बिछा रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, चामरवाहिनी गंगा, यमुना सब उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं। शिव के गण नन्दी और वाहन वृषभ नन्दी में कवि मित्रता समझता है—ऐसा श्री भगवत्शरण का मत है, पर वास्तव में दोनों स्थानों पर नन्दी गण के ही लिए आया है[8]।

शैव सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाएँ

काश्मीरी शैव मत—इसमें दो मत हैं—स्पन्दनशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। स्पन्दनशास्त्र से इनके सिद्धान्तों का साम्य नहीं है। थोड़ा-बहुत जो साम्य मालूम होता है वह उपनिषद् आदि ग्रन्थों के अभ्यास और सिद्धान्त के कारण ही है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र भी बिलकुल भिन्न है। इस शास्त्र के अनुसार सद्गुरु के अनुग्रह से ही आत्म-स्वरूप का भान होता है, पर कालिदास ने कहीं गुरु के महत्व पर प्रकाश डाला ही नहीं है। स्पन्दन शास्त्र के मतानुसार वे मोक्ष का साधन योग मानते हैं, परन्तु गीता के छठे अध्याय में भी मोक्ष-साधन योगविधि

---

१. बभूव भस्मैं सितांरागः। —कुमार, ७।३२
२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ६
३. गजाजिनस्यैव दुकूलभावः। —कुमार०, ७।३२
४. यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम्।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः॥ —कुमार०, ७।३४
५. इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति॥
—कुमार०, ५।७०
६. खे खेलगामी तमुवाह वाहः सशब्दचामीकरकिंकिणीकः।
तटाभिघातादिव लग्नपंके धुन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणे॥ —कुमार०, ७।४९
७. स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम्। —कुमार०, ७।३७
८. देखिए, पादटिप्पणो, नं० ७
—लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः। —कुमार०, ३।४१

का निरूपण है, अतः वे उपनिषद्, गीता आदि से अधिक प्रभावित थे। काश्मीरी शैवमत का प्रभाव नहीं था। श्री लक्ष्मीधर कल्ला ने नाना उदाहरणों द्वारा कालिदास का प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के साथ सम्बन्ध स्थापित अवश्य किया है परन्तु उनका यह साम्य इसलिए भी हो सकता है कि उक्त प्रदेश में वे कुछ दिनों रहे हों। वे उसी के अनुयायी थे, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पाशुपत धर्म—पशुपति[१], भूतनाथ,[२] और भूतेश्वर[३] कहकर कवि ने इस धर्म का भी अप्रत्यक्ष संकेत किया है। इस पद्धति के पति, पशु और पाश तीन सिद्धान्त हैं[४] और विद्या, क्रिया, योग और कार्य चार विभाग हैं[५]। ऋग्वेद में रुद्र को पशुप कहा गया है[६]। अथर्ववेद में भव और शर्व को भूपति और पशुपति कहा है। पशुपति के शासन में गौ, अश्व, नर, अज और मेष ये पंचजीव हैं[७]। महाभारत में[८] पाशुपत पाँच धार्मिक सिद्धान्त में से एक है। अर्जुन ने पाशुपतास्त्र प्राप्त करने की कोशिश की है। कवि ने भी इस देवता को 'दृढ़भक्ति-योगसुलभ'[९] कहा है।

महाकाल के मन्दिर में पशुपति शिव संगीत-प्रिय नृत्य करते दिखाए गए हैं[१०]। शिव की नृत्य-प्रियता और संगीत-प्रियता का संकेत एक स्थान पर और भी कवि ने किया है—

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किंनरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥ —पूर्वमेघ, ६०

---

१. पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः। —कुमार०, ६।९५
२. तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं संबंधिनो मे प्रणयं विहन्तुम्। —रघु०, २।५८
३. भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे। —रघु०, २।४६
४.५. भंडारकर, वैष्णविज्य, शैविज्य आदि, —पृ० १७७
६.७. इंडिया इन कालिदास, पृ० ३१४
८. शान्ति (नारायणीय) अध्याय ३४९-६४
९. विक्रम०, १।१
१०. पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मंडलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्तारंभे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥ — पूर्वमेघ, ४०

कालिदास ने अर्धनारीश्वर[१] का भी उल्लेख किया है। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में शिव के दाहिने भाग में पार्वती दिखाई पड़ती हैं।

युद्धदेव और देवताओं के सेनानी स्कंद[२] का भी कवि ने उल्लेख किया है। देवगिरि पर्वत पर[३] इनका मन्दिर भी था। सामान्यतः इनका वाहन मयूर कहा जाता है। कवि ने भी इसका चित्रण किया है[४]।

महाकाल शिव की संहारकारिणी-शक्ति भद्रकाली[५] है। यह मनुष्य की खोपड़ियों[६] का मुंडमाल धारण करती है। कवि ने इसका स्वतंत्र उल्लेख किया है, उमा अथवा सप्त अंबिकाओं के साथ एकीकरण नहीं हुआ है। शिव के विवाह के पूर्व दिव्य माताओं के पीछे यह अनुमगन करती है[७]। शिव के गणों में इनका स्पष्ट वर्णन है।

अनेक देवी-देवताओं का प्रसंग देने पर भी कवि एक ही ईश्वर पर विश्वास करता है। उसने स्वयं, जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है कि त्रिमूर्त्ति में सबका समन्वय कर दिया है। ब्रह्मा और विष्णु की स्तुति में अभेद इसी कारण है। उसने एक स्थान पर नहीं, अपितु अनेक स्थलों पर इन तीन शक्तियों के भेद-भाव को हटाने का अथक परिश्रम किया है—

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ —कुमार०, २।४

---

१. जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। —रघु०, १।१
२. गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित्। —कुमार०, २।५२
—तत्र स्कंदं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥ —पूर्वमेघ, ४७
३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २।
इसके पहले के श्लोक में देवगिरि का प्रसंग आया है।
४. धौतापांगं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ —पूर्वमेघ, ४८
५. तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे।
बलाकिनो नीलपयोदराजो दूरं पुरः क्षिप्तशतह्रदेव ॥ —कुमार०, ७।३९
६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५
७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५

किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत् ।
अथ विश्वस्य संहर्त्ता भागः कतम एष ते ॥ —कुमार०, ६।२३

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोः हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराघो ॥—कुमार०,७।४४

रसान्तरण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ —रघु०, १०।१८

इस प्रसंग में सबसे सुन्दर अभिज्ञानशाकुन्तल का अन्तिम श्लोक है–

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥
—अभि०, ७।३५

यह उस समय की आस्था का साक्षात् प्रतीक है ।

पूजा करने की विधि

मूर्ति-पूजा—ललितकला के अध्याय में देवताओं की प्रतिमा और मन्दिरों का (प्रतिमागृह) उल्लेख किया जा चुका है । स्पष्ट रूप से बनारस के शिव-मंदिर[1] (जो आजकल विश्वनाथ जी का मन्दिर कहलाता है) और उज्जयिनी के महाकाल[2] का मन्दिर, देवगिरि पर्वत के स्कन्द के मन्दिर[3] का भी, कवि ने प्रसंग दिया है । अतः जनसाधारण प्रतिमापूजन अर्थात् मूर्त्तिपूजा की ओर झुक चुका था ।

धार्मिक अभ्यास में संस्कार, यज्ञ, व्रत, अनुष्ठान आदि को लिया जा सकता है । इनमें संस्कार पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है । अब यज्ञ, व्रत, अनुष्ठान आदि का वर्णन किया जाएगा ।

यज्ञ—कालिदास ने अनेक स्थलों पर यज्ञ[4] का वर्णन किया है । इन यज्ञों में अश्वमेध, विश्वजित् और पुत्रेष्टि यज्ञ आते हैं । अश्वमेध यज्ञ राजनैतिक दृष्टिकोण से महत्ता रखता है । इसकी पूर्ति पर राजा चक्रवर्ती सम्राट् घोषित कर दिया जाता था ।

कवि ने 'दीर्घसत्र'[5] यज्ञ का उल्लेख किया है । वरुणदेव ने पाताल में

१.२.३. पूर्वोल्लेख

४. यथाविधिहुताग्नीनाम् । रघु०, १।६;
उत्पतये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् । —कुमार०, ६।२८
देखिए ५; अगले पृ० पर २, ३, ४ सबमें यज्ञ का ही प्रसंग और संकेत है ।

५. हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ —रघु०, १।८०

यह यज्ञ किया था, जिसमें आहुति की सामग्री देने के लिए कामधेनु गई हुई थी। भागवत पुराण के अनुसार एक वर्ष से सहस्र वर्ष तक 'सत्र' यज्ञ करने की अवधि थी (१. १. ४)।

कालिदास ने अध्वर का भो उल्लेख किया है[१]। अध्वर[२] में पशुबलि का स्पष्ट उल्लेख है[३]। मेध्य आरंभ में उस वस्तु के लिए आता था जिसकी बलि चढ़ाई जाती थी। बलि पशु को एक स्तंभ से बांध दिया था, जो यूप[४] कहलाता था। अतः बलि के लिए पशु को बाँधने की क्रिया भी यज्ञ का[५] संस्कार ही था। कवि ने ब्राह्मणों को दान में दिए जाने वाले ऐसे ग्रामों का उल्लेख किया है जो यूपों से भरे हुए थे[६]। अर्गला के साथ ऐसे यूप की दो प्रतिमाएँ मथुरा संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

एक स्थान पर तो शकुन्तला की विदा के समय कवि ने वैदिक मंत्र की भी रचना कर डाली है--

---

१. मनुस्मृति, ५।४४

२. कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये। रघु०, ११।१
--वेदिप्रतिष्ठान्विततताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम्।—रघु०, १६।३५
—क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः। रघु०, ६।२३

३. ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।--रघु०, १६।३९
--सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥ --अभि०, ६।१
—अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः सोऽनेन स्वागतेनाभिनंद्यते।
--अभि०, पृ० १२६
--जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि॥ --रघु०, १३।६१

४. ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम्।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः॥ रघु०, १।४४
—संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीप निखातयूपः। --रघु०, ६।३८
....यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयांबभूव सः॥ –रघु०, ११।३७

५. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ रघु०, ११।३७
देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३ रघु० १३।६१

६. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४ रघु०, १।४४

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्ताः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैः वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ –अभि०, ४।८

यज्ञ के आरंभ में यजमान का[१] एक धार्मिक-संस्कार होता था, जो दीक्षा[२] कहलाता था। यह विश्वास था कि शिव यजमान के शरीर में[३] प्रवेश कर उसे अपनी तरह पवित्र बना देते हैं। यजमान एक बार[४] यदि यज्ञशरण[५] (यज्ञ-भूमि का घेरा) में प्रवेश कर लेता था तो उसको छोड़ नहीं सकता था।

अवभृथ[६] एक मुख्य संस्कार था जो यज्ञ की समाप्ति का बोधक था[७]। दीर्घसत्र के समाप्त होने पर यह सोलह स्थानापन्न पुरोहितों के द्वारा किया जाता था।

विश्वजित्[८] दिग्विजय के पश्चात् किया जाता था। इसमें यजमान अपना सारा कोष दान कर देता था[९]। पुत्र की कामना से किया जाने वाला यज्ञ पुत्रेष्टि यज्ञ कहलाता था[१०]।

---

१. उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् । –कुमार०, ६।२८
—अजिनदंडभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृंगपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ –रघु०, ९।२१

२. अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषंगजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ —रघु०, ८।२५
—तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।–रघु०, ११।२४

३. देखिए, पादटिप्पणी, नं०, १ रघु०, ९।२१

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २ रघु०, ८।२५

५. स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति । —माल०, अंक ५, पृ० ३५२

. भुवं कोष्णेन कुंडोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्तो वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ —रघु०, १।८४
—जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ रघु०, १३।६१

७. दीक्षान्तोऽववृथो यज्ञः (अमरकोश)

८. तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ —रघु०, ५।१

९. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ८

१०. ऋष्यश्रृंगादयस्तस्य सन्तः संतानकांक्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ —रघु०, १०।४

यज्ञ के अन्त में पुरोहितों को दक्षिणा[१] दी जाती थी। पुरोहितों की संख्या १६ थी। इनमें से होता[२] और ऋत्विज[३] का कवि ने उल्लेख किया है। होता, यजमान के लिए भी प्रयोग किया जाता था। पुरोहितों को दक्षिणा देने के बाद ही रघु का कोष रिक्त हो[४] गया था और उसे मिट्टी के पात्र काम में लाने पड़े[५]।

यज्ञ की प्रदत्त वस्तु मेध्य[६] कहलाती थी। इसमें पशु, हवि,[७] स्वधा,[८] पयश्चरु[९] सभी आ सकता था। हवि ग्रहण करने के कारण ही यज्ञाग्नि का नाम हविर्भुज[१०] पड़ा। यज्ञ बलि इन्द्र[११] के लिए थी, अतः वह मखांशभाज[१२] कहलाता था। विकंकतस्रुवा[१३] का प्रयोग होता था। यह अरणि[१४] और आहुति[१५] देने के लिए प्रयुक्त होती थी। यज्ञ में कुश[१६] का प्रयोग भी

---

१. पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा। —रघु०, १।३१
—ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च॥ —रघु०, १७।८०
२. इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्। —रघु० १।८२
३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ५ और इस पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १ में रघु०, १७।८०
४. देखिए, पूर्वोल्लेख, रघु०, ५।१
५. समृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः। —रघु०, ५।२
६. देखिए, पूर्वोल्लेख, रघु०, १।८४
७. हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः। —रघु०, १।८०
—घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः............ —रघु०, १३।३७
—त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः। —कुमार० २।१५
८. ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः। —रघु०, ८।३०
९. हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम्। —रघु०, १०।५१
१०. मुमूर्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्। —रघु०, १०।७९
११. क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्राः। —रघु०, ६।२३
१२. मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्रसखा निगद्यसे। —रघु०, ३।४४
१३. संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकंकतस्रुचाम्। —रघु०, ११।२५
१४. उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम्। —कुमार०, ६।२८
१५. इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्। —रघु०, १।८२
१६. वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः। —रघु०, १।४९

होता था। यज्ञ के समय यजमान एक दण्ड धारण करता और अजिन पर बैठता था[१]। वेदी[२] यज्ञ के चबूतरे का दूसरा नाम था।

जैसा कहा जा चुका है कि यज्ञ में पशुबलि दी जाती थी। परन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव से बलि बुरी मानी जाने लगी थी। मालविकाग्निमित्र में "शान्तं क्रतुं चाक्षुषं"[३] में ऐसा ही संकेत मिलता है।

पूजन-कर्म - सपर्या,[४] क्रिया,[५] अर्चना,[६] बलिकर्म,[७] पूजा[८] आदि सब पूजन-कर्म थे। पूजा की शैली[९] विधि कहलाती थी। पूजन-सामग्री में कुश,[१०] दूर्वा,[११] अक्षत,[१२] पुष्प[१३] आदि प्रयुक्त होते थे। मधु, घृतादि से निर्मित अर्घ्य[१४] देवताओं और अतिथि-सेवा[१५] के लिए था। प्रात[१६] और सायं[१७] दो बार अर्घ्य-दान दिया जाता था। अञ्जलिक्रिया[१८] जलदान की दैनिक क्रिया थी। श्राद्ध

---

१. अजिनदंडभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगश्रृंगपरिग्रहाम्। —रघु०, ९।२१
२. वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम्। —रघु०, ११।२५
३. देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। —माल०, १।४
४. तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती। —कुमार०, ५।३१
५. क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु। —रघु०, ५।७
६. ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया। —अभि०, पृ० ५८
७. आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः। —विक्रम०, ३।२
— आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा। —उत्तरमेघ २५
८. वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन। — रघु०, ७।३०
९. अथविधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमंचिताक्षिपक्ष्मा। —रघु०, ५।७६
१०. देखिए, पूर्वोल्लेख, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १६ रघु०, १।४९
११. सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वांकुरलांछितालका। —विक्रम०, ३।१२
१२. प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता। —रघु०, २।२१
देखिए, पूर्वोल्लेख अध्याय, 'विवाह' रघु०, ७।२८; कुमार०, ७।८८
१३. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५ विक्रम०, ३।२
१४. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ७ —रघु०, ५।२
—तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः। —कुमार०, ६।५०
१५. देखिए, पूर्वोल्लेख, अध्याय 'सामाजिक जीवन, रीति-रिवाज, आचार आदि'।
१६. देखिए, पिछले पृष्ठ की, पादटिप्पणी, नं० ९ रघु०, ५।७६ दिवसमुखोचित।
१७. विधेः सायंतनस्तयान्ते स ददर्श तपोनिधिम्। —रघु०, १।५६
१८. अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहितांजलिक्रियाः। —कुमार०, ८।४७

की अञ्जलिक्रिया में तिल भी[1] मिला रहता था। शास्त्रानुसार ही पूजा-विधियों का पालन किया जाता था[2]।

अनुष्ठान और व्रत—कवि ने अनुष्ठान और व्रतों का भी उल्लेख किया है। उपवास और आहुति देने के पश्चात् निश्चित समय तक निश्चित बार वैदिक मन्त्रों का जाप करना भी अनुष्ठान था। किसी आने वाली भयानक आपत्ति को टालने के लिए,[3] किसी विजयकामना के लिए अथवा किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही[4] अनुष्ठान किया जाता था। अनुष्ठानादि धार्मिक कार्यों के लिए घर का एक भाग निश्चित और सुरक्षित रहता था, जिसे मंगल-गृह[5] कहा जाता था।

व्रत का मुख्य अंग उपवास[6] था। स्वल्पाहार पारण[7] के द्वारा यह व्रत तोड़ा जाता था। तब ब्राह्मण-भोज होता था और उनको दक्षिणा[8] दी जाती थी। प्रतिज्ञापूर्ति पर और धार्मिक त्योहारों पर व्रत रखे जाते थे। व्रत के समय स्त्रियाँ श्वेत वस्त्र धारण करती थीं और अनिवार्य आभूषण। केश में दूर्वादल

---

१. अन्यथा अवश्यं सिंचतं मे तिलोदकम्। —अभि०, पृ० ४६
२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ९ —रघु०, ५।७६
—ब्रह्म गूढमभिसंध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी। कुमार०, ८।४७
३. इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शयमितुं सोमतीर्थं गतः। —अभि०, पृ० ९
४. यतः प्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्ततः प्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां देवी दक्षिणीयैः परिग्राहयति।
—माल०, पृ० ३३९
५. मंगलगृह आसनस्था भूत्वा विदर्भविषयाद्भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लेखं लेखकैर्वाच्यमानं शृणोति। —माल०, अंक ५, पृ० ३३९
६. आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति।
—अभि०, पृ० ३९
—रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव।
—रघु०, ८।९४
७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६ —अभि०, पृ ३९
—उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव। —रघु०, २।३९
—न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः। —रघु०, २।५५
८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४

खोंसती थीं[१]। पत्नी का पति को प्रसन्न करने के लिए 'प्रियाप्रसादन व्रतम्'[२] नाम आया है। प्रायोपवेश[३] भी एक व्रत था जिसमें उपवास के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होना ध्येय था। दिलोप के गोव्रत[४] का कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। एक ही शय्या पर पत्नी के साथ शयन करते हुए भो कामोपभोग न करना 'असिधाराव्रत'[५] कहल.ता था। इसी प्रकार पति का विरह स्वयं पत्नी के लिए कठिन व्रत के समान था[६]।

तीर्थयात्रा—तीर्थों में स्नान करने से आत्मा पुनर्जन्म से मुक्त होती है (समुद्रपत्न्योः जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्। तत्वाववोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबंधः। –रघु०, १३।५८) और देवपद अथवा देवशरीर को प्राप्ति हो जाती है (पूर्वोल्लेख–रघु०, ८।९५)। तीर्थ स्थानों में शचोतीर्थ और सोमतीर्थ का उल्लेख किया जा चुका है। अन्य तीर्थ स्थानों में गोकर्ण (रघु०, ८।३३) पुष्कर (रघु०, १८।३१) और अप्सरातीर्थ (अभि०, ५।३०) के नाम कवि ने दिए हैं।

लोक-प्रचलित विश्वास और अन्धविश्वास—कालिदास ने स्त्रियों के लिए दाहिनो आँख फड़कना[७] अशुभ और बाईं फड़कना[८] शुभ कहा है।

---

१. सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वांकुरलांछितालका।

२. व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते।

—विक्रम०, ३।१२

——यथानिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम्।

—विक्रम०, अंक ३, पृ० २०६

३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ६ —रघु०, ८।९४

४ देखिए, रघु०, सर्ग २—दिलीप की गो सेवा और विशेषकर यह श्लोक—
इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनोयकीर्तेः। —रघु०, २।२५

५. चित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यंकगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्। —रघु०, १३।६७
—यत्रैकशयनस्थापि प्रमदा नोपभुज्यते।
असिधाराव्रतं तं वै वदन्तिमुनिपुंगवाः॥ –यादव

६. वसनं परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखो धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशोला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ –अभि०, ७।२१

७. अहो किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति। —अभि०, पृ० ८४

८. अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति। —माल०, पृ० ३४२

पुरुष के लिए दक्षिण भुजा फड़कनी शुभ थी[१]। इसी प्रकार शृगालों का बोलना अपशकुन[२] था। गोध का मँडराना भी विपत्ति का सूचक था[३]।

रक्षा के लिए[४] तावीज और विजय के लिए[५] जंतर पहनने की प्रथा थी। तावीज के अन्दर मंत्रों से सिद्ध कोई जड़ी-बूटी[६] रख दी जाती थी। भरत की बाहु में अपराजिता बूटी बाँध दी गई थी, जिसके अनुसार विश्वास प्रचलित था कि माँ-बाप के अतिरिक्त यदि कोई दूसरा उस तावीज को उठाएगा तो वह सर्प बनकर उठाने वाले व्यक्ति को काट लेगा[७]।

अपराजिता की तरह तिरस्करिणी[८] का भी उल्लेख मिलता है। इस विद्या की सिद्धि से अदृश्य रहने की शक्ति प्राप्त हो जाती थी।

हस्त-रेखाओं के द्वारा भी भविष्य की घटनाएँ जान ली जाती थीं। फलित ज्योतिष में भी तत्कालीन विश्वास था। अर्थात् शुभ अथवा अशुभ ग्रह से मनुष्य के भाग्य पर प्रभाव अच्छा या बुरा अवश्य पड़ता था[९]।

सर्वसाधारण के कुछ अन्य विश्वासों का भी कवि ने वर्णन किया है। जैसे

---

१. शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य। –अभि०, पृ ११
—अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः। –विक्रम०, ३।६

२. नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः।–रघु०,१६।१२

३. उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन्।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम्॥ —रघु०, ११।२६

४. अहो रक्षाकरंडकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते। —अभि०, पृ० १३८

५. रघु०, १६।७२–७४

६.७. एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता।
एषां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति।
'अथ गृह्णाति'। 'ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति।' —अभि०, पृ० १३९
विक्रम० में भी चित्रलेखा ने अपराजिता के विषय में कहा है कि इस विद्या के बल पर देवों के शत्रु भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।
—विक्रम०, पृ० १७६

८. अतित्वरिते अनाक्षिप्ततिरस्करिणीकासि। —विक्रम०, पृ० २०१
—चित्रलेखा तिरस्करणीमपनीय विदूषकं संज्ञापयति। —विक्रम०, पृ० १०७
—भवतु अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणी प्रतिच्छलाच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये। —अभि०, पृ० १०२

९. देवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा—सोपसर्गं वो नक्षत्रम्।
तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति॥ –माल०, पृ० ३२३

हंस का दूध और पानी को पृथक्-पृथक् कर देना,[१] कृपण का मृत्युपरान्त सर्प की योनि प्राप्त करना।

सर्प के सम्बन्ध में कुछ और विश्वासों का भी उल्लेख है, जैसे मंत्र से साँप का बँधना[२]। साँप के काटने पर उसका विष उद्कुंम विधान[३] के द्वारा, जिसमें सर्प की मुद्रा से अंकित वस्तु प्रधान रहती थी, उतारा जाता था। मालविकाग्निमित्र में विदूषक के विष को दूर करने के लिए नागमुद्रा से अंकित अँगूठी का प्रयोग किया गया था[४]। यह भी विश्वास प्रचलित था कि जो किसी रोग से ग्रस्त होने का बहाना रचता है, उसे वही रोग हो जाता है। विदूषक ने सर्प काटने का बहाना बनाया था अतः वह एक स्थान पर कहता है कि छल किए हुए सर्पदंश का फल भोग रहा हूँ[५]।

राजसभा में दैवचिन्तक[६] होते थे, जो भाग्य की भविष्यवाणी किया करते थे। इनको भी अन्य अधिकारियों की तरह वेतन प्राप्त होता था[७]। दुर्दैव ग्रह-शान्ति से शान्त हो जाया करता है, यह विश्वास प्रचलित था[८]।

प्रेतबाधा[९] और प्रेताक्रान्त व्यक्तियों[१०] का भी विवरण मिलता है। यह विश्वास था कि भूतविद्या से आश्चर्यजनक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। अणिमा, लघिमा आदि ऐसी ही सिद्धियाँ थीं जिनके द्वारा आकाश मार्ग[११] से इधर-उधर जाया जा

---

१. हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः। —अभि०, ६।२८
२. राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मंत्रौषधिरुद्धवीर्यः। —रघु०, २।३२
३. उदकुंभविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्।—माल०, पृ० ३१०
४. माल, अंक ४, पृ० ३२०—देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३
५. अहं पुनर्जाने यन्मया केतकीकंटकैर्दंशं कृत्वा
सर्पस्योपर्ययशः कृतं तन्मे फलितमिति। —माल०, पृ० ३३३
६. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ९
७. अर्थशास्त्र, खंड ५, अध्याय ३
८. पूर्वोल्लेख अभि०, पृ० ९—दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।
९. अदृष्टरूपेण केनापि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपितः।
—अभि०, पृ० १२४

—ममापि सत्वैरभिभूयन्ते गृहाः। —अभि०, पृ० १२४
१०. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १
११. गालव—इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।
—अभि०, पृ० १४६

सकता था। योगाभ्यास के द्वारा बन्द कमरे में भी प्रविष्ट होना सम्भव था[1]।

उस समय अनेक पौराणिक विश्वास भी प्रचलित थे, जैसे—घट से अगस्त्य मुनि की उत्पत्ति[2], विष्णु के पद-नख से गंगा का जन्म[3], भगीरथ के प्रयत्न से शिव की जटाओं से निकल कर पृथ्वी में अवतरण[4], आदि। ऐसे ही शिलावर्षक पर्वत[5], उड़ने वाले पहाड़[6], आकाश में विचरण करने वाले देवता[7] दिव्यांगनाएँ[8], विष्णु के नाना अवतार[9], इन्दुमती के रूप में हरिणी का जन्म[10], शमी वृक्ष में अग्नि का निवास[11]।

संक्षेप में धार्मिक विधि-विधानों एवं विश्वासों से तत्कालीन परिस्थितियों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। वे लगभग आदि काल से चली आई पद्धतियों की विकसित अवस्थाएँ हैं। संस्कार, संध्या-जाप चाहे प्रारंभ काल के सदृश ही हों, पर इनके अतिरिक्त पौराणिक संकेत नए देवी-देवता, धार्मिक विश्वास सब तत्कालीन विकसित अवस्था के परिचायक हैं।

---

१. लब्धान्तरा सावरणोऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
बिभर्षि चाकारमर्निवृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्॥ —रघु०, १६।७

२. प्रससादोदयादंभः कुंभयोनेर्महौजसः।
रघोरभिभवाशंकि चुक्षुभे द्विषतां मनः॥ —रघु०, ४।२१

३. यथैव श्लाघ्यते गंगा पादेन परमेष्ठिनः। —कुमार०, ६।७०

४. बभौ हरजटाभ्रष्टां गंगामिव भगीरथः। —रघु०, ४।३२

५. पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः। —रघु०, ४।४०

६. क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्रावबेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम्। —कुमार०, १।२०

७. वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान्। —रघु०, ६।१

८. जगाद चैनामयमंगनाथो सुरांगनाप्रार्थितयौवनश्रीः। —रघु०, ६।२७

९. पूर्वोल्लेख

१०. रघु०, ८।७९–८२

११. अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव। —अभि०, ४।४

परिशिष्ट [१]

कालिदास का समय

कवि के समय के ऊपर भारत के विभिन्न उच्चकोटि के विद्वानों के लेख समयानुसार बृहत् संख्या में प्रकाशित होते रहे हैं और घोर वाद-विवाद के उपरान्त भी किसी निर्णय को सर्वमान्यता नहीं दी गई। अतः दो वर्ग हो गए— एक वर्ग उन्हें ई० पू० में रखता है और दूसरा चौथी शताब्दी गुप्तकाल में।

कवि-काल की आरंभिक सीमा मालविकाग्निमित्र नाटक के आधार पर निर्धारित की जाती है। इसी में सर्वप्रथम कवि के नाम का उल्लेख है। दूसरी सीमा सातवीं शताब्दी ईसवी है। बाण ने हर्षचरित में कालिदास का उल्लेख किया है।

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते ॥

दूसरा प्रमाण एहोल का शिलालेख (६३४ ई०) है, जिसमें कवि रविकीर्ति ने अपने स्वामी पुलकेशिन द्वितीय के यशवर्णन में उनका कालिदास और भारवि को भी पराजित करना लिखा है। अतः उसका समय ईसवी पू० से सातवीं शताब्दी ईसवी तक किसी भी समय हो सकता है। अब संक्षेप में विभिन्न विद्वानों का मत प्रकाशित करते हुए इस सीमा को संकीर्ण करने का प्रयत्न किया जाएगा।

द्वितीय शताब्दी ई० पू०—कवि पतंजलि के समय के नहीं हैं, क्योंकि वे 'योगसूत्र' में प्रयुक्त शब्दों से पूर्ण परिचित लगते हैं। अतः पतंजलि के बाद ही हुए। दूसरा प्रमाण ई० पू० प्रथम शताब्दी के पूर्व किसी राजा ने विक्रमादित्य की उपाधि नहीं स्वीकार की और परम्परा कवि को विक्रमा दत्य का आश्रित कहती है।

प्रथम शताब्दी ई० पू०—इस सिद्धान्त का मुख्य आधार यह माना जाता है कि कवि के आश्रयदाता विक्रमादित्य ने ई०पू० में विक्रम संवत् चलाया। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं। प्रथम यह कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में ऐसा कोई विक्रमादित्य नहीं हुआ जिसने शकों को मार भगाया,

शकारि की उपाधि ग्रहण की और जिसने नवीन संवत् भी चलाया। प्रथम शताब्दी ई० पू० में किसी संवत् का नाम नहीं मिलता। प्रोफेसर चट्टोपाध्याय प्रथम शताब्दी ई० पू० के सिद्धान्त के घोर समर्थक हैं और प्रोफेसर मिराशी ने इनके सिद्धान्त का अच्छी तरह खण्डन किया है। चट्टोपाध्याय ने अपने सिद्धान्त को अश्वघोष पर आधारित किया है। दोनों कवि अर्थात् अश्वघोष और कालिदास भावप्रयोग में बहुत समानता रखते हैं। चट्टोपाध्याय का कहना है कि अश्वघोष ने कालिदास के ग्रन्थों को पढ़कर उस आधार पर अपना काव्य लिखा है। चूँकि अश्वघोष का काल ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी है, अतः कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुए।

वास्तव में उन्होंने जिस समानता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है, वह संस्कृत-साहित्य में सभी स्थलों पर ऐसी ही पाई जाती है। संस्कृत-साहित्य की बहुत-सी बातें सब कवियों में प्रायः समान हैं, अतः यह समानता उनमें भी देखी जाती है।

प्रोफेसर चट्टोपाध्याय का कहना है कि अश्वघोष दार्शनिक था, अतः काव्य-रचना बिना दूसरे का अनुकरण किए नहीं कर सकता था। परन्तु अश्वघोष ने किसी विवशता के फलस्वरूप अपने ग्रन्थ को रचना की, यह कहीं स्पष्ट नहीं होता। उनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द निश्चय ही उत्तम ग्रन्थ हैं। अतः वह अच्छा कवि भी था।

चट्टोपाध्याय जी का यह मत कि उसके काव्य में असंख्य पुनरुक्तियाँ हैं, अतः वह निपुण कवि नहीं था, भी निर्मूल है। स्वयं कवि कालिदास के रघुवंश में सातवें सर्ग के ६ से १२ तक श्लोक बिलकुल ज्यों-के-त्यों कुमारसम्भव के सातवें सर्ग में ५७ से ६२ तक प्रयुक्त हुए हैं। महाशय चट्टोपाध्याय मानते हैं कि कालिदास के एक श्लोक (कुमार०, ७।६२; रघु०, ७।११) की अश्वघोष ने दो बार पुनरुक्ति की है। परन्तु एक सीधी बात यह है कि यदि अश्वघोष ने कालिदास की चोरी की होती तो क्या वे पुनरुक्ति कर बार-बार अपनी चोरी प्रदर्शित करते ? फिर यह श्लोक स्वयं कवि ने भी दो बार प्रयुक्त किया है, एक रघुवंश में दूसरा कुमारसम्भव में।

प्रोफेसर साहब का यह भी कहना है कि शाक्यों और नन्द के जन्म तथा वंश के पूर्व-परिचय की आवश्यकता नहीं थी। यह उन्होंने रघुवंश के अनुकरण में किया है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या साहित्य में वंशावली का इतिहास देने की प्रथा प्रामाण्य नहीं है ? क्या बाण ने हर्षचरित में इस प्रथा का अनुसरण नहीं किया है ?

उनका यह भी तर्क है कि अश्वघोष का मारविजय-वर्णन कुमारसम्भव के 'कामदहन' से अपहृत किया गया है। परन्तु यह बात ध्यान देने की है, कि बुद्ध के चरित में यह घटना स्थान पा चुकी है, अतः यह भी सम्भव है कि प्रोफेसर साहब के तर्क का ठीक उलटा हुआ हो। वे यह भी दलील पेश करते हैं कि पुष्यमित्र के राज्य में खारवेल ने बड़ा उत्पात मचाया था। परन्तु पुष्यमित्र के नाम वाली मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी हैं। इस नृपति का खारवेल के हथिगुम्फ शिलालेख के बहसतिमित्र के साथ समीकरण उचित नहीं है। कम-से-कम इस सामग्री के आधार पर दोनों समसामयिक नहीं कहे जा सकते। चन्द्रगुप्त उज्जयिनी का राजा नहीं कहा जा सकता। इनके इस सिद्धान्त का निराकरण इस तरह किया जा सकता है कि अवन्ती और सौराष्ट्र के विजेता होने के अधिकार से वह उज्जयिनी का राजा था। कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा का मन्दसोर शिलालेख और स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ चट्टानलेख इस बात का साक्षी है कि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों का इन दोनों प्रान्तों पर बहुत दिनों से अधिकार था।

अतः वे ई० पू० प्रथम शताब्दी में नहीं थे। उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ और प्रमाण भी इसी की पुष्टि में दिए जा सकते हैं।

कवि ने अपनी सारी रचनाओं में कहीं शकों का उल्लेख नहीं किया। यदि वे ई० पू० प्रथम शताब्दी, ई० पू० ५७ के निकट होते तो वे गार्गी संहिता के युग पुराण (दीवान बहादुर प्रो० के० एच० ध्रुव का संस्करण, जे० बी० ओ० आर० एस०, भाग १६, पृ० १, २१, १५१, पृ० ४१) में उल्लिखित शक-आक्रमण को अवश्य जानते, जो ई० पू० ३५ के आसपास हुआ था।

कवि के सभी ग्रन्थों में शान्तिकाल और विलास-प्रियता है। अतः प्रथम शताब्दी ई० पू० में जब राजनैतिक अवस्था बड़ी आलोड़ित-विलोड़ित थी, इतने विलासप्रिय, शान्तिमय ग्रन्थ नहीं रचे जा सकते। पौराणिक परम्पराएँ और विवरण जो कवि ने प्रचुरता के साथ प्रयुक्त किए हैं, अधिक संख्या में गुप्त काल में ही संगृहीत हुए थे।

हिन्दू देवताओं की असंख्य प्रतिमाएँ और मन्दिर जिनका कवि के ग्रन्थों में बार-बार उल्लेख मिलता है ई० पू० प्रथम शताब्दी को प्रमाणित नहीं करते। प्रतिमा-पूजा यद्यपि भारत में बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी, किन्तु कुषाण काल के पश्चात् इन प्रतिमाओं की विविध सज्जा प्रारम्भ हुई। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के महायान नामक भक्ति पन्थ ने इसको प्रेरणा दी थी। इससे पूर्व यक्षों की मूर्तियों की ही पूजा होती थी।

इन सब तर्कों के आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि कवि प्रथम शताब्दी ई० पू० का नहीं था।

पाँचवी शताब्दी ईसवी—रघुवंश के चौथे सर्ग में रघु की दिग्विजय के प्रसंग में (ततः प्रतस्थे कौबेरीं........बभूव रघुचेष्टितम् ६६-६८) सिन्धु[1] नदी के किनारे हूणों को पराजित करने का उल्लेख है। प्रोफेसर पाठक का मत है कि यह आक्रमण कुमारगुप्त के अन्तिम समय में हुआ था। युवराज स्कन्दगुप्त ने हूणों का सामना किया था। यह जूनागढ़ के समीप गिरनार के शिलालेख (४५५-४५६ ई०) से भी सिद्ध हो चुका है। रघुवंश में हूण आक्सस नदी पर थे, अतः यह परिस्थिति कालिदास के समय की होगी। इसी से वे उनका समय पाँचवीं शताब्दी मानते हैं।

परन्तु ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक भारतीयों का हूणों से बिलकुल परिचय भी नहीं था–ऐसा कभी संभव नहीं हो सकता। पारसियों के अवेस्ता ग्रन्थ में और महाभारत में भी हूणों का उल्लेख है। ईसवी तीसरी शताब्दी में लिखित 'ललित विस्तर' ग्रन्थ में बुद्ध ने बाल्यकाल में हूणों की लिपि सीखी थी, ऐसा प्रसंग आया है। कई शताब्दी ई० पू० में ही हूणों ने यूएची—जिसका आगे चलकर कुशान नाम हुआ—लोगों को आक्सस नदी के दक्षिण किनारे पर मार कर भगा दिया था (१४० ई० पू० के लगभग)। तब से ही वे वहाँ रहने लगे थे। पाँचवीं शताब्दी से हूणों ने वहाँ राज्य स्थापित किया। अतः यह कैसे संभव हो सकता है कि कवि को तब तक हूणों का पता न लगा हो।

छठी शताब्दी ईसवी—मैक्समूलर, हरप्रसाद शास्त्री, होर्नले, ओक आदि विद्वान् कवि को छठी शताब्दी ईसवी का मानते हैं। इन सबने कवि को यशोधर्मन का समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिनके मतों का विरोध डाक्टर ए० बी० कीथ और बी० सी० मजूमदार ने योग्यतापूर्वक कर इस सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक सिद्ध कर दिया है।

हुएनसांग, जो भारतवर्ष में ६१९ से ६४५ ईसवी तक रहा, एक स्थान पर लिखता है कि मालव देश में (Molapo) शिलादित्य नामक राजा ने ५३० से ५८० ई० तक राज्य किया। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने काश्मीर के सिंहासन पर अपने विद्वान् मित्र कवि मातृगुप्त को बिठाया। विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त मातृगुप्त ने सिंहासन त्याग दिया और प्रवरसेन राजा हुआ। इसने प्रवरपुर नगर बसाया। हुएनसांग ने भी इस

---

१. प्रोफेसर पाठक सिंधु का वंक्षु पाठ मानते हैं।

नगर का वर्णन किया है। अतः यह छठी शताब्दी का होना चाहिए। विक्रमादित्य का समय भी यही ठहरता है। हुएनसांग का शिलादित्य और यह विक्रमादित्य एक ही व्यक्ति होंगे। राजतरंगिणी के अनुसार विक्रमादित्य ने शकों को पराजित किया था। इसी शताब्दी में मालव में यशोधर्मदेव एक पराक्रमशाली राजा हुए थे। इनके मंदसोर के लेख से मालूम होता है कि इन्होंने मिहिरकुल नामक महाबली हूण राजा को हराया था और राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि अपने नाम के साथ जोड़ी। अतः यही कल्हण के विक्रमादित्य और हुएनसांग के शिलादित्य हैं। पराजित हूणों को कल्हण और अलबरुनी ने शक नाम दिया होगा। मातृगुप्त ही अतः कालिदास हुए।

इस सिद्धान्त पर आक्षेप यह है कि हुएनसांग का मोलापो देश कौन सा है? हुएनसांग ने उज्जयिनी का पृथक् वर्णन किया है। अतः मोलापो की राजधानी उज्जयिनी नहीं थी। प्रोफेसर सिल्वनलेवी का कहना है कि हुएनसांग ने जिसकी बहुत प्रशंसा की है वही यशोधर्मन नहीं; अपितु बलभी का पहला शिलादित्य होगा। राजतरंगिणी का प्राचीन इतिहास अतिशयोक्ति है, यद्यपि तत्कालीन नहीं–यह सिद्ध हो चुका है। एक और भी बात है—यदि यशोधर्मन ही विक्रमादित्य होता तो राजाधिराज परमेश्वर की तरह विक्रमादित्य की उपाधि का भी तो कहीं वर्णन आता। उसको शकारि बिलकुल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ईसा की छठी शताब्दी में शकों का नाम कहीं नहीं मिलता। यदि मातृगुप्त ही कालिदास होता तो कल्हण ने जो २०० श्लोक मातृगुप्त के वर्णन में लिखे, उनमें कहीं तो कालिदास होने का प्रसंग देते। मातृगुप्त ने प्रवरसेन के लिए 'सेतुबंध' नहीं रचा; क्योंकि राजतरंगिणी में इसका उल्लेख नहीं है। कल्हण ने यह भी कहा है कि प्रवरसेन और विक्रमादित्य में दुश्मनी थी और प्रवरसेन के सिंहासन पर आते ही उनके आग्रह करने पर भी मातृगुप्त वहाँ नहीं रहा।

कवि ने मेघदूत में 'दिङ्-नाग' शब्द प्रयुक्त किया है। टीकाकार इस शब्द से, एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक का जो छठी शताब्दी में हुआ, प्रसंग मानते हैं। इसी से वे कवि का समय छठी शताब्दी निर्धारित करते हैं।

कवि ने कभी-कभी श्लेष का उपयोग अवश्य किया है, पर बाण और श्रीहर्ष की तरह प्रचुर मात्रा में कभी नहीं। दूसरी बात यह कि 'दिङ्-नागानाम्' पद से यही कवि का आशय होता तो वह बहुवचन क्यों प्रयोग करता। यदि दिङ्-नाग को व्यक्ति विशेष मान भी लिया जाय, तब भी इससे कवि के समय पर प्रकाश नहीं पड़ता। डाक्टर कीथ, प्रोफेसर मेक्डानल्ड दिङ्-नाग को ई० सन् ४०० के लगभग मानते हैं। वामन ने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में उल्लेख किया है कि

दिङ्-नाग का गुरु वसुबन्धु महाराज चन्द्रगुप्त का मंत्री था। अतः वसुबंधु चौथी शताब्दी ईसवी के बीच में तथा दिङ्-नाग ४ शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए।

अतः कालिदास का समय न पाँचवीं शताब्दी है, न छठी और न पहली शताब्दी ईसा पूर्व। जैसा पिछले अध्यायों में दिखाया जा चुका है, कि कालिदास पर वात्स्यायन के कामशास्त्र का काफी प्रभाव था। वात्स्यायन का सर्वसम्मत काल तीसरी शताब्दी ईसवी है। (कर्तया कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवतीं (जघान) कामसूत्र, २।७)—इस सूत्र के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कामसूत्र की रचना तीसरी शताब्दी ईसवी से पूर्व नहीं हो सकती। कालिदास के ग्रन्थों में कामसूत्र के अनेक सूत्रों की व्याख्या मिलती है।

कवि ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। कुमारसंभव के अष्टम सर्ग के श्लोक विशेषकर ८–१०, १४–१९, २२, २३, २५, ८३, ८५, ८८ कामसूत्र के विशेष स्थलों की व्याख्या-जैसे हैं। अतः जब तीसरी शताब्दी में वात्स्यायन हुए तब इनके सूत्रों का प्रचार होते-होते एक शताब्दी बीत गई होगी। अतः कवि चौथी शताब्दी का होगा। दूसरे शब्दों में कवि का गुप्तकाल में होना अधिक सम्भव है। इस सिद्धान्त को आवश्यक प्रमाण देते हुए अब देखना है कि कहाँ तक उनका गुप्तकालीन होना, ठीक बैठता है।

भास्कर्य आधार

(१) **प्रभामण्डल**—कालिदास ने प्रभामण्डल,[१] छायामण्डल,[२] तथा स्फुरत्प्रभामण्डल,[3] का उल्लेख किया है। उत्तरी-भारत में प्रभामण्डल का वास्तविक प्रदर्शन मूर्त्तिकला में, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय, तो कुषाणकाल से प्रारम्भ होता है। गुप्तकाल के प्रारम्भ में यह सर्वसम्मत रूप धारण कर सामान्य वस्तु हो जाता है। पहले मूर्त्तियों के पीछे छत्र दिखाया जाता था, वही गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमा का प्रभामण्डल बन गया। मथुरा और सारनाथ दोनों के संग्रहालयों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। गुप्तकाल की एक और भी विशेषता थी। प्रभामण्डल (Halo) को सजाने के लिए कमल का प्रयोग किया जाता था। कवि ने इस विशेष प्रकार तक का 'पद्मातपत्र

---

१. रघु०, १५।८२, १७।२३, कुमार०, ६।४, ७।३८

२. कुमार०, ४।५ ३. रघु०, ३।६०, ५।५१, १४।१४

नोट : उपरोक्त १, २, ३ के उद्धरण 'ललितकला' अध्याय में दिए जा चुके हैं।

छायामण्डल'[1] पदावली से संकेत किया है। कुषाण काल में यह विशेष प्रकार सुविकसित हुआ था। सारनाथ के संग्रहालय में इसका नमूना पाया जाता है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक (Gupta Art) में इस पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

(२) शंख और पद्म—कालिदास ने घर के द्वार पर शंख तथा पद्मों के चित्रों का उल्लेख किया है। यक्ष ने मेघ को अपने घर को पहचान ही यही बताई है। गुप्त कला की यह विशेष वस्तु है, जो देवगढ़ के मन्दिर में प्रदर्शित की गई है। बाहर की तीन दीवारों के द्वार पर (रथिका बिम्ब) जहाँ गजेन्द्र-मोक्ष, शेषशायी विष्णु और नर-नारायण दिखाए गए हैं, वहाँ शंख और पद्म का भी उत्कीर्ण रूप में सम्यक् प्रदर्शन है[२]। तत्कालीन मथुरा के अनेक स्तम्भों में पद्मलता-युक्त पद्म और शंख देखने को मिलते हैं। कुषाणकाल की कला में यह सामान्य रूप से प्रचारित नहीं था। यद्यपि कहीं-कहीं शंख और पद्म देखे जाते हैं, पर वे द्वारोपान्त पर नहीं हैं तथा पत्रलता (rising scroll) का भी कहीं चिह्न प्राप्त नहीं होता। अवश्य ही कवि ने तत्कालीन अति प्रचलित चित्रों को ही देख कर इन्हें अपने काव्य में स्थान दिया होगा।

(३) गंगा तथा यमुना की आकृति—कालिदास ने चामर हाथ में लिए गंगा और यमुना को[3] दिखाया है। चामरवाहिनी यह दोनों नदी-देवियाँ कुषाणकाल के पश्चात् गुप्तकला में मूर्त्त की गई थीं। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में इस प्रकार की मूर्त्तियाँ सुरक्षित हैं। गुप्तकाल के मन्दिरों के द्वार मांगल्य विहग, कलश, पत्रलता, पुष्पावली आदि से अलंकृत मिलते हैं। देवगढ़ के मन्दिर में इन सब के विविध उदाहरण देखे जा सकते हैं। श्री वासुदेवशरण का कहना है कि हमारे पास इस बात का निश्चित प्रमाण है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) के शासनकाल में गंगा और यमुना की मूर्तियों की अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई। उदयगिरि गुफा में जहाँ महावाराह पृथ्वी का उद्धार करते दिखाए गए हैं, वहाँ दिव्य संगीत एवं आनन्दोत्सव के साथ-साथ

---

१. छायामंडललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥

—रघु०, ४।५

२ V. S. Agarwala : Gupta Art (1947) Pt. XII & XIII.

३. कुमार०, ७।४२

गंगा-यमुना[१] का अवतरण भी प्रदर्शित किया गया है, जो गुप्त वंश की उन्नति का प्रतीक है[२]।

(४) **विष्णु का वामन रूप**—रघुवंश में कालिदास ने रानियों के स्वप्न का इस प्रकार वर्णन किया है—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलांछितमूर्तिभिः॥ —रघु०, १०।६०

इस श्लोक ने गुप्त काल की कला को साक्षात् रूप से अभिव्यक्त किया है। इसमें तीन बातें ध्यान देने की हैं—(१) आयुध, आयुध रूप में न होकर आयुध पुरुष के रूप में चित्रित हैं। (२) इनका आकार 'वामन' (छोटा, बौना) है। (३) सब मूर्तिमान् हैं और किसी चिह्न से लांछित। ये तीनों गुण, जो उपरोक्त श्लोक को प्रमुख विशेषता है, सबसे पहले गुप्त काल की विष्णु की मूर्ति में पाए जाते हैं। मथुरा संग्रहालय में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इस संग्रहालय में संग्रहीत विष्णु की मूर्त्तियों में कुषाण काल एवं गुप्त काल का भेद भली भाँति देखा जा सकता है। कुषाण काल की विष्णु की मूर्त्ति में आयुध अर्थात् शंख, चक्र, गदा आदि अपनी स्वाभाविक अवस्था में है, परन्तु गुप्त काल की मूर्त्तियों में येही आयुध, विशेषकर गदा और चक्र मानव आकार में विष्णु के दोनों ओर, वामन रूप में प्रदर्शित किए गए हैं; परन्तु ये दोनों आकार ऊपरी रेखाओं में गदा और चक्र ही प्रतिभासित होते हैं।

---

१. V. S. Agarwal : Gupta Art (1947), figs. 6 & 7.

२. We have definite proof that the figures of Ganga and Yamuna had begun to be carved in the reign of Chandra Gupta II (375–413 A. D.) as in the Udaigiri cave depicting a colossal figure of Mahavaraha in the act of lifting the earth, we find two flanking scenes showing the descent of Ganga and Yamuna on earth to the accompaniment of celestial music and universal rejoicing. The rivers Ganga and Yamuna seem to have become the Symbols par excellence of the homeland of the rising powers of the Guptas.

Art Evidence in Kalidas by V. S. Agrawala
Taken from Journal of the U. P, Historic Society, Volume XXII
—Part I & II Year 1949.

कालिदास ने केवल कल्पना का आधार लेकर इस श्लोक को नहीं रचा अपितु उन्होंने विष्णु की मूर्तियों को अच्छी तरह ध्यान से देखा है।

(५) शेषशायी विष्णु, विष्णु के ही अवतार—राम, कृष्ण, मयूरासीन कार्त्तिकेय, आदि सर्वप्रथम गुप्तकला में ही चित्रित मिलते हैं। कवि ने विष्णु को 'भोगिभोगासनासीनम्' दिखाया है और लक्ष्मी को पैर सहलाते हुए[१]। बिलकुल ऐसी हो मुद्रा कवि ने अवश्य किसी मूर्त्ति में देखी होगी।

देवगढ़ के मन्दिर में विष्णु को शेषासीन दिखाया गया है और शेष का एक फण पीछे छायामंडल के रूप में भी है, जो सहसा कवि के 'तत्फणामंडलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम्'[२] की ओर ध्यान केन्द्रित करता है, इनका एक चरण बैठी हुई लक्ष्मी के करों में है। अतः यह कला में चित्रित ही कवि द्वारा हुआ। इसो मन्दिर के एक द्वारोपान्त भाग में विष्णु के पैरों की पलोटती लक्ष्मी भी दिखाई गई हैं।

रघुवंश में कवि की पंक्ति 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'[३] फिर गुप्त-कला की ओर ध्यान आकर्षित कर देती है। मथुरा के संग्रहालय में मयूरारूढ़ कार्त्तिकेय का नमूना देखा जा सकता है। कुषाणकाल की मूर्त्तियों में मयूर नहीं मिलता, पर गुप्त काल की मूर्तियों में वे मयूरारूढ़ देखे जाते हैं[४]।

कपालाभरणा काली[५] का उल्लेख गुप्त युग की सामान्य आकृति है। इसी प्रकार सप्तमातृका[६], कैलास को उठाए रावण[७], सब गुप्तकला के उदाहरण हैं। एलोरा में कालो की विशेष आकर्षक आकृति देखो जा सकती है और मथुरा-संग्रहालय में कैलास को उठाए रावण का सुन्दर नमूना है[८]।

---

१. रघु०, १०, १०१७,८ २. रघु०, १०१७

३. रघु०, ६।४

४. V. S. Agarwala: A Handbook of the sculptures in the Musiem of Archeology, Mathura (1939) Fig. 40. A prominant example of this Bharat Kala Bhawan, Banaras.

५. पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'ललितकला'। —कुमार०, ७।३९; रघु०, ११।१५

६. पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'ललितकला'। —कुमार०, ७।२०,३८

७. पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'ललितकला'।—पूर्वमेघ, ६२

८. Mathura Art Musuem No. 2577 V. S. Agarwala, Brahmanical Images in Mathura J. I. L. O. A. (1937), p. 127, Pt. XV (Eig. 1)

इसी प्रकार खिले कमल पर खड़ी[१] या कमलदंड हाथ में धारण किए हुए[२] या कमलनाल के साथ क्रीड़ा करती[३] लक्ष्मी, जो कवि के ग्रंन्थों में वर्णित है। मथुरा और अन्य संग्रहालयों में देखी जा सकती है। ललितकला अध्याय के मूर्त्तिकला विभाग में इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। मथुरा-संग्रहालय में कामदेव और यक्ष की भी अनगिनत मूर्त्तियाँ हैं।

कवि ने कुमारसंभव में शिव की समाधि का जो वर्णन किया है, वह बोधिसत्व की प्रतिमाओं से बहुत समानता रखता है। ये मूर्त्तियाँ कुषाण काल से ही प्रारंभ हुई हैं[४]।

(६) मध्य में नीलमणि पिरोई हुई मोतियों की माला—गुप्त-काल के आभूषणों में मोतियों की एकावली मुख्य है, जिसके बीच में नीलमणि पिरोई हुई रहती थी। अजन्ता पेन्टिंग में स्त्री और पुरुष दोनों के कंठ में ऐसी मालाएँ देखी जाती हैं। कवि ने रघुवंश में चित्रकूट में बहती हुई गंगा को नायिका के गले में पड़ी मुक्तावली की संज्ञा दी है[५]। पूर्वमेघ में मुक्तावली के बीच में पिरोई हुई इन्द्रनीलमणि का स्पष्ट उल्लेख है[६]। चर्मण्वती का जल पीता मेघ ऐसा प्रतीत होगा मानों पृथ्वी के गले में पड़ी मुक्तावली के बीच बड़ी-सी इन्द्रनील मणि पोह दी गई हो। इसी प्रकार मोती की माला के बीच नील-मणि का प्रसंग रघुवंश में एक स्थान पर और भी प्राप्त होता है[७]। अजन्ता में अवलोकितेश्वर की मूर्त्ति में मुक्तावली के बीच में नीलमणि पिरोई मिलती है। कवि ने भी अनेक स्थानों पर इन मालाओं का प्रसंग दिया है। गंगा और यमुना का संगम तक कवि को इन्द्रनीलमणियों से गुँथी माला के समान लगता है[८]। अतः गुप्त काल की यह विशेषता कवि का सामान्य गुण है।

(७) मृण्मूर्त्तियाँ—अभिज्ञानशाकुन्तल में 'वर्णचित्रिता मृत्तिकामयूरः' का प्रसंग है। उसके लावण्य की प्रशंसा भी की गई है। मथुरा-संग्रहालय में एक

---

१. रघु०, ४।१४, १०।८ २. माल०, ४।६ ३. कुमार०, ६।८४
४. पूर्वोल्लेख– देखिए, अध्याय 'ललतिकला'।
५. मन्दाकिनी भाति नगोपकंठे मुक्तावली कंठगतेव भूमेः। —रघु०, १३।४८
६. प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्। —पूर्वमेघ, ५०
७. प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम्।
—रघु०, १६।६९
८. क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा। —रघु०, १३।५४

मृण्मय मयूर प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि शुंग काल से मिट्टी की खिलौने आदि देखे जाते हैं, परन्तु गुप्त काल से ही इन पर तूलिका से रँगना प्रारंभ हुआ है।

राजघाट में कुछ मिट्टी की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिन पर वर्ण और तूलिका प्रयोग का चिन्ह मिलता है। एक स्त्री की साड़ी लाल और श्वेत रंग की लहरों में दिखाई गई है और कुच-पट्टक काला। एक बच्चे की मूर्त्ति मिली है जिसका जांघिया कई रंगों की खड़ी धारियों से युक्त दिखाया गया है। कुछ स्त्रियों की मूर्त्तियों पर उनके शरीर के आभूषण वर्ण-रेखाओं के द्वारा दिखाए गए हैं। अन्य मूर्त्तियों में भ्रू और पलक काली दिखाई गई हैं[१]। गुप्त काल से ही रँगाई प्रारंभ हुई है, यह अजन्ता की गुफाओं से भी सिद्ध होता है। कवि ने भी स्त्रियों की मूर्त्तियों का प्रसंग दिया है जिनका रंग फीका पड़ गया है[२]।

(९) चतुस्तम्भ—चार स्तंभों पर आश्रित छोटा-सा मंडप जिस पर छत्र भी लगा रहे, गुप्त कला की विशेष वस्तु है। कवि ने इसको 'चतुष्स्तंभ-प्रतिष्ठित वितान'[३] कहा है। इसी वस्तु को बाण ने और स्पष्ट कर दिया है। 'नातिमहतः' कहकर इसका परिमाण स्पष्ट किया और 'मणिदंतिका चतुष्टय' वाक्यावलि से आकार की अभिव्यक्ति कर 'छत पर मोतियों की लड़ियाँ लटक रहीं थीं' कहकर उसके सौन्दर्य का भी परिचय दे दिया[४]। अजन्ता की गुफाओं में इसकी प्रतिकृति देखी जा सकती है[५]।

(१० नारी अंग-सौष्ठव—कालिदास द्वारा वर्णित नारी-सौन्दर्य में पयोधरों का पीवर एवं पीन होना, मुख्य विशेषता है। पार्वती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उसके स्तन पीन होकर इतने सट गए थे कि उनके बीच में कमलनाल का एक सूत्र भी नहीं समा सकता था[६]। कुषाण काल की मूर्त्तियों में यह विशेषता नहीं मिलती है। गुप्तकाल की मूर्त्तियों में यह विशेषता मिलती है।

---

१. V. S Agrawala, Rajghat Terracotas, J. U. P. H. S. XIV Pt. I (July 1941), P. 9

२. स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् —॥ रघु०, १६।१७

३. रघु०, १७।९ ४. देखिए, पूर्व उल्लेख अध्याय 'ललितकला'

५. V. S. Agrwala Art (1947), p. 24, Fig. 26

६. अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पांडु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥—कुमार०, १।४०

(११) केशविन्यास प्रणालियाँ—'वेशभूषा' नामक अध्याय में विभिन्न प्रकार की केश-रचनाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ संक्षेप में उनकी दुहरा कर कवि के समय पर कि वह निश्चय ही गुप्त काल का था, प्रकाश डाला जावेगा।

अमरकोश में अलक का अर्थ 'चूर्ण कुन्तल' आया है। कवि ने इन्दुमती के बालों का वलीभृत[1] विशेषण कह अलक की व्याख्या, घूँघरदार स्पष्ट कर दी है। कुंकुम, कपूर आदि के चूर्ण से अर्थात् इनके गीले अवलेप से बाल मरोड़-मरोड़ कर छल्लेदार बनाए जाते थे। रघुवंश में केरल देश की स्त्रियों के अलकों के सम्बन्ध में कवि ने चूर्ण का उल्लेख किया है[2]। लटों को अलकों के रूप में लाने से उनकी लम्बाई कम हो जाती होगी। कवि ने विरहिणी यक्षिणी के केशों को 'लम्बालक'[3] कहा है। अर्थात् पति के विरह में शृंगारादि परित्यक्त कर देने से, शुद्ध स्नान करने से और तैलादि का प्रयोग न करने के कारण, उसके केश लम्बे होकर बार-बार कपोलों पर आ जाते थे[4]। यह अलक विशेष प्रकार का केशविन्यास गुप्त काल की मृण्मयी नारी-मूर्त्तियों में देखा जा सकता है[5]।

इसी प्रकार एक और प्रकार की केश-विन्यास-प्रणाली 'बर्हभार केश' था[6]। दंडी और कालिदास दोनों ने इसे विशेष प्रकार की केशरचना कहा है। श्री वासुदेवशरण का कहना है कि इसमें माँग के दोनों ओर कनपटी तक लहराती हुई शुद्ध पटिया मिलती हैं। वे ही छोर पर ऊपर को मुड़कर घूम जाती हैं। देखने में यह मोर की फहराती पूँछ-सी मालूम होती है। कालिदास का 'बर्हभार' से इसी प्रकार को केशविन्यास प्रणाली से आशय है। यह प्रणाली भी कुछ मूर्त्तियों में देखी जा सकती है[7]। कुषाण कला में यह प्रणाली नहीं मिलती।

कवि ने अलकों को 'मुक्ताजाल ग्रथित'[8] भी दिखाया है, यह भी गुप्त कला में ही देखने को मिलता है। कुषाण काल में इसका कहीं पता नहीं है।

(१२) हंसदुकूल—गुप्तकाल में हंस सामान्य रूप से देखा जाता है। अजन्ता पेन्टिंग में कपड़ों पर हंस के चित्र मिलते हैं। कालिदास ने अपने ग्रन्थों

---

१. रघु०; ८।५३
२. रघु०, ४।५४
३. उत्तरमेघ, २४
४. उत्तरमेघ, ३३
५. मथुरा म्यूजियम, १०. १२४
६. उत्तरमेघ, ४६
७. V. S. Agarwala, Raighat Terracotas, J. U. P. R. S. XIV, Pt. I (July 1941) Figs. 1, 4.
८. तिलकजालकजालकमौक्तिकैः।—पूर्वमेघ, ६७; रघु०, ९।४४

में कलहंसलक्षण दुकूल[१], हंसचिह्नदुकूल[२] आदि शब्दों का प्रयोग कर पुष्टि कर दी है कि वे गुप्त काल के ही थे।

भाषा सम्बन्धी आधार

(१) कीचक—कालिदास ने कीचक शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है[३]। विशेष प्रकार के बाँसों को कीचक कहते थे। डाक्टर बागची ने सिद्ध किया है कि संस्कृत का कीचक शब्द चीनी भाषा से स्वलाध्वनि परिवर्तन के साथ लिया गया है। लगभग गुप्त काल या इससे कुछ पूर्व यह शब्द संस्कृत में आया होगा। प्राचीन चीनी शब्द (kicok) को—चाक ('की' जाति का बाँस) था। श्री सिल्वन लेवी ने पहले पहल इस पर विचार किया था[४]।

(२) अप्रतिरथ—कवि ने इस शब्द का अभिज्ञानशाकुन्तल में बहुलता के साथ प्रयोग किया है। कण्व का शकुन्तला के प्रति कथन—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं, शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥[५]

अदिति का राजा दुष्यन्त को आशीर्वाद—'वत्स अप्रतिरथो भव[६]।' मारीच की भरत के प्रति शुभकामना—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः।
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः॥ —अभि०, ७।३३

सबमें अप्रतिरथ शब्द प्रयुक्त हुआ है। श्री चन्द्रबली पाण्डे[७] का कहना है कि यह शब्द कवि को इसलिए प्रिय है कि यह वास्तव में गुप्त वंश की विभूति है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में इसका स्पष्ट उल्लेख है—पृथिव्यामप्रतिरथस्य। उसकी अश्वमेधी मुद्रा पर अंकित है—पृथिवीमपिजित्वा दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः। एवं उसके तनय 'अप्रतिरथ' विक्रमादित्य का यह अभिमान है—

क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।

---

१. वधूदुकूलं कलहंसलक्षणां गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च। –कुमार०, ५।६७
२. आमुक्ताभरणः ग्रन्थी हंसचिह्नदुकूलवान्। –रघु०, १७।२५
३. रघु०, २।१२, ४।७३; कुमार, १।८
४. डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या–भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ७९
५. अभि०, ४।२०
६. अभि०, अंक ७, पृ० १४५
७. कालिदास : श्री चन्द्रबली पाण्डे, पृ० २४

(३) पाटनादेशि—रघुवंश का श्लोक है—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ —रघु०, ४।६८

रघुवंश की प्रायः सभी प्रतियों में यह पाठ 'पाटलादेशि' मिलता है । वस्तुतः 'कपोलपाटनादेशि' पाठ शुद्ध है । कई हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में पाटनादेशि ही पाठ है । प्रोफेसर रामसुरेश त्रिपाठी (सनातन धर्म कालेज, कानपुर) के पास रघुवंश की एक जीर्ण हस्तलिखित प्रति है, उसमें पाटनादेशि पाठ है । बात यह है कि हूण वीर जब मर जाते थे, उनके कपोलों के दोनों ओर छिद्र कर दिए जाते थे, जिनसे खून की धारा बह पड़ती थी । हूणों की इसी सामाजिक रीति का संकेत कवि ने यहाँ किया । इस दृष्टि से 'कपोल-पाटनादेशि' पाठ ही शुद्ध है । मल्लिनाथ आदि ने पाटल पाठ मानकर पाटलिम्ना अर्थ किया है जो एक तरह से बलात् अर्थ है । इस उद्धरण के आधार पर डाक्टर वासुदेवशरण जैसे विद्वान् कालिदास को निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में मानने को सोच रहे हैं । यह अन्वेषण अभी अगस्त, १९५५ में हुआ है ।

साहित्यिक प्रमाण

अभी हाल में ही श्री चन्द्रबली पाण्डे की एक पुस्तक 'कालिदास' प्रकाशित हुई है, जिसके अनुसार भी कालिदास का समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय ठहरता है ।

राजशेखर का एक सूत्र है—

महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत् ।
तत्परीक्षितोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पदबन्धश्च । श्रूयते
चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा-
इह कालिदासमेंठावत्रामररूपसूरभारवयः ।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥

—काव्य मीमांसा, अध्याय १०, पृ० ५५

इसमें 'परीक्षितो' शब्द से यह स्पष्ट करना आशय कहा जा सकता है कि कालिदास की मेंठ, अमर की रूप, सूर की भारवि तथा हरिचन्द्र की चन्द्रगुप्त के साथ काव्यकार के रूप में परीक्षा हुई । अतः कालिदास और मेंठ समकालीन थे और चन्द्रगुप्त थे काव्यकार ।

कालिदास की ख्याति में किसी शकारि राजा का हाथ था, यह इससे सिद्ध होता है—

हालेनोत्तमूपजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः ।
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना ॥

—रामचरित, गायकवाड़ प्राच्यमाला, ४६।३३

कवि अभिनन्द इसी शकारि के सम्बन्ध में आगे कहते हैं—

शकभूपरिपोरनन्तरं कवयः कुत्र पवित्रसंकथाः ।
युवराज इवायमीक्षितो नृपतिः काव्यकलाकुतूहली ॥

—रामचरित, सर्ग २२

इस नृपति के विषय में उनका कहना है—

नमो नृपतिचन्द्राय पृथ्वीपालाय येन सा ।
विकालमलिना दिक्षु दर्शिता कविपद्धतिः ॥—रामचरित, सर्ग ४

अतः अभिनन्द की दृष्टि में पृथ्वीपाल नृपति चन्द्र ही शकारि और कवि कालिदास की ख्याति के कारण हैं। उनका कथन है कि कालिदास की कीत्ति में 'शकारपति' का हाथ है और उनके द्वारा उक्त कवि को ख्याति मिली है। दूसरी ओर ऐसा भी कथन है कि राजा विक्रमार्क को कवि कालिदास ने व्याख्यात किया—

वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजः ।
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमार्को नृपः ॥ (सुभाषित)

अतः कालिदास का एक ओर 'शकाराति' से सम्बन्ध है, दूसरी ओर विक्रमार्क से। इतिहास-वेत्ताओं का कथन है कि विक्रमार्क ही शकाराति या शकारि है। अब सिद्ध यही करना है कि विक्रमार्क या शकाराति चन्द्रगुप्त ही है।

'हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परोक्षिताविह विशालायाम्' से विदित है कि चन्द्रगुप्त काव्यकार भी था; क्योंकि यह परीक्षा काव्यकारों की थो। हरिचन्द्र के विषय में बाण का कहना है 'भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते' (हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास)। गद्यपद्य कवि महेश्वर अपने विश्वप्रकाश कोश की भूमिका में लिखता है—

श्री साहसांकनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातडंगपदमद्वयमेव बिभ्रते ।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतंत्रमलंचकार ॥ (५)

श्री साहसांक श्री जयदेव के मतानुसार कवि भी था—

भासो रामिलसौमिलौ वररुचिः श्री साहसांकः कवि-
र्मेण्ठौ भारविकालिदासतरलाः स्कंदः सुबन्धुश्च यः ।

—सूक्तिमुक्तावली, पृ० ४९

स्वर्गीय पण्डित केशवप्रसाद मिश्र जी के आत्मज श्री महावीरप्रसाद मिश्र, भदैनी, काशी के पास अभिज्ञानशाकुन्तल की अगहन, सुदी ५, सम्वत् १६९९

वि० की हस्तलिखित प्रति है, उसका निम्नलिखित लेख भी श्री चन्द्रबली पाण्डे के अनुसार चन्द्रगुप्त के पक्ष में अधिक है।

"आर्ये, रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसांकस्याभिरूप-भूयिष्ठेयं परिषत्। अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनो-पस्थातव्यमस्माभिः।"

इससे साहसांक और विक्रमादित्य की एकता सिद्ध होती है। यह साहसांक गुप्तवंशी है, यह निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध हो जाता है—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयत्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः॥

—एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १८, पृ० २४८, सञ्जन ताम्रपत्र

गुप्तान्वय साहसांक का साहस बाण के कथन से भी स्पष्ट है। 'अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयदिति।' (हर्षचरित, षष्ट उच्छ्वास)।

इसी को टीकाकार शंकर कवि और स्पष्ट कर देते हैं—

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानश्चन्द्र-गुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन रहसि व्यापादितः।

अतः चन्द्रगुप्त ही साहसांक, विक्रमादित्य और शकाराति हुआ।

एक समस्या और भी है—राजशेखर का कथन है—श्रूयते चौज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा (काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ० ५०)। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त जो मगध का सम्राट् था, उज्जयिनी का राजा कैसे हो सकता है? डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है—

मालव और सुराष्ट्र विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने उन प्रान्तों के लिए चाँदी के सिक्के भी ढलवाए थे। उन पर पटदाँव इस प्रकार लेख है—

परमभागवत—महाराजधिराज—श्री चन्द्रगुप्त—विक्रमादित्यस्य।

इसी लेख में विक्रमांक विरुद का प्रयोग भी किया गया है—

श्री गुप्तकुलस्य महाराजाधिराज—श्रीचन्द्रगुप्तस्य—विक्रमांकस्य। अतः सिद्ध हो जाता है कि इस विजय से चन्द्रगुप्त विक्रमांक बने और विक्रमादित्य की प्रतिष्ठित उपाधि से विभूषित हुए।

रघुवंश का आधार

रघुवंश के आधार पर भी कालिदास का गुप्तकालीन होना ठहरता है। 'रघुवंश में गुप्तवंश' शीर्षक निबन्ध में ('आजकल') इस पर कुछ विचार हुआ है। इतिहास के जानकारों ने भी रघु की दिग्विजय को समुद्रगुप्त की

दिग्विजय माना है। श्री चन्द्रबली पाण्डे का कथन है कि कालिदास गुप्तवंश के कवि हैं और इसी को आभा अपने काव्य में दिखाते हैं[1]। अब इस सम्बन्ध में हम उनके प्रमाण देंगे।

(रघु०, ४।४९–५२) इन श्लोकों को इसी सर्ग के ६०वें श्लोक के साथ मिलाइए—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी॥

६० वें श्लोक में वे संयमी हैं; परन्तु ४९ से ५२ तक पांड्य और अपरान्त भाग में उनका असंयम है। श्री चन्द्रबली पाण्डे का तर्क है कि असंयम का कारण इस क्षेत्र का श्वशुरपुर निवास होना था। समुद्रगुप्त की दिग्विजय भी रघु की दिग्विजय है और समुद्रप्त की ससुराल भी 'कदम्बकुल' में ही है। कदम्बकुल के नीतिनिपुण राजा काकुत्स्थ वर्मा की प्रशंसा में कहा गया है कि उसने दुहिता द्वारा गुप्तकुल को उजागर किया[2]। अतः इतना अवश्य प्रकट है कि गुप्तकुल के किसी व्यक्ति के साथ कोई कदम्बकुल की कन्या ब्याही गई थी। चन्द्रबली जी इसको समुद्रगुप्त ही मानते हैं, इसका आधार वे एरण का अभिलेख मानते हैं।

दत्तास्य पौरुषपराक्रमदत्तशुक्ला हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।
नित्यं गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्रसंक्रामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा॥[3]

——सेलेक्ट इंसक्रिप्शंस, पृ० २६१

इसके अनुसार दत्ता या दत्तदेवी को 'शुल्क' में पतिदेव की ओर से 'पौरुष पराक्रम' की ही प्राप्ति हुई थी। इसका सीधा अर्थ यही है कि अभी समुद्रगुप्त इस योग्य नहीं हुए थे कि उसको धनधान्य से परिपूर्ण कर देते।

इसी प्रकार पारसीक (रघु०, ४।६०) भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। पारसीक कूटनीति के भक्त थे, अतः उनपर अचानक आक्रमण हुआ और वे पराजित हुए। कालिदास ने इनकी दाढ़ी (रघु०, ४।६३) का मधुमक्खी के छत्ते के समान वर्णन किया है वह 'सासानी' काल का सूचक है कुछ 'पह्लव' काल का नहीं। आज भी सामानी शासकों की मधुमक्खी के छत्ते के समान दाढ़ी चित्रों में देखी जा सकती है। पारसीक नाम भी इसी

---

१. कालिदास, चन्द्रबली पाण्डे, पृ० १९
२. कालिदास, चन्द्रबली पाण्डे, पृ० १८; विशेषकर श्लोक देखिए—
तालगुन्द का अभिलेख, एपीग्राफिया कर्नाटिका, भाग ७, 'शिकारपुर, १७६
३. कालिदास, चन्द्रबली पाण्डे, पृ० १९

काल में सार्थक होगा। चन्द्रबली जी का कहना है कि संवती विक्रमादित्य के समय में 'पारसीक' नहीं पह्लव प्रभुत्व में थे और पारस पर उनका ही शासन था। हूण भी इस समय थे। अतः रघुवंश के आधार पर यही गुप्त काल कवि का ठीक बैठता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल का आधार

समुद्रव्यवहारी सार्थवाह का संदर्भ इस प्रकार मिलता है—

'समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति। बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यताम् यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

प्रतिहारी उत्तर देता है—देव इदानीमेव साकेतकस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निवृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते।

राजा निर्णय देता है—ननु गर्भः रिक्थमर्हति। गच्छ एवममात्यं ब्रूहि।'

—अभि०, अंक ६

रघुवंश के सर्ग १९ में भी 'गर्भ' का ही राज्याभिषेक होता है (रघु०, १९।५५,५६) और यहाँ भी गर्भस्थ बालक ही अधिकारी होता है।

इतिहास इसकी साक्षी देता है कि पारसीक शापुर, जो समुद्रगुप्त का समकालीन प्रतापी सम्राट् था, गर्भ में ही अभिषिक्त हुआ था और यहाँ भी प्रभावती गुप्ता का शासन अपने बाल तनयों के लिए हुआ था। अतएव इन आधारों पर फिर यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजकवि थे और अपने समय के इतिहास से पूर्ण परिचित थे[1]। समुद्रव्यवहारी धनमित्र की भार्या साकेत के श्रेष्ठी की कन्या है। श्री चन्द्रबली जी का कहना है कि साकेत का नाम भी साभिप्राय लिया गया है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिन साकेत में बीते थे। जो भी हो, सार्थवाह धनमित्र राजधानी हस्तिनापुर का प्रतीत होता है, क्योंकि प्रतिहारी उसी समय सूचना देता है कि इसकी भार्या साकेत दुहिता अभी पुंसवन से निवृत्त हुई है। अतः इन बातों से जान पड़ता है कि इस समय मध्यदेश के व्यापारी भी समुद्रव्यवहार में प्रमुख बन गए थे। यह प्रमुखता गुप्त शासन की देन है, ऐसा कहा जा सकता है[2]।

---

१. कालिदास, चन्द्रबली पाण्डे, पृ० २३
२. कालिदास, चन्द्रबली पाण्डे, पृ० २३

मालविकाग्निमित्र का आधार

इस नाटक में महादेवी का नाम धारिणी मिलता है। महाराज चन्द्रगुप्त की दुहिता श्री प्रभावती गुप्ता के पूणा ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसका जन्म 'धारण' गोत्र में हुआ था। इधर नाटक में भी देवी धारिणी का एक अवरवर्ण भ्राता वीरसेन का प्रसंग आया है[1]। अतः धारिणी का एक और गुप्त वंश से सम्बन्ध था, दूसरी ओर वह वर्णावर कुल की थी।

चन्द्रबली जी का कथन है कि मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र का अपकर्ष चन्द्रगुप्त को समाज की दृष्टि में ऊपर लाने के लिए ही किया गया है[2]। जैसे विशाखदेव ने मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त मौर्य को खिलवाड़ बना दिया है वैसे ही अग्निमित्र को कालिदास ने। वृद्ध पिता पुष्यमित्र और प्रौढ़ पुत्र को राजसूय के स्वप्न दिखाकर इस अधेड़ शासक को प्रेमलीला में मग्न दिखाना और धारिणी से फटकार दिलवाना कि यदि आप इतना चित्त राज्यकार्य में दें तो अच्छा हो, सब उसके अपकर्ष ही लिए है।

इसी प्रकार श्री पाण्डे जी विक्रमोर्वशीय में विक्रम को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उर्वशी को ध्रुवदेवी मानते हैं। ज्येष्ठ माता को वे प्रभावती गुप्ता की माता कुबेरनागा मानते हैं। ज्येष्ठ रानी के लिए काशिराजपुत्री शब्द आया है। नागकुल के शासक अपने को काशिराज कहते थे और काशी विश्वविद्यालय के पर्याय नगवा का इससे कुछ सम्बन्ध है। स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल ने भी नागकुल का यह सिद्धान्त स्वीकार किया था[3]।

अतः कला, भाषा, साहित्य तीनों ही आधार पर कालिदास का समय गुप्त काल अर्थात् चौथी शताब्दी ईसवी ठहरता है।

---

१. अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम।—माल०, अंक १

२. कालिदास, चन्द्रबली पाण्डे, पृ० २१

३. कालिदास, चन्द्रबली पाण्डे, पृ० १५

परिशिष्ट [२]

कालिदास के समय में काम-भावना

कालिदास ने अपने युग के जीवन को विविध रूपों में देखा था। जहाँ उन्होंने कथा के व्याज से तत्कालीन राजाओं के त्याग और औदार्य का चित्रण किया है, वहाँ जीवन के विलासमय पक्ष का भरपूर वर्णन किया। युवावस्था में विषय-सुख की अनुभूति के गीत गाने वाला कवि जीवन के इस पहलू से निरपेक्ष नहीं रह सकता था। अतः कालिदास की कृतियों में वैवाहिक-जीवन का सरस रूप एक ओर मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों की एकरसता का द्योतक है, दूसरी ओर उस युग के विषय सुख-भोग के प्रकार पर भी प्रकाश डालते हैं। भारतीय-सभ्यता में काम पुरुषार्थ के रूप में गृहीत है और जीवन में धर्म और अर्थ के समकक्ष ही इसका महत्त्व है। कालिदास के समय की भारतीय-सभ्यता इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। विदिशा के सम्भ्रान्त नागरिकों के उद्दाम यौवन की अभिव्यक्ति वहाँ के शिलागृहों से निकली रतिपरिमल गंध से भरपूर होती थी और उज्जयिनी जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों की नगर वीथियाँ अभिसारिकाओं की नूपुर-ध्वनि से मुखरित रहा करती थीं। महाकाल के मन्दिर वेश्याओं के चामर-नृत्य से अलंकृत रहते और नगर के बाहर के उपवन प्रणय के क्रीड़ा-स्थल थे।

कवि ने वनेचरों से लेकर शिव और पार्वती तक को काम के नैसर्गिक भाव से आक्रान्त दिखाया और इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्यावहारिक रूप का संकेत मनोराग के साथ किया। उनके मत में बिना काम-क्रीड़ा के प्रणय की अभिव्यक्ति रसहीन है। उनके मत में काम स्नेह का ललित मार्ग है (स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते[१])। अतः कवि ने वैवाहिक आधार पर प्रणय का और इसके परिपाक के लिए कामक्रीड़ा को अपनी कृतियों में स्थान दिया है। ऐसा लगता है कि कालिदास के युग में सुख का अर्थ विलासमय जीवन

---

१. यह श्लोक धनिक द्वारा दशरूपक ३।१३ में उद्धृत है और उसने उसे विक्रमोर्वशीय का माना है। पर विक्रमोर्वशीय के कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं मिला।

था। उन्होंने सर्वत्र अपने काव्यों में अपनी प्रेयसी से संयुक्त को सुखी माना है। शरीरधारियों का सुख काम के अधीन है (त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् — कुमार०, ४।१०)।

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कंठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ —पूर्वमेघ, ३
रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ॥—अभि०, ५।२

आदि श्लोकों में सुखी व्यक्ति से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जिनके पार्श्व में उनकी प्रणयिनी हो। प्रियाहीन जीवन को—

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ —रघु०, ८।६६

के रूप में नीरस व्यक्त किया है। काम का जीवन में इतना व्यापक स्थान होने के कारण और प्रेम का काम से सम्बन्ध होने के कारण कालिदास के प्रेम-निरूपण में काम गति देता हुआ जान पड़ता है। फलतः प्रेम की ऊँची-से-ऊँची स्थिति आलिंगन के घेरे में आकर विश्रान्ति पाती है। कवि ने काम की क्रियाओं को काष्ठागत स्नेह की अनिवार्य परिणति माना है (काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः —कुमार०, ३।३५)। स्नेह की चरमारूढ़ परिस्थिति में कालिदास ने प्रतीकों के व्याज से निम्नलिखित व्यापार व्यक्त किए हैं जो तत्कालीन भारतीय जीवन में व्यापक रूप से देखे जाते थे—

(१) प्रेयसी के पिए हुए मधु को—शेष मधु को उसी पात्र में पीना[1]।

(२) प्रेयसी के विशेष अंगों में कण्डूति का होना और प्रिय द्वारा प्रेयसी के विशेष अंगों का स्पर्श[2]।

(३) गण्डूष की प्रक्रिया—प्रेयसी का अपने मुख में शराब भरकर प्रिय के मुख में डालना[3]।

(४) प्रिय द्वारा प्रेयसी को स्वोपभुक्त पदार्थ का दान[4]।

---

१. मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकंडूयत कृष्णसारः ॥ —कुमार०, ३।३६

२. देखिए, पादटिप्पणी, नं० १

३. ददौ रसात्पंकजरेणुगन्धि गजाय गंडूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन विसेन जायां संभावयामास रथांगनामा ॥ —कुमार०, ३।३७

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३

(५) प्रेयसी द्वारा गीत गाना और गीतों के बीच-बोच में प्रेयसी का प्रिय द्वारा चुम्बन किया जाना[1]।

(६) आलिंगन[2]।

जैसा कि देखा जाता है कालिदास ने प्रेम और काम दोनों की अभिव्यक्ति यौवन के आरम्भ में कराई है[3]। उनके मत में नारी का यौवन उसकी अंगलता का स्वाभाविक मंडन है, मधु न होते हुए भी मदिरा की तरह मदमत्त करने वाला है, जो कामदेव का बिना फूलों का बाण है[4]। इसो प्रकार पुरुष का यौवन वनिताओं के नेत्रों से पिए जाने योग्य मधु है, मनसिज तरु का फूल है, रागबन्ध का प्रवाल है, सर्वांग को सुशोभित कर देने वाला अकृत्रिम आभरण है और विलास का प्रथम चरण है[5]। किसी अव्याज मनोहर सुन्दरी के श्रवण से कामतरु अंकुरित होता है। उसको देखते ही उसमें अनुराग के पल्लव फूट पड़ते हैं, उसके हाथ के स्पर्श से वह मुकुलित हो उठता है, प्रेमियों का सर्वात्मना मिलन उसका फल है और आस्वाद उसका रस है[6]। नारी के अन्दर उद्‌बुद्ध होती हुई कामभावना को कवि ने अनेक प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है। नारी के प्रथम प्रणय-वचन को नदी के प्रतीक से आप इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकांचीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्त्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणायवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ --पूर्वमेघ, ३०

---

१. गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्ब ॥--कुमार०, ३।३८

२. पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ --कुमार०, ३।३९

३. कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु संनद्धम्। --अभि०, १।२०

४. असंभृतं मडनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य,
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं वाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे। —कुमार०, १।३१

५. अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम्।
अकृतकविधि सर्वांगोणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥
—रघु०, १८।५२

६. तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्‌गमत्वा-
त्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ॥—माल०, ४।१

उन दिनों स्त्रियाँ जो कांची पहनती थीं उनमें किंकिणी लगी रहती थी। उसे झनका कर किसी को आकर्षित करने का यह सरल तरीका था। स्त्रियाँ फूल की, विशेषकर मौलिश्री के फूल की भी कांची पहनती थीं। वह पर्याप्त नीचे लटकती रहती थी और उसे बार-बार ऊपर की ओर सरकाते हुए भी प्रेमी जनों को आकृष्ट किया जाता था। पार्वती ने शिव को इसी प्रकार आकृष्ट किया था। कभी-

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकांचीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वी द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥
—कुमार०, ३।५५

कभी कुमारियाँ नृत्य और गीत के द्वारा भी अपने प्रेम को व्यक्त करती थीं। मालविका की अभिव्यक्ति इसी प्रकार की थी—

दुर्लभःप्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराशमहो
अपांगो मे परिस्फुरति किमपि वामः।
एष स चिरदृष्टः कथं पुनरुपनेतव्यो
नाथ मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम् ॥—माल०, २।४

प्रिय के सम्मुख होने पर आँख फेर लेना, किसी बहाने से हँसना, दो-चार डग चल कर किसी बहाने रुक जाना किसी झाड़ी में न उलझी साड़ी को भी उलझे हुए के रूप में देर तक सुलझाते रहना आदि स्त्री के मदनाभिभूत होने के संकेत माने जाते थे। दुष्यन्त ने इन्हीं लक्षणों से शकुन्तला के मनोगत भाव समझे थे[1]।

संकेत-स्थल

प्रेमियों के मिलने के स्थान संकेत-स्थल कहलाते थे। यह देशभेद तथा ऋतुभेद के अनुसार बदलते रहते थे। कालिदास ने मुख्य रूप से निम्नलिखित स्थानों को प्रणयलीला-भूमि माना है।

पर्वत-प्रदेश—कवि के युग में पर्वतीय प्रदेशों में जाकर आनन्द मनाने की प्रथा-सी थी, फिर पर्वतों पर रहनेवालों के लिए तो वे प्रदेश सर्वस्व थे। विशेषकर दरीगृह उनके क्रीड़ा-स्थान थे। दिन में यदि दरीगृह के द्वार पर बादल लटक

---

१. अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः॥ —अभि०, २।११
—दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकांडे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥
—अभि०, २।१२

जाते थे तो वे 'तिरस्करिणी' (परदे) का काम करते थे। इस तरह विलास करती किन्नरियों की लज्जा बहुत-कुछ ढकी रह जाती थी[१]। हिमालय के दरी-गृहों में वनिताओं के साथ विश्राम करने वाले वनेचरों के लिए हिमालय की चमकती ओषधियाँ रात्रि में बिना तेल भरे सुरत-दीप का काम करती थीं[२]। विदिशा के नागरिक वहाँ को वेश्याओं के साथ उन शिलागृहों में इतनी काम-क्रीड़ा करते थे कि रति-सम्मर्द की गन्ध से वे भरे जाते थे और बहुत बाद तक उनमें से रति-परिमल चारों ओर विकीर्ण होता रहता था[३]। हिमालय के ओषधि-प्रस्थ नगर के समीप गन्धमादन गिरि था। यक्षों और विद्याधरों का वह विहार-स्थल था। सन्ध्या समय में और चाँदनी रात में उसकी शोभा अत्यन्त लुभावनी हो जाती थी, जो प्रणयलीला के लिए अति उपयुक्त थी। विवाह के बाद शिव पार्वती को लेकर इस पर्वत पर भी विहार करने गए थे। विक्रमोर्वशीय में चित्रलेखा यह सूचना देती है कि उर्वशी राजर्षि को साथ लेकर गन्धमादन पर विहार करने गई है। यह सुन कर सहजन्या कहती है—'सम्भोग वास्तव में वह है, जो ऐसे प्रदेशों में किया जाय'[४]।

क्रीड़ाशैल—नाम से ही स्पष्ट है कि यह विहारस्थल था। यह कृत्रिम होता था। कवि ने इसका एक रेखाचित्र मेघदूत में दिया है। यक्ष मेघ से कह रहा है, "उस बावड़ी के किनारे एक क्रीड़ा-पर्वत है। उसकी चोटी सुन्दर इन्द्रनील मणियों के जड़ाव से बनी है। उसके चारों ओर सुनहले कदली वृक्षों का कटहरा देखने योग्य है, उस क्रीड़ा-शैल में कुरबक की बाड़ से घिरा हुआ माधवी-मण्डप है, जिसके पास एक ओर चञ्चल पल्लवों और लाल फूलों वाला अशोक है और दूसरी ओर सुन्दर मौलसिरी है। उन दो वृक्षों के बीच सोने की बनी हुई बसेरा लेने की छतरी है, जिसके सिरे पर बिल्लौर का फलक लगा है और मूल

---

१. यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषांगनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बा तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥ —कुमार०, १।१४

२. वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ —कुमार०, १।१०

३. नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढ़पुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ —पूर्वमेघ, २७

४. स नाम संभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु। —विक्रम०, अंक ४, पृ० २१३

में नए बाँस के समान हरे चोआ रंग की मरकत मणियाँ जड़ी हैं। मेरी प्रियतमा हाथों में बजते कंगन पहने हुए सुन्दर ताल दे-देकर जिसे नचाती है वह तुम्हारा प्रियसखा नीले कण्ठ वाला मोर सन्ध्या के समय उस छतरी पर बैठता है[१]।

जंगली-कुञ्ज—जंगली व्यक्तियों के प्रणय व्यापार प्रायः कुञ्जों में होते थे[२]।

उपवन, उद्यान और लता-गृह—उपवनों में नागरिकों के घूमने, टहलने तथा विहार करने जाने की परम्परा बहुत पुरानी है। वाल्मीकि रामायण में हेमभूषिता कुमारियों का नगर के बाहर के उद्यान में जाकर क्रीड़ा करने का उल्लेख है (अयोध्या काण्ड, ६७।१७)। शालभञ्जिका, उद्दालक पुष्पभञ्जिका, वारणपुष्प प्रचायिका आदि क्रीड़ाएँ उपवनों और उद्यानों में होती थीं। ये स्त्रियों के खेल थे। फलतः ऐसे उद्यानों की ओर रसिक लोग भी आँख लगाए रहते थे। दुष्यन्त जब शकुन्तला के प्रति अपने आकर्षण के विषय में विदूषक से कहता है और शकुन्तला के कामविकार को भी व्यक्त करता है तब विदूषक कह देता है कि तुमने तो तपोवन को उपवन बना डाला (कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि)[३]। स्त्रियों और वारवनिताओं के साथ कामीजन नगर के बाह्य उपवनों में विहार करते थे। अलका में वैभ्राज नाम का उपवन था। वह ऐसे दृश्यों के लिए प्रसिद्ध था[४]। चैत्ररथ उपवन के समकक्ष वृन्दावन में यौवनश्री का रस लेना उत्तम समझा जाता था[५]। कोयल की कूक से मुखरित और वसन्त के वैभव से सुशोभित विदिशा के उद्यान में विहार करना मानों स्वयं कामदेव बनना था[६]।

लतागृह प्रायः प्रणय-व्यापार के लिए ही बनाए गए होते थे। अन्तःपुर की कामिनियों और राजाओं के संकेतस्थल प्रायः लतागृह ही होते थे। उनमें मृदुपल्लव अथवा पुष्पों की शय्या बिछी रहती थी और दूतियाँ इन स्थानों से खूब परिचित रहती थीं[७]। कभी-कभी आश्रमों के लता-झुरमुट भी प्रेमलीला

---

१. वासुदेवशरण अग्रवालकृत हिन्दी अनुवाद, उत्तरमेघ, १८, १९
२. 'स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुंजे मुहूर्त्त' —पूर्वमेघ, २०
३. अभि०, अंक २, पृ० ३५
४. वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया,
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति। —उत्तरमेघ, १०
५. वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः। —रघु०, ६।५०
६. परभृतकलव्याहरेषु त्वामात्तरतिर्मधुं नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वनंग इवांगवान्।
—माल०, ५।१
७. क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः। —रघु०, १९।२३

के केन्द्र हो जाते थे। दुष्यन्त और शकुन्तला का संसर्ग लताकुञ्ज में ही हुआ था। गौतमी के डर से अलग होती हुई शकुन्तला लतावलय को सम्बोधित करती हुई, परन्तु वस्तुतः दुष्यन्त को पुनः भोग के लिए आमन्त्रित करती हुई कहती है, "लतावलय संतापहारक आमंत्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय"[१]।

नदीतट—नदीतट प्रेमियों के मिलन-स्थान के रूप में सदा से प्रसिद्ध हैं। नदी के किनारे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सभी विषयों का एक साथ समन्वय देखा जाता है। शीतल पवन श्रान्ति को दूर करता है और एकान्त रमणीयता कम उत्तेजक नहीं होती। कवि ने सबका एकत्र समावेश व्यञ्जित किया है—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥ —पूर्वमेघ, ३३

नदीतट अभिसार के उद्देश्य थे। नदीतट के वानीरगृह संकेत-स्थल के लिए परम उपयुक्त माने जाते थे। यों भी वे विश्राम के सुन्दर स्थल थे। बिना वेतसगृहों के नदीतट सूने लगते थे और प्रेमियों से रहित वेतसगृह और खटकते थे[२]। गोदावरी के तीर पर स्थित वानीर गृहों को लक्ष्य करते हुए राम सीता से एकान्त में व्यतीत किए हुए सुखमय दिनों की स्मृति कराते हैं[३]।

दीर्घिकातट के मोहनगृह—कमलों से भरी हुई बड़ी-बड़ी वापियों के तट पर मोहनगृह (सुरतगृह) बने होते थे। ये प्रायः गुप्त रखे जाते थे। जलकेलि के अवसर पर विलासीजन विलासिनियों के साथ इन गृहों का उपयोग किया करते थे[४]।

हर्म्य—नागरिक जीवन में यौवन की सरस अनुभूति हर्म्य में अधिकाधिक सञ्चित होती थी। कालिदास ने प्रणय और काम-क्रीड़ा के सन्दर्भ से हर्म्यों के जो चित्र खींचे हैं वे एक ओर तत्कालीन भारत के विशाल वैभव के द्योतक हैं और दूसरी ओर भारतीय-संस्कृति की कला-प्रियता के व्यञ्जक हैं। ऐश्वर्य और

---

१. अभि०, अंक ३, पृ० ५५
२. उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि। —रघु०, १६।२१
३. अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥ —रघु०, १३।३५
४. गूढमोहनगृहाः —रघु०, १९।९

कला का, शृंगार और सुरुचि का यह संयोग पुरुष और नारी के भावप्रवण-मिलन की तरह रमणीय और स्पृहणीय है[1]।

इन्द्रिय-सुख का उपभोग जिन हर्म्यों में किया जाता था उनमें चित्र सजे रहते थे[2]। वे भक्ति शोभा (आकृति, रचना, डिजाइन) से युक्त रहते थे[3]। उनके गवाक्षों से स्त्रियों के केश-संस्कार वाले धूम उड़ा करते थे, उनमें फूलों की सुगन्धि फैली रहती थी[4]। बीच-बीच में कान्तिमान् फूलों के गुच्छों से वे अलंकृत रहते थे। उनमें मदन का उद्दीपक तन्त्रीनाद झंकृत होता रहता था[5]। मृदंग-घोष भी होता रहता था[6]। सोने के कलश रखे रहते थे[7]। मुंडेर पर पालतू मोर नाचते थे[8]। वलभियों पर कबूतर विश्राम किया करते थे[9]। ऐसे गृहों में उत्सुक रमणियाँ अपने प्रेमी के हाथ-में-हाथ डाले (कान्तसंसक्तहस्ता—ऋतु०, ३।२३) प्रवेश करती थीं। वहाँ पृथ्वी पर शय्या सजाई हुई रहती थी[10]। उस पर हंस की तरह धवल चादर बिछी रहती थी[11]। ग्रीष्म की रात्रि में

---

१. देखिए, पूर्व उल्लेख, अध्याय 'ललितकला'

२. तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥
—रघु०, १४।२५

३. कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्।
—कुमार०, ७।९४

४. जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथाः
लक्ष्मीं पश्यंल्ललितवनितापादरागांकितेषु॥ —पूर्वमेघ, ३६

५. सुवासितहर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः॥—ऋतु०, १।३

६. तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदंगघोषः। —रघु०, १३।४०

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३

८. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ४

९. तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायाम्। —पूर्वमेघ, ४२

१०. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३

११. तत्रहंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम्।
अध्यशेत शयनं प्रियासखः .... —कुमार०, ८।८२

यह सब छत पर होता था, जो सुवासित होती थी[१]। वहाँ ललित गीत गाए जाते थे[२]। कुछ विशिष्ट रसिक कार्त्तिक की रात्रियों में भी छत के ऊपर वितान डाल कर छत पर ही ललितांगनाओं के साथ शरद् की चाँदनी का आनन्द लेते थे[३]। अति समृद्ध व्यक्तियों के गृहों में रत्नदीप जला करते थे, जिन्हें बुझाने के लिए रात्रि में लज्जा से अवनत स्त्रियाँ उन पर मुट्ठी में भर-भर कर कुंकुम फेंका करती थीं; पर अपने प्रयत्न में असफल रहती थीं[४]। उन महलों में चन्द्रकान्त मणि की झालरें लटकती रहती थीं, जिनपर चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से जलबिन्दुओं की फुहार चूने लगती थी, जिनसे कामिनियों की रतिश्रान्ति मिट जाती थी[५]।

प्रथम मिलन

अपने देश में कभी ऐसा भी समय था जब नव-परिणीता का अपने पति से प्रथम मिलन एक समस्या हो जाती थी। स्वाभाविक लज्जा स्त्रियों में आज तक ज्यों-की-त्यों है। स्वयं कालिदास ने भी इस लज्जा का पर्याप्त उल्लेख किया है। नव-परिणीता लज्जा में इतनी डूबी रहती थी कि अपने प्रिय की ओर आरम्भ में आँख उठाकर भी नहीं देखती थी। प्रिय द्वारा देखे जाने पर अपनी आँखें मींच लेती थी। सखियाँ उसे किसी-किसी प्रकार शयनकक्ष की ओर ले जाती थीं। उसकी लज्जा को दूर करने के लिए किसी-न-किसी बहाने उसे हँसाने का प्रयास

१. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० ५

२. व्रजतु तव निदाघः कामिनिभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन।
—ऋतु०, १।२८

३. कार्त्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललितांगनासखः।
अन्वभुंक्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥—रघु०, १९।३९

४. नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुंगानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपा-
न्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ —उत्तरमेघ, ७

५. यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिंगनोच्छ्वासिताना-
मंगग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ —उत्तरमेघ, ९

किया जाता था[१]। शयनगृह में पहुँचा दिए जाने पर भी नवोढा प्रिय के प्रश्नों का उत्तर नहीं देती थी। उत्तर में प्रायः सिर हिला दिया करती थी। पति द्वारा आँचल पकड़ने पर वहाँ से हटने की-सी चेष्टा करती और सोते समय भी दूसरी ओर मुँह फेर कर सोती थी[२]। जब पति अंकुश की ओर हाथ बढाते तो वे काँपती हुई उनके चंचल हाथों को रोकने लगती थीं[३]। परन्तु नववधू का लज्जा मिश्रित असहयोग भी पति को कम आनन्द देने वाला न होता था[४]। वे बाधाओं के साथ अधूरे रस को भी जी भरकर पीते थे।

धीरे-धीरे नवोढ़ा की झिझक मिटने लगती थी और जैसे-जैसे उसे भी रस मिलने लगता था, वह रति की दुःखशीलता अनुभव नहीं करती थी (ज्ञात मन्मथ-रसा शनैः-शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम्)[५]।

उस समय के प्रेमीजनों का अपने प्रणय की अभिव्यक्ति का एक सुसंस्कृत रूप था—अपनी प्रेयसी को फूलों से सजाना[६]। अलकों में फूल गूँथकर अथवा अंगों में कुसुमों के आभूषण पहनाकर वे सौन्दर्य और आनन्द दोनों की अनुभूति करते थे[७]।

मधुपान के बिना आनन्द अधूरा रह जाता था। रति-प्रसंग में कवि ने इसके विविध प्रभावों का खुलकर वर्णन किया है। कालिदास की सम्पूर्ण कृति में मधु का प्रसंग अत्यधिक है। उन्होंने इसको 'अनंगदीपनम्' (कुमार०, ८।७७) 'मदनीयमुत्तमम्', 'कामरतिप्रबोधकम्' (ऋतु०, ५।१०), 'स्मरसखम्' (रघु०,

---

१. नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपभीराः।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित् प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम् ॥
—कुमार०, ७।९५

२. व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥ —कुमार०, ८।२

३. नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥ —कुमार०, ८।४

४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० २

५. कुमार०, ८।१३

६. तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन्। —कुमार०, ८।२७
—रचितं रतिपंडित त्वया स्वयमंगेषु ममेदमार्त्तवम्।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारुवपुर्न दृश्यते ॥ —कुमार०, ४।१८

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६

९।३६) आदि माना है। वे इसको 'अबलामंडनम्'[१] भी मानते हैं। मधु स्त्रियों के नयनों को विभ्रम की शिक्षा देने में दक्ष है[२]। मद के कारण उनकी आँखें घूमने लगती थीं। वाणी की गति सवलित होने लगती थी। मधुप्रभावजन्य अल्हड़ सौन्दर्य से विभूषित युवतियों के मुख को कामीजन नेत्रों से देर तक पिया करते थे[३]। मधु-जन्य विक्रिया केवल रसिकों को ही सुखद नहीं होती थी, सज्जनों को भी मनोहर लगती थी (सतां मनोहराम्)[४]। कालिदास ने मधुपान से बढ़ी हुई रमणीयता को आम्रता का सहकारता में परिणत हो जाना माना है[५]। स्त्रियाँ अपने मुख को सुगन्धित करने के लिए भी मधुपान करती थीं[६]। अपने एक श्लोक में उन्होंने मधु की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है—

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्ध-पराजितकेसरम्।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमंगनाः स्मरसखं रसखंडनवर्जितम्॥ —रघु०, ९।३६

पुरुष भी शक्ति में शैथिल्य आ जाने पर मधु पीते थे। वह विशेष प्रकार से तैयार किया गया रहता था। उसके पीते ही चैतन्य पुनः लौट आता था——

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः॥[७] —रघु०, १९।४६

निम्नलिखित श्लोक में कालिदास ने यक्षों के व्याज से मधुपान के सम्पूर्ण वातावरण, स्थान, समय, आदि का संकेत कर दिया है——

---

१. श्रृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमंडनम् इति।
—माल०, अंक ३, पृ० ३०१

२. मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षम्। —उत्तरमेघ, १२

३. घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दु मदकारणस्मितम्।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ॥ ——कुमार०, ८।८०

४.५. पार्वती तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम्।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ॥ —कुमार०, ८।७८

६. पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजाः। ——ऋतु०, ५।५

७. इसमें 'मधुनिर्गमात्' से केवल वसन्त के चले जाने का भाव नहीं है, वीर्य के स्खलन होने की भी ध्वनि है। रति ओजक मधु के बनाने की विधि मल्लिनाथ ने इस प्रकार व्यक्त की है—तालक्षीरसितामृतामलगुडोन्मत्तास्थिकालाह्वयादाविन्द्रद्रुम इत्थं चेन्मधुपुष्पभंग्युचितं पुष्पद्रुमूलावृतं क्वाथेन स्मरदीपनं रतिफलं सुस्वादु शीतंमधु। —उत्तरमेघ, ५ की टीका में

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि,
ज्योतिश्छाया कुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं,
त्वद्गंभीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ --उत्तरमेघ, ५

रति-प्रसंग में ग्रीष्म ऋतु में प्रायः पुरानी शराब (पुराणशीधुम्) काम में लाते थे जो सहकार की मंजरी के टुकड़े और ताजे पाटल के फूल से सुवासित होती थी[1]। जाड़ों में पुष्पासव का पान किया करते थे[2]।

समृद्ध व्यक्ति रक्तवर्ण के सूर्यकान्त मणि के प्याले में मधु पीते थे[3]। मधुपान करते समय प्रेयसी अपने प्रिय से इतनी सट कर बैठती थी कि उसके श्वास से हाथ में लिए मधुपूर्ण प्याले में लहर उठ आती थी[4] और उसकी आँखें उसमें झिलमिला उठती थीं[5]। उन दिनों गंडूष की प्रथा प्रचलित थी। प्रिय अपने मुख में शराब भरकर प्रेयसी के मुख में उड़ेल देता था और प्रेयसी भी अपने मुख की शराब प्रिय के मुख में डाल देती थी। स्त्रियाँ बहुत चाव से ऐसा मधु चाहती थीं और पुरुष भी वकुल दोहद की तरह स्त्रीमुख-मधु के लिए लालायित रहते[6]।

रतिक्रीड़ा—नई ब्याही बहू डरते-डरते पति के समीप जाती थी[7] और नई ब्याही बहू के साथ संभोग भी धीरे-धीरे किया जाता था, जिससे वह घबरा न जाय[8]। कालिदास ने इस सूक्ष्म बात से लेकर काम के काम-शास्त्र-

---

१. पूर्व उल्लेख, देखिए अध्याय 'खानपान'
२. पूर्व उल्लेख, देखिए अध्याय 'खानपान'
३. लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥ —कुमार०, ८।७५
४ सुगन्धिनिश्वासकंपितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम्। —ऋतु०, ५।१०
५. हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनांकां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लांगली याः सिषेवे। —पूर्वमेघ, ५३
६. सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरंगनाः।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद् बकुलतुल्यदोहदः ॥ —रघु०, १९।१२
—मदाननार्पितं मधु पीत्वा............... —रघु०, ८।६८
७. साध्वसादुपप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः। कुमार०, ८।७३
८. सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥—रघु०, ८।७

प्रसिद्ध अनेक अनुभावों, आसनों और प्रकारों तक का अपनी कृति में संकेत दिया है जो कहीं स्पष्ट, कहीं प्रतीक के रूप में और कहीं सांकेतिक रूप में है। कालिदास ने संश्लिष्ट रति का पूरा चित्र दिया है[1]। विपरीत रति का संकेत किया है[2]। विभ्रमरति का उल्लेख किया है[3]। 'कंठसूत्र' आसन का भी वे नाम ही नहीं देते, स्पष्ट अभिव्यक्ति भी कर देते हैं[4]। कहीं-कहीं विशेष आसनों की व्यंजना बड़ी मार्मिक है जो तत्कालीन संस्कृति के रम्य स्वरूप का द्योतक है, जैसे उनका निम्नलिखित श्लोक—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रंजयित्वा चरणो कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥ —कुमार०, ७।१९

कवि ने अपने समय में प्रचलित 'प्रकार' (मैथड) को भी किसी-न-किसी व्याज से अपनी कृतियों में निःसंकोच स्थान दिया है। एक प्रसिद्ध प्रकार यह है—

तस्याःकिंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि,
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥ —पूर्वमेघ, ४५

नववधू के साथ तो सदय-रति थी; पर वैसे निर्दय-रति को ही अधिक प्रश्रय दिया जाता था। मेखला गुण छिन्न-भिन्न हो जाते थे, नखक्षत इधर-उधर हो जाते थे, केश छितरा जाते थे[5]। अधर का गाढ़ दंशन स्वाभाविक बात थी[6]। तरुणियों के केश आकुल-आकुल हो जाते थे[7] और उनमें गुँथी पुष्पमाला गिर

---

१. चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं खिन्नहस्तसदयोपगूहनम् ।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम् ॥ —कुमार०, ८।८

२. चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शंकरोऽपि नयनं ललाटजम् ।
उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने ॥ —कुमार०, ८।१९

३. चूर्णं बभ्रुलुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकांकितम् ।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥ —रघु०, १९।२५

४. तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कंठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥ —रघु०, १९।३२

५. क्लिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ॥ —कुमार०, ८।८३

६. स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधरम् ।
आकुलालकभरंस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम् ॥ —कुमार०, ८।८८

७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ६

जाती थी[1]। रंग-बिरंगे फूलों से बना केशविन्यास उनके केशों के साथ पीठ पर बिखर जाता था और उसको देखकर मयूरपंख की रंगीली शोभा याद आ जाती थी[2]।

कामक्रीड़ा के अन्य व्यापार पंखा झलना[3], उरुसंवाहन[4], नखक्षत[5], दंतक्षत[6] सब का ही उल्लेख कवि के ग्रन्थों में है। दन्तक्षत से पत्नी अथवा प्रेमियों के ओठ इतने दुखते थे कि वंशी बजाना भी कठिन हो जाता था[7]। नखक्षत से स्तनप्रदेश,[8] जघन[9] और नितम्ब[10] भर जाते थे।

परन्तु रति का सर्वस्व अधर[11] माना जाता था। कालिदास अधरपान के

---

१. केशपाशं गलितकुसुममालं कुंचिताग्रं वहन्ती। —ऋतु०, ५।१२
२. अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाण लक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः॥
—रघु०, ९।६७
३. किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।
अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ॥
—अभि०, ३।१९
४. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ३
५.६. नखपदचितभागान्वीक्षमाणः स्तनान्तानधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः।
—ऋतु०, ५।१५
—दन्तच्छदैः सव्रणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिलेखैः।
संसूच्यते निर्दयमंगनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम्॥ —ऋतु०, ४।१३
—वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदांकितो रवः। —रघु०, १९।३५
७. देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५-६ —रघु०, १९।३५
८. स्तन-प्रदेश में नखक्षत के लिए देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५-६ में ऋतु०, ५।१५, ऋतु०, ४।१३
९. जघन प्रदेश के लिए देखिए, पादटिप्पणी, नं० ५-६
—ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वन्तीं प्रियतमामवारयत्॥ —कुमार०, ८।८७
१०. नितम्ब के लिए—प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः।
—रघु०, ६।१७
११. करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं।
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ —अभि०, १।२२

गीत गाने में विभोर से जान पड़ते हैं[1] । कवि ने अधर-पान का अत्यन्त सुसंस्कृत प्रकार भी व्यक्त कर दिया है—

अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ।। —अभि०, ३।२३

रति की परिसमाप्ति भी चुम्बन से ही होती थी[2] ।

---

१. मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ।। —रघु०, १३।९

२. कंठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्यय विसर्गचुम्बनम् ।।—रघु०, १९।२९

आधार ग्रन्थों की तालिका

१. ऋग्वेद तथा अन्य वेद
२. शतपथ ब्राह्मण
३. ऐतरेय ब्राह्मण
४. शांख्यायन ब्राह्मण, शांख्यायन गृह्यसूत्र
५. तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण
६. कठोपनिषद्
७. छान्दोग्य उपनिषद्
८. बृहदरण्यक (उपनिषद्)
९. आपस्तम्ब धर्मसूत्र
१०. बौधायन धर्मसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र
११. गौतम धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र
१२. वसिष्ठ धर्मसूत्र
१३. शौनक कारिका
१४. पारस्कर गृह्यसूत्र
१५. आश्वलायन गृह्यसूत्र
१६. ब्रह्मसूत्र (वेदान्त), जैमिनि के सूत्र
१७. कामसूत्र
१८. मनुस्मृति
१९. याज्ञवल्क्य स्मृति
२०. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी
२१. शवर तथा कैयट के महाभाष्य
२२. रामायण, भगवद्गीता
२३. कादम्वरी—बाण
२४. हर्षचरित—बाण
२५ उत्तररामचरित
२६. राजतरंगिणी
२७. नाट्यशास्त्र
२८. स्वप्नवासवदत्ता
२९. शिशुपालवध
३०. नागानन्द
३१. संगीत रत्नाकर
३२. संगीतदामोदर
३३. कौटिल्य का अर्थशास्त्र
३४. अमर कोष
३५. काव्य मीमांसा : राजशेखर
३६. अभिज्ञानशाकुन्तल
३७. विक्रमोर्वशीय
३८. मालविकाग्निमित्र
३९. रघुवंश
४०. कुमारसम्भव (प्रथम, सर्ग ८)
४१. मेघदूत
४२. ऋतुसंहार (कालिदास ग्रन्थावली : द्वितीय संस्करण : सीताराम चतुर्वेदी)
४३. मल्लिनाथ की टीका —रघुवंश, कुमारसम्भव और मेघदूत
४४. कालिदास : वी० वी० मिराशी
४५. कालिदास : हिलब्राण्ड
४६. कालिदास : डे

४७. कालिदास : अरविन्द
४८. कालिदास : झाला
४९. कालिदास : रामस्वामी शास्त्री (दोनों भाग)
५०. कालिदास : एस० एस० भावे
५१. कालिदास : चन्द्रबली पाण्डे
५२. दि वर्थ प्लेस आफ कालिदास : लक्ष्मीधर कल्ला
५३. दि डेट आफ कालिदास : के० सी० चट्टोपाध्याय
५४. इण्डिया इन कालिदास : वी० एस० उपाध्याय
५५. मेघदूत एक अध्ययन : वासुदेवशरण अग्रवाल
५६. कला और संस्कृति : वासुदेवशरण अग्रवाल
५७. हर्षचरित ––एक सांस्कृतिक अध्ययन : वासुदेवशरण अग्रवाल
५८. प्राचीन वेशभूषा : डा० मोतीचन्द
५९. प्रकृति और काव्य : डा० रघुवंश
६० हिन्दू संस्कार : राजवली पाण्डेय
६१. आर्य संस्कृति के मूलाधार : आचार्य बलदेव उपाध्याय
६२. कल्याण (संस्कृति अंक)
६३. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी : डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
६४. प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास : डा० राङ्गेय राघव
६५. A History of Sanskrit Literature : A. B. Keith
६६. A History of Indian Literature : M. Winternitz
६७. A History of Classical Literature : M. Krishnaramchari
६८. History of Dharm Shastra : P. V. Kane
६९. Cambridge History of India Vol. I, Ancient India
७०. Hindu Civilization : R. K. Mukerjee
७१. Social Life in Ancient India : H. C. Chakladar
७२. Corporate Life in Ancient India : R. C. Majumdar
७३. Education in Ancient India : Dr. A. S. Atlekar
७४. Imperial Age of Unity of India
७५. India as known to Panini : V. S. Agarwal
७६. Gupta Art : V. S. Agarwal (1947)
७७. Notes Towards the Definition of Culture : T. S. Eliot
७८. Culture and Society : G. S. Ghurye, Ph. D. (Cantab)

७९. Culture and Society : Merrill & Eldredge
८०. India's Culture through the Ages : Mohan Lal Vidyarthi
८१. Glories of India on Indian Culture and Civilization : Mahamahopadhyaya Dr. Presanna Kumar Acharya
८२. Kulpati's Letter LXIII
८३. Annals of Bhandarkar Research Institute Vol. VIII; XXV
८४. Indian Antiquary Vol. XXXIX
८५. Mythic Society Vol. IX
८६. U. P. Historical Society Vol. XXII, Part I & II (1949) Vol. XIV (1941)
८७. Journal of the Royal Asiatic Society, 1903, 1904, 1909.
८८. Annals Oriental Research University Madras, Vol. V (1940-1941)

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पो० बॉक्स नं० ७०, पिशाचमोचन

वाराणसी–१

क. मुद्रक—विद्यामन्दिर प्रेस (प्रा.) लि., मानमन्दिर, वाराणसी–१

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉक्स नं० ७०, पिशाचमोचन
वाराणसी–१

क. मुद्रक—विद्यामन्दिर प्रेस (प्रा.) लि., मानमन्दिर, वाराणसी–१